अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास

[१६२०-१६३६]

(जी० एम० गेथोर्न हार्डी के A Short History of International Affairs, 1920-1939 ग्रन्थ का हिन्दी संस्करण)

लेखक

जी० एम० गेथोर्न हार्डी

अनुवादक

विश्व प्रकाश

एम० ए०, डी० पी० ए०

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लिमिटेड

रामनगर, नई दिल्ली-55

This Hindi edition to A Short History of International Affairs by G.M. Gathorne Hardy is published by arrangement with the Oxford University Press, London through their Representatives in India by S. Chand & Co., Fountain, Delhi.

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०
रामनगर, नई दिल्ली-55

शाखाएँ :

फव्वारा, दिल्ली।
अमीनाबाद पार्क, लखनऊ।
32, गणेशचन्द्र एवेन्यू, कलकत्ता-13।
सुल्तान बाजार, हैदराबाद।
माई हीरां गेट, जालन्धर।
102, प्रसाद चैम्बर्स, गोवसी सिनेमा के पीछे, बम्बई-4।
35, माउण्ट रोड, मद्रास-2।
खजांची रोड, पटना-4।
1, खजूरी बाजार, इंदौर।

मूल्य : रु० 22.50

एस० चन्द एण्ड कम्पनी (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-55 द्वारा प्रकाशित तथा राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-55 द्वारा मुद्रित।

हिन्दी संस्करण की प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक श्री गेथोर्न हार्डी द्वारा लिखित A Short History of International Affairs, 1920—1939, ग्रन्थ का हिन्दी संस्करण है। आज जब कि हमारे देश में राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी विश्वविद्यालयों की ऊँची से ऊँची शिक्षा का माध्यम हो गई है, यह अतीव आवश्यक है कि उसमें विविध वैज्ञानिक एवं सामाजिक विषयों पर श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हो। श्रेयस्कर तो यही है कि हमारे मनीषी मौलिक कृतियों के निर्माण में संलग्न हों। लेकिन, यह शायद तभी हो सकता है जबकि हमारा चिंतन स्वतन्त्र हो और हम पश्चिम की मानसिक दासता से छुटकारा पा जायें। इसमें कुछ समय लगेगा। जब तक ऐसा नहीं होता, हमारे लिए एकमात्र उपयोगी मार्ग यह है कि हम विदेशी भाषाओं के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को हिन्दी में ले आयें। प्रस्तुत कृति इस दिशा में एक लघु प्रयास है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास १९२० से १९३९ तक के काल की विश्व-राजनीति की विविध प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक इतिवृत्त उपस्थित करता है। दो महायुद्धों के बीच का यह काल मानवता के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। प्रथम विश्वयुद्ध से जर्जरित संसार की अवस्था, वर्साई की सन्धि द्वारा यूरोप का पुनर्गठन, जर्मनी से माँगी गई क्षतिपूर्ति की समस्या, रूस की क्रान्ति और बोलशेविक नेताओं की विदेश नीति, औपनिवेशिक देशों की उलझनें, फ़ासीवाद और नात्सीवाद का उदय, स्पेन का गृहयुद्ध, राष्ट्रसंघ की असफलता और फिर अन्ततोगत्वा द्वितीय विश्व-युद्ध का विस्फोट आदि विषय, जिनका इस कृति में विस्तार से विवेचन किया गया है, हमारे आज के प्रश्नों को समझने में भी उपयोगी हो सकते हैं। आज भी हमारे सामने शांति और युद्ध, शक्ति-संतुलन और शक्ति-संघर्ष, सह-अस्तित्व और सह-विनाश की समस्याएँ हैं। यदि हम इन समस्याओं को स्थायी आधार पर सुलझाना चाहते हैं, तो हमें इन समस्याओं के मूल में जाना पड़ेगा और हमें यह मूल काफी हद तक अपने उस अर्वाचीन भूतकाल में उपलब्ध हो सकता है, जो प्रस्तुत पुस्तक का विवेच्य विषय है। आज हम चाहे अपने दुराग्रहवश स्वीकार न करें, लेकिन यह एक प्रखर सत्य है कि हम 'एक संसार' में रह रहे हैं और जाति, धर्म, संस्कृति, देश, भाषा तथा सिद्धान्तवाद की वे दीवारें जिन्होंने शताब्दियों से मनुष्य को संकुचित घेरों में बन्द कर रक्खा है, अब और अधिक समय तक खड़ी न रह सकेंगी। इस समय तो सारी मनुष्य जाति एक ही नौका पर सवार है और वह या तो एक साथ जल-समाधि लेगी या एक साथ तट पर लगेगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ज्वलंत प्रश्न केवल बुद्धि-विलास के प्रश्न नहीं हैं, वे हमारे जीवन-स्मरण के प्रश्न हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सजग अध्ययन

विषय-सूची

१९२० में संसार की स्थिति

आरम्भिक विचार

इतिहास-ग्रन्थ की रचना करते समय इतिहासकारों के सम्मुख अकसर यह कठिनाई उठ खड़ी होती है कि वे युग-विशेष के इतिहास को कहाँ से प्रारम्भ करें और उसको कहाँ समाप्त करें। इस पुस्तक मे जिस युग का विवेचन किया गया है, वह इस कठिनाई से पूर्णतः बचा हुआ है। जिन व्यक्तियों ने बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में या उससे पूर्व यौवन के क्षेत्र मे पदार्पण किया, उनमे से अधिकाँश ने प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) को प्रारम्भ से ही एक निश्चित युग का पटाक्षेप—दो विभिन्न संसारों के बीच एक बड़ी खाई—समझा है। अनुभव ने इस सहज अनुभूति की सत्यता को पुष्ट किया है। परन्तु विचार करने पर यह अनुभूति किसी भी भाँति स्वाभाविक या प्रत्यक्ष-गोचर नही लगती। यह सच है कि पूर्वी योरोप का नकशा इतना बदल गया था कि उसे पहचानना भी कठिन था *और एक संस्था के रूप में युद्ध के प्रति जो नया भाव* था, वह बहुत भिन्न था। पर जब हम यह देखते हैं कि युद्ध के निवारण को बहुत समय पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनय (diplomacy) का मुख्य कार्य माना जा चुका था, तो यह चीज भी बुनियादी नहीं मालूम होती। १९ वी सदी के अंग्रेज को जो परिवर्त्तन सबसे अधिक तीव्रता से अनुभव हुए, उनमे से बहुत से बिल्कुल तुच्छ थे—उदाहरण के लिए पारपत्रों (passports) का जिन्हें अब तक जंगलीपन का अवशेष समझा जाता था, पुनः प्रचलन, या क्लबों और धनिकों के घरों में घरेलू कार्य करने वाले पुरुषों के स्थान में स्त्रियों का आगमन। विस्तृत दृष्टि से देखें तो १९२० में स्थापित हुई नई व्यवस्था में नीति का कोई बुनियादी परिवर्त्तन नहीं हुआ था—यह १९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध सिद्धान्तों और उपायों का ऐसा युक्ति-संगत प्रयोगमात्र प्रतीत होता था जिसमें परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार कुछ रूप-भेद कर दिए गये थे। सब से अधिक आकर्षक नवीन वस्तु राष्ट्रसंघ (League of Nations) ने—जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे—शान्ति की स्थापना के लिए प्रथमाक्रमण के निरोधक के रूप में सम्मेलन और निर्णायक बल के संगठन के परम्परागत विकल्पों को लागू किया। इस तन्त्र का नियन्त्रण अब तक मुख्यतः योरोपियन शक्तियों और योरोपियन समस्याओं तक सीमित था, लेकिन अब वह कम से कम सिद्धान्ततः तो विश्वव्यापी हो गया। इसके अतिरिक्त अब लोकतन्त्र के सिद्धान्त और इसके स्वाभाविक परिणाम राष्ट्रीयता पर नया और आग्रहपूर्ण बल दिया जाने लगा था, पर वे १९ वीं सदी के उदारतावाद (liberalism) के सुपरिचित सिद्धान्त ही बने रहे।

यदि हम आज की पृष्ठभूमि में विचार करें तो जिस बात को स्पष्ट करने की सब से अधिक आवश्यकता है, वह यह विरोधाभास है कि जो चीज ऊपर से

: १ :

१६२० में संसार की स्थिति

आरम्भिक विचार

इतिहास-ग्रन्थ की रचना करते समय इतिहासकारों के सम्मुख अकसर यह कठिनाई उठ खड़ी होती है कि वे युग-विशेष के इतिहास को कहाँ से प्रारम्भ करें और उसको कहाँ समाप्त करे। इस पुस्तक मे जिस युग का विवेचन किया गया है, वह इस कठिनाई से पूर्णतः बचा हुआ है। जिन व्यक्तियों ने बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक में या उससे पूर्व यौवन के क्षेत्र मे पदार्पण किया, उनमे से अधिकाँश ने प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) को प्रारम्भ से ही एक निश्चित युग का पटाक्षेप—दो विभिन्न संसारों के बीच एक बड़ी खाई—समझा है। अनुभव ने इस सहज अनुभूति की सत्यता को पुष्ट किया है। परन्तु विचार करने पर यह अनुभूति किसी भी भाँति स्वाभाविक या प्रत्यक्ष-गोचर नहीं लगती। यह सच है कि पूर्वी योरोप का नकशा इतना बदल गया था कि उसे पहचानना भी कठिन था *और एक संस्था के रूप में युद्ध के प्रति जो नया भाव* था, वह बहुत भिन्न था। पर जब हम यह देखते हैं कि युद्ध के निवारण को बहुत समय पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनय (diplomacy) का मुख्य कार्य माना जा चुका था, तो यह चीज भी बुनियादी नहीं मालूम होती। १९ वीं सदी के अंग्रेज को जो परिवर्तन सबसे अधिक तीव्रता से अनुभव हुए, उनमे से बहुत से बिल्कुल तुच्छ थे—उदाहरण के लिए पारपत्रों (passports) का जिन्हें अब तक जंगलीपन का अवशेष समझा जाता था, पुनः प्रचलन, या क्लबों और धनिकों के घरों में घरेलू कार्य करने वाले पुरुषों के स्थान में स्त्रियों का आगमन। विस्तृत दृष्टि से देखें तो १६२० में स्थापित हुई नई व्यवस्था मे नीति का कोई बुनियादी परिवर्तन नही हुआ था—यह १९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध सिद्धान्तों और उपायों का ऐसा युक्ति-संगत प्रयोगमात्र प्रतीत होता था जिसमें परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार कुछ रूप-भेद कर दिए गये थे। सब से अधिक आकर्षक नवीन वस्तु राष्ट्रसंघ (League of Nations) ने—जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे—शान्ति की स्थापना के लिए प्रथमाक्रमण के निरोधक के रूप में सम्मेलन और निर्णायक बल के संगठन के परम्परागत विकल्पों को लागू किया। इस तन्त्र का नियन्त्रण अब तक मुख्यतः योरोपियन शक्तियों और योरोपियन समस्याओं तक सीमित था, लेकिन अब वह कम से कम सिद्धान्ततः तो विश्वव्यापी हो गया। इसके अतिरिक्त अब लोकतन्त्र के सिद्धान्त और इसके स्वाभाविक परिणाम राष्ट्रीयता पर नया और आग्रहपूर्ण बल दिया जाने लगा था, पर वे १६ वीं सदी के उदारतावाद (liberalism) के सुपरिचित सिद्धान्त ही बने रहे।

यदि हम आज की पृष्ठभूमि में विचार करें तो जिस बात को स्पष्ट करने की सब से अधिक आवश्यकता है, वह यह विरोधाभास है कि जो चीज ऊपर से

देखने पर १९ वीं शताब्दी के विजयोत्कर्ष का चरम बिन्दु प्रतीत होती थी, उसी में उन्नीसवी शताब्दी की आत्मा मृत्यु-ग्रस्त गई। जहाँ तक दिखाई देता था, १९२० का शान्ति-समझौता उन उदारतावादी सिद्धान्तों की निर्णायक विजय का सूचक था, जो पूर्ववर्त्ती युग में छाए हुए थे। पर असल मे, जैसा कि कुछ ही समय बाद सामने आ गया, उदारतावाद मरण-शय्या पर था। कुछ ही वर्षों के अन्दर उन अधिकतर अंग्रेजों ने, जो उदार विचारधारा मे हार्दिक सहानुभूति रखते थे, इस विश्वास के कारण कि उदार दल को मत देना लाश को मत देना है, उसे अपने मत नहीं दिए। योरोप मे और जगह भी ऐसा ही प्रक्रम चल रहा था। अधिकतर लोग समाजवाद के हामी होते जाते थे और वे समाजवादी होकर, या बिना हुए भी लोकतन्त्रवाद का विरोध करते थे। पर उदारतावाद, वह बल जिसने युद्ध जीता और शान्ति कायम की बिल-कुल बेफैशन हो गया था। इस तरह के विरोधाभास की निश्चय ही जाच करनी चाहिए।

तो भी और अधिक सोचने पर, यद्यपि समस्या तो बनी रहती है पर विरोधा-भास प्रत्येक बडे पैमाने की लडाई की समाप्ति पर नियमित रूप में होने वाली घटना प्रतीत होता है। जैसा कि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, १९ वी शताब्दी को अनुप्राणित करने वाली भावना वह लोकतन्त्रीय उदारतावाद था, जिसका जन्म १७८९ की फ्रेंच क्रान्ति में हुआ था। १८१५ मे उस क्रान्ति के विरोधी बलों की निर्णा-यक विजय स्पष्टतः पूर्ण प्रतीत होने लगी और वियना की कांग्रेस (Congress of Vienna) उसी आधार पर तर्कसंगत रीति से आगे बढ़ी। तो भी अगली शताब्दी उस पराजित सिद्धान्त के रंग में ही रंगी थी। इसके अलावा आज भी अनेक बातों से यह ध्वनित होता है कि हम उसी घटना का एक और उदाहरण देख रहे हैं। सर्वाधिकार-वाद (totalitarianism) के बलों को प्रत्यक्षतः जीत कर हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर रहे प्रतीत होते है जिसमें उस प्रणाली की विशेषताएं अधिकाधिक स्पष्ट होने की सम्भावना है।

हम इस तरह की छोटी सी पुस्तक में इस घटना के अस्तित्व का निर्देश-मात्र कर सकते हैं। इसकी व्याख्या का काम दूसरों के लिए छोड़ देना चाहिये। असल में इसके कारण एक दूसरे से बड़े भिन्न बताए गये हैं। प्रोफेसर ई० एच० कार का कहना है कि इन आलोच्य युद्धों जैसे बड़े पैमाने के युद्ध क्रान्ति से पैदा भी होते हैं और क्रान्ति को पैदा करते हैं और यह सम्भावना तो करनी ही चाहिये कि यह क्रान्ति 'पुरानी सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के सड़े-गले ढाँचों को तोड़-फोड़ कर उखाड़ फेंकेगी और एक नये ढांचे की बुनियादी रखेगी'।[1] यह विचार जिसे परा-जित पक्ष की स्वीकृति सदा प्राप्त प्रतीत होती है, नेपोलियन के युद्धों के प्रसंग में अवश्य स्वीकार हो सकता है, क्योंकि फ्रेंच क्रान्ति ने बोनापार्ट के आगमन से पहले की पुरानी व्यवस्था की नींव को स्पष्टतः ध्वस्त कर दिया था। उस युद्ध के बारे में भी, जिससे हम कुछ वर्ष पूर्व ही मुक्त हुए हैं, यह बात सच मानी जा सकती है—

१. ई० एच० कार, कंडीशन्स आफ पीस, लंदन, मैकमिलन, १९४२, पृष्ठ ३।

यद्यपि ऐसा निष्कर्ष हम में से बहुतों को अरुचिकर लगेगा—क्योंकि लोकतन्त्र को सर्वाधिकारवाद (totalitarianism) की चुनौती १९३९ से बहुत पहले ही सक्रिय रूप से विद्यमान थी। परन्तु १९१४ के युद्ध ने कोई स्पष्ट सैद्धांतिक प्रश्न प्रस्तुत नहीं किये और उस समय उदारतावाद इतना प्रबल था और इतना अधिक माना जाता था कि इसे सड़ा-गला ढाँचा नही कहा जा सकता था। इस प्रसंग मे दूसरी व्याख्या सर नॉर्मन एंजेल (Sir Norman Angell)[1] ने प्रस्तुत की है। उनकी व्याख्या अधिक संतोषप्रद है। उन्होंने कहा है, 'यह परिवर्त्तन ... ... अधिकतर अनजाने में युद्ध के लक्ष्यों के अनुकूल रहा है।'

इस बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं :—

हमने आपेक्षिक स्वाधीनता और सहिष्णुता, लोकतन्त्रीय जीवन के प्रति सम्मान और व्यवस्था के प्रति सम्मान, जिनके हम युद्ध से पूर्व हामी थे, इस कारण नहीं त्याग दिए कि हमने जानबूझकर यह निश्चय किया कि ये निरर्थक चीजें हैं। हमने ये चीजें इसलिए त्याग दीं क्योंकि वे हमारे युद्ध जीतने के मार्ग में बाधक थीं और युद्ध जीतने के लिए निरंकुशता, प्रबल कर्मठता, हिंसा और निष्ठुरता की आवश्यकता थी; और हमें इन विधियों का चस्का लग गया जिससे फासिस्टवादी (Fascism) और इसके भाई वामपक्षियों के अधिनायकवाद (Dictatorship of the Left) की स्वीकृति का रास्ता तैयार हो गया। नैतिक और सामाजिक मूल्यों में यह विस्तृत परिवर्त्तन सैनिक आवश्यकताओं का असंभावित और अनभिप्रेत उपजात है।

यह तथ्य सभी स्वीकार करेंगे कि युद्ध राज्य को पूर्णाधिकार स्थापित करने के लिए बाधित करता है, जो उदार विचारधारा के लक्ष्य से असंगत है। सर एडवर्ड ग्रे (फैलोडन के लार्ड ग्रे) ने प्रथम विश्व-युद्ध के शुरू में ही यह बात समझ ली थी और अगस्त १९१४ में उन्होंने दुःख के साथ यह भविष्यवाणी की थी, 'समाजवाद की दिशा में उठाया जा सकने वाला यह सबसे बड़ा कदम है। इसके बाद सब देशों में मजदूर दलों की सरकारें होंगी'।[2] सर नॉर्मन ने इस घटना की जो व्याख्या की है, उसमें एक बड़ी सुविधा है। वह सुविधा यह है कि इस व्याख्या के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि हम इस परिवर्तन को लाभदायक या अंततोगत्वा अपरिहार्य स्वीकार करें। इसका सिर्फ़ यह अर्थ है कि हम जिन सिद्धान्तों के लिए लड़े उनकी आखिरी जीत अभी होनी है। प्रोफ़ेसर कार के वैकल्पिक सिद्धान्त में अवश्य कुछ सचाई हो सकती है। जो कुछ हुआ है वह कुछ सीमा तक उन परिणामों का एक उदाहरण हो सकता है, जो पुरानी बोतलों में नई शराब भरने से होते हैं। चमड़े की बोतलों का सख्त और सूखा हुआ ढाँचा किसी बड़ी लड़ाई से उत्पन्न भयंकर उथल-पुथल को नियंत्रित करने में असमर्थ होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसे अनियंत्रित छोड़ दिया जाय, बल्कि इतना ही अर्थ है कि कोई अधिक गरम और कोमल वस्तु—कोई उससे सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं—अपेक्षित है। १९१९ के शान्ति समझौते में लागू किये गये उदारतावादी सिद्धान्तों की वास्तविक

---

१. प्रीफ़ेस टु पीस, लन्दन हैमिल्टन, १९३५, पृष्ठ ५६।
२. ट्वेन्टी-फाइव यीअर्स, लन्दन, हौडर व स्टाउटन, १९२५, जिल्द २, पृष्ठ २३५।

आलोचना यह नहीं है कि वे गलत थे या पुराने पड चुके थे, बल्कि यह है कि वे बहुत कठोर और अनम्य रूप में लागू किये गए थे। युद्ध-पूर्व की प्रणाली के उत्थान और पतन से जो शिक्षा सबसे अधिक निश्चित रूप से मिलती है वह यह है कि राजनैतिक भावना को कभी भी जैसे का तैसा न अपना लेना चाहिए। १९ वीं शताब्दी की अद्भुत सफलता, एक अच्छे फोटो की तरह, एक ऐसे प्रक्रम से परिवर्धित हुई थी जिसमें त्वरक और निरोधक उचित रूप में संतुलित थे। इस बात को बिना सोचे कि किसी देश में किस तरह की सरकार थी या किस राजनैतिक दल का नियंत्रण था, यह बात असंदिग्ध है कि वह युग जिस भावना से व्याप्त था, वह उदारतावाद की भावना थी। उदारतावाद की लाक्षणिक विशेषताएँ संक्षिप्त रूप में ये थी : व्यक्ति और राष्ट्र की स्वाधीनता का सम्मान, सामाजिक सुधार की कल्याणमयी आकांक्षा, विधि का शासन (विधि को शक्ति का नियंत्रक माना जाता था, इसका उपकरण नहीं) और लोकतन्त्रीय संस्थाएं। यद्यपि ये सिद्धान्त बड़े प्रशंसा-योग्य हैं पर इन सब की अति बडी हानिकारक हो सकती है। वैयक्तिक स्वाधीनता की अति का अर्थ है अराजकता और शासन का अभाव; राष्ट्रीय स्वाधीनता से, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, प्रभुसत्ताओं का उपविभाजन होने लगता है, जिससे अंतर्राष्ट्रीय संदेह और ईर्ष्याएं उभर आती हैं और उन जातीय इकाइयों में भी, जो न तो राजनैतिक दृष्टि से समर्थ हैं और न आर्थिक दृष्टि से क्षमताक्षम हैं, स्वाधीनता की आकांक्षा को बढ़ावा मिलता है; सामाजिक सुधार का उत्साह इतनी दूर तक पहुँच जाता है कि वह समाज के सिर्फ एक वर्ग को पुष्ट और नष्ट करता है; राष्ट्रीय वित्त पर क्षमतानाशक बोझ पड़ता है और वर्ग-विरोध को नकली उद्दीपन मिलता है; विधि का शासन मनमानी शक्ति का साधन बन जाता है और लोकतन्त्र की परिणति बहुमत की जबर्दस्ती अथवा सर्वाधिकारवाद की बुराई के रूप में होती है। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध से पहले उदारतावाद का कोई भी सिद्धान्त कहीं भी अपने पूरे रूप में लागू नहीं किया जाता था। किसी चीज पर इतना अधिक बल नहीं दिया जाता था कि वह विनाशकारी परिणाम तक पहुँच जाय। घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में समझौते को एक बुनियादी राजनैतिक गुण माना जाता था। इस प्रकार सामाजिक अवस्थाओं के सुधार के सिद्धान्तों को, शायद उस युग के अंतिम दिनों में कुछ अपवादों को छोड़कर अन्यत्र मितव्ययिता और छंटनी की आवश्यकता से समन्वित किया जाता था। राष्ट्रीय आकांक्षाओं से इतनी सहानुभूति नहीं थी कि युद्धोत्तर काल के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को लागू किया जाय। लोकतन्त्र का अर्थ विस्तृत प्रतिनिध्यात्मक आधार पर संसदीय शासन से अधिक नहीं था; इस रूप से यह, कम से कम सिद्धान्ततः इस काल की समाप्ति से पहले प्रायः प्रत्येक देश में विद्यमान था। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध से पहले लोकतन्त्र अपनी तर्कसंगत परिणति पर पहुँचा क्योंकि वर्ग-चेतना वाले सर्वहारा बहुमत का शासन अभी अविदित था। सच तो यह है, जैसा कि लेकी ने बताया है, कि ऐसा पूर्ण विकसित लोकतन्त्र और प्रतिनिध्यात्मक संसदीय व्यवस्था एक दूसरे से भिन्न और परस्पर असंगत धारणाएँ हैं।[1] १९२७ तक में एक

---

१. डब्ल्यू० ई० एच० लेकी, डेमोक्रेसी एण्ड लिबर्टी, लन्दन, लॉगमैन्स, १८९९, जिल्द १, अ० २, पृष्ठ १४३।

तीव्रबुद्धि विदेशी प्रेक्षक ने ये विचार प्रकट किये थे। प्राय: अंग्रेज बड़े अभिमान से अपनी लोकतन्त्रीय संस्थाओं का जिक्र किया करते हैं, पर कुछ दृष्टियों से वे सब से कम लोकतन्त्रीय राष्ट्र हैं।[1] जो भी हो, १९१४ में राज्य के कार्यपालिका और विधायक कार्य अभी एक शासक वर्ग के दो हाथों में थे जो दृष्टिकोण और सामाजिक स्थिति की दृष्टि से सारे योरोप में लगभग एक जैसा था। कम से कम उस समय कोई ऐसा मुख्य सैद्धांतिक भेद नहीं था जैसा आज मौजूद है। विभिन्न देशों के शासक अपनी प्रजा पर, जैसे चाहें वैसे शासन अथवा कुशासन कर सकते थे। किसी एक जबरदस्ती बनाये हुए मानदण्ड के अनुसार सब को रखने पर कोई बल नहीं दिया जाता था।

युद्ध से पहले की दुनिया

युद्ध से पूर्व की दुनिया के, जिसे हम लोग जो उसमें बड़े हुए हैं, इतनी चाह भरी दृष्टि से देखते है, विलुप्त आनन्दों की बात सोचना बड़ा अच्छा लगता है। इस प्रलोभन को रोकना ही चाहिए यद्यपि यह बात अवश्य है कि इसका सुख समाज के सिर्फ धनी वर्गों तक ही सीमित न था, जैसा कि प्राय: लोग कह दिया करते हैं। सुख परिचित मानदंड के साथ तुलना पर निर्भर है और यह अधिकतर वह जमाना था जिसमें राजनैतिक शक्ति और रहन-सहन की सुधरी हुई अवस्थाएँ लगातार सब वर्गों के लोगों को प्राप्त होती जा रही थीं। भौतिक सुख की वस्तुएँ संख्या मे भी पहले से बहुत अधिक थी और बहुत अधिक व्यक्तियों को उपलब्ध भी थी। यद्यपि अब तक कोई अकेली समाँग मजदूर सरकार पदारूढ़ नहीं हुई थी, तो भी औद्योगिक मजदूरों की संख्या बहुत भारी हो जाने के कारण उनके हितो पर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान दिया जाना निश्चित था। इसके अलावा संसार उपभोक्ता का स्वर्ग था जिसमें सब देशों की प्राकृतिक और निर्मित वस्तुएं ऐसी कीमतों पर सुलभ थी जो तटकरों के बावजूद, प्रतिस्पर्धा के कारण कुल मिलाकर नीचे ही रहती थीं। यद्यपि संसार ने शुरू के अबाध व्यापार के पक्षपाती अंग्रेजों की आशाओं को पूरा नही किया था और वह अधिकतर थोड़ा-बहुत संरक्षणवादी (protectionist) था, पर तो भी आर्थिक राष्ट्रवाद ने इस समय अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य के प्रवाह पर जो रुकावटें लगाई थीं, वे किसी भी तरह अभेद्य नहीं थीं। उद्योगवाद और राष्ट्रवाद के जो इस काल के मुख्य नियामक थे, बलों में से फिलहाल पहला कहीं अधिक था; सच तो यह है कि दूसरे बल ने अब तक, जो भी उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त की थी उनमें दोनों बल एक-दूसरे के विरोधी न रहकर मित्र रहे थे। इटली के एकीकरण और जर्मन राज्य के संगठन में राष्ट्रवाद, उद्योगवाद का अनुचर रहा, क्योंकि दोनों स्थानों में जातीय और भाषात्मक एकता पूर्व विद्यमान सीमाओं से अधिक विस्तृत थी और छोटी आर्थिक इकाइयों के स्थान में बड़ी इकाइयों के आ जाने से स्पष्टत: औद्योगिक प्रगति में वृद्धि हुई, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बाधाएँ कम हो गईं। कम से कम आर्थिक दृष्टि से तो यह सही दिशा में उठाया गया कदम था क्योंकि औद्योगिक दक्षता बड़े-बड़े क्षेत्रों—

---

१. वैस्टर मार्क, ई०, मैमोरीज आफ़ माई लाइफ, लंदन, एलन और अनविन, १९२९, पृष्ठ १०४।

उदाहरणार्थ, महाशक्तियों द्वारा नियंत्रित प्रदेशों उनके उपनिवेशों तथा प्रभाव-क्षेत्रों— में ही आ सकती थी। पूर्वी योरोप जैसे प्रदेशों में जहाँ राष्ट्रवाद एक फूट पैदा करने वाला बल प्रमाणित होना था, यह चीज अभी नहीं चलती थी।

अब हम शुद्ध राजनैतिक क्षेत्र में आते हैं जहाँ सत्ता केवल दो-चार बड़ी शक्तियों के ही हाथों में सीमित थी। १९वीं शताब्दी के आरम्भिक भाग मे योरोप की महाशक्तियों की संख्या पाँच से अधिक न थी अर्थात् आस्ट्रिया, फ्रांस, ब्रिटेन, प्रशा और रूस। इटली के एकीकरण से एक शक्ति और बढ़ गई और संगठित जर्मन साम्राज्य ने यथासमय प्रशा का स्थान ग्रहण कर लिया। राष्ट्रवाद की इस विजय का लाभ राजनैतिक दृष्टि से इतना असंदिग्ध नही था, जितना आर्थिक दृष्टि से क्योंकि इसका मौजूदा शक्ति-संतुलन (balance of power) पर गहरा असर पड़ता था, पर चूंकि वैदेशिक मामलों के क्षेत्र मे ब्रिटेन अपने साम्राज्य की ओर से बोलता था और संसार के समुद्र ब्रिटिश नौसेना की अप्रतिम शक्ति के नियंत्रण में थे, इसलिए सारे भूमंडल पर योरोप का प्रभुत्व छाया हुआ था और साथ ही, ब्रिटिश हस्तक्षेप के बिना कोई विश्व-युद्ध संभव नहीं था। यह सच है कि कनाडा को छोड़कर शेष अमेरिका मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) के अनुसार इस मंडल से बाहर था पर यह सिद्धान्त, जैसा कि कैनिंग की प्रसिद्ध उक्ति से प्रमाणित होता है, शुरू मे जैसे अमरीका की एकपक्षीय घोषणा था वैसे ही योरोप की सतुलन नीति का विस्तार भी था। इसका अर्थ यह था कि अमेरिका महाद्वीप अब से किसी योरोपीय शक्ति के अग्रेसरण के लिए ठीक उसी तरह निषिद्ध क्षेत्र था जैसे शताब्दी के मध्य में कुस्तुनतुनिया हो गया था। योरोप के दृष्टिकोण से इस नीति का उद्देश्य शक्ति-संतुलन के विक्षोभ को रोकना था और यह ठीक उसी सिद्धान्त पर था, जिसने १४वें लुई के जमाने में फ्रांस व स्पेन के गठबंधन के विरुद्ध संयुक्त विरोध खड़ा कर दिया था। इसलिए, यह कहा जा सकता है कि योरोपीय पद्धति संसार पर हावी थी और उसे नियंत्रित करती थी।

प्रथम विश्व-युद्ध के छिड़ने तक स्थिति प्रायः वही रही यद्यपि अवश्यंभावी परिवर्तन के लक्षण दिखाई देने लगे थे। इस शताब्दी में योरोपीय महाशक्तियों की प्रभुता को स्वदेश और विदेश दोनों ओर से साफ चुनौतियां दी जाने लगीं। योरोप से बाहर प्रथम कोटि की दो नई शक्तियों अमेरिका और जापान का उदय हो गया। शुद्ध योरोपियन सम्मिलन की सत्ता इस तथ्य से और दुर्बल हो गई कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल (British Commonwealth) के समुद्र-पारवर्त्ती हिस्सेदारों और लैटिन अमेरिकन गणराज्यों की शक्ति पहले से बढ़ गई थी, और वे राजनैतिक सम्बन्धों की मुख्य प्रणाली में पहले से अधिक अन्तर्ग्रस्त हो गए थे। इसके अलावा राष्ट्रवाद का अशान्तिकारक परिणाम पहले ही दृष्टिगोचर हो रहा था। इसके कारण आस्ट्रिया-हंगरी अन्दर से इतना अधिक दुर्बल और बाहर से उपद्रवग्रस्त था कि उसके विघटन का खतरा पैदा हो गया था और इस विघटन से मौजूदा संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। इधर उद्योग-धन्धों की प्रगति इतनी अधिक हो गई थी कि महाशक्तियों के अस्तित्व के लिए कोई आर्थिक औचित्य नहीं रहा था। क्योंकि

वाणिज्य और उद्योग के विस्तार ने सब सीमान्तों का अतिक्रमण कर दिया था और विश्वव्यापी रूप ग्रहण कर लिया था।

योरोप की संविधा
(Concert of Europe)

परन्तु जिन प्रवृत्तियों का ऊपर उल्लेख किया गया वे १९१४ से पहले इतनी प्रबल नहीं थी कि युद्ध के पहले की प्रणाली में कोई परिवर्त्तन ला सकती। जो अन्तर्राष्ट्रीय संकट शान्ति भंग कर सकते थे, उनका नियंत्रण महान् योरोपीय शक्तियों के हाथों में था जो स्वयम् नायकों के समान सम्मेलनों में निश्चय करती थीं। अनेक व्यवस्थाओं की तरह जो व्यवहार में अच्छी तरह चलती हैं, इस 'योरोप की संविधा' (Concert of Europe) का कोई अभिस्वीकृत वैधानिक आधार नही था, लेकिन यह परिस्थिति की आवश्यकताओं के कारण स्वाभाविक रीति से विकसित हो गई थी। यह संविधा कुलीन वर्ग के इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि किसी संकट का सब से अधिक सफलतापूर्वक सामना उन शक्तियों के बीच परामर्श से ही किया जा सकता है जिनके पास न केवल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सब से विस्तृत और लम्बा अनुभव हो तथा अपने निश्चयों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक बल हो, बल्कि साथ-साथ उन्हें यह भय भी हो कि यदि वे अव्यवस्था का निवारण नही करेंगी, तो उन्हें अपार हानि उठानी पड़ेगी। इनमे से प्रत्येक शक्ति की स्थिति ऐसी थी कि तत्कालीन व्यवस्था के बिगड़ने से उसे हानि बहुत अधिक होती और लाभ कम। उनमें से प्रत्येक के लिए युद्ध राष्ट्रीय जीवन को इतना अस्तव्यस्त करने वाला, इतने अधिक अनिश्चित परिणाम वाला और जीवन व धन की इतनी अधिक बरबादी करने वाला था कि उनके लिए लड़ाई को टालना अल्प-विकसित देशों की अपेक्षा कही अधिक आवश्यक था। यदि उनमें से कोई एक शान्ति-भंग करना भी चाहता, तो शेष शक्तियां निश्चय ही उसे इस काम से हटाने के लिए उस पर बहुत दबाव डालतीं। असल में, विश्व-शान्ति की रक्षा प्रबुद्ध स्वार्थ के आधार पर हो रही थी।

यह पद्धति, जिसे कुछ समय से 'अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता' (international anarchy) का नाम लेकर निंदित करने का फैशन हो गया है, वास्तव में अत्यधिक प्रभावकारी थी, और यह, जैसा कि स्वर्गीय प्रोफ़ेसर मोवट (Mowat) ने ठीक ही बताया था, १८७१ और १९१४ के बीच 'कम से कम सात बड़े योरोपीय युद्ध'[१] रोकने मे सफल हुई। परन्तु यह खतरा हमेशा रहता था कि वह स्वार्थ, जो सामान्यतया युद्ध को बचाता और टालता था, किसी शक्ति या शक्तियों के समूह की दृष्टि में, जिसे कहीं असंदिग्ध प्रभुत्व स्थापित करने का मौका दिखाई देता हो, दूसरा और घटिया रूप ग्रहण न कर लेगा। इस खतरे का सामना करने के लिए वह राजनैतिक उपाय निकाला गया जो बहुत समय से 'शक्ति-संतुलन' (Balance of Power) के नाम से प्रसिद्ध है।

१. आर० बी० मोवट, दि योरोपियन स्टेट्स सिस्टम, लन्दन, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२३, पृष्ठ ८०।

शक्ति-संतुलन (The Balance of Power)

इस उपाय के आधारभूत सिद्धान्त आज इतने अधिक गलत रूप में समझे जाते हैं और इस शब्द का इतना अधिक गलत प्रयोग किया जाता है कि इस विषय पर शुरू में ही अपनी धारणाओं को स्पष्ट कर लेना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह विचार प्राचीनतम काल में भी देखा जा सकता है और यद्यपि कभी-कभी इसे गलत या अपूर्ण ढंग से लागू किया गया है। पर यह प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ तक अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में सर्वत्र स्वीकृत सिद्धान्त था। तथापि, यह समझा जाता था कि युद्ध ने इसे सदा के लिए कलंकित कर दिया है[1] और यह बिल्कुल सच है कि इस नाम से १९१४ तक जो प्रणाली प्रचलित थी, वह कुछ समय तक इस दुर्दिन को विलंबित कर सकी। पर इसके परिणामस्वरूप दोनों शस्त्र-शिविरों में शक्ति का ऐसा संचय हो गया कि अन्त में होने वाले विस्फोट से अभूतपूर्व विनाश का ख़तरा पैदा हो गया। परन्तु जब लगातार और सच मानते हुए यह बात कही जाती है कि युद्ध ने शक्ति-संतुलन के महान् नाम को सदा के लिए कलंकित कर दिया तब यह भी कहा जा सकता है कि स्थिति को बिल्कुल गलत रूप में समझा गया और वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध तथा इसकी यातनाएँ कुछ समय पहले इस दीर्घ काल से प्रचलित नीतिकला के त्याग का अनिवार्य परिणाम थी।

शक्ति-संतुलन पोलिबिअस (Polybius) के समय से कैसलरी (Castlereagh) के समय तक और इसके बाद भी जिस रूप में समझा जाता था उसकी सही परिभाषा एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में यह की गई है कि इसका अर्थ राष्ट्रों के बीच ऐसा न्याय्य संतुलन कायम रखना है, जो इनमें से किसी एक को शेष पर हावी होने की स्थिति में आने से रोके। इस बात को व्यावहारिक राज-नीति के शब्दों में कहें तो कहा जा सकता है कि समाज की सुरक्षा के लिए किसी संभावित आक्रान्ता की अत्यधिक ताक़त से होने वाले ख़तरे के विरुद्ध सामूहिक कार्य-वाही करनी होती थी। ऐसा मानने पर यह स्पष्ट है कि इसमें जो बातें हैं वे राष्ट्र संघ (लीग आफ़ नेशन्स) की प्रसंविदा (कोवैनेंट) में निरूपित सामूहिक सुरक्षा के तंत्र के सदृश थीं। इसलिए यह भी एक बात है जिसमें युद्ध से पहले और पीछे के संसार एक दूसरे के जितना निकट पहले-पहल प्रतीत होते हैं उससे कहीं अधिक निकट थे। सच तो यह है कि दोनों प्रणालियाँ पृष्ठबल (sanctions) पर भरोसा करती थीं पर पृष्ठबल, जिस कानून को लागू करता था वह प्रत्येक अवस्था में भिन्न था। शक्ति-संतुलन कहता था, 'तू भयंकर मत बन।' युद्धोत्तर प्रणाली कहती थी, 'तू युद्ध में मत पड़'। वास्तव में सारभूत भेद यह था कि पुरानी प्रणाली ख़तरे का कुछ पहले सामना करती थी और यह समाज से सब युद्धों को रोकने का आग्रह न करती थी, बल्कि सिर्फ़ उन युद्धों को रोकने के लिए कहती थी जिनसे सारे समाज की हानि हो।

---

१. 'शक्ति-संतुलन का वह महान् खेल जो अब सदा के लिए कलंकित हो गया' इस पदावलि का सबसे पहले प्रयोग विल्सन ने किया था। उसके चार सिद्धान्तों में से दूसरे के प्रसंग में ११ फरवरी १९१८ के भाषण में इसका प्रयोग किया गया है।

इन दोनों में से कौनसी विधि अधिक व्यावहारिक है यह प्रश्न स्पष्ट रूप से विवेचनीय है ।[1]

अब शक्ति-संतुलन अपने युद्धोत्तर स्थानापन्न की तरह पृथकतावाद (isolationism) और सामूहिक कार्यवाही में शामिल होने की अनिच्छा के कारण भंग हो गया। बिस्मार्क ने जर्मन साम्राज्य संघटित किया जिसके परिणामस्वरूप तीन युद्धों द्वारा उसे बेजोड़ शक्ति प्राप्त हो गई। इनमें से किसी भी युद्ध में बाधा नहीं डाली गई। जर्मन साम्राज्य इतना बड़ा हो गया कि जिस तरह सूर्य का पिंड उपग्रहों को अपने मंडल में खींचता है उसी प्रकार यह छोटे राष्ट्रों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगा। प्रथम विश्व-युद्ध के पहले अंतिम अवस्था वास्तविक अर्थों में शक्ति संतुलन के सिद्धान्त के प्रयोग की नहीं थी, बल्कि एक खोये हुए अवसर के पकड़ने के अंधाधुन्ध आशाहीन प्रयत्न की थी और उस संतुलन को पुनः कायम करने का यत्न किया जा रहा था, जिसके लिए कोई काफी शक्तिशाली प्रतिभार उस समय उपलब्ध नहीं था। स्थिति का सार तत्त्व जर्मनी की शक्ति था। अगर हम शेष संसार को तटस्थ समझें और त्रिदेशीय संधि (Triple Entente) के मुकाबिले में अकेले जर्मनी को रखकर तोलें तो हमें यह मानना चाहिए कि प्रश्न अभी अनिर्णीत ही रहता और युद्ध संभवतः लम्बा और विनाशकारी होता। प्रथम विश्व-युद्ध वास्तव में शक्ति-संतुलन को कलंकित नहीं करता बल्कि अदूरदर्शी पृथकतावाद को कंलकित करता हो।

सच तो यह है कि ब्रिटेन ने योरोपीय संतुलन पर मौजूद इस खतरे की ओर तब तक ध्यान नहीं दिया जब तक १९०० में जर्मनी ने बहुत बड़ी नौ सेना बनाने का काम शुरू न कर दिया। इस समय तक, यद्यपि 'भव्य पृथकत्व' के नुकसान पहले ही दिखाई दे रहे थे तो भी जर्मन विरोधी नीति निर्माण की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं थी। सच तो यह है कि १८९९ में श्री जोसेफ चैम्बरलेन (Mr. Joseph Chamberlain) ने खुले आम यह विचार प्रकट किया कि 'हमें योरोप के महाद्वीप पर सदा अकेले न रहना चाहिए ......स्वाभाविक मैत्री हमारी और महान् जर्मन साम्राज्य की ही हो सकती है।' इस समय साधारणतया हमारी शान्ति और सुरक्षा को फ्रांस और रूस से खतरा समझा जाता था और १९०१ की आंग्ल-जापानी संधि, जर्मन नीति के हाल के परिवर्तन के कारण की हुई नहीं प्रतीत होती बल्कि सर्वथा भिन्न कारणों से की गई प्रतीत होती है। पर आगामी वर्षों में हम देखते हैं कि फ्रांस से मेल-मिलाप आरम्भ होता है, जो क्रमशः परिवर्धित होकर संधि का रूप ले लेता है। शीघ्र ही वह अवस्था आ गई जब यह अनुभव किया जाने लगा कि स्थायी रूप से शांति कायम रखना संभव नहीं है और महाशक्तियों के मन में यह बात जम गई कि जब अनिवार्य संघर्ष शुरू हो तब हम अमज्ज न हों। दो या तीन खतर-

१. लार्ड हैंकी ने लिखा है 'शक्ति-संतुलन ने प्रथम विश्व-युद्ध से पहले योरोप में एन्टोनाइन्स (Antonines) के युग से सब से दीर्घ अवधि तक शांति कायम रक्खी।' रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर्स, ऐटोमिक एनर्जी, इट्स इन्टरनेशनल इम्प्लिकेशन्स, लन्दन और न्यूयार्क, १९४८, पृष्ठ ११२।

नाक संकटों को एल्जेसिरास (Algeciras), बोस्निया (Bosnia), एगेडिर (Agadir) आदि पुराने राजनयिकों द्वारा सफलतापूर्वक निपटा लिया गया पर इसके बाद भावी को और अधिक न टाला जा सका।

युद्धोत्तर दुनिया
(The Post-war World)

हम अब इतनी काफी बातें बता चुके हैं कि दुनिया के प्रेक्षकों को १९२० में दिखाई देने वाली अवस्था का, १९१४ की अवस्था से वैषम्य प्रस्तुत कर सकें। कुछ महत्त्व पूर्ण दृष्टियों से जैसाकि १९५० के दृष्टिकोण से प्रकट होता है, यह प्रतीति वास्तविकता से भिन्न है। परन्तु १९२० के प्रेक्षकों को ही शान्ति समझौता तय्यार करना था। उद्योगों के विकास के परिणामस्वरूप विस्तृत संसार एक छोटा सा प्रदेश बन गया था। योरोप के बाहर दो महान् शक्तियों अमेरिका और जापान के उदय ने और इसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के डोमीनियनों तथा लैटिन अमेरिकन राज्यों के वैयक्तिक महत्त्व ने पुराने महाद्वीप की महत्ता कम कर दी थी। साथ ही वे तीन महान् साम्राज्य, जो पहले की योरोप की संविधा (Concert of Europe) की सदस्यता में आधे स्थान घेरे हुए थे, नष्ट हो चुके थे, और इनमें से जर्मनी उस समय शक्तिहीन था और आस्ट्रिया-हंगरी अपने घटक अंगों में विघटित हो गया था। रूस से जिसका स्वयं अंशतः अंग-भंग हुआ था विश्व के मामलों को व्यवस्थित करने में न सहयोग मांगा गया और न उसने सहयोग देने का प्रस्ताव किया। शेष महाशक्तियाँ राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से सामर्थ्यहीन हो चुकी थीं। इसका आवश्यक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रपति विल्सन को उस नई व्यवस्था के विकास में अपना निर्णायक प्रभाव डालने में सफलता मिली जिसकी धारणा उन्होंने अमेरिकन तटस्थता की सबसे शुरू की अवस्थाओं में भी बनाई थी। शान्ति-सम्मेलन में अनुगत नीति में योरोप की स्थिति ने एक और इतना ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। यदि महाशक्तियों के पक्ष को कुछ हानियां उठानी पड़ीं, तो दूसरी ओर छोटी शक्तियों की संख्या में वृद्धि हुई, नये नकशे में कुछ नाम सर्वथा नये थे और पोलैंड तथा फिनलैंड जैसे कुछ और नाम स्वतंत्र सर्वोच्च सत्ता वाले राज्यों की सूची में आ गए थे। आस्ट्रिया हंगरी के छिन्न-भिन्न अवशेष अब दो पृथक् राज्य हो गये थे। यद्यपि मोंटिनीग्रो (Montenegro) को आत्मसात् कर लिया गया था पर तो भी पूर्वी योरोप में राज्यों की संख्या ७ से बढ़ कर १४ हो गई थी।[1]

ऐसा प्रतीत होता था कि योरोप और इसकी संविधा (Concert) का प्रभाव समाप्ति पर था और अन्तर्राष्ट्रीय शासन का भावी आधार विश्वव्यापी होगा। यह

---

१. दोनों सूचियों में तुर्की सम्मिलित नहीं है। १९१३ के बाद से वह मुख्यतः एशियाई शक्ति था और अल्बानिया १९१४ की सूची में सम्मिलित नहीं है, क्योंकि उसकी स्वाधीनता अभी अच्छी तरह पूरी नहीं हुई थी।

१९१४ : रूस, आस्ट्रिया, हंगरी, सर्बिया, मोन्टिनीग्रो, बलगेरिया, रूमानिया, ग्रीस।

१९२० : रूस, फिनलैंड, एस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, अल्बानिया, बलगेरिया, रूमानिया, ग्रीस।

माना जाने लगा कि पहले प्रयुक्त होने वाली सम्मेलन की पद्धति जारी रहने पर मंडल के स्थान, जिन पर कि पहले पाँच या छः योरोपियन शक्तियों का एकाधिकार था, अब दुनिया भर के छोटे-बड़े उससे दस गुने राज्यों के प्रतिनिधियों के लिए खुले होने चाहियें। इस विश्वव्यापी लोकतन्त्रीय अंतर्राष्ट्रीयता को अंगीकार करने के साथ-साथ जिसे अमेरिकन राष्ट्रपति ने जान-बूझकर बढ़ावा दिया था, युद्ध ने राष्ट्रवाद को पूर्णतया अन्तिम विजय प्राप्त कराई थी। समस्या यह थी कि इन दो परस्पर असंगत सिद्धान्तों में समन्वय कैसे लाया जाय।

युद्ध के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन

नई स्थिति में जिसमें पहले वाली योरोपीय प्रणाली के स्थान पर एक विश्व व्यवस्था स्थापित करने की आकाँक्षा प्रस्तुत थी, ऊपरी परिवर्तन के अलावा संस्था के रूप में युद्ध के प्रति साधारण दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया था। युद्ध को अब तक सब लोग राष्ट्रीय नीति का कानून-सम्मत उपकरण मानते थे—यह 'अन्तिम तर्क' माना जाता था, जिसका अवलबन सिर्फ़ चरमावस्थाओं में ही होना चाहिए, पर तो भी वह मानवीय अस्तित्व की एक स्वाभाविक और अन्ततः अनिवार्य घटना थी। इतिहास के प्रमुख योद्धा अपने सैनिक शौर्य से पहचाने जाते थे और पाठ्य पुस्तकों में उन्हें, बिना यह विचार किये, स्थान मिलता था कि उन्होंने अपना शौर्य आक्रमण में दिखाया या प्रतिरक्षा में। शाँतिवाद तो अरण्य-रोदन था; तथ्य तो यह है कि युद्ध के प्रति घृणा साधारण जनता की अपेक्षा उन उत्तरदायी राष्ट्र-नेताओं में, जिन्हें युद्ध में होने वाले व्यय और उसके अनिश्चित परिणाम का ध्यान रहता था, अधिक तीव्र थी। १९वीं सदी में युद्ध पहले तो प्रायः लोकप्रिय होता था; यह विचार कि युद्ध एक अभिशाप और सबसे बड़ी दुर्घटना है, बहुत ही थोड़े लोग रखते थे, और यह विचार कि युद्ध का सहारा लेना एक अपराध है, शायद ही किसी का होगा। यह याद रखना भी उचित होगा कि १९१४-१८ का युद्ध एक ऐसा अपशकुन था जिसका इतिहास में अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता। इसमें धन-जन का महानाश हुआ और विजेता व तटस्थ के जीवन तथा अर्थ-व्यवस्था पर भी उतना ही स्थाई प्रभाव पड़ा जितना कि पराजित के जीवन और अर्थ-व्यवस्था पर। वैज्ञानिक विध्वंस के कार्य-क्षेत्र में, इसकी राक्षसी आविष्कार-बुद्धि और दक्षता ऐसी चीजें थी जो १९१४ से पहले की पीढ़ी के अनुभव में कभी नहीं आई थीं। सिर्फ़ पाँच साल पहले (१९०९) ब्लेरियो (Bleriot) द्वारा इंगलिश चेनल को अपने मोनोप्लेन (Monoplane) से पार कर लेना, उड्डयन (Aviation) का एक रोमांचकारी कार्य था। १८९९-१९०२ का दक्षिण अफ़्रीकी युद्ध (South African War of 1899-1902) अभी हाल की घटना थी। इस युद्ध में यूरोप की एक महाशक्ति भी अंतर्ग्रस्त थी। इसमें युद्ध-विज्ञान इतना अविकसित था कि कुछ हज़ार राइफ़लधारी किसान प्रायः तीन साल तक बड़ी-बड़ी सेनाओं के मुकाबले पर डटे रहे थे। इन उदाहरणों से इस अवस्था का बाद की उस स्थिति से वैषम्य साफ़ प्रकट हो जाता है, जिसमें सफल युद्ध संचालन के लिए इतनी समृद्धि और औद्योगिक उपस्कर की आवश्यकता है, जो कि सिर्फ़ महत्तम शक्तियां ही लगा सकती हैं और जिसमें समुद्र या धरती की प्राकृतिक

बाधाओं की उपेक्षा करता हुआ विमान दूरस्थ और प्रतिरक्षाहीन अयोद्धाओं (non-combatants) को युद्ध के खतरे और आतंक में अन्तर्ग्रस्त कर सकता है। १९१४ के साल ने युद्ध की सारी प्रकृति को ऐसा रूपाँतरित कर दिया कि एक नई समस्या पैदा हो गई जिसके परिणामस्वरूप स्वभावतः नये दृष्टिकोण का निर्माण हुआ।

राष्ट्रसंघ (League of Nations)

१९१४-१८ के भीषण अनुभव के परिणाम-स्वरूप युद्ध के प्रति रुख में जो परिवर्तन हुआ उसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा (Covenant of the League of Nations) मे हुई, जो वर्साई की सन्धि (Treaty of Versailles) में समाविष्ट की गई थी। यह सन्लेख उस प्रयत्न का एक प्रशसनीय नमूना था जो राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद में सामजस्य लाने के लिए किया गया था। इसकी हम पहले ही चर्चा कर चुके है। परन्तु यह विचारों का एक ही संघर्ष न था, जिसे यह दूर करना चाहता जा। एक बड़े अधिकारी व्यक्ति ने कहा है कि प्रसंविदा मे पाँच विभिन्न प्रणालियाँ संनिविष्ट हैं[1], और राष्ट्रसंघ हर सूरत में दो पृथक् विचार-धाराओं के समागम से उत्पन्न हुआ था। इनमें से एक मे, जो अमेरिका के श्री टैफ्ट (Mr. Taft) और अन्यों ने राष्ट्रपति विलसन से भी पहले प्रतिपादित की थी, संघटित बल पर जोर दिया जाता या; इसके अनुसार बलात् शान्ति कायम रखने के लिए राष्ट्रसंघ की आवश्यकता थी। इस पहलू का समर्थन शांति सम्मेलन में फ्राँसीसियों की संगठित सुरक्षा की आकांक्षा के रूप में हुआ। दूसरी ओर, बला-दारोपित शांति के विचार पर सोच-विचार करने और अनिवार्य पंचनिर्णय के सिद्धांत को मानने के प्रश्नों पर इस समस्या के विषय में इंगलैण्ड का रुख अत्यधिक संकोची था। ब्रिटिश सुझाव यह था कि अंतर्राष्ट्रीय परामर्श और सहयोग के क्षेत्र को विस्तृत करके भूतपूर्व योरोप की संविधा (Concert of Europe) की रीति को और विस्तृत कर दिया जाय। इस प्रकार यह दूसरे समाधान की अपेक्षा अधिक विकासोन्मुख था।

यदि चौदह सूत्रों (Fourteen Points) को देखा जाय तो हम देखते हैं कि राष्ट्रों का साधारण साहचर्य राजनैतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखंडता की पारस्परिक गारंटी देने के प्रयोजन से रक्खा गया था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रस्थापना में 'शान्ति' शब्द का उल्लेख नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सिर्फ़ एक सीमित उद्देश्य तक प्रतिबंधित है। उपर्युक्त प्रस्थापना को यथापूर्व स्थिति की बलपूर्वक रक्षा के लिए मैत्री की विस्तृत प्रणाली कहा जा सकता है। दूसरी ओर यदि हम प्रसंविदा की प्रस्तावना को देखें तो जो प्रयोजन सब से आगे रक्खा गया है, वह है अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को आगे बढ़ाना, लेकिन शांति की रक्षा को भी लगभग उतनी ही

---

१. सर ए० जिमर्न, दि लीग ऑफ नेशन्स एण्ड द रूल ऑफ लॉ, १९१८-१९३५ लंदन, मैकमिलन, १९३६, पृष्ठ २६४।

प्रमुखता दी गई है। इस प्रकार राष्ट्रसंघ एक दृष्टिकोण से, जिस पर अनुच्छेद दस[1] में बल दिया गया था, अत्यधिक राष्ट्रवादी आधार पर किये गये क्षेत्रीय समझौते का और दूसरे दृष्टिकोण से नये अन्तर्राष्ट्रवाद का, उपकरण था। इस प्रकार दो असंगत सिद्धान्त, जिनमें सामंजस्य पैदा करने को पहले ही समझौते की दुःसाध्य समस्या बताया जा चुका है, स्वयं राष्ट्रसंघ के ढाँचे में ही समाविष्ट थे। प्रश्न यह पदा होता था कि क्या यह सामंजस्य संभव है और यदि नहीं है तो संतति अंत में अपने दोनों जनकों में से किसके सदृश होगी। इस योजना की सफलता इस धारणा की मान्यता पर भी निर्भर थी कि अब सारा संसार मुख्य प्रयोजनों के लिए एक सहकारी इकाई था, या बन सकता था। यूनाइटेड-स्टेट्स के हट जाने और मनरो सिद्धान्त को प्रादेशिक समझौते (अनुच्छेद २१) के रूप में मानने—यह मंतव्य प्रसंविदा में संविष्ट है—के परिणामस्वरूप संसार का यह संगठन भूमंडलीय के बजाय तुरन्त गोलार्धीय होने लगा। इसके अलावा, यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहा कि क्या राष्ट्रीय आधार पर संगठित दुनिया सुरक्षा सम्बन्धी उपबन्धों को लागू करने के लिए मिल कर काम करने की पर्याप्त निःस्वार्थ भावना प्रदर्शित करेगी या क्या एक-दूसरे से बहुत अधिक भिन्न सामर्थ्यों वाली दूर-दूर बिखरी हुई इकाइयों में अपूर्व-चिन्तित सहयोग वास्तव में प्रभावकारी भी हो सकेगा? इसके असफल हो जाने पर या असफलता की सम्भावना का सन्देह भी होने पर, दूसरी प्रादेशिक मैत्रियों का निर्माण, जिसे राष्ट्रपति विलसन ने अपनी प्रणाली के साथ प्रायः बिल्कुल असंगत समझा था और ठीक ही समझा था, वस्तुतः अनिवार्य हो गया। इसके अलावा, शांति समझौते की जटिल आवश्यकताओं ने शुरू से ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में एक तरह के द्वैध नियन्त्रण को चालू कर दिया। बहुत से सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न, जो संधि की शर्तों के पालन के सम्बन्ध में थे, आवश्यक रूप से मित्र राष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council of the Allies) के नियन्त्रण में रहे और इस संस्था के जिससे अमेरिका अब हट चुका था, सदस्यों के बीच फौरन कई सम्मेलन हुए और इस प्रकार व्यवहारतः योरोप की संविधा (Concert of Europe) पुनरुज्जीवित हो गई। उस प्रत्येक अवस्था में, जिसमें राष्ट्रसंघ से बाहर किसी शक्ति, यथा यूनाइटेड स्टेट्स का सम्बन्ध हो, स्वतन्त्र सम्मेलन की वही रीति अपनाना अनिवार्य था। इस प्रकार शुरू से यह सम्भावना थी कि जिनीवा से अलग सम्मेलन द्वारा राजनय की यह संस्था लोकप्रियता में आगे बढ़ जायेगी और महाशक्तियाँ, जिनका राष्ट्रसंघ में, परिषद् में अपने स्थायी स्थानों के कारण, पहले ही मुख्य प्रभाव था, राष्ट्रसंघ को ही गौण कर देंगी तथा वह उनके राजनय के लिए एक दूसरा क्षेत्र मात्र रह जायेगा। इसका अर्थ यह होगा कि उसी पुरानी निंदित प्रणाली पर धीरे-धीरे लौटा जाय, चाहे इससे लाभ हो या हानि।

परन्तु राष्ट्र-संघ शान्ति सम्मेलन का एक महान् रचनात्मक कार्य था। इसकी

---

१. राष्ट्रपति विलसन की सम्मति में अनुच्छेद दस प्रसंविदा का हृदय था। आपने कहा था कि "जो कोई अनुच्छेद दस को निकाल देने की प्रस्थापना करता है वह संसार की शाँति और सुरक्षा के समस्त आधार नष्ट करने की प्रस्थापना करता है। किसी आदमी की यह बातें न मानो कि आप उस अनुच्छेद को निकाल कर दुनिया में शाँति की आशा कर सकते हैं।"

आत्मा पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय थी, और उन सदस्यों के हाथों में, जो निःस्वार्थ भाव से इसका उपयोग करने का संकल्प करते, यह शांति का एक शानदार उपकरण बन सकता था। शान्ति संधियों के दूसरे अर्थात् राष्ट्रवादी पहलू में ही भविष्य की अव्यवस्था के बीज मौजूद थे। इस बात पर बल देना आवश्यक है कि इस पहलू को उतना ही जानबूझ कर रक्खा गया था जितना कि दूसरे को।

शांति समझौता--कल्पना और वास्तविकता

इस बात की व्याख्या करने से पहले सारे समझौते के स्वरूप के बारे में कुछ कह देना उचित होगा। इस पुस्तक का पहला संस्करण प्रकाशित होने के बाद शांति संधियों के बारे में, और विना कारण वर्साई की संधि के बारे में, अत्यधिक प्रचारित एक गप्प इतनी अधिक सच मान ली गई है कि उसपर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। पराजित शक्तियों, विशेष कर जर्मनी, द्वारा किये गए सयत्न प्रचार के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के जिम्मेदार लेखक भी उस सारे समझौते की लगातार निन्दा करने लगे और विशेष कर वर्साई की संधि को उन सिद्धान्तों का प्रतिहिंसा की भावना से कपटपूर्ण परित्याग बताते हैं, जिनपर भरोसा करके जर्मनी ने हाथियार डाले थे। यह कथन कि शांति का नाश उन आदर्शों के स्थान पर, जिन पर यह आधारित की गई थी, पुराने राजनय के मैकियावैली-सम्मत सिद्धान्तों को ले आने के कारण हुआ, बलपूर्वक खण्डन करना चाहिए। इसके विपरीत ऐसे आदर्श स्वरूप की शांति संधि आज तक कभी नहीं की गई।

जर्मनी ने जो शर्तें स्वीकार की थीं वे राष्ट्रपति विल्सन के ५ नवम्बर १९१८ के नोट में उल्लिखित हैं। इसके अनुसार मित्र राष्ट्रों की सरकारें राष्ट्रपति विल्सन के ८ जनवरी १९१८ को कांग्रेस में दिए गए भाषण (१४ सूत्र) में उल्लिखित शर्तों और उनके बाद के अभिभाषणों में प्रतिपादित सिद्धांतों के अनुसार जर्मनी की सरकार के साथ शांति समझौता करने के लिए तय्यार थीं। पर इसमें दो शर्तें थीं, जिनमें से पहली श्री विल्सन के दूसरे सूत्र—समुद्रों की स्वाधीनता—को व्यवहारतः समाप्त कर देती थी और दूसरी में यह कहा गया था कि जर्मनी, मित्र देशों की असैनिक आबादी को पहुँची क्षति तथा अपने आक्रमण से स्थल, जल, या आकाश से उनकी सम्पत्ति को पहुँची सारी क्षति की संपूर्ति करेगा। इस पिछले ठहराव ने क्षतिपूर्ति का स्पष्ट, यद्यपि सीमित, दावा कायम कर दिया। भरपाई के प्रश्न पर इस पुस्तक के अध्याय तीन में और आगे विचार किया गया है।

आस्ट्रिया-हंगरी के दृष्टिकोण से, १४ सूत्रों के प्रतिपादन के बाद सैनिक स्थिति इतनी खराब हो गई थी कि राष्ट्रपति विल्सन ने (१८ अक्टूबर) उस सरकार के तत्कालीन सुझाव पर विचार करने से इन्कार कर दिया था—इस सुझाव में १४ सूत्रों और विल्सन के बाद वाले सिद्धांतों के आधार पर शान्ति की प्रस्थापना की गई थी—और यह निर्णय करने का कार्य चैकोस्लोवाकों और यूगोस्लावों पर ही छोड़ दिया था कि आस्ट्रो-हँगेरियन सरकार की ओर से क्या कार्यवाही किये जाने पर उनकी आकांक्षाओं की संतुष्टि होगी। बाद में आस्ट्रिया ने ३ नवम्बर को बिना शर्त

आत्म-समर्पण किया। इस प्रकार जर्मनी द्वारा स्वीकृत शर्तें इस जगह कानूनन अवश्य-पालनीय नहीं थीं और यद्यपि यह आशा की जा सकती थी कि संगतता की दृष्टि से मित्रराष्ट्र यथासम्भव उन्हीं सिद्धांतों पर चलेंगे पर वे २५ अप्रैल १९१५ को लंदन की संधि (Treaty of London) के अधीन, जिसके भरोसे पर इटली उनकी ओर से युद्ध में शामिल हुआ, एक असंगत और अवश्य-पालनीय दायित्व अपने ऊपर ले चुके थे ।

फिर जर्मनी की ओर आयें, तो प्रतीत होता है कि समझौते के आलोचकों ने यह जरा भी अनुभव नहीं किया कि १४ सूत्रों में से कितनों का उस देश से कोई सम्बंध था। पहले से सूत्र चौथे तक और सूत्र १४ एक नई विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में साधारण उपबंध थे, सूत्र ६ रूस के बारे में था और सूत्र ९-१२ 'आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की के विषय में थे। जर्मनी के लिए सारभूत महत्व के सूत्र सिर्फ ४ थे—सूत्र ५, ७, ८ और १३। यदि इस बात की कि जर्मनी इस आधार पर आत्म-समर्पण से क्या आशा कर सकता था, व्यावहारिक रूप में रक्खें तो इनका अर्थ ज्यादा से ज्यादा यही हो सकता था कि वह अपने उपनिवेशों से वंचित हो जायेगा (५), बेल्जियम और फ्रांस से बाहर हो जायेगा और इन्हें वहाँ के निवासियो को सौंप देगा तथा ऐल्सेसलो-रेन (Alsace-Lorraine) से अधिकार हटा लेगा (७ और ८), तथा जर्मनी के पहले वाले प्रदेश में से एक पोलिश राज्य का निर्माण होगा जिसे समुद्र तक जाने का मार्ग दिया जायेगा (१३)। जर्मनी को मित्रराष्ट्रों द्वारा बाद में जोड़े गये एवं अपने द्वारा स्वीकृत किये गये एक ठहराव के अनुसार क्षतिपूर्ति की रकम भी चुकानी थी जो स्वर्गीय लार्ड कीन्स के सुविमर्शित विचार के अनुसार, तीन अरब पौंड अन्दाजी जा सकती थी। उसे बहुत अधिक अस्त्रहीन भी किया जाना था—एक तो सूत्र ४ में उल्लिखित शस्त्रास्त्रों में व्यापक कमी के आरम्भ के रूप में, और दूसरे 'चार लक्ष्यों' (४ जुलाई का भाषण) में से पहले अर्थात् प्रत्येक मनमानी शक्ति को विनाश या ह्रास द्वारा व्यवहारतः अशक्त कर देना, के अनुसार। श्री विल्सन के चार सिद्धान्तों और श्री विल्सन के भाषणों में अन्यत्र प्रतिपादित आत्म-निर्णय (Self-determination) के नियम के अधीन उत्तरी शेलसविग (Schleswig) मत-संग्रह द्वारा डेनमार्क को हस्तांतरित होना था और छोटे-मोटे प्रदेश सम्बन्धी परिवर्तन बेल्जियम के पक्ष में होने थे, पर उतने निश्चित रूप में नहीं। सार (Saar) सम्बन्धी अस्थायी उपबन्ध क्षतिपूर्ति के शीर्षक के नीचे आते थे और राइनलैंड पर सैनिक कब्जा संधि की पूर्ति के लिए साधारण गारण्टी था। कैसर तथा अन्य युद्धापराधियों के मुकद्दमों सम्बन्धी उपबन्ध शायद उतने स्पष्ट रूप में समझौते की परिधि में नही आते थे (दूसरे अध्याय का अंतिम उपविभाग देखिये)। पर यदि यह कोई शिकायत है तो यह शिकायत उतनी राष्ट्रीय नहीं थी जितनी वैयक्तिक। दूसरी ओर, प्रादेशिक समंजन (territorial adjustment) के संदिग्ध प्रश्नों का निर्णय करने में मत-संग्रह के खुले प्रयोग और राइन सीमान्त के लिए फ्रांस द्वारा की गई मांगों का लगातार और सफलतापूर्वक जो प्रतिरोध किया गया, उससे पता चलता है कि शांति संधि की शर्तों को स्वीकृत शर्तों

तक सीमित रखने के लिए कितनी सचाई से यत्न किया गया था।[1] [जो लोग चार बड़े राष्ट्रों पर आरोपित प्रतिहिंसा और कपट के फैशनेबल लाञ्छन को मानते हैं, उन सबको उस ज्ञापन का अध्ययन करना चाहिए जो श्री लायड जार्ज ने २५ मार्च १९१९ को सम्मेलन मे पेश किया था और उन तिरस्कारों से इसका मिलान करना चाहिए, जो उन्हें तथा उनके सहयोगियों को उस समय दुश्मन के प्रति नरमी दिखाने के आधार पर अखबारों और संसद् में मिले थे। यदि यह मान भी लिया जाय कि उस समय की कठिन और जोश भरी परिस्थितियों मे अमेरिकन राष्ट्रपति की अनेक घोषणाओं का, जिनके आधार पर जर्मनी ने आत्म-समर्पण किया था, कुछ उदाहरणों मे विकृत निर्वचन हुआ था, तो भी पराजित शक्तियां युक्तिसंगत रूप मे किसी अधिक अच्छे परिणाम की आशा नहीं कर सकती। हिस्ट्री आफ दि पीस कॉन्फ्रेंस आफ दि पैरिस (पैरिस के शांति सम्मेलन का इतिहास) के एक महत्लेखक ने बताया है, 'राजनैतिक भाषणों में······आवश्यक रूप से एक अस्पष्टता और एक सामान्यकृत पहलू होता है जिसके कारण वे राजनयिक निर्वचन के लिए अनुपयुक्त होते हैं'।[2] तो भी यह कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर विचारने पर संधियां वास्तव में विलसन के सिद्धान्तों मे व्याप्त थीं और यह भी कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द के गम्भीर और स्थायी खतरे उन सिद्धान्तों से विचलन के कारण नही थे। सच तो यह है कि यह तर्क किया जा सकता है कि भविष्य की दुश्मनी के बीज ठीक उन विनिश्चयों में निहित थे, जो चौदह सूत्रों और उनसे सम्बद्ध 'विवरणों,' 'सिद्धान्तों' और 'लक्ष्यों' को बिल्कुल ठीक-ठीक क्रियान्वित करते थे।

इस जिम्मेवारी में श्री विलसन का जो हिस्सा था, उसे बहुत अतिरंजित रूप में न रखना चाहिए। राष्ट्रवादी आकांक्षाएँ, जैसे कि हम देख चुके हैं, मौजूद थी ही और अपने भूतपूर्व प्रभुओं के दुर्बल होने से उत्तराधिकारी राज्यों को अनिवार्यतः बहुत काफ़ी स्वायत्तता मिल जाती। प्रायः यह कहा जाता है कि आस्ट्रिया का विघटन पैरिस में विजेताओं के सम्मिलन से पहले ही एक सिद्ध तथ्य था। यह भी स्वीकार करना होगा कि १९१७ के शुरू से इटालियनों और इसी प्रकार स्लावों, रूमनों और चैकोस्लोवाकों की विदेशी आधिपत्य से मुक्ति, मित्र राष्ट्रीय युद्ध नीति का घोषित हिस्सा थी।[3] परन्तु यह न भूलना चाहिए कि जिस नोट में ऊपर उद्धृत पदावलि आती है वह यूनाइटेड स्टेट्स के जर्मनी के साथ राजनयिक सम्बन्ध तोड़ने से एक महीने पहले और तब जब युद्ध में उसके हस्तक्षेप की पहले ही संभावना थी, अमेरिकन राष्ट्रपति के एक प्रश्न के उत्तर में लिखा गया था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि

---

१. उपर्युक्त प्रश्न के अधिक विवेचन के लिए मेरी पुस्तिका, द फौरटीन पौइंट्स एण्ड द ट्रीटी आफ वर्सोई देखिए। विश्वमामलों पर आक्सफ़ोर्ड पुस्तिकाएँ, नम्बर ६, औ० यू० पी०।

२. एच० डब्ल्यू० वी० टेम्परले, सम्पादक, ए हिस्ट्री आफ द पीस कॉन्फ्रेंस ऑफ पैरिस, लंदन, ब्रिटिश (रॉयल) इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्टरनेशनल अफ़ेयर्स के निमित्त फ्राउड एण्ड हाडर एण्ड स्टाउटन द्वारा प्रकाशित, १९१०-२४, जिल्द, ६, पृष्ठ ८४०।

३. मित्रराष्ट्रों का विलसन को उत्तर, १० जनवरी १९१७, हिस्ट्री आफ दि पीस कॉन्फ्रेंस आफ पैरिस, जिल्द १ पृष्ठ ४२८।

वह राष्ट्रपति के संविदित विचारों को व्यापक रूप में पुनः प्रस्तुत करें। इसका वास्तविक अर्थ उस तरह की घोषणाओं के प्रकाश में पढ़ना चाहिए जैसी श्री लायड जार्ज ने ५ जनवरी, १९१८ को की थी। इसमें उन्होंने जर्मनी के शाही संविधान को 'बदलने या नष्ट करने' का इरादा होने की बात अस्वीकार की थी और यह कहा था कि आस्ट्रिया-हंगरी को खंडित करना हमारे युद्ध-उद्देश्यों में सम्मिलित नहीं है। इसलिए, हम न्यायपूर्वक यह मान सकते हैं कि प्रथम तो पराधीन जातियों की आशाओं और प्रयासों को श्री विल्सन के वक्तव्यों से बहुत बढ़ावा मिला, और दूसरे यह कि यदि मित्रराष्ट्र अपनी मर्जी के मालिक होते तो वे लोकतंत्र और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त इतनी दूर से आगे न ले जाते जितना शत्रु देशों मे उपयोगी असंतोष पैदा करने के लिए आवश्यक होता और अगर आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य का खंडित होना अनिवार्य था तो भी इस परिस्थिति की मौन स्वीकृति में और असन्तुष्ट पराधीन जातियों के संबन्ध-विच्छेद या अलग हो जाने को समझौते का मार्गदर्शी सिद्धान्त बताने में बहुत बड़ा अतर है। इसलिए वर्साई मे लागू किये गये सिद्धान्तों के लिए मुख्य श्रेय, या जिम्मेवारी अमेरिकन राष्ट्रपति पर डालना उचित होगा।

सार्वभौम लोकतन्त्र
(Universal Democracy)

श्री विल्सन की नीति के आधारभूत मुख्य विचार मूलतः दो थे—पहला विचार तो उस शासन-प्रणाली के विरुद्ध धारणा का था जिसके अनुसार अब तक मध्य यूरोपीय शक्तियों के मामले चल रहे थे; उनका यह विश्वास था और उन्होंने इस बात पर आग्रह किया कि किसी भी ऐसी शासन पद्धति के होते हुए, जो पूरी तरह लोकतन्त्रीय न हो, स्थायी शांति नहीं हो सकती। २३ अक्तूबर १९१८ तक को[1] उन्होंने जर्मनी में प्राधिकृत वैधानिक परिवर्त्तनों को मानने से इन्कार कर दिया था और यह ध्वनित किया था कि जब तक 'साम्राज्य की नीति को नियंत्रित करने की प्रशा के राजा की शक्ति यथापूर्व कायम है' तब तक वे पूर्ण समर्पण से कम किसी चीज से संतुष्ट न होंगे। शासन पद्धति की ओर इतना ध्यान देने का परिणाम यह हुआ कि अभूतपूर्व उथल-पुथल के समय शान्ति सिर्फ क्रान्ति द्वारा ही कायम की जा सकती थी और योरोप के बहुत बड़े हिस्से ऐसी राजनैतिक शासन-पद्धति के लिए वचनबद्ध हो गये जिसके संचालन का उन्हें जरा भी अनुभव न था और जो उनकी सारी ऐतिहासिक परम्पराओं के विपरीत थी। यह भी कहा जा सकता है कि जब लोकतन्त्र किसी राष्ट्र की सैनिक पराजय के बाद उस राष्ट्र पर लादा जाता है और उससे, बहुमत को अत्यन्त अरुचिकर शान्ति सन्धि पूरी करने की जिम्मेवारी से युक्त सरकार बनाने को कहा जाता है, तब वह अपने ही मूल सिद्धान्त—जनता के चुनाव से और जनता की इच्छा के अनुसार ही शासन—का अतिक्रमण कर जाता है। जिन देशों में लोकतन्त्र सफलतापूर्वक चला है, उन सब में यह क्रमिक विकास के प्रक्रम द्वारा राजनैतिक अनुभव और क्षमता, जिस पर इसकी सफलता निर्भर है,

१. हिस्ट्री आफ दि कॉन्फ्रेंस आफ़ पेरिस, जिल्द १, पृष्ठ १७३।

के प्रसार के लिए समय देते हुए पैदा हुआ। इसके सिद्धान्तों को उनकी तार्किक परिणति तक लागू करने के परिणाम १९२० में किसी बड़े पैमाने पर व्यवहार में नहीं परखे गये थे। यूनाइटेड स्टेट्स में जहाँ पार्टियों को पृथक् करने वाली रेखाएँ एक अपेक्षया वर्गहीन समुदाय के सब हिस्सों में से उदग्रतः (vertically) जाती हैं, जहाँ परिस्थितियों ने व्यक्ति के लिए एक आपवादिक सम्मान कायम कर दिया है और जहाँ वैधानिक अवरोधों और संतुलनों (checks and balances) की विस्तृत प्रणाली बहुमत शासन के खतरों से नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करती है, जिन परिस्थितियों में लोकतन्त्र का विकास हुआ है, वे असामान्य रूप से अनुकूल थीं। पर योरोप में, जहाँ व्यापक राजनैतिक प्रशिक्षण के अभाव के कारण लोकप्रिय शासन का संचालन या तो अदक्ष और या एकांगी हो जाना सुनिश्चित था, अनुभव ने शीघ्र ही सुकरात के इस कथन की पुष्टि कर दी थी कि 'लोकतन्त्र बहुत आसानी से निरंकुश अत्याचार का जनक हो सकता है'।[1]

आत्म-निर्णय

जातीय आत्म-निर्णय (self-determination) का अधिकार, जो विल्सनीय नीति के सूत्र का दूसरा तत्त्व है, निःसंदेह लोकतंत्रीय सिद्धान्त का युक्ति-सम्मत प्रयोग प्रतीत होता है—यह इसके मूलभूत इस सिद्धान्त का आवश्यक परिणाम है कि सर्वोच्च प्रभुता जनता की इच्छा पर निर्भर है परन्तु इस युक्ति की मान्यता को लार्ड एक्टन[2] जैसे प्रतिनिधि उदारवादी विचारक ने चुनौती दी है, और जैसा भी है, पर यह राजनीति में तर्क को बहुत कठोरता से लागू करने के विनाशक परिणामों का प्रमुख उदाहरण है। अन्य सिद्धान्तों की तरह जिन पर, सर्वोच्च की विकृति सबसे बुरी है, यह युक्ति लागू होती है, यह भी तभी तक ठीक है जब तक इसे बहुत दूर न ले जाया जाय। कठिनाई यह थी कि राष्ट्रपति के विचार से यह सारी स्थिति की कुंजी तथा निर्भ्रान्त और सर्वत्र लागू होने वाली अमोघ औषधि थी। अन्य मित्रराष्ट्रों ने इसे जिस रूप में स्वीकार किया था, वह बिलकुल भिन्न था। इटली ने तो इसे अंगीकार ही नहीं किया। यह सिद्धान्त उसके दावों की पूर्ति में रुकावट था, जिनके लिए वह सम्मेलन में सारे समय यत्नपूर्वक संघर्ष करता रहा था। फ्रान्स को निःसंदेह इस सिद्धाँत में अपने शत्रुओं को खंडित करने का एक उपयोगी बहाना नजर आया; उसे तथा इंग्लैंड को यह भी प्रतीत हुआ कि केन्द्रीय शक्तियों के दबाये हुए अल्पसंख्यकों में असंतोष पैदा करके जो लाभ उठाया गया है, उचित सतर्कता और निर्बन्धों के साथ उसकी कीमत चुकानी है। परन्तु इस नाम से दिये गये वचनों का उन वचनों से अधिक महत्त्व नहीं था जो गुप्त संधियों में मौजूद थे, अरबों से किये गये थे, या उस ज़ियोनिस्ट (zionist) घोषणा में थे जिसके द्वारा यहूदी लोक-मत की सहानुभूति प्राप्त करने का यत्न किया गया था। ये सब वचन अवश्य पूरे किये जाने

१. प्लेटो, द रिपब्लिक पुस्तक ८ अंतिम अवतरण।

२. डेलबर्ग-एक्टन जे० ई० ई० द हिस्ट्री आफ फ्रीडम एण्ड अदर एसेज, लन्दन मैकमिलन १९०९, पृष्ठ २८८।

चाहिएँ और यथासम्भव उनमें सामंजस्य किया जाना चाहिए, जो और भी कठिन काम था; परन्तु आत्म-निर्णय की शान्ति के साधन के रूप में उपयोगिता के विषय में किसी को भ्रम नहीं था। यदि योरोपियन मित्र-राष्ट्रों को अपनी मर्जी पर छोड़ दिया जाता तो उन पर यह भरोसा किया जा सकता था कि वे इस सिद्धान्त को उतनी ही दूर तक लागू करेंगे जितनी दूर तक लागू करना तर्कसंगत होगा। ब्रिटिश लोकमत ने कभी भी यह सिद्धान्त नहीं माना था। स्वशासन, जो इसका ही संक्षिप्त पर्यायवाचक था, का आबादी के बहुत बड़े हिस्से ने बहुत समय से जोर-शोर से प्रतिवाद किया था। ब्रिटिश आदर्श यह था कि एक दूसरे से बहुत भिन्न अनेक जातियों को ऐसा न्यायपरायण और निष्पक्ष शासन प्रदान किया जाय कि वे राज-भक्त और संतुष्ट नागरिक बन जाँय। वह ऐसे प्रत्येक गौण तत्व के स्वतन्त्र सर्वोच्चता के दावे को विचारणीय नहीं मानता था। इसलिए, इसकी मुख्य जिम्मेदारी अमेरिकन राष्ट्रपति पर डालना न्यायसंगत है।

परन्तु सारी जिम्मेवारी उस पर नहीं डाली जा सकती। सरकारों पर कभी कभी पापभीरुता से रहित होने का संदेह किया जा सकता है, परन्तु लोकमत की भावना को जिसके बिना प्रथम विश्वयुद्ध जैसे संघर्ष को नहीं चलाया जा सकता था, एक भव्य उद्देश्य और उच्च आदर्श से सन्तुष्ट करना आवश्यक होता है, सधियों की पवित्रता और बेल्जियम पर जर्मन चढ़ाई द्वारा इसके भंग होने से संघर्ष की आरम्भिक अवस्थाओं में यह उद्दीपन प्राप्त हो गया। अब कुछ और चीज की आवश्यकता थी और आम तौर से यह अनुभव किया गया कि आजादी के लिए संघर्ष करने वाली जातियों की मुक्ति के रूप में यह आदर्श युद्धोद्देश्य प्राप्त हो गया। इस तथ्य ने श्री विल्सन की वाग्मिता को दूर दूर तक प्रभावोत्पादक बना दिया जो यह अन्यथा कभी न बन सकती थी। कारण यह कि यह एक भद्र प्रेरणा थी जिसमें कोई स्वार्थ का अंश न था और यह सिर्फ इसलिए हानिकारक हो गई कि राष्ट्रपति को योरोप की अवस्थाओं का ज्ञान न था। उनकी भूल की तुलना उस भूल से की जा सकती है जो श्री ग्लैडस्टन ने १८६२ में की थी, जब उन्होंने अपने इस कथन द्वारा उलझन पैदा कर दी थी कि जैफरसन डेविस (Jefferson Davis) ने दक्षिणी राज्यों के सम्बन्ध-विच्छेद (secession) से एक राष्ट्र की सृष्टि कर दी है। श्री ग्लैडस्टन ने अमेरिकन संघ या फेडरेशन को योरोपीय राष्ट्रवाद की परिभाषाओं में समझने का यत्न किया; श्री विल्सन ने योरोप के प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों पर वे सिद्धान्त लागू करके इस प्रक्रम को उलट दिया जिन पर उनके अपने देश की सफलता से निर्माण हुआ था। प्रत्येक वक्ता समुद्र पार की अवस्थाओं से सर्वथा अनजान था परन्तु उन भाषणों के दुष्परिणामों की निन्दा करते हुए भी हमें उनकी प्रेरक भावना का आदर करना चाहिए।

योरोपियन समझौते के आधार के रूप में उस सिद्धान्त की कई दृष्टियों से आलोचना की जा सकती थी। उस युग में जब बहुत कुछ मामला युद्ध की निरर्थकता के प्रदर्शन पर निर्भर था, राष्ट्रीय या जातीय मुक्ति के साधन के रूप में इसकी उपयोगिता पर बल देना निश्चय ही भूल थी। यह भी स्पष्ट है कि जातीय आधार पर प्रदेशों का विभाजन न केवल सामूहिक आवश्यकताओं को नजरन्दाज कर देता है—जो

शान्तिपूर्ण संसार में शायद उपेक्षित भी कर दिया जाय—अपितु आर्थिक आवश्यकताओं को भी भुला देता है। इसके अलावा, आत्म-निर्णय का विचार अल्प-विकसित जातियों के लिए भी, जो अपनी धारणा को छोड़कर, सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न राज्यों के कर्त्तव्य-निर्वाह के लिए सर्वथा अपात्र होते हैं, घातक सम्मोहन बनकर अशान्ति पैदा करता है, परन्तु इस सिद्धान्त का मुख्य सहज दोष इस तथ्य में निहित है कि व्यवहार में इसे लागू करने पर इसका अतिक्रमण करना अनिवार्य होता है। पूर्वी योरोप की जातियों और भाषाओं की खिचड़ी में कोई सुपृथक् विभेदक रेखायें नहीं हैं।[1]

मित्र और सहचारी शक्तियों (Associated Powers) ने अल्पसंख्यकों सम्बन्धी संधियों द्वारा इस व्यतिक्रमण के प्रभावों के कम करने का यथाशक्ति यत्न किया, परन्तु वह तथ्य तो बना ही रहा। इस सिद्धान्त को कितनी भी निष्पक्षता से लागू किया जाय पर लाखों योरोपियनों को यह कष्टदायक असन्तोष तो बना ही रहेगा, जिसे वे स्वयं इस सिद्धान्त का नाम लेकर उचित ठहरा सकते हैं। इस परिस्थिति से निकलने का कोई भी मार्ग नहीं है। अन्तिम बात यह कि जिस सीमा तक, सर्वथा नए सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की सृष्टि के इस सिद्धान्त को लागू किया गया उसके बाद जहां खतरा प्रत्यक्ष दिखाई देता था, वहाँ शान्तिपूर्वक अदल-बदल की सम्भावना प्रायः लुप्त हो गई थी। राष्ट्रों और प्रान्तों को, खेल की गोटियों की तरह अदल-बदल करने की पुरानी रीतियों में कम से कम यह तो लाभ था कि पुनः अदल-बदल हो सकता था या गोटियों को अधिक सुरक्षित स्थिति में पहुँचाया जा सकता था परन्तु वर्साई में लागू किये गये सिद्धान्त से यह समस्या प्रायः असमाधेय थी। प्रसंविदा के बहुत बार उद्धृत किये जाने वाले अनुच्छेद १९ से कोई खास सहायता नहीं मिल सकती थी—यह अनुच्छेद उन संधियों के पुनर्विचार के विषय में है, जो अप्रयोज्य हो गई हैं; यह पदावली ऐसी है, जो शुरू से लागू आलोचना के आधारों की गुँजाइश समाप्त कर देती प्रतीत होती है। दंडात्मक उपबंधों या प्रतिरक्षात्मक समर-कला पर आधारित अवस्थाओं को वास्तव में वैसा तब कहा जा सकता है जब सम्बन्ध अधिक मैत्रीपूर्ण हो जाय, पर पोलिश संपथ (Polish Corridor) के जैसे मामलों में, जिनकी आबादी पहले से कम होने के बजाय अधिक पोलिश हो गई और जहां डीनिया (Gdynia) के बन्दरगाह के निर्माण जैसे नये कारणों से कब्जाधिकारियों का स्वार्थ अधिक प्रबल हो गया, पुनरीक्षण के लिए कोई ऐसा तर्क नहीं पेश किया जा सकता था। अनुच्छेद के और आगे के शब्दों में, इसका अस्तित्व 'एक ऐसी शर्त हो सकती है जिसके जारी रहने से विश्व को खतरा है' परन्तु अगर इस अवस्था को पैदा करने के लिए दावेदार को सिर्फ आक्रमण की धमकी देनी है तो अनुच्छेद १० का क्या लाभ होगा। वास्तविक कठिनाई इस तथ्य के कारण

---

१. उन प्रदेशों की वास्तविक स्थिति से राष्ट्रपति विल्सन जैसा कि उन्होंने बाद में स्वीकार किया बहुत कम परिचित थे 'जब मैंने वे शब्द उच्चारण किये' आपने कहा ('कि सब राष्ट्रों को आत्म निर्णय का अधिकार है') उस समय मैंने बिना यह जाने ये शब्द कहे थे कि ऐसी राष्ट्रीय जातियाँ विद्यमान हैं जो प्रतिदिन सामने आ रही हैं'। (हिअरिंग्स, कमेटी आफ फारेन रिलेशन्स यू० एस० सैनेट ६६वीं काँग्रेस संख्या १०६, पृष्ठ ८३८)।

पैदा हुई कि संधियों की राज्य-क्षेत्रों सम्बन्धी धाराएँ समर-कला, अर्थशास्त्र या दंड के भी व्यावहारिक दृष्टिकोण पर आधारित न थीं, बल्कि एक ऐसे गम्भीर सिद्धान्त पर आधारित थीं, जो स्वत्वाधिकारियों को एक निर्विवाद स्वत्व से सम्पन्न करता था। इस प्रकार संशोधन को प्राय: प्रत्येक प्रस्थापना उस सिद्धान्त पर आक्रमण का रूप ग्रहण कर लेती थी जिस पर कई नये राज्यों की प्रभु-सत्ता आधारित थी। इसलिए इससे प्रत्येक उत्तराधिकारी राज्य भयभीत हो जाता था। इस प्रकार यह हुआ कि जिन राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सहयोग के आधार पर नई व्यवस्था खड़ी होती थी वे दो पुरुष समूहों—संशोधनवादी और संशोधन विरोधी—में फौरन विभाजित होने लगे। यह समूह उन्ही सम्मेलनों का संकेत करते हैं जिन्होंने युद्ध-पूर्व की दुनिया को भूमिसात् कर दिया था।

इन समूहों के बीच में इटली था, जो एक ऐसी संदिग्ध शक्ति था जिसे शाँति समझौते ने कुछ अंश तक संतुष्ट और कुछ अंश तक असंतुष्ट किया था और जो उनके अंतिम सतुलन के लिए गम्भीर खतरा था; पूर्व में बोलशेविक रूस खड़ा था, जो एक अब तक न सुलझी हुई गुत्थी था—वह अधिक से अधिक असहयोगी और उन अन्तर्राष्ट्रीय आकाँक्षाओं से युक्त बताया जाता था, जिसका शेष समुदाय घृणा से प्रत्याख्यान करता था और पश्चिम मे ब्रिटेन था जिसके वाणिज्यिक हितों के लिए परस्पर विरोधी बलों में से एक की ताकत को पुन: कायम करना ज़रूरी था और जिससे दूसरे के मन में संदेह और रोष पैदा होना अवश्यम्भावी था। यह स्थिति थी जिसे संसार के आदर्शवाद और श्री विल्सन की वाणी ने पैदा कर दिया था और जिसके बारे में श्री विल्सन को आशा थी कि मानव जाति का संगठित लोकमत उसे बनाये रखेगा पर जिसके लिए उनके देश ने कोई भी जिम्मेवारी लेने से फौरन इन्कार कर दिया था।

इन पृष्ठों में जो कहानी अभिलिखित है, उसकी समाप्ति पर संसार किस जगह पहुँचेगा, यह तो वास्तव में उन अच्छे-अच्छे इरादों से पहले ही पता चल गया था जिनसे उस मार्ग का निर्माण हुआ था।

———

: २ :

पश्चिमी योरोप : मित्रराष्ट्र और जर्मनी—रूहर पर आधिपत्य तक

मित्रराष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध

शान्ति समझौता होने के तुरन्त बाद के वर्षों का पश्चिमी योरोप का अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास मुख्यत: मित्रराष्ट्रो और जर्मनी के सम्बन्धों का ही विवेचन करता है। क्योंकि जहाँ स्वयं मित्रराष्ट्रों की पारस्परिक एकता की मात्रा पर उनके भूतपूर्व शत्रु के प्रति उनकी नीतियों के अंतरों से सीधा प्रभाव न पड़ता था, वहाँ भी सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council) मे या इस तरह की गौण-संस्थाओं, जैसे क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) या राइन लैंड उच्च आयोग (Rhineland High Commission) में होने वाले विनिश्चय भी काफी हद तक सौहार्द की उस मात्रा पर निर्भर होने थे, जो उनमें मौजूद दो या अधिक देशों के बीच विद्यमान थी। अमेरिका के चले जाने से इन संस्थाओं की सदस्यता घट कर ऐसी जगह आ गई थी जहाँ दो राष्ट्र एकमत होकर यदि अपने पक्ष में वास्तविक बहुमत न कर सकें तो भी अपनी नीति के विरोधी विचार के मार्ग मे अलंघ्य बाधा पैदा करने के लिए काफी थे। राइनलैंड उच्च आयोग में सिर्फ़ तीन शक्तियाँ, बेल्जियम, फ्रांस और ब्रिटेन रह गई; अन्य निकायों में भी जिनका उल्लेख किया गया है, इटली का मत संदिग्ध हो गया। जर्मनी के प्रति ब्रिटेन और अन्य राष्ट्रों में दृष्टिकोण का जो अन्तर हो गया उसके विषय में संभाव्यत: अमेरिका के निकल जाने से ब्रिटेन एक वोट से वंचित हो गया, जिस पर यह प्राय: भरोसा करता था। इस समय ऐसे किसी भी प्रश्न पर, जो फ्राँस और बेल्जियम के सम्बन्धों में तनाव पैदा कर सकता था, समझौते का अत्यधिक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व हो गया था।

बेल्जियम, फ्रांस और लेक्ज़मबर्ग

इस तरह का फूट डालने वाला मामला लेक्ज़मबर्ग में अक्टूबर १९१९ में पैदा हुई स्थिति से सामने आया। युद्ध ने ग्रांडडची (Grand Duchy) और जर्मन जौल्वेरीन (German Zollverein) के संबन्ध अनिवार्यत: विच्छिन्न कर दिये थे, लेकिन क्यों कि इस छोटे से, पर अत्यधिक उद्योगीकृत, प्रदेश का आर्थिक एकाकीपन में रहना असम्भव था, इसीलिए बेल्जियम या फ्रांस के साथ नया सीमा-शुल्क ऐक्य करने के विकल्प स्वभावत: सामने आये। १९१९ में हुए मतसंग्रह द्वारा यह प्रश्न काफ़ी बड़े बहुमत से फ्रांस के पक्ष में तय हुआ, पर शर्त यह थी कि दोनों देशों के बीच

संतोषजनक व्यवस्था की शर्तें तय हो जायें। इस निश्चय से बेल्जियम इतना नाराज हुआ कि उसने लेक्ज़मबर्ग के साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध समाप्त कर दिए। उसी समय नवम्बर में यूनाईटेड स्टेट्स के हट जाने और उसके परिणामस्वरूप जर्मन आक्रमण के विरुद्ध ब्रिटिश अमेरिकन गारन्टी समाप्त हो जाने पर फ्रांस की आंख खुली और उसने अपने पड़ोसी बेल्जियम के साथ मित्रतापूर्ण संबंधों का महत्त्व अनुभव किया। उसने उसके साथ सितम्बर १९२० में प्रतिरक्षात्मक सैनिक समझौता किया; परिणामत: वह क्षेत्र से हट गया और जुलाई १९२१ में बेल्जियम और लेक्जमबर्ग में आर्थिक ऐक्य की संधि पर हस्ताक्षर हो गए। इसी कारण से वह अधिकर जो फ्रांस ने एंटवर्प (Antwerp) के रास्ते आने वाली जर्मन वस्तुओं पर लगा दिया था और जिससे बेल्जियम को गम्भीर असंतोष हुआ था, १९२१ में हटा दिया गया, और इस प्रकार आर्थिक समझौते के लिए मार्ग साफ हो गया जिस पर लगभग दो वर्ष बाद हस्ताक्षर हुए।

फ्रांस के साथ इस मिलाप को फ्लेमिशभाषी बेल्जियम वासियों ने जो बेल्जियम की स्वाधीनता के शुरू के दिनों से भाषा के आधार पर आन्दोलन चला रहे थे, कुछ संदेह की दृष्टि से देखा। एक समय इन लोगों का विरोध बहुत गम्भीर प्रतीत होता था परन्तु बेल्जियम की सरकार द्वारा फ्लेमिश भाषा की स्थिति और उपयोग के बारे में दी गई बहुत सी रियायतों के परिणामस्वरूप वह शांत हो गया। इस लिए यद्यपि बेल्जियम में ऐसे लोग थे जिनके कारण वह फ्रांस के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध करने से डरता था, वह राष्ट्र संघ का प्रबल समर्थक हो गया। बेल्जियम और फ्रांस के बीच नीति में सहयोग होने में जो मुख्य बाधाएं थीं, वे प्राय: शुरू में ही हटा दी गईं।

जर्मनी के प्रति फ्रांस और इंगलैण्ड का दृष्टिकोण

परन्तु यह प्राय: अनिवार्य था कि ब्रिटेन और फ्रांस में शीघ्र ही उद्देश्य और दृष्टिकोण का बहुत अंतर हो जायगा। अंग्रेज भूलने और माफ करने को सदा तैयार रहता है पर शायद इसपर प्रसन्न होने की गुंजायश नहीं है क्योंकि योरोप में यह समझा जाता है कि अंग्रेज उसी अनुपात में पिछली मित्रताओं और कृपाओं को भी भूल जाता है। पर यह सब मानते हैं कि अंग्रेज में यह गुण है। इसके अलावा जिस राष्ट्र का सबसे बड़ा हित इस बात में है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अधिकतम विस्तार हो उसके लिए जर्मनी का फिर पूर्वावस्था में आ जाना सिर्फ एक अनिवार्य बुराई न था, बल्कि एक वांछनीय परिणाम के रूप में उसकी प्रतीक्षा की जाती थी। तीसरी बात यह है कि ब्रिटेन को, जिसकी जिम्मेवारियां संसार भर में फैली हुई थीं, स्वभावत: अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को विस्तृत दृष्टिकोण से देखना था, जो उसके मुख्य मित्र राष्ट्र के लिए, जो अपनी सुरक्षा के संकीर्ण उद्देश्य से ही चिंतित था, प्राय: असंभव था। फ्रांस की अवस्था उस मुक्केबाज जैसी थी जिसने पिछले चेम्पियन को एक अच्छी चोट जमा दी है, पर वह अभी विस्मित होकर यह देख रहा है कि उसका प्रतिपक्षी 'मर गया' या 'उसका मरना' बाकी है। शायद अखाड़े की शब्दावली उपयुक्त न रहे

क्योंकि इस बात में बिना गये कि किसका कितना दोष था, यह स्वीकार करना होगा कि इस हाल के संघर्ष में क्वीन्स बेरी नियमों (Queensberry rules)[1] की विशेष रूप से उपेक्षा की गई थी। फ्रांस से यह आशा करना कठिन था कि वह पिछली चोटों को भूल जायेगा, चाहे वह कितना भी वांछनीय हो, जिसके भरे पूरे गाँवों की एक-एक ईंट की जगह पानी से भरे हुए बमों के खोल ही खोल बिखरे पड़े हुए थे। अगर वह अपनी क्षति की पूर्ति और उस क्षति की पुनरावृत्ति से स्थायी सुरक्षा की बातें न सोचता तो वह इंसान न गिना जाता। इसके अलावा, गत युद्ध वह दूसरा दौर था, जो उसे उसी पीढ़ी में उसी प्रतिपक्षी के विरुद्ध जिसने संधि के वचनों और अपनी प्रतिज्ञाओं की बेशर्मी से उपेक्षा करके पुनः लड़ाई छेड़ी थी, और जिसके विष को हथियार के रूप में प्रयुक्त करने के अभूतपूर्व कार्य से अनेक फ्रेंच सैनिकों के फेफड़े अब भी प्रभावित थे, लड़ना पड़ा था। शांतिपूर्वक विचार करते हुए हम फ्रेंच नीति की उपयुक्तता की आलोचना कर सकते हैं, पर हम इस बात पर आश्चर्य या रोष नहीं अनुभव कर सकते कि फ्रांस कुछ वर्षों तक जर्मन को भयंकर घृणित और सदा अविश्वसनीय आदमी मानता रहा।

सार का प्रशासन

(Administration of the Saar)

क्षतिपूर्ति के मुख्य प्रश्न पर बुनियादी मतभेद होने के अलावा, फ्रेंच और ब्रिटिश दृष्टिकोणों में शांति समझौते से पैदा हुई दो और बातों के कारण संघर्ष बढ़ना अनिवार्य था, और वे थीं सार का प्रशासन तथा राइनलैण्ड पर आधिपत्य।[1] संधि के अनुसार, सार प्रदेश का कोयला, खानें, और मशीनें अबाधित सम्पत्ति के रूप में फ्रांस को हस्तांतरित कर दी गई थीं और उस प्रदेश की अन्तिम सर्वोच्चता का निश्चय १६३५ में मत संग्रह द्वारा तय हुआ था। तब तक के लिए इस प्रदेश का शासन राष्ट्रसंघ के, जिसके संरक्षण में यह सौंपा गया था, तत्त्वावधान में एक आयोग के सिपुर्द किया गया था। इस आयोग के सभापति एक फ्रांसीसी श्री राउल्ट (M.Rault) थे। एक स्थानीय जर्मन प्रतिनिधि था और शेष तीन स्थानों पर एक बेल्जियम वासी, एक डेन और एक कनाडियन नियुक्त किये गये थे।

इस व्यवस्था से निष्पक्ष प्रशासन की आशा की जा सकती थी पर क्योंकि कुछ क्षेत्रों में डेनिश सदस्य को निश्चित रूप से फ्रेंच प्रभाव के अधीन बताया गया था और बेल्जियन प्रतिनिधि के फ्रेंच दृष्टिकोण से सहमत होने की आशा की जाती थी, इसलिए इस प्रकार गठित सरकार के तंत्र पर वास्तव में कुछ संदेह किया जाता था, चाहे वह साधारण हो या नहीं। जर्मन सदस्य ने शीघ्र ही इस्तीफा दे दिया और उसके उत्तराधिकारी को सब लोगों का समर्थन न मिला। उधर कनाडियन सदस्य ने जो

---

१. मुक्केबाजी के प्रामाणिक नियम।

२. शर्त यह थी कि यदि यह प्रदेश वापस जर्मनी को मिला तो जर्मनी, फ्रांस, जर्मनी और राष्ट्रसंघ द्वारा नामजद तीन विशेषज्ञों द्वारा तय की गई कीमत पर उसे पुनः खरीद सकता था। इन विशेषज्ञों का निर्णय बहुमत से लागू होना था।

बहुधा अकेला ही किसी पक्ष में होता था, १९२३ में अपना पद छोड दिया। जिस समय आयोग ने अपना काम शुरू किया उस समय भी एक फ्रेंच सेना का प्रान्त पर कब्जा था और स्थानीय सेना का निर्माण होने तक यह कायम रहा। स्थानीय सेना के निर्माण की दिशा में मन्द प्रगति होने के बारे में जर्मन सरकार ने राष्ट्र संघ को बार-बार विरोध-पत्र भेजे। परिषद् के जोर डालने पर सेना, जिसकी संख्या १९२० में ७६७७ थी, घटाकर १९२२ में २७३६ कर दी गई और १९३२ के आरम्भ में उस क्षेत्र में उपद्रवों के परिणामस्वरूप ७ अप्रैल १९३२ तक वह संख्या फिर काफी बढ़ा दी गई।

यह प्रश्न, कि क्या फ्रेंच सेना का कायम रखना उस संधि के साथ सुसंगत था, जुलाई १९२० में ही उस समय तीव्र रूप में सामने आया था, जब अफ़सरों की जो आयोग द्वारा बनाई गई वेतन और पेंशन की पद्धति से असंतुष्ट थे, हड़ताल सैनिक हस्तक्षेप से तोड़ी गई थी। आयोग के प्रशासन से अनेक छोटी मोटी शिकायतें, जो शायद अनिवार्य थीं, पैदा हो गई पर १९२३ के बसंत में उन उपायों के कारण, जो आयोग ने खनिकों की हड़ताल का सामना करने के लिए—यह हड़ताल फ्रांस और बेल्जियम के रूहर पर आधिपत्य से उत्पन्न तनाव से संबंधित थी—उठाये, स्थिति गम्भीर हो गई। राष्ट्रसंघ की परिषद् के ब्रिटिश प्रतिनिधि ने इन उपायों की जो आलोचना की उनके कारण उसका फ्रेंच प्रतिनिधि से विरोध हो गया, और ब्रिटिश संसद् में एक विवाद में प्रयुक्त किये गये कुछ कठोर शब्दों ने दोनों देशों के बीच तनाव और बढ़ा दिया।

राइनलैंड पर आधिपत्य

(The Rhineland Occupation)

रूहर पर आधिपत्य की अवधि में और पृथक्तावादी आन्दोलन के प्रश्न पर जो मतभेद पैदा हुए इन दोनों बातों पर बाद में विचार किया जायेगा--उनके अलावा ब्रिटिश और फ्रेंच दृष्टिकोणों में जो अंतर था वह मुख्यत: राइनलैंड के आधिपत्य के प्रश्न पर उस भावना में उल्लेखनीय अंतर मे प्रकट होता था जिससे आधिपत्य रखा जा रहा था। शांति समझौते के इस प्रश्न के बारे में यह अनुभव करना आवश्यक है कि यद्यपि संधि में जर्मनी द्वारा संधि की शर्तें पालन करने की गारन्टी के रूप में आधिपत्य उचित ठहराया गया था, पर तो भी इस प्रश्न का, सुरक्षा के सम्बन्ध में फ्रांस और अन्य मित्रराष्ट्रों में फ्रेंच प्रस्थापनाओं के विषय में हुई बार्ता से वास्तव में घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह पहलू हर समय ध्यान में रखना चाहिए। हम १९३० में राइनलैंड में पृथक्तावादी आन्दोलन को फ्रांस द्वारा दिये गए प्रोत्साहन के सिलसिले में फिर इस पहलू की चर्चा करेंगे।[1]

---

१. पृष्ठ ५३। और देखिए तार दू ए०; ला पैक्स, पेरिस, पेयो १९२१, पृष्ठ २०१-२४।

जर्मनी की आंतरिक स्थिति

जर्मनी की आंतरिक स्थिति को बिना समझे उस नीति को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, जो मित्रराष्ट्रों को जर्मनी के प्रति अपनानी उचित थी। १९१८ की क्रांति ने राजनैतिक शक्ति उन लोगों के हाथ में पहुँचा दी थी जो उसका प्रयोग करने के लिए कतई तैयार न थे। परिवर्तन अत्यधिक आकस्मिक था। १ अक्तूबर १९१८ को हर्टलिंग (Hertling) के त्यागपत्र तक उत्तरदायी संसदीय शासन स्थापित करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई थी, हालांकि यह मामला, विशेष रूप से राष्ट्रपति विल्सन के ८ जनवरी के और इसके बाद के भाषणों से, एक ज्वलंत प्रश्न बन चुका था और ११ जुलाई १९१७ के शाही फर्मान मे कुछ सुधार कार्यों का वादा किया गया गया था। बेडन के प्रिंस मैक्स (Prince Max of Baden) ने, जो अस्थायी सुलह की वार्ता शुरू होने के साथ ही चांसलर बने, २२ अक्तूबर १९१८ को लोकतंत्रीय दिशा में वैधानिक परिवर्तन करने की अपनी प्रस्थापनाएं लागू कीं और दो दिन पहले अमेरिकन राष्ट्रपति को भेजे गये अपने नोट में इन परिवर्तनों की स्वीकृति को अवश्यंभावी माना था। पर जो हेर-फेर प्रस्थापित किए गए थे, वे पूर्णतया वैधानिक थे। श्री विल्सन ने इस नोट का २३ अक्तूबर को जवाब दिया। उन्होंने इसमें साम्राज्य की नीति नियंत्रित करने की प्रशा के राजा की शक्ति का विशेष रूप से उल्लेख किया था और निरंकुश राजाओं से समर्पण के अलावा और किसी शर्त पर बातचीत करने से इन्कार कर दिया था। उनके इस उत्तर ने क्रांति को अनिवार्य कर दिया। २८ अक्तूबर को कील (Kiel) में हुए नौ सैनिक विद्रोह के अलावा ७ नवम्बर से पहले और कहीं क्रांतिकारी उपद्रव नही हुआ। ७ नवम्बर को बवेरिया में गड़बड़ हुई। इस प्रकार ९ नवम्बर के कैसर के राज्य-त्याग और पलायन, प्रिंस मैक्स के त्यागपत्र और उसी दिन गणराज्य की उद्घोषणा से सिर्फ दो दिन पहले यह अव्यवस्था शुरू हुई।

नियंत्रण अचानक समाजवादियों (Socialists) के हाथों में आगया जिनका[१] सिर्फ एक उग्रपन्थी हिस्सा वास्तविक अर्थ में क्रान्तिकारी था। इन स्पार्टसिस्टों (spartacists) ने, जो बोल्शेविज्म के निकट थे और हिंसा के उपायों की ओर झुके हुए थे, सड़कों पर लड़ाई के युग का सूत्रपात किया। विडम्बना यह थी कि यह लड़ाई वाम-पक्षी राजनैतिक दलों तक सीमित थी और इस तथ्य से यह विडम्बना और भी बढ़ जाती है कि सरकार के पास भरोसा करने लायक एक मात्र बल कट्टर प्रतिक्रियावादी अफ़सरों वाली पुरानी सेना के बचे खुचे लोगों से गठित था। अगर पलड़ा मध्यवर्गीय नियंत्रण की दिशा में भारी हो गया और बोल्शेविज्म के खतरे को पीछे हटा दिया गया तो इसका मुख्य श्रेय उस प्राधिकारवादी प्रशिक्षण को था जो जर्मन जनता को उस शासन में मिला था जिसे राष्ट्रपति विल्सन ने जान बूझ कर उखाड़ फेंका था।

---

१. इस विषय में देखिये, एम० जे० बौन, क्राइसिस आफ योरोपियन डैमोक्रेसी, न्यू हेवन, १९२५, पृष्ठ ४८-९।

यद्यपि कुछ समय तक उपद्रव चलते रहे पर जनवरी १९१९ के चुनावों ने मध्यमार्गी शक्तियों के संयुक्त दल को पदारूढ़ कर दिया।

सरकार में परिवर्तनों के बावजूद उसका स्वरूप वैसा ही था और इसलिए वर्साई में लादी गई शांति शर्तों को स्वीकार करने, और पूरा करने का यत्न करने की जिम्मेवारी और उसके साथ आवश्यक रूप से विद्यमान कलंक, इन तथा इनके उत्तराधिकारियों पर ही आता था। उनकी स्थिति स्पष्टत: बड़ी डगमग थी, क्योंकि एक ओर तो उग्रपन्थी राष्ट्रवादी और दूसरी ओर क्रान्तिकारी समाजवादी और साम्यवादी उनका विरोध कर रहे थे, और मित्रराष्ट्रों के हितों की दृष्टि से उनकी कठिनाइयों में सहानुभूति दिखाना और उनके प्रशासन का समर्थन करना ही उचित प्रतीत होता था। दोनों खतरनाक गुटों में सेना से मुक्त हुए अफ़सर, बिना कमीशन वाले अफ़सर और सैनिक, जिन्हें शान्ति ने असन्तुष्ट और आशाहीन रूप में संसार में ला फेंका था, अपने-अपने विभिन्न राजनैतिक झुकावों के साथ शामिल हो गये थे। इन्हें स्वयं भूनेताओं ने उन दलों में जिन्हें फ्री कोर (जर्मन भाषा) में कहते हैं, संगठित कर लिया था। इनमे से एक के विघटन का प्रयत्न ही मार्च १९२० की उस गम्भीर घटना, कैप पुटश (Kapp Putsch) का कारण था, जब सरकार को अस्थायी रूप से बर्लिन से निकाल दिया गया और प्रत्यक्षतया इस आशा से कि राजतंत्र के पक्षपातियों का बहुमत हो जाएगा, अविलम्ब चुनाव की मांग की गई। यद्यपि यह आन्दोलन मुख्यत: आम हड़ताल के संगठन द्वारा, जिसने यह सिद्ध कर दिया है कि जनता की सहानुभूति सरकारी प्रशासन के साथ थी, शीघ्र ही ठप्प हो गया पर इसके अविलम्ब बाद रूहर के औद्योगिक क्षेत्र में कम्यूनिस्ट ढंग के उपद्रव हुए जिन्होंने मित्रराष्ट्रों की नीति के प्रश्न को मुख्य रूप से सामने ला दिया। उपद्रवग्रस्त क्षेत्र विसैन्यीकृत क्षेत्र में था और इस खतरे को दूर करने के लिए जर्मन सरकार ने उस जिले में उन सेनाओं के अलावा और सेनाओं के भेजने की अनुमति मांगी, जो उन्हें वहाँ कुछ अवधि के लिए, जो शीघ्र ही समाप्त होने वाली थी, रखने की इजाजत दी गई थी। अंग्रेज इस प्रार्थना को स्वीकार करने के पक्ष में थे। पर फ्रांसीसी उसके विरोधी थे और जब जर्मनी ने मामला अपने ही हाथों में ले लिया, तब फ्राँसीसियों ने अपने मित्रराष्ट्रों से बिना परामर्श किए फ्रांकफर्ट (Frankfurt) व डार्म स्टाट (Darmstadt) नगरों पर अधिकार कर लिया। पर यह घटना जिसने मित्रराष्ट्रों में तनाव बढ़ा दिया था, मई के महीने में संतोषजनक रूप से हल हो गई, और इसका प्रभाव आगामी जर्मन चुनावों पर हुआ, जब दोनों उग्रपन्थी दल बहुत सशक्त हो गए और इसके परिणामस्वरूप अगले कुछ वर्षों तक एक के बाद एक करके कई दुर्बल और अस्थिर, प्रशासन आते रहे।

युद्धापराध सम्बन्धी खंड
(War-Guilt Clause)

जर्मन जनता की शिकायत के जिन प्रमुख कारणों ने उग्रवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया उनमें से क्षतिपूर्ति और निरस्त्रीकरण (disarmament) से सम्बद्ध

कारणों पर अलग विचार किया जायेगा। इन कारणों के अलावा वर्साई की संधि के युद्ध अपराध वाले खंड (war-guilt clause) (अनुच्छेद २३१) से आश्चर्यजनक मात्रा में रोष पैदा हुआ। इसे क्षणिक भावना की लाक्षणिक अभिव्यक्ति मात्र माना जा सकता था और दबाव में माने जाने के कारण यह समझा जा सकता था कि सच्चे दिल से जिम्मेवारी नहीं स्वीकार की गई, क्योंकि यह संधि के क्षतिपूर्ति वाले हिस्से के ऊपर विद्यमान था इसलिए इसे वह आधार भी समझा जा सकता था जिस पर बाद वाली मांगों का सारा दारोमदार था। श्री लायड जार्ज ने मार्च १९२१ में लंदन सम्मेलन में दिये एक वक्तव्य में इस तरह के कार्य का समर्थन किया था, पर यह उपपत्ति टिक नहीं सकती क्योंकि क्षतिपूर्ति का वास्तविक दावा स्पष्टतः सैनिक सुलह से पहले तय की गई शर्तों से सम्बन्धित था (देखो पृष्ठ २) और सत्य तो यह है कि दुश्मन पर लगाई गई शर्तों के औपचारिक बयान में युद्ध अपराध खंड वैसा ही अप्रासंगिक था जैसा निरस्त्रीकरण वाले भाग मे मित्रराष्ट्रों का अपने शस्त्रास्त्र घटाने की इच्छा और इरादे का वैसा ही वक्तव्य। तो भी युद्धापराध का आरोप, जो निःसंदेह सब मित्रराष्ट्रों के हार्दिक विश्वास को निरूपित करता था और जो अब भी बहुत से निष्पक्ष व्यक्तियों के खयाल में; न सही अक्षरशः पर सारतः सत्य है, न केवल जर्मनी में स्थायी कोप का कारण था बल्कि इसे खंडित करने के लिए बड़ी मेहनत से बहुत मोटे-मोटे ग्रन्थ भी लिखे गये।

युद्ध-अपराधी (War Criminals)

वर्साई की संधि में कैसर और उन व्यक्तियों के, जिन पर युद्ध के कानूनों और प्रथाओं को भंग करने का आरोप था, समर्पण और अभियोजन-सम्बन्धी उपबन्धों को इस कारण हाल ही में विशेष रूप से अधिक महत्व प्राप्त हो गया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भी वही प्रक्रिया लागू और विस्तृत की गई। इसलिए विशेष रूप से प्रचलित भ्रांत धारणाओं को देखते हुए, अब इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना तब की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक है जब इस पुस्तक का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। उस समय ब्रिटेन में १९१८ के चुनाव के दौरान, 'कैसर को फांसी दो' इस नारे के प्रचलन के बावजूद, भूतपूर्व सम्राट् के विरुद्ध कार्यवाही करने के सुझाव को आम तौर पर लोकभावना को शान्त करने का हानिरहित तरीका समझा जाता था और यदि प्रतिवादी पहले ही एक तटस्थ देश की शरण में न चला गया होता तो वह तरीका सरकारी तौर से अपनाया ही न जाता। बड़े-बड़े कानून-विशारदों का यह विचार होते हुए भी कि मुकदमा बन सकता है; आम तौर पर इस विचार को संदेह-योग्य समझा जाता था और टेम्पल (लंदन में वकालत के अध्ययन की जगह) की वाटिकाओं में इसका उपहास भी किया जाता था। संधि के इस खंड (अनुच्छेद २२७) का सब से अनुकूल निर्वचन यह प्रतीत होता था कि यह

१. देखिए प्रोफेसर जिमर्न का पत्र, जनरल आफ द ब्रिटिश (रायल) इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफैअर्स, १९२३, पृष्ठ ८७।

आक्रमणात्मक युद्ध के प्रति नये रुख को सूचित करने वाली पदावली थी, परन्तु अब यह स्पष्ट है कि प्रमुख मित्रराष्ट्रों का कैसर पर मुकदमा चलाने का आशय सर्वथा गम्भीर था और चार बड़े राष्ट्रों के संवचनों (dicta) की जिस रूप में श्री हन्टर मिलर (Hunter Miller) ने रिपोर्ट दी थी, उससे सूचित होता है कि डच सरकार से यह आशा नहीं थी कि यह शरणागत को समर्पित करने से इन्कार करने पर अड़ी रहेगी, यद्यपि यदि वह ऐसा करती तो उसके दृष्टिबिन्दु के औचित्य पर कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती थी।

शान्ति सम्मेलन द्वारा स्थापित उस आयोग ने, जिसे उत्तरदायित्वों और सम्मोदनों (किसी राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय विधि भंग करने के निर्मित बाधित करने के लिए अपनाये गये बलात् उपाय) पर विचार करने का कार्य सौंपा गया था, उसने यह प्रतिवेदन दिया (अमेरिकन और जापानी सदस्यों ने इससे सहमति नहीं प्रकट की) कि युद्ध के कानूनों और प्रथाओं के विरुद्ध और मानवता के कानूनों और प्रथाओं के विरुद्ध किये गए अपराधों पर उचित तौर से न्यायिक कार्यवाही की जा सकती है जिससे राज्यों के प्रधान भी उन्मुक्त नहीं है। उन्होंने इस सिद्धान्त को विस्तृत करके उन्हें भी इसमें समाविष्ट कर लिया जिन्होंने दखल देने के आशय और प्राधिकार का ज्ञान होते हुए भी इन अपराधों को रोकने का यत्न नहीं किया। पर उन्होंने यह निर्णय किया कि जिन कार्यों के परिणामस्वरूप युद्ध हुआ उन पर यह कार्यवाही नहीं की जा सकती और स्पष्ट तौर पर कहा, कि "आक्रमणात्मक युद्ध को ऐसा कार्य नहीं समझा जा सकता जो निश्चित या प्रत्यक्ष कानून का सीधा विरोधी हो, या जिसे किसी ऐसे न्यायाधिकरण के सामने सफलता की जरा भी आशा रखते हुए प्रस्तुत किया जा सके जैसा अधिकरण निर्मित करने का इस आयोग को अधिकार है" और विशेष रूप से बेल्जियम और लक्समबर्ग पर हुई चढ़ाई में अंतर्ग्रस्त संधिग्रों को जान बूझकर भंग करने के सिलसिले में जिम्मेवार अधिकारियों या व्यक्तियों और विशेपकर भूतपूर्व कैसर के विरुद्ध कोई आपराधिक अभियोग नहीं लगाया जा सकता। उनकी सम्मति में इन विषयों पर सम्मेलन में औपचारिक निंदा कर देनी चाहिए, यद्यपि उन्होंने यहां तक सुझाया कि सम्मेलन इस अभूतपूर्व स्थिति में इस बात के औचित्य पर विचार करे कि क्या उन व्यक्तियों को, जो इन कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं, उचित प्रतिफल देने के लिए विशेष उपाय किये जायें।

आयोग में विद्यमान यूनाइटेड स्टेट्स के प्रतिनिधियों ने अपने मतभेद के वक्तव्य में युद्ध अपराधों का न रोकने मात्र के कारण डाली जाने वाली नकारात्मक अपराधिता के सिद्धान्त पर और युद्ध के कानूनों और प्रथाओं के विरुद्ध किये गये अपराधों में मानवता के कानूनों और प्रथाओं के अतिक्रमणों को समाविष्ट करने पर कानूनी आपत्ति प्रस्तुत की। उन्होंने कानूनी और नैतिक अपराधों में स्पष्ट अन्तर बताया और यह उपपत्ति प्रस्तुत की कि 'नैतिक अपराध चाहे कितने भी अन्याय-

१. डी० एच० मिलर, माई डाइरी एट द कॉन्फ्रेंस आफ पेरिस, २१ जिल्दें, निजी तौर से मुद्रित, १९२४-६, जिल्द १९, पृष्ठ २९२-३।

पूर्ण हों...पर वे न्याय प्रक्रिया के क्षेत्र से परे हैं'। उन्होंने इस अस्थायी सुझाव को ही असंगत और अयुक्तिक बताया कि सम्मेलन कानूनी कठिनाई को दूर करने के लिए विशेष उपाय सोचे। अन्ततः उन्होंने यह मन्तव्य प्रस्तुत किया कि राज्य का प्रधान किसी परराष्ट्रीय सर्वोच्चता या प्रभुसत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं है। जापानी मतभेद-पत्र अंतिम प्रश्न पर और नकारात्मक अपराधिता के सिद्धान्त पर उठाई गई आपत्ति में अमरीकनों से सहमत था।[1]

परन्तु वर्साई की संधि ने इस आयोग के बहुमत और अल्पमत, दोनों के विचारों का तिरस्कार कर दिया। सच्चे अर्थों में युद्ध-अपराधों के लिए भूतपूर्व कैसर पर मुकदमा चलाने के बजाय, अनुच्छेद् २२ ने "अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और संधियों की पवित्रता के विरुद्ध परम अपराध" का आरोप लगाया। सम्मेलन की मसविदा समिति ने जिस रूप में आयोग का तिरस्कार शुरू में तैयार किया था, वह और भी अधिक कठोर शब्दों में था। इसमें लिखा था: 'मित्र और सहचारी शक्ति भूतपूर्व जर्मन सम्राट् होहेनज़ोलर्न के विलियम द्वितीय पर सार्वजनिक रूप से अभियोग लगाती है पर *आपराधिक विधि के विरुद्ध अपराध के लिए नहीं बल्कि* उपर्युक्त अपराध के लिए।' यद्यपि अन्त में ये शब्द निकाल दिये गये थे, तो भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे सम्मेलन के इस सुविचारित इरादे को सूचित करते थे कि संभावित कार्यवाही के असाधारण स्वरूप पर बल दिया जाए। इस प्रकार संधि पर की गई जर्मन टिप्पणियों के उत्तर में मित्र तथा सहचारी शक्तियां यह कहती हैं कि वे यह स्पष्ट कर देना चाहती हैं कि 'भूतपूर्व जर्मन सम्राट् के विरुद्ध अनुच्छेद २२७ के अधीन सार्वजनिक अभियोग विषयवस्तु की दृष्टि से न्यायिक ढंग का नहीं है बल्कि सिर्फ बाह्य रूप में न्यायिक है। भूतपूर्व सम्राट् पर अन्तर्राष्ट्रीय नीति की दृष्टि से, अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता, संधियों की पवित्रता और न्याय के सारभूत नियमों के विरुद्ध परम अपराध पर, जो कुछ किया जाना चाहिए, उसके न्यूनतम रूप में अभियोग लगाया गया है। यद्यपि प्रतिवादी को हालैंड में शरण मिल जाने से प्रस्थापित मुकदमा न चल सका लेकिन जिन सिद्धान्तों को लागू करने के लिए यह चलाया जा रहा था, उनका स्थायी महत्त्व इस से कम नहीं हो जाता।

युद्ध की विधियों और प्रथाओं को भंग करने के दोषी व्यक्तियों के अभियोजन के लिए बहुत से प्रमाण और उदाहरण मौजूद थे और इसलिए यह अपेक्षया सीधा मामला था। संधि में पहले जो मार्ग अपनाने की प्रस्थापना की गई थी, जिसके अनुसार पीड़ित पक्ष अपने मामले में न्यायाधीश बनते, उसके स्थान पर अंत में एक जर्मन न्यायाधिकरण (tribunal) के समक्ष मुकदमे की व्यवस्था की गई थी। परख के तौर पर बारह मामले छांटे गये और मुकदमों के परिणामस्वरूप, जो १९२१ में लिपजिग (Leipzig) में हुए, छह मामलों में अपराध सिद्ध हुए और ब्रिटिश आरोपों की सत्यता इस बात से संतोषजनक रीति से प्रमाणित हो गयी कि सिर्फ एक व्यक्ति बरी हुआ। यद्यपि सजाओं के हल्केपन पर प्रतिकूल आलोचना हुई है, पर इसीलिए संधि में किये गये उस दावे के संकलन की यह परिणति कुल मिलाकर संतोषजनक मानी जा सकती है।

---

१. आयोग का प्रतिवेदन अंग्रेजी में अमेरिकन जनरल आफ इन्टरनेशनल ला में मिलेगा, जिल्द १४ (१९२०), पृष्ठ ९५ और आगे। फ्रेंच पृष्ठ के लिए देखिए, ला द क्यू मैंतेसियों अन्तरनेसनेल : ला येन्द वर्साई, पारी, एदसियों इन्तरनेसिनेल्स, १९३०-३६, जिल्द ३।

: ३ :

क्षतिपूर्ति की समस्या : रूहर पर आधिपत्य तक

(The Reparation Problem : to the Occupation of the Ruhr)

क्षतिपूर्ति के नैतिक पहलू

(The Moral Aspects of Reparation)

यदि बौद्धिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय, तो इस में कुछ भी संदेह नहीं हो सकता कि विजेता को अपने पराजित प्रतिपक्षी से युद्ध का समस्त व्यय वसूल करने का अधिकार पहले से माना जाता रहा है, बशर्ते कि वह उसे वसूल कर सके और इसके विपरीत कोई समझौता न हुआ हो। इस अधिकार का इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है कि युद्ध के लिए नैतिक या कानूनी ज़िम्मेदारी किस पक्ष की थी; इसलिए युद्धापराध (war guilt) का प्रश्न सर्वथा अप्रासंगिक है, लेकिन १९१४-१८ के युद्ध के विशाल रूप ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया कि इस प्रकार के दावे को पूरा करना किसी भी राष्ट्र की शक्ति के बाहर है और इसलिए मित्रराष्ट्रों ने सैनिक सुलह की वार्त्ता में सिर्फ़ यह दावा किया कि [1] स्थल, जल या आकाश से जर्मनी के आक्रमण करने के कारण मित्रराष्ट्रों की नागरिक (असैनिक) जनता और उसकी सम्पत्ति की हुई सारी क्षति की पूर्ति की जाय। इस दावे के आधार पर ही जर्मनों ने हथियार डाले थे और वर्साई के अनुच्छेद २३२ में इसे अक्षरशः दोहराया गया था। इसलिए जो शर्तें तय हुई थीं बिल्कुल उनके अन्दर आने वाले किसी दावे के विषय में चाहे वह कितना ही बड़ा हो, जर्मनी की कोई उचित शिकायत नहीं हो सकती थी और तथ्य तो यह है कि यह संभावना जान पड़ती है कि इस तरह के निर्दोष दावे से ही जर्मनी की अदा करने की क्षमता पर अधिक से अधिक बोझ पड़ सकता था।[2]

परन्तु, दुर्भाग्य से, इस प्रश्न ने एक और संशयजनक रूप ले लिया। बहुत सम्भवतः सम्बन्धित प्रमुख राजनीतिज्ञ शुरू में यह समझ रहे थे कि जिस चीज पर

---

१. विल्सन का ५ नवम्बर १९१८ का नोट, हिस्ट्री ऑफ दी पीस कॉन्फ्रेंस आफ पेरिस, जिल्द १, पृष्ठ १३६।

२. सहमत सूत्र के ठीक अनुसार हुई क्षति की राशि लार्ड कीन्स के हिसाब के अनुसार २१२ करोड़ पौंड और ३०० करोड़ पौंड के बीच थी। श्री आर० एच० ब्रेंड ने २६ फरवरी १९२९ को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की सभा में भाषण करते हुए कहा था कि मैंने शुरू में जर्मनी की चुकाने की क्षमता २०० करोड़ और ३०० करोड़ पौंड के बीच लगाई थी और यह मेरे आज के अनुमान से बहुत अधिक है।

हम सहमत हो रहे हैं, व्यवहार में उसका यह अर्थ है कि जर्मनी से, जहाँ तक हो सके वहाँ तक, युद्ध की अधिक से अधिक लागत ली जाये, क्योंकि वह किसी भी अवस्था में उस राशि से अधिक न देता, जो सैनिक सुलह के समझौते में उपयुक्त रीति से समाविष्ट क्षति-शीर्षकों मे आती है। दो संदिग्ध कदम, जो उसके बाद उठाये गये, उस अवस्था में उचित माने जाते। पहली बात यह कि इसका मतलब यह हुआ क्षति के शीर्षकों की विस्तृत परिभाषा जर्मनी के लिए निरर्थक थी। यद्यपि कुछ ऐसी चीजों का समावेश, जो शुरू मे नहीं सोची गई प्रतीत होती थीं, सब मित्र-राष्ट्रों में प्राप्त वस्तुओं के विभाजन को प्रभावित कर सकता था, और जो कसौटी अपनाई गई थी, शायद उसकी त्रुटियों को ठीक कर सकता था। इससे जनरल स्मट्स द्वारा[1] प्रस्तुत उस युक्ति के, जिसकी बहुत आलोचना हुई है, स्वीकार किये जाने का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। इस युक्ति के परिमाणस्वरूप पेन्शनों और अलगाव भत्तों (separation allowances) की लागत भी बिल में जोड़ दी गई। इससे यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि १६१८ के आम चुनाव में श्री लायड जार्ज और उनके समर्थक अपने आपको क्यों यह कहने का हकदार समझते थे कि हम जर्मनी से उसकी क्षमता की सीमा-पर्यन्त युद्ध की लागत वसूल करना चाहते थे। एक अर्थ में यह बात सच थी, यद्यपि यह जनता को गुमराह करने के लिए कही गयी थी। परन्तु शाँति-संधि में वह झूठ उनके ही सिर आपड़ा। उसमे यह युद्ध अपराध वाले खंड की उपस्थिति का कारण बताया गया है (अनुच्छेद २३१)। वास्तव मे, अनुच्छेद २३१ और २३२ को इन शब्दों में रक्खा जा सकता है : हमारा युद्ध के सारे खर्चे के लिए जर्मनी पर दावा है परन्तु क्योंकि पूरी क्षतिपूर्ति स्पष्टतः उसके सामर्थ्य के बाहर है, इसलिए क्षतिपूर्ति को हमने सैनिक सुलह के समय सिर्फ़ एक विशेष प्रकार की हानि तक सीमित रखना स्वीकार कर लिया है (और हमारा अनुमान था कि इससे ही उसका सारा धन निचुड़ जायेगा)[1] इससे ब्रिटिश लोक मत को, जो वैसे बड़ा असंतुष्ट था, इस प्रश्न का एक स्पष्टीकरण मिल गया कि युद्ध की लागत के दावे पर और अधिक जोर क्यों नहीं दिया गया। अन्यथा संधि के क्षतिपूर्ति विषयक मान में युद्धापराध वाले दावे का समावेश जितना अव्याख्येय है, उतना ही वह अप्रासंगिक है। वास्तव में जो क्षतिपूर्ति माँगी गई, वह एक स्पष्ट समझौते पर आधारित थी, जिस पर पेन्शनों और अलगाव भत्तों का संदिग्ध समावेश भी निश्चित रूप से आधारित था।

परन्तु शांति संधि में अपनाया गया मार्ग कई दृष्टियों से दुर्भाग्यपूर्ण था। इसने उस दावे की न्याय्यता को ओझल कर दिया और तय की हुई कसौटी के विकृत निर्वचन द्वारा, अदा की जाने वाली राशि को और बड़ा करके दिखाया। इसने मिलने वाली राशि के सम्बन्ध में अतिरंजित विचार पैदा कर दिये और इसलिए एक ओर तो जर्मनी पर दबाव की मात्रा को बढ़ावा दिया और दूसरी ओर जर्मनी की तरफ प्रबल प्रतिरोध पैदा कराया—ये दोनों बातें निश्चित रूप से संसार के आर्थिक कल्याण के लिए विनाशक सिद्ध होनी थीं। जनता में जितनी आशा पैदा हो गई थी,

१. हिस्ट्री आफ दि पीस कान्फ्रेंस ऑफ़ पैरिस जिल्द ५ पृ. ३७२।

उसने कुल राशि को कम रखना असम्भव कर दिया और इसलिए संधि ने दावे की राशि को बाद में तय करने के लिए छोड़ दिया और यह निश्चय करने के स्थान पर कि जर्मनी को कितनी राशि चुकानी है, उसने यह निश्चित किया कि उसको किस चीज़ की कीमत चुकानी है। इस प्रकार मामले का सन्तोषजनक समझौते होने में अनुचित विलम्ब हो गया।

समस्या के आर्थिक पहलू
(Economic Aspects of the Problem)

क्षतिपूर्ति की समस्या के अर्थशास्त्रीय पहलू इतने उलझन भरे हैं कि उन पर इस छोटी सी पुस्तक में बहुत मामूली विचार ही किया जा सकता है। यहाँ हम सिर्फ इतना ही कर सकते है कि कुछ थोड़ी सी अधिक स्पष्ट विशेषताओं का, जो जनसाधारण को आसानी से समझ आ सकें, निर्देश कर दें। शुरू में यह बता देना उचित होगा कि जर्मनी की चुका सकने की क्षमता के बारे में उनके एक दूसरे से बहुत भिन्न प्राक्कलन (estimates) लगाये जा सकते थे, जिनका आधार यह होता कि अंत में, उस देश के फिर खड़ा होने की बात को मानकर चलना है और बढ़ावा देना है, अथवा इस प्रश्न के प्रति हम उदासीन हैं, अथवा प्रच्छन्न कारणों से उस राष्ट्र का आर्थिक विनाश अभिप्रेत है। कोई और फ्रांस जैसा अपेक्षया आत्म-निर्भर राज्य, जिसे मुख्यत: अपनी प्रतिरक्षा की चिंता हो इस प्रश्न पर शायद बहुत भिन्न दृष्टि से विचार करता, और अधिक से अधिक धन निर्दयतापूर्वक चूसने का यत्न करता, परन्तु ब्रिटेन जैसे राष्ट्र को, जो विदेशी बाजारों और विश्व-व्यापार की समृद्धि पर इतना निर्भर हो, यह हितकर नहीं था। इसी तथ्य के कारण दो प्रमुख मित्रराष्ट्रों के बीच नीति का मौलिक भेद पैदा हो गया। दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह थी कि जर्मनी के शाँति समझौते के बाद जो साधन रह गये थे उनकी उसके पहले वाले साधनों से तुलना नही की जा सकती थी। वह युद्ध के कारण निर्धन हो गया था और तत्कालीन लोकमत के कारण विदेशी बाजारों में अस्थायी रूप से बहिष्कृत था। साथ ही उसके उपनिवेश छिन गए थे, उसके सबसे अधिक उत्पादक औद्योगिक जिलों के बड़े-बड़े हिस्से उसके हाथ से निकल गये थे, पर आखिरकार सोचने की मुख्य बात यह है कि इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का प्राप्तिकर्त्ताओं पर क्या प्रभाव होगा। मोटे तौर से भुगतान सिर्फ तीन तरह से किया जा सकता है, अर्थात् सोने के, पदार्थों के, अथवा सेनाओं के हस्तान्तरण द्वारा। इतने बड़े दायित्व के प्रसंग में सोने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इतना सोना है ही नहीं, और यदि ऋणग्रस्त देश इसे बाहर से प्राप्त करे तो वह विश्व के बाजारों में अत्यधिक तीव्र प्रतियोगितात्मक व्यापार द्वारा अथवा उधार द्वारा प्राप्त करता है जिससे वास्तविक दायित्व तो उतने का उतना ही रहना हे पर सोना उस देश के चलार्थ (करेंसी) के मूल्य को कम करके उसे अपने आँतरिक ऋण को सस्ते ढंग से चुकाने या समाप्त करने में समर्थ रहता है, और इस प्रकार उसे अपने विरोधियों से प्रतियोगिता करने की सुविधा प्रदान करता है जिसे वे शांतिपूर्वक नहीं देख सकते। इसके अलावा, सोना जहां तक मित्रराष्ट्रों के पारस्परिक

युद्ध-ऋणों जैसे अन्य दायित्वों के चुकाने में प्रयुक्त किया जाय, वहाँ तक को छोड़कर वह तब तक धन नहीं है, जब तक कि उसे पदार्थों में रूपान्तरित न किया जाय। दूसरी ओर, यदि अभीष्ट पैमाने पर पदार्थों के रूप में भुगतान किया जाय तो उससे ऋण देने वाले देशों का अर्थव्यवस्था ऐसी विशृंखलित हो जाती है कि व्यवहार में इसे 'राशि पातन' (Dumping) समझा जाता है और इस रूप में आज की दुनिया में, जहाँ आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) का बोलबाला है, यह सम्भव नहीं है कि कोई इसका समर्थन करे या इसे बिना बाधा के स्वीकार कर ले। तीसरे विकल्प, सेवाओं द्वारा भुगतान, पर भी प्राप्तिकर्त्ताओं के मन में प्राय: वैसी ही आपत्तियाँ पैदा होतीं और जर्मन वाणिज्य पोतों के एक हिस्से के जब्त कर लिये जाने से इसकी शक्यता बहुत कम हो गई थी। अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि चाहे जिस रूप में भुगतान किया जाय, वह प्राप्तिकर्त्ता को भी क्षति पहुँचाता है, और साथ ही भुगतान करने वाले को निर्धन करता है, जिसके परिणामस्वरूप वह अन्य राष्ट्रों के निर्यात को खरीदता नहीं रह सकता। फलत: संसार का बाजार घातक रूप से संकुचित हो जाता है। नि:सन्देह यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि क्षतिपूर्ति सिद्धान्तत: उस आय से भिन्न नहीं है, जो विदेश में लगाई हुई पूंजी से प्राप्त होती है पर इस तर्क में यह तथ्य नजरन्दाज कर दिया गया है कि विदेशस्थ नियोजन जिस देश में नियोजित किया जाता है, उसमें उत्पादन को बढ़ाता है। परिणामत: यह एक ऐसी आस्ति (Asset) पैदा करता है, जो ऋणग्रस्त देश को ऋण चुकाने में समर्थ बनाती है। इससे उस व्यापार को भी प्रोत्साहन मिलता है जिसे क्षतिपूर्ति का भुगतान नष्ट या प्रतिबन्धित करने लगता है।[1]

आर्थिक विचारों का यह विवरण नि:सन्देह अत्यधिक सरल रूप में है; पर जर्मनी के क्षतिपूर्ति के इतिहास को बुद्धिपूर्वक हृदयंगम करने के लिए यह परमावश्यक मालूम होता है।

कुल राशि स्थिर करने के आरम्भिक प्रयत्न
(Early Attempts to Fix the Total)

मित्रराष्ट्रों ने शांति सम्मेलन के सत्र के दौरान, यह समझ लिया था कि शीघ्र समझौता हो जाना क्यों वाँछनीय है और जर्मनी के दायित्व की सीमा अनिश्चित छोड़ देने से क्या अहित होंगे। इसलिए जर्मनी को सन्धि पर हस्ताक्षर होने से चार महीने पहले समझौते की प्रस्थापनाएं पेश करने का अवसर दिया गया। ऐसी कोई प्रस्थापना न पेश किये जाने, या न स्वीकार किये जाने पर, जर्मनी के दायित्व की राशि निश्चित करने का कार्यभार एक क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) को सौंपा गया, जिसे १ मई, १९२१ तक अपना प्रतिवेदन देना था। इसी बीच नकद और वस्तु के रूप में कुछ भुगतान मध्यवर्ती अवधि में देय हो गये। बीस अरब सोने के मार्क या उनके समतुल्य[2] धन की एक किस्त बीच की अवधि में चुकानी थी जिसमें से आधिपत्य रखने वाली सेनाओं का खर्च निकालकर शेष को क्षतिपूर्ति

---

१. देखिए हिस्ट्री आफ द पीस कॉन्फ्रेंस आफ पेरिस जिल्द २, पृष्ठ ४७, कण्डिका ७।

२. एक अरब सोने के मार्क पाँच करोड़ पौंड के समतुल्य समझे जा सकते हैं।

का भुगतान माना जा सकता था और नष्ट किये गये जहाजों की स्थान पूर्ति के लिए की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ और भी भुगतान तुरन्त शुरू होने थे, जैसे, उदाहरण के लिए, फ्राँस, बेल्जियम और इटली को कोयला दिया जाना था। क्योंकि २० अरब का प्रश्न शुरू में ही रास्ते से हट गया, इसलिए इसके संक्षिप्त और असन्तोषजनक इतिहास को आरम्भ से देखना शुरू में सुविधाजनक होगा।

क्योंकि क्षतिपूर्ति आयोग इस राशि का कुछ भाग वसूल करने की संभव विधि के बारे में कानूनी स्थिति के प्रश्न पर एकमत नहीं था, और क्योंकि मित्रराष्ट्रों द्वारा अपनायी गई नीति के परिणामस्वरूप यह सम्भव हो गया था कि क्षतिपूर्ति का सारा सवाल १६२१ के बसंत से पहले तय हो जाये, इसलिए आयोग कुछ समय तक इस मामले को पड़ा रहने देना चाहता था, परन्तु जनवरी १६२१ में जर्मन सरकार से एक ज्ञापन प्राप्त होने के कारण, जो यह कहने के अभिप्राय से भेजा गया था कि उस तिथि तक उनके दायित्व में से २१ अरब मार्क की राशि निपटाई जा चुकी थी, वह प्रश्न मुख्य रूप से सामने आ गया। पर जांच करके क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) ने यह निश्चय किया कि पहले २० अरब में से कम से कम बारह अरब अभी चुकाने बाकी थे ; इसलिए उसने २३ मार्च तक एक अरब का भुगतान करने को कहा और २४ मार्च को मित्रराष्ट्रों को अधिसूचित कर दिया कि जर्मनी ने अपना दायित्व पूरा नहीं किया। इस प्रश्न के साधारण इतिहास के प्रसंग में इस अधिसूचना को ध्यान में रखना चाहिए पर यहाँ हम एक मई की तारीख पर आ जायें—यह वह तारीख है जिस तक, संधि के अनुसार, कुल २० अरब की राशि चुका दी जानी चाहिए थी। उस तारीख को क्षतिपूर्ति आयोग ने यह देखा कि अब तक चुका दी गई राशि उतनी से अधिक नहीं थी जितनी कि यूनाइटेड स्टेट्स की सेना को छोड़कर शेष, राइनलैंड पर आधिपत्य करने वाली सेना का खर्च पूरा करने के लिए काफी होती और इसलिए जर्मनी ने अपना जरा भी ऋण नहीं चुकाया।

मित्रराष्ट्रों की नीति
(Policy of the Allies)

अब हम फिर उन प्रयत्नों पर आते हैं जो मित्रराष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council of the Allies) ने सारी समस्या का संतोषजनक हल करने के लिए स्वतंत्र रूप से किये थे।

पहला कदम अप्रैल १६२० के सानरेमो सम्मेलन (Sanremo Conference) में उठाया गया। उसमें यह निश्चय किया गया कि कुल दायित्व तय करने की दृष्टि से जर्मन सरकार को आमने सामने सम्मेलन में निमंत्रित किया जाय। यह सम्मेलन उसी वर्ष जुलाई में स्पा (Spa) नामक स्थान पर हुआ और यद्यपि इसका मुख्य उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तो भी इसने मित्रराष्ट्रों के पारस्परिक लेखाँकन और अभिभाजन (apportionment) के कई जटिल प्रश्नों को हल कर दिया और कोयले के भुगतान के विषय में जिसके बारे में उसके दोषी होने की अधिसूचना क्षतिपूर्ति आयोग ने उससे पहले की ३० जून को दी थी, जर्मनी के साथ एक व्यवस्था तय हो गई। यह समझौता करने में मित्रराष्ट्रों ने असामान्य रूप से अधिक नरम और समझौतापूर्ण भावना प्रकट की जिससे उन छह

महीनों में, जिनके बारे में यह समझौता था, कोयले के भुगतान में संतोषजनक सुधार हो गया यद्यपि बाद में यह कायम नहीं रहा। परन्तु मुख्य प्रश्न पर जर्मन प्रस्थापनाएँ अस्वीकार्य सिद्ध हुईं और इसलिए वे सिर्फ बौद्धिक दिलचस्पी की चीज हैं।

सानरेमो और स्पा सम्मेलनों की तिथियों के बीच में बोलोन (Boulogne) में एक और मित्रराष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें एक प्रति प्रस्थापना (counter-proposal) बनायी गयी। इसके अनुसार जर्मनी को पहले पाँच वर्ष तक तीन अरब की, अगले पांच वर्ष तक छह अरब की और अगले बत्तीस वर्ष तक ७ अरब की, इस तरह कुल बयालीस वार्षिकियाँ (annuities) देनी थीं और पहले पांच वर्ष बाद क्षतिपूर्ति आयोग (कमीशन) अपने विवेक के अनुसार इस योजना में रूप-भेद कर सकता था। इस सुझाव का मित्र-राष्ट्रीय और जर्मन विशेषज्ञों के एक सम्मेलन में, जो ब्रुसेल्ज़ (Brussels) में दिसम्बर १९२० में हुआ था, बुरा असर पड़ा। इसका कारण यह था कि मित्रराष्ट्रीय विशेषज्ञ अपने मन में संदेह होते हुए भी बोलोन समझौते में निर्दिष्ट कुल राशि से कम राशि का सुझाव रखने की जिम्मेवारी नहीं ले सकते थे। फलतः यह सम्मेलन भी निष्फल रहा और जनवरी १९२१ के पेरिस सम्मेलन (Paris Conference) में मित्रराष्ट्रों ने अपनी ही मुख्यतः स्वतंत्र प्रस्थापनाएं प्रस्तुत कीं जिनके अनुसार जर्मनी को बयालीस वार्षिकियों (annuities) की दो श्रेणियाँ अदा करनी थीं--एक श्रेणी स्थिर और दूसरी अस्थिर। स्थिर श्रेणी में पहली दो वार्षिकियाँ (annuities) २ अरब मार्क (सोना) की, अगली तीन ३ अरब की, अगली तीन ४ अरब की, अगली तीन ५ अरब की, और शेष छह अरब की होनी थी। इनके अतिरिक्त वार्षिकियों की दूसरी श्रेणी जर्मन निर्यातों के वार्षिक मूल्य के बारह प्रतिशत के बराबर होनी थी।

आगामी लंदन सम्मेलन (London Conference) (१ मार्च, १९२१) में एक जर्मन प्रति प्रस्थापना, जिसमें राजनयिक चातुर्य का अनिष्टकर अभाव था, इस प्रस्थापना के मुकाबले में सामने लाई गई। अगर जर्मन सरकार मित्रराष्ट्रीय प्रस्थापनाओं को सर्वथा उपेक्षित करती, अथवा, या तो अपना स्वतंत्र प्रस्ताव प्रस्तुत करती या वर्साई की संधि का सहारा लेती तो वह अधिक पुष्ट आधार पर होती क्योंकि जून १९१९ में की गई व्यवस्था का ठीक-ठीक अनुसरण किया जाय तो प्रस्थापनाएँ जर्मनी को रखनी थीं, मित्रराष्ट्रों को नहीं। परन्तु इन मार्गों में से कोई एक अपनाने के बजाय जर्मनी मित्रराष्ट्रीय प्रस्थापना पर विचार करने लगा और निश्चित रूप से कुटिल रीति से इसमें कमी करने लगा। ऐसा करने के बाद जर्मनों ने वार्षिकियाँ (annuities) की दूसरी श्रेणी में उपेक्षित जर्मन निर्यातों पर १० प्रतिशत उद्ग्रहण (levy) को मानने से साफ़ इन्कार कर दिया और सारे प्रस्ताव पर न केवल यह शर्त लगा दी कि कंडिका एक में नियत राशि पूरी पूरी चुकता होते ही अधिकार सेनाएं (Occupation Armies) हटा ली जांय, बल्कि यह शर्त भी लगा दी कि अपर साईलेशिया (Upper Silesia) जर्मनी के पास रहे।

मित्रराष्ट्रों ने फौरन ३ मार्च १९२१ को अल्टीमेटम दे दिया जो एक आक्षेप-योग्य कदम था और आठ मार्च को इसके बाद रूहरोर्ट, डुइसबर्ग और डसेलडोर्फ पर

अधिकार कर लिया और अन्य अनुशास्तियां भी लागू कर दीं। संभाव्यत: दोनों पक्षों की समझौता वार्त्ताओं पर लोकमत को संतुष्ट करने की आवश्यकता से हानिकारक प्रभाव पड़ा था, पर मित्रराष्ट्रों द्वारा अपनायी गई प्रक्रिया का कोई वैध औचित्य मिलना कठिन है। सौभाग्य से अनुशास्तियों (sanctions) पर, २४ मार्च को क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा दिए गए अशोधन (भुगतान न करने) (default) के नोटिस की घटनोत्तर वैधता का पर्दा डाल दिया गया।

भुगतानों का कार्य-क्रम
(The Schedule of Payments)

जर्मनी ने पहले राष्ट्रसंघ से और उसके बाद यूनाइटेड स्टेट्स से मध्यस्थता के लिए निष्फल अनुरोध किया, पर इस समय तक यह प्रश्न दूसरी अवस्था में पहुँच रहा था क्योंकि २७ अप्रैल १९२१ को क्षतिपूर्ति आयोग ने अपना निर्णय प्रकाशित कर दिया जिसमें संधि[1] के अनुच्छेद २३२ और २३८ के अनुसार शोध्य राशियों को छोडकर शेष कुल राशि १३२ अरब मार्क (सोना) या लगभग ६६० करोड़ पौंड निश्चित की। २ मई को सर्वोच्च परिषद् ने जर्मनी के न मानने की दशा में रूहर पर आधिपत्य करने की सैनिक तैय्यारियां करने के बाद क्षतिपूर्ति आयोग से जर्मनी को एक कार्यक्रम भेजने के लिए कहने का निश्चय किया, जिसमें उसके दायित्वों के निपटाने का समय और रीति निर्धारित हो। तदनुसार यह ५ मई को भेजा गया, और इसके साथ, मित्रराष्ट्रीय सरकारों की ओर से एक अल्टीमेटम या अन्तिम चेतावनी दी गई। इस कार्यक्रम[2] के ब्योरे पर अन्यत्र विचार किया जाना चाहिए। पर उसमें ५ करोड़ पौंड (एक अरब मार्क) महीने के अंत तक फौरन चुकाने की मांग भी की। जिस समय यह अल्टीमेटम जर्मनी पहुँचा, उस समय वहाँ एक आन्तरिक संकट चल रहा था जिसके कारण सरकार ने त्यागपत्र दे दिया था पर अभिशर्तो को स्वीकार करने के लिए समय बाकी था कि अगला मंत्रिमण्डल बन गया; अगस्त के अंत तक पहले अरब का भुगतान करने के लिए दी गयी राज हुन्डियाँ (treasury bills) अनुमोदित विदेशी चलार्थ में विमोचित (redeem) की जा चुकी थीं और इस प्रकार क्षतिपूर्त्ति समस्या का पहला हिस्सा समाप्त हो गया।

मित्रराष्ट्रीय नीति में मतभेद
(Divergence of Allied Policy)

परन्तु यह शीघ्र ही प्रत्यक्ष होने लगा कि यह सम्भावना बहुत कम है कि जर्मनी कार्यक्रम में निर्धारित योजना के अनुरूप चल सकेगा। पहले अरब का भुगतान लंदन की कई वित्तीय कोठियों द्वारा दिये गये ऋण के जरिए किया जा सका था।

---

१. अनुच्छेद २३२ बेल्जियम को दिये गये मित्रराष्ट्रीय ऋण की प्रतिपूर्ति (reimbursement) का उपबंध था और अनुच्छेद २३८ में जर्मनी से छीनी या पृथक् की गई रोकड़ और सम्पत्ति के प्रत्यास्थापन (restitution) का उपबन्ध था।

२. देखो ए. जे. टॉयनबी, सर्वे आफ इंटरनेशनल अफेयर्स, १९२०-२०; ब्रिटिश (रायल) इंस्टीट्यूट आफ इंटरनैशनल अफैयर्स के निमित्त आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित, १९२५ पृष्ठ १४६-७।

अगस्त १९२१ तक मार्क के विनिमय मूल्य में अवमूल्यन (depreciation) के गम्भीर चिह्न नजर आने लगे और नवम्बर में ऋण चुकाने के यत्न के परिणामस्वरूप मूल्य सहसा और गिर गया और पिछले स्तरों की दृष्टि से देखें तो इस गिरावट को अनर्थकारक कहा जा सकता है। यद्यपि जर्मनी के अपने दायित्वों के न चुकाने पर क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा स्थापित गारन्टी समिति (Committee of Guarantee) के अधीन वित्तीय नियंत्रण अधिक कठोर कर दिया गया था, तो भी इससे आसन्न समवसाद (collapse) को रोकने में कोई सहूलियत न हुई। इसी बीच मित्रराष्ट्रों की एकता में जो एक अरब प्राप्त हुआ था उसके बटवारे के प्रश्न पर पैदा हुए विवादों के कारण सुधार न हो सका। भुगतानों के कार्य में दो प्रभारों (charges) की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया जो क्षतिपूर्ति से भी पहले थे, अर्थात् आधिपत्य (occupation) के खर्चे के लिए ब्रिटेन का दावा और बेल्जियम का पूर्वता (priority) का अधिकार। ३१ जुलाई १९२१ को क्षतिपूर्ति आयोग ने अस्थायी रूप से वह राशि बेल्जियम को दे दी पर यह शर्त लगा दी कि जब अन्तिम बटवारा होगा तब वह अधिक राशि बेल्जियम उस शक्ति को हस्तांतरित कर देगा जो आधिपत्य के खर्चे के कारण इस दावे की हक-दार होगी। इस व्यवस्था में फांस को इस एक अरब में से कुछ भी हिस्सा न मिलता और उसने ऐसी व्यवस्था पर सहमत होने से इन्कार कर दिया जिसके द्वारा सार की खानों का मूल्य तो संधि के अनुच्छेद २३५ के अधीन उसके कन्धों पर डाला जाय और क्षतिपूर्त्ति की किस्त बेल्जियम और ब्रिटेन बराबर-बराबर बांट लें।

तथ्यतः यह प्रस्थापना फ्रांस के लिए जुलाई १९२० के स्पा समझौते (Spa Agreement) के अधीन मिले हुए उसके अधिकारों की अपेक्षा अधिक अनुकूल थी, पर फ्रेंच लोकमत को इस बात के लिए राजी करना कठिन था कि उसे क्षतिपूर्त्ति की पहली मोटी रकम में से कुछ भी न मिले। अगस्त १९२१ में वीजबेडन (Wiesbaden) में हस्ताक्षरित लूशियर रथेनाऊ समझौते (Loucheur Rathenau Agreement) से और भी कठिनाइयाँ पैदा हो गईं। यह समझौता जर्मनी से आने वाले यन्त्रों और सामान के भुगतान के जरिये, उजाड़े गये क्षेत्रों के सीधे पुनर्निर्माण में सुविधा करके तो उचित कार्य करता था, पर इसने जर्मनी पर और वित्तीय भार डाल दिया और उस तारीख को पीछे हटा कर जिसको अर्पणों (deliveries) का मूल्य फ्रांस के नाम डाला जाना था, उसे परोक्षरूप से एक पूर्वता (priority) प्रदान कर दी जिसका फ्रांस हकदार नहीं था। मित्रराष्ट्रों में इस विषय पर अभी बातचीत ही चल रही थी कि मार्क का नवम्बर वाला समवसाद (collapse) हो गया। इससे, आगे भी भुगतान न होने के गम्भीर जोखिम की आशंका पैदा हो गई और विलम्ब काल (moratorium) का प्रश्न मुख्य रूप से सामने आ गया। श्री ब्रएन्ड (Mr. Briand) और श्री लायड जार्ज (Mr. Lloyd George) ने दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में विचार किया और इस विचार से एक पूर्णांग योजना बनाई गई जिसे जनवरी में होने वाले कैनीज सम्मेलन (Cannes Conference) में पाँच देशों द्वारा विचार के लिए आधार के रूप में स्वीकार किया गया

इसमें मुख्य बात यह थी कि आँशिक विलम्ब काल के बदले में जर्मनी के आँतरिक वित्तों पर नियन्त्रण बढ़ा दिया गया और आगामी वर्ष क्षतिपूर्ति के दावों को सीमित कर दिया गया। इसने अभिभाजन (apportionment) और पूर्वता के प्रश्न पर मित्रराष्ट्रों के बीच पैदा हुए मुख्य मतभेदों को भी लम्बी-चौड़ी सौदेबाजी द्वारा ठीक-ठीक कर लिया। फ्राँस और बेल्जियम में इस योजना की आलोचनाएँ होने के बावजूद कैनीज़ सम्मेलन अच्छी प्रगति कर रहा था और फ्राँस की सुरक्षा की ब्रिटिश गारन्टी के महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव द्वारा इंग्लैंड और फ्राँस के बीच सम्बन्ध सुधारे जा रहे थे कि उसी समय श्री ब्रिएन्ड को एकाएक वापस बुला लिया गया और कठिनाइयों को मंझधार में छोड़ दिया गया। उस समय तो क्षतिपूर्ति आयोग ने स्थिति को संभाला। उसने क्षतिपूर्ति की जनवरी और फ़रवरी की किस्तों को इस शर्त पर विलम्बित कर दिया कि प्रत्येक दस दिन बाद ३१० लाख सोने के मार्क स्वीकृत चलार्थों (currencies) में चुकाये जायें और जर्मन सरकार बजट तथा चलार्थ सुधार की एक योजना प्रस्तुत करे।

इसी बीच फ्रेंच नीति के कर्णधार श्री पोइंकारे (Mr. Poincare) हो गये। वे पहले किये गये विनिश्चयों को पलटने में तो असमर्थ थे, पर उन्होंने एक ज्ञापन (memorandum) प्रस्तुत किया जिसमें जर्मनी के पिछले आचरण की तीव्र आलोचना की गई थी और यह प्रतिपादन किया गया था कि जर्मनी अपने सारे दायित्वों का भुगतान करने में समर्थ है। उनके ठोस सुझावों में १९२२ के लिए तय की गई सीमित राशियों को तो स्वीकार किया गया था, पर पर्यवेक्षण (supervision) और नियन्त्रण की कठोरता को बहुत अधिक बढ़ाने के लिए कहा गया था। इन सुझावों को उन दो नोटों के आधार के रूप में स्वीकार कर लिया गया था जो जर्मनी को भेजे गए। क्योंकि जर्मनी ने विरोध प्रदर्शन करते हुए भी शर्तों को पूरा किया, इसलिए क्षतिपूर्ति आयोग ने मई के अन्त में आँशिक विलम्ब काल (moratorium) की पुष्टि कर दी।

युद्ध-ऋणों और क्षतिपूर्त्ति का सम्बन्ध

(Relation between War Debts and Reparation)

क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋणों के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रश्न पर एटलाँटिक के दोनों तटों पर मौलिक मतभेद मौजूद था। यदि जरा संकीर्ण दृष्टिकोण से देखें तो अमेरिकन रवैय्या कुछ तर्कसंगत माना जा सकता था। क्षतिपूर्ति का अधिकार वास्तव में मित्रराष्ट्रीय नागरिकों (असैनिकों) की अपनी सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति के लिए प्राप्त अधिकार था, इसलिए इसका उस ऋण से कुछ भी निकट का सम्बन्ध नहीं था जो ब्रिटेन को अमेरिका के प्रति चुकाना था क्योंकि लेस बीफ़्स के मेअर (Mayor of Les Boeufs) या नगराध्यक्ष को अपने मकान के विनाश के लिए जर्मन सरकार के विरुद्ध साँपत्तिक क्षति की पूर्ति का अधिकार था, इसलिए इसका ब्रिटेन और अमेरिका के बीच विद्यमान अनुबन्धीय दायित्व (contractual obligation) पर क्यों प्रभाव पड़ना चाहिये, यह स्पष्ट नहीं था। परन्तु यदि जैसा कि संधि के शब्द-विन्यास से ध्वनित होता था, मित्रराष्ट्रों ने सिर्फ इस कारण युद्ध के खर्चे की क्षतिपूर्ति लेने के

सहज अधिकार पर कोई विशेष पाबन्दी स्वीकार कर ली थी कि शत्रु पूरा भुगतान करने में असमर्थ था, तो क्षतिपूर्ति, उनके साधारण दावे की पूर्ति करने वाली थी, और युद्ध के खर्चे में उनके ऋणों का प्रसंग निःसन्देह उपस्थित हो जाता था। आर्थिक तथ्य तो यह है कि जो कुछ भुगतान प्राप्त हुआ था, उसका सबसे अच्छा उपयोग इन दायित्वों के निपटाने में किया जा सकता था और असैनिक आबादी (civil population) की हुई क्षति को दूसरे तरीको से निपटाया जाता, परन्तु जब आर्थिक स्थिति से जर्मनी के दायित्वों में छूट दे देना उचित मालूम होने लगा, तब यह सम्बन्ध अधिक प्रत्यक्ष और घनिष्ठ हो गया, क्योंकि अगर ये ऋण बने रहते तो जर्मनी को उसके दायित्वों से मुक्त कर देने का अर्थ यह होता कि विजेताओं से एक तरह की क्षतिपूर्ति ली जाती रहे, जब कि उनका पराजित शत्रु उस तरह की चीज़ से मुक्त कर दिया गया—यह एक ऐसी अवस्था थी जिसे किसी भी देश का लोकमत शाँति से स्वीकार नहीं कर सकता था। इन कारणों से यह वास्तव में स्पष्ट था कि क्षतिपूर्ति और मित्रराष्ट्रों के आपसी ऋणों का प्रश्न एक ही अविभाज्य प्रश्न था।

यह प्रश्न सबसे पहले ठोस रूप में तब उठाया गया जब यह विचार करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त हुई कि क्या जर्मनी विदेशी ऋण ले सकता है जिनसे वह अपने दायित्वों को निपटा सके। समिति ने यह प्रतिवेदन दिया कि वर्तमान परिस्थितियों में यह योजना व्यवहार्य नहीं, और उसने इसकी पूर्ति के लिए चार शर्तें रक्खीं, जिनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त जर्मनी के दायित्वों सम्बन्धी अनिश्चितता को मित्रराष्ट्रों के आपसी ऋणों से सम्बद्ध और भी बड़ी अनिश्चितता से सम्पर्कित करती थी। समिति इन ऋणों को समस्या का परमावश्यक अंग मानती थी और लार्ड बलफोर (Balfour) ने १ अगस्त १९२२ को उन मित्र शक्तियों के प्रतिनिधियों को एक नयपत्र (नोट) भेजकर, जिन पर ब्रिटेन का ऋण था, यह प्रश्न आगे बढ़ाया। यह बताने के बाद कि ब्रिटेन को उन से जो राशि लेनी चाहिये, वह उस राशि पर निर्भर है जिस पर अमरीका से लिये हुए ब्रिटिश ऋण का मामला तय होता है, आप ने आगे लिखा कि ब्रिटिश सरकार

यही बात दोहराना मात्र चाहती है कि वह वर्तमान स्थिति में विश्व की आर्थिक क्षति की इतनी अधिक कायल है कि यह देश जर्मनी की क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर अपने अन्य सब अधिकार तथा मित्रराष्ट्रों द्वारा प्रतिशोध्य सब दावे (साम्राज्य के अन्य भागों के संगत न्यायसंगत दावों को छोड़कर) त्यागने को तैयार है, परन्तु शर्त यह है कि यह त्याग एक व्यापक योजना का हिस्सा हो जिसके द्वारा यह महान् समस्या अपने सम्पूर्ण रूप में सन्तोषजनक रूप से हल हो सके।

दुर्भाग्य से इस दूरदर्शिता-पूर्ण प्रस्थापना का उपयुक्त स्वागत नहीं हुआ। ऋणग्रस्त मित्रराष्ट्रों ने तो यह समझा कि क्षतिपूर्ति के बदले में मित्रराष्ट्रों के पारस्परिक ऋणों को बिना शर्त छोड़ने से इन्कार किया गया है और इस प्रस्थापना के अमरीकन निर्वचन को इन शब्दों में बिल्कुल यथार्थ रूप में रक्खा गया है, यदि हमें चुकाना पड़ेगा तो हम चुका देंगे, पर यदि तुम हमसे चुकाने के लिए

कहते हो तो तुम बड़े ज़लील लोग हो।[1]

श्री पोइंकारे और उत्पादक गारण्टियाँ
(Mr. Poincare and Productive Guarantees)

फ्रांस की विरोधी नीति प्राय: तुरन्त ही ७ अगस्त १९२२ को आगामी लन्दन सम्मेलन के समय शुरू कर दी गई, जिससे श्री पोइंकारे ने विलम्ब काल देने की शर्तों के रूप में बहुत सी 'उत्पादक गारण्टियों' का प्रस्ताव रक्खा, जिसमें राइन के बायें किनारे की जर्मन रंग फैक्टरियों की पूँजी के ६० प्रतिशत का विनियोग (appropriation) और रूहर नदी क्षेत्र की राजकीय खानों के उपयोग और संभाव्य स्वामित्व हरण (expropriation) भी शामिल थे। ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल ने इस पर यह प्रस्थापना रक्खी कि १९२२ के शेष महीनों के नकद भुगतानों का कुल विलम्ब काल स्वीकृत किया जाय और कुछ गारंटियाँ दी जाएँ, जिनमें एक यह हो कि लकड़ी और कोयले का भुगतान न होने की अवस्था में राजकीय वनों और रूहर की कोयला खानों का पर्यवेक्षण हो, परन्तु श्री पोइंकारे ने इन सुझावों को सदा अस्वीकार कर दिया और बहुत से अन्य सम्मेलनों की तरह यह सम्मेलन भी निष्फल रहा। यही स्थिति ९ दिसम्बर १९२२ का दूसरे सम्मेलन में थोड़ी बहुत दोहराई गई जिसमें श्री बोनर लॉ (Mr. Bonar Law) ने श्री बलफोर (Balfour) के नए पत्र से और आगे बढ़कर यह कह दिया कि

> यदि मुझे किसी पूर्ण और अन्तिम समझौते का अवसर दिखाई देता हो तो मैं यह जोखिम भी लेने को तैयार हूँ कि अन्त में क्षतिपूर्ति (indemnity) अदा करूँ, अर्थात् ब्रिटेन को मित्रराष्ट्रों और जर्मनी से जो कुछ मिलेगा उससे अधिक राशि यूनाइटेड स्टेट्स को अदा करूँ, पर मुझे निश्चय है कि सब लोग यह स्वीकार करेंगे कि अगर यह सारा सवाल पुनः उठाया जाता है तो ऐसी रियायत करना मूर्खता होगी।

दूसरी ओर श्री पोइंकारे (Mr. Poincare) ने सम्मेलन में प्रस्तुत जर्मन योजना की सख्त आलोचना करने के बाद अपनी 'उत्पादक गारंटियों' (productive guarantees) की योजना पर प्रकाश डाला और यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक वे वचन नहीं दिये जाते, जो मैंने प्रस्थापित किये हैं तब तक मैं कोई विलम्ब काल स्वीकृत करने को तैयार नहीं हूँ। इसलिए यह सम्मेलन इस विचार से स्थगित कर दिया गया कि यह विचार-विनिमय पेरिस में नए वर्ष के शुरू में होने वाली बाद की बैठक में जारी रक्खा जाय, पर प्रस्थापित तिथि से पहले सारी स्थिति अत्यधिक बदल गई।

चूँकि उस समय की परिस्थितियों में, जर्मनी द्वारा प्रार्थित विलम्बकाल का प्रश्न अनिश्चित अवस्था में था, इसलिए श्री पोइंकारे की नीति को लागू करने का प्रश्न तब तक उठ ही नहीं सकता था जब तक उनकी गारंटियाँ सिर्फ अभीष्ट विलम्ब काल की शर्तों के रूप में प्रस्तुत की गई थीं। मुख्यत: मार्क के मूल्यह्रास के कारण

---

१. २६ फरवरी १९१९ को रॉयल इन्स्टीट्यूट आफ़ इण्टरनैशनल अफेअर्स की सभा में श्री विकहम स्टीड का भाषण; जर्नल, १९२९ पृष्ठ २१९।

ठेकेदारों का भुगतान करने में होने वाली कठिनाइयों के परिणामस्वरूप जर्मन सरकार को, क्षतिपूर्ति में प्रयुक्त करने के लिए, अस्थायी रूप से इमारती लकड़ी मिलनी बंद हो गई। इस प्रकार फ्रेंच सरकार से टिम्बर या इमारती लकड़ी देने में प्राविधिक (technical) चूक हो गई, पर यह कमी बहुत नगण्य की। २६ दिसम्बर को क्षतिपूर्ति आयोग की बैठक में फ्राँसीसी प्रतिनिधि श्री बारथो (Barthou) ने चूक के सरकारी अधिसूचन का प्रस्ताव रखा। उनकी प्रस्थापना का सर जान ब्रैडबरी (Sir John Bradbury) ने जोर-शोर से विरोध किया और इसके ठीक-ठीक ध्वनितार्थों (implications) और प्रयोजन पर प्रकाश डाला। आपने कहा, 'इस समय यह दिखावटी आरोप आयोग के सामने इसलिए पेश हुआ कि अन्य क्षेत्रों में आक्रमणों की तैयारी की जा सके। जब......लकड़ी का कपटपूर्ण घोड़ा बनाकर ट्राय नगर को जीता गया था तब से लकड़ी का ऐसा उपयोग इतिहास में कभी नहीं किया गया।' पर आयोग में फ्रांस, बेल्जियम और इटली के सदस्यों ने अपने बहुमत से चूक के सरकारी अधिसूचन का निर्णय किया और वह चूक अधिसूचित कर दी गई। इस अवसर पर ब्रिटिश प्रतिनिधि अकेला ही एक पक्ष मे था। पर यदि यूनाइटेड स्टेट्स ने शांति संधि का प्रत्याख्यान (repudiation) न किया होता तो परिणाम कुछ भिन्न हुआ होता। क्षतिपूर्ति आयोग में जान-बूझकर पांच सदस्य रक्खे गये थे, जिससे प्रत्येक अवसर पर बहुमत से निर्णय हो सके। अमरीका के निकल जाने से ठीक वही परिणाम हुआ जिससे बचने का यत्न किया गया था, अर्थात् आयोग में सदस्यों की सम संख्या रह गई। प्रतिरोध की आसन्न समानता का सामना करने के लिए यह प्रार्थना की गई कि संधि के अनुच्छेद ४३७ के उपबन्ध के अनुसार सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार दिया जाय, यद्यपि शुरू में यह नहीं सोचा गया था कि यह अनुच्छेद क्षतिपूर्ति आयोग पर लागू किया जायेगा। इस व्यवस्था ने फ्रेंच प्रतिनिधि को, जो सभापति होता था, आवश्यकता पड़ने पर दूसरे मत का अधिकार दे दिया। 'यह मत अगर कभी प्रयुक्त भी हो गया होगा तो बहुत ही कम, पर यह ज्ञान इन सब चर्चाओं में आवश्यक रूप से बना रहता था कि यह मत मौजूद है'।[1] यदि यूनाइटेड स्टेट्स उपस्थित होता, तो इटली जिसका रुख कुछ संकोचपूर्ण था, दूसरे ही पक्ष में होता।

इस प्रकार अधिसूचन (notification) का यह निश्चय करा कर और कोयले के भुगतान में भी शीघ्र ही चूक की घोषणा की आशा करते हुए श्री पोइंकारे २ जनवरी के पेरिस सम्मेलन में अपना आधार इतना मजबूत महसूस करते थे कि उन्होंने अपने ब्रिटिश मित्र से पूर्ण विच्छेद का साहस किया, उसकी प्रस्थापनाओं को ठुकरा दिया और अपनी ही योजना को कार्यान्वित करने की ओर कदम बढ़ाया। कोयले के भुगतान न करने के बारे में प्रत्याशित अधिसूचन ९ जनवरी को कर दिये जाने पर उन्हें अपने मनोनुकूल अवसर मिल गया और दो दिन बाद रूहर नदी क्षेत्र पर फ्रांसीसी आधिपत्य शुरू हो गया।

१. सर आर्थर साल्टर, रिकवरी : द सेकेण्ड एफर्ट, लंदन, बेल, १९३३, पृष्ठ १३३।

क्षतिपूर्ति की समस्या : रूहर के आधिपत्य से डावेस योजना तक

(The Reparation Problem : From the Occupation of the Ruhr to the Dawes Plan)

रूहर पर चढ़ाई के कानूनी पहलू

(Legal Aspects of the Ruhr Invasion)

यह विवादास्पद है कि रूहर पर फ्राँस और बेल्जियम के आधिपत्य को वर्साई संधि के अधीन कानूनी रूप से उचित ठहराया जा सकता है या नहीं। 'ब्रिटेन के उच्चतम कानूनी पंडितों ने ब्रिटिश सरकार को यह सलाह दी थी कि जर्मन सरकार का दावा उचित आधार पर है और ब्रिटिश सरकार ने अपने इस विचार को कभी नहीं छिपाया कि रूहर पर कब्जा करने की फ्राँस और बेल्जियम की कार्यवाही स्वयं सन्धि द्वारा प्राधिकृत अनुशास्ति नही थी—यह प्रश्न बिल्कुल अलग है कि यह वांछनीय थी या नहीं'।[1] इसमें तीन मुख्य सवाल उठते थे :

(१) क्या इस मामले में चूक का जो प्रश्न पैदा हुआ वह ऐसा प्रश्न था जिसे क्षतिपूर्ति आयोग को बहुमत से तय करने का अधिकार था ?

(२) क्या फ्राँस और बेल्जियम को अलग कार्यवाही करने का अधिकार था, अथवा उन सरकारों को मिलकर कोई कार्यवाही करनी चाहिए थी जिनके प्रतिनिधि क्षतिपूर्ति आयोग में थे ?

(३) क्या इस मामले में लागू की गई अनुशास्ति (sanction) 'आर्थिक और वित्तीय प्रतिषेधों और प्रतिशोधों (prohibitions and reprisals) तक सीमित था' अथवा जो कार्यवाही की गई, वह वर्साई-संधि के अधीन की जा सकती थी ?

इस प्रश्न के दोनों पक्षों की दलीलों के लिए विद्यार्थी को अन्य स्रोतों का अध्ययन करना चाहिए[2]; जो मार्ग अपनाया गया था, उसकी राजनैतिक नासमझी और असंदिग्ध दुष्परिणामों को देखते हुए कानूनी पहलू का महत्त्व बहुत कम रह जाता है।

रूहर का आर्थिक महत्त्व

(Economic Importance of the Ruhr)

युद्धोत्तर जर्मनी के औद्योगिक साधन रूहर नदी क्षेत्र में इतनी अधिक मात्रा तक संकेन्द्रित थे कि उस प्रदेश के सामान्य क्रियाकलाप में कोई भी विक्षोभ होने पर

---

१. ११ अगस्त १९२३ का ब्रिटिश नयपत्र, १९२३ का कमाँड पेपर (Cmd) १९४३।

२. हिस्ट्री आफ द पीस कॉन्फ्रेंस आफ पेरिस, जिल्द २, पृष्ठ ४०।

उसका जर्मन राज्य की वित्तीय स्थायिता और परिणामतः मित्रराष्ट्रों की माँगों को पूरा करने की उसकी क्षमता पर हानिकारक प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। जर्मनी के कोयले का लगभग ८५%, उसके इस्पात और कच्चे लोहे का ८०% और उसके रेलमार्गों पर ढोयी जाने वाली वस्तुओं और खनिज पदार्थों का ७०% रूहर पर ही निर्भर था। परन्तु यह कह देना उचित होगा कि फ्राँसीसी और बेल्जियम सरकारों ने शुरू में जो कार्यवाही सोची थी उतनी मात्र से उद्योग के सामान्य संचालन मे अधिक बाधा नहीं पडी; जो विश्रृंखलता वास्तव में इसके बाद में हुई, वह जर्मनों द्वारा उस नीति के प्रतिरोध का परिणाम थी और इस प्रतिरोध की पहले से कल्पना या आशा नहीं की गई थी। १० जनवरी १९२३ को जर्मन सरकार को भेजे गये अपने नयपत्र में फ्रांस और बेल्जियम ने यह प्रस्थापना रक्खी थी कि वे रूहर में सैनिक संरक्षण में एक प्रतिनिधि-मंडल भेजें, जो एम० आई० सी० यू० एम० (Mission Interallice de Controle des Usines des Mines) अर्थात् खानों के उत्पादनों का नियन्त्रण करने वाला मित्र-राष्ट्रीय प्रतिनिधि-मडल कहलाये और वह स्थानीय कोहलन सिन्डीकेट (Kohlensyndikat) के कार्य का पर्यवेक्षण करे और क्षतिपूर्ति के भुगतान प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्य करे। स्थानीय जनता के सामान्य जीवन को शांति से चलने दिया जाय।

जर्मनी में निष्क्रिय प्रतिरोध
(Passive Resistance in Germany)

इस योजना के ठीक तरह कार्य करने में पहली बाधा ११ जनवरी को फ्रेंच सेना के पहुँचने से पहले आई। कोहलन सिंडीकेट ने अपना मुख्यालय एँसेन (Essen) से हटा कर हैमबर्ग (Hamburg) पहुँचा दिया और इस प्रकार अपने-आपको सीधे नियन्त्रण के बाहर कर लिया। जर्मन सरकार ने इसके फौरन बाद निष्क्रिय प्रतिरोध (passive resistance) की नीति अपना ली, फ्रांस और बेल्जियम को क्षतिपूर्ति का सब माल देना बन्द कर दिया और इस प्रकार अपने-आपको पूर्ण अशोधी की स्थिति में कर लिया और हड़तालियों तथा समझौते के विरोधी अफसरों का वित्तीय समर्थन करके और साथ ही उन जर्मन नागरिकों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करके, जो शत्रु की योजनाओं में मदद करेंगे, इसने अधिकृत क्षेत्र में स्वयं स्फूर्ति असहयोग आन्दोलन को सहारा और बढ़ावा दिया। परिणामतः चढ़ाई करने वालों के सामने फौरन यह समस्या आई कि रूहर की उलझन भरी रेलवे प्रणाली को बहुत थोड़े से कर्मचारियों से, जो उनकी सेनाओं में से लेकर नियुक्त किये गये थे और स्थानीय अवस्थाओं से सर्वथा अपरिचित थे, कैसे संचालित किया जाय। एम० आई० सी० यू० एम० को कुछ खानों में भी अपने सैनिकों में से कुछ कर्मचारी नियुक्त करने पड़े, क्योंकि जर्मनों ने काम करने से इन्कार कर दिया था। परिणामतः रेलों द्वारा ढोयी जाने वाली वस्तुओं की मात्रा सामान्य मात्रा से एक-तिहाई से भी बहुत कम रह गई।

इन कठिन परिस्थितियों में फ्रेंच और बेल्जियन सरकारों ने, जिनके साथ प्राविधिकतया इटालियन भी सम्मिलित थे, यद्यपि उन्होंने कोई सक्रिय भाग नहीं लिया, बदले के सख्त कार्य करने शुरू किये। उन्होंने अपने कब्जे का क्षेत्र विस्तृत कर लिया

और राइनलैंड उच्चायोग (Rhineland High Commission) में, यूनाइटेड स्टेट्स के हट जाने के कारण उन्हें जो बहुमत प्राप्त था, उसका फायदा उठाया और अपने कार्यों की सफलता के मार्ग में बाधक सब प्रयत्नों के विरुद्ध अत्यन्त कठोर अध्यादेश (ordinance) प्रख्यापित कर दिये गये। यह अध्यादेश सिर्फ रूहर पर ही लागू न होते थे; बल्कि सैनिक आधिपत्य के अधीन विद्यमान सारे राइनलैंड क्षेत्र पर लागू होते थे; परन्तु ब्रिटिश क्षेत्र में वे कार्यान्वित न किये गये और परिणामत: यह प्रदेश संघर्ष के कारण बने हुए मरुस्थल में एक प्रकार का शांति का उद्यान बन गया, और यह तथ्य भी इस काल में फ्रांस और ब्रिटेन के सम्बन्ध न सुधरने का एक कारण था। वेजैल (Wesel) से डसलडोर्फ (Dusseldorf) तक अधिकृत और अनधिकृत जर्मन प्रदेश के बीच एक निरन्तर सीमावर्ती घेरा डाल दिया गया और खाद्य द्रव्यों को छोड़कर और सब वस्तुएँ मित्रराष्ट्रीय नियन्त्रण से बाहर वाले जर्मनी के सब हिस्सों को भेजने पर पूरी पाबन्दी लगा दी गयी ; इसलिए सिवाय उस माल के जो चढ़ाई करने वाले क्षतिपूर्ति शोधन के हिसाब में फ्रांस और बेल्जियम भेज सके, शेष माल जमा होता रहा और लाभदायक रीति से बेचा न गया।

पृथक्तावादी आन्दोलन
(The Separatist Movement)

फ्रांसीसियों ने जिस एक और हथियार से फायदा उठाया वह था अधिकृत प्रदेश के पृथक्तावादी आन्दोलन का समर्थन। इस मामले में उन्होंने जो कुछ किया, उसके पक्ष में यह कह देना उचित होगा कि यह उनकी उसी नीति का तर्कसंगत विस्तार था, जिसके लिए उन्होने शाँति सम्मेलन में लगातार, पर निष्फल, आग्रह किया था जिसे वे न केवल अपनी, बल्कि सबकी सुरक्षा के लिए सचमुच परमावश्यक समझते थे और जिसे उन्होने पहले भी अपने युद्ध-उद्देश्यों में गिनाया था। फरवरी १९१७ में फ्रांस और रूस के बीच नयपत्रों के गुप्त आदान-प्रदान द्वारा, जिसे बोलशेविकों ने क्रांति के बाद प्रकाशित किया, इस प्रस्थापना पर जार सरकार का समर्थन प्राप्त कर लिया गया कि जर्मनी के रेन नदी के पार वाले जिलों को उससे राजनैतिक रूप से पृथक् करके उनको अलग आधार पर संगठित कर दिया जाय जिससे भविष्य में जर्मनी के आक्रमण के विरुद्ध राइन नदी एक स्थायी सामरिक सीमान्त बन सके। यह कह देना आवश्यक है कि यह योजना राइन नदी के बायें किनारे के प्रदेशों को फ्रांस में मिलाने की बात नहीं कहती थी बल्कि वहां एक स्वायत्त और तटस्थ राज्य की स्थापना करना चाहती थी, जो आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से जर्मनी पर निर्भर न हो। शांति सम्मेलन में इस नीति का पक्ष श्री क्लीमेंशो की हिदायतों पर श्री तारदू (M. Tardieu) द्वारा तैयार किये गये ज्ञापन में विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया था।[1] जो कुछ बाद में हुआ, उसको देखते हुए इस लेख्य का निम्नलिखित भविष्यदर्शी संदर्भ रोचक जान पड़ेगा।

---

१. इस लेख्य का पूरा पाठ ए० तारदू की पुस्तक A. La Paix में मौजूद है, पैरिस, पेयो, १९२१, पृष्ठ १६५-८४।

मान लीजिए कि तथ्यतः जर्मनी राइन का स्वामी हो और वह पोलैंड पर या बोहीमिया (चेकोस्लोवाकिया) पर हमला करना चाहता हो। राइन पर, प्रतिरक्षक के रूप में जमा हुआ वह उन पश्चिमी राष्ट्रों को रोके रखेगा—कब तक ?—जो इन नये गणराज्यों की सहायता के लिए आये हैं और उनकी सहायता हो सकने से पहले ही वे धूलिसात् कर दिये जायेंगे।

बाद में सम्मेलन में श्री तारदू और श्री फिलिप केर (Mr. Philip Kerr) (जो बाद में लार्ड लोथियन कहलाये) के बीच हुई बातचीत में श्री तारदू ने एक बात कही जो बहुत वर्षों बाद श्री बाल्डविन ने दुहराई, और श्री बाल्डविन आमतौर से वह बात सबसे पहले सोचने वाले माने जाते हैं :

उसे (इंगलैंड को) मालूम है कि उसका सीमान्त डोवर पर नहीं है। अब पिछली लड़ाई ने उसे यह शिक्षा दी है कि उसका योरोपीय सीमान्त राइन नदी पर है और राइन नदी उसके लिए स्वेज़ नहर और हिमालय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1]

१४ मार्च को इस प्रश्न पर राष्ट्रपति विल्सन, श्री लायड जार्ज और श्री क्लीमेंशो में बातचीत हुई। यूनाइटेड स्टेट्स और ब्रिटेन के प्रतिनिधि फ्रेंच प्रस्थापना के सख्त विरोधी थे, पर इस प्रस्थापना को छुड़वाने के लिए उन्होंने पुनः जर्मन आक्रमण होने की अवस्था में अविलम्ब सहायता की सम्मिलित सैनिक गारन्टी फौरन प्रस्तुत की पर इस प्रस्ताव से भी श्री क्लीमेंशो तुरन्त सहमत न हुए और बातचीत होती रही जिसके परिणामस्वरूप संधि में जर्मन निरस्त्रीकरण राइनलैंड के विसैन्यीकरण और अन्य मामलों के बारे में संधि में रक्खी गई शर्तें बदली गईं, और अन्त में राइनलैंड का आधिपत्य उस रूप में जान लिया गया जिस रूप में वह अन्त में वर्साई की संधि में आया। पर तब भी मार्शल फौश (Marshal Foch) ने इस समझौते का कड़ा विरोध किया और २५ अप्रैल तक भी वह यह कहते रहे कि सिर्फ १५ वर्षों तक का सैनिक आधिपत्य सुरक्षा की शून्य के बराबर गारन्टी है और हमें सैनिक व्यय बढ़ाने को बाधित होना पड़ेगा।[2]

परन्तु उनकी दलीलें न मानी गईं और श्री क्लीमेंशो ने अविलम्ब सैनिक सहायता की आंग्ल-अमेरिकन गारन्टी के बदले में राइन सीमान्त की फ्रांसीसी माँग छोड़ दी। यह महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान नवम्बर १९१९ में यूनाइटेड स्टेट्स सीनेट द्वारा अपने राष्ट्रपति के काम का अनुसमर्थन करने से इन्कार कर देने के कारण पूरी तरह नष्ट हो गया। अंग्रेजों का वचन तभी कायम रहना था, जब अमरीकन भी साथ हों और इसलिए फ्रांस ने अपनी आकांक्षित योजना मुफ्त में ही छोड़ी। इस स्थिति को देखते हुए ही हमें राइन के बायें किनारे पृथक्तावाद को बढ़ावा देने की फ्रेंच कार्यवाही पर फ़ैसला करना चाहिए। उन्होंने इसे बढ़ावा दिया, यह तो निर्विवाद है, यद्यपि वह लगातार इससे इन्कार करते रहे और इस आन्दोलन को स्थानीय जनता की

१. वही, पृष्ठ १९२, श्री तारदू की पुस्तक १९२१ में प्रकाशित हुई थी।
२. वही, पृष्ठ २०६।

इच्छाओं की स्वयं स्फूर्त अभिव्यक्ति बताते रहे जिसकी सफ़ाई देने या जिसे रोकने से उन्हें कुछ मतलब नहीं था परन्तु वास्तव में राइनलेंड में पृथक्‌तावादी आन्दोलन स्थानीय लोकमत के विरोध के बावजूद चलता रहा ; इसके नेता अधिकतर उस जिले के बाहर के थे और इसके कार्यकर्त्ताओं में सजायाफ़्ता अपराधी तथा अवांछनीय व्यक्ति थे। इसके अतिरिक्त, पृथक्‌तावादी आन्दोलन को फ्रेंच समर्थन की बात फ्रेंच सहायता न मिलने पर उस आन्दोलन के शीघ्र बेजान हो जाने से निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो गई थी, बल्कि ऐसे कार्यों के भी बहुत से प्रमाण मिले है जिनकी और कोई व्याख्या नहीं हो सकती। विद्रोहियों को फ्रांको-बेल्जियम रेगी गाड़ियों से उनके कार्य स्थल पर पहुँचाया जाता था, जर्मन असैनिक जनता से छीने गए हथियार उन्हें बांट दिए गए और जो हथियार जर्मन पुलिस ने पृथक्‌तावादियों से छीने वे फ्रेंच अधिकारियों ने फिर उन्हें सौंप दिए। पुलिस के हथियार छीन लिये गए और उनके प्रतिरोध में अन्य प्रकार से रुकावट डाली गई और इस आन्दोलन द्वारा उद्घोषित राइनलैंड गणराज्य को फ्रेंच उच्चायुक्त ने वहाँ तथ्यत: सरकार स्वीकार कर लिया जहाँ-जहां इसने उसका अधिकार प्रभावी समझा।[1]

बेल्जियम अधिकृत क्षेत्र में जहाँ ऐसी सहायता नहीं मिली यह आन्दोलन बड़ी तेजी से ठप्प हो गया परन्तु बावेरियन पलेटीनेट में, जो फ्रेंच एलसेस लोरेन और अस्थायी रूप से फ्रांस को मिले हुए क्षेत्र सार के बीच में था, घटनाओं ने विशेष रूप से गंभीर रुख धारण कर लिया जिससे एक समय फांस और ब्रिटेन में पूर्ण संबन्ध विच्छेद का खतरा हो गया। २४ अक्तूबर १९२३ को राइनलैंड आयोग के एक प्रतिनिधि जनरल द मैत्ज (General de Metz) के प्रतिनिधि ने पलेटीनेट को एक स्वायत्त राज्य के रूप में अभिज्ञात कर लिया और उसकी अस्थायी सरकार को मान्यता दे दी तथा अगले दिन स्वयं जनरल ने सब बावेरियन अफसरों को अपने कार्य करने से रोक दिया। इस तरह बढ़ावा मिलने पर पृथक्‌तावादियों ने पलेटीनेट के प्रत्येक नगर के सार्वजनिक भवनों पर अधिकार कर लिया और अफसरों को एक साथ जिनकी संख्या लगभग १९ हजार थी, देशांतरित कर दिया। २ जनवरी १९२४ को राइनलैंड उच्च आयोग ने ब्रिटिश प्रतिनिधि के विपक्ष में मत दिया। 'स्वायत्त सरकार' की आज्ञप्तियों को पंजीयित करने का निश्चय किया और इस प्रकार उसे भी अधिकृत रूप से अभिज्ञात कर लिया। उस समय ब्रिटिश सरकार ने यह मांग की कि इसका अनुसमर्थन (ratification) एक जांच होने तक निलम्बित कर दिया जाय और बावेरिया तथा पलैटीनेट के ब्रिटिश महावाणिज्य दूत (Consul General) श्री क्लाइव के बाद के अनुसंधान से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि आबादी का प्रबल बहुमत पृथक्‌तावादी सरकार के विरुद्ध है। इस प्रतिवेदन के बल पर ब्रिटिश सरकार ने यह सवाल मित्रराष्ट्रीय स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) के पास भेजने की प्रस्थापना रक्खी जिसके परिणामस्वरूप फ्रेंच

---

१. डुलिसडोर्फ पर, ३० सितम्बर १९२३ को पृथकतावादियों के अधिकार का विश्वासजनक और सजीव वर्णन पढ़ने के लिए देखिये दि अनीज़ी ट्रायंगल, लेखक एपैक्स (कैप्टिन आर० जी० कौलसन) लंदन, मरे, १९३१. पृष्ठ ३९—४३।

प्रतिरोध की टांगें टूट गईं। फरवरी में जब उनका समर्थन समाप्त हो चुका था, पिरमासेंस (Pirmasens) में १५ पृथक्तावादियों को, उस भवन में आग लगाकर जिसकी वे रक्षा कर रहे थे, भगा दिये जाने और उनका कत्लेआम कर दिये जाने से जनता की सच्ची सहानुभूति का साफ पता चल गया। डुर्खीम (Durkheim) में भी यही किस्सा दोहराया गया और कैसर्स लौटर्न (Kaiserslautern) में एक और संघर्ष हुआ जिसमें बहुतों की जान गई यद्यपि इस अवसर पर पृथक्तावादियों ने संभवतः पहले हमला किया था। इन घटनाओं के बाद राइनलैंड उच्चायोग ने घेरे की स्थिति घोषित कर दी और स्थानीय राष्ट्रवादी संघटन के विघटन का आदेश दिया। फरवरी १९२४ के अन्त तक अंतिम पृथक्तावादी भी रंग-मंच से अदृश्य हो गये।

परन्तु ये उपद्रव जो रूहर के बारे में फ्रेंच नीति के परिणामस्वरूप हुए थे, अधिकृत प्रदेश तक ही सीमित न रहे। ९ नवम्बर १९२३ को जनरल लूडेन डोर्फ़ द्वारा प्रवर्तित एक विद्रोह बावेरिया में उठ खड़ा हुआ जिसे तत्परता से दबा दिया गया पर तो भी उसका कुछ ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि इसका एक नेता आस्ट्रिया में उत्पन्न एक व्यक्ति था—जिसका नाम एडोल्फ हिटलर था--जिसके बारे में कुछ ही वर्षों में दुनिया को बहुत कुछ जानना था। हिटलर ने उपद्रवों में जो काम किया उसकी सज़ा के रूप मे उसे एक किले में कैद कर दिया गया और वहाँ मिले हुए अवकाश में उसने मेरा संघर्ष (Mein Kampf) नामक पुस्तक लिखी जिसमें राष्ट्रीय समाजवादी (Nationalist Socialist) सिद्धान्त की व्याख्या और विस्तार है।

संघष में हुई क्षतियाँ
(Losses of the Struggle)

राइनलड में पृथक्तावादी आंन्दोलन के परिणामस्वरूप हुए रक्तपात के अलावा जर्मनी और रूहर पर आधिपत्य करने वाली शक्तियों के बीच विद्यमान प्रायः युद्ध की सी अवस्था से भी कुछ क्षतियां हुई। फ्रेंच सूत्र यह मानते हैं कि मित्रराष्ट्रों के पक्ष में २० व्यक्ति मारे गये और ६६ घायल हुए और विरोधियों के पक्ष में ७६ मारे गये तथा ९२ घायल हुए जब कि निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को लागू करने में की गई जर्मन कार्यवाहियों में ३०० मारे गये और २००० से अधिक घायल हुए। पर दोनों पक्षों के लिए वित्तीय परिणाम कहीं अधिक विनाशकारी हुए। फ्रांक (Franc) का मूल्य लगभग चौथाई कम हो गया, मार्क अरब गुना कम हो गया और सब दृष्टियों से सर्वथा मूल्यहीन रह गया। इन परिस्थितियों में समझदारी की बात पर ध्यान दिये जाने का अधिक मौका था। सितम्बर १९२३ में जर्मनी ने बिना शर्त निष्क्रिय प्रतिरोध का परित्याग कर दिया और क्षतिपूर्ति की अदायगी रोकने वाला अध्यादेश (ordinance) वापस ले लिया। पर जर्मनी की ऋण वापस देने की वास्तविक क्षमता इतनी अधिक नष्ट हो चुकी थी कि फ्रांस भी बुद्धिसंगत बात सुनने को तैयार हो गया। अक्तूबर १९२३ से उसने कोयले का भुगतान और अन्य वस्तुओं के रूप में किये जाने वाले भुगतानों की व्यवस्था रूहर के उद्योगपतियों से सीधी बातचीत से तय करने की नीति अपना रक्खी थी। पर २३ नवम्बर का मानक समझौता अगर पुनर्नवित न किया जाये तो वह अप्रैल १९२४ में खतम हो जाना था और इस बात की बहुत कम संभावना थी कि

यह जारी रहेगा और सरकार से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति के स्थान में निजी उद्योग से स्थानीय भट वसूल करने की इस प्रणाली से जर्मनी का पूरा नाश हो जाने की संभावना थी ।

डावेस योजना की उत्पत्ति
(Genesis of the Dawes Plan)

सौभाग्य से मित्र-शक्तियाँ (Allied Powers) यद्यपि उन सब ने जर्मनी द्वारा मई १९२३ में प्रस्तुत सब प्रस्थापनाएँ अस्वीकृत कर दी थीं, उसी तारीख से एक दूसरे के साथ और अपने भूतपूर्व शत्रु के साथ प्रायः निरन्तर बातचीत कर रही थीं और जर्मनी का हठ समाप्त हो जाने पर श्री बाल्डविन ने यूनाइटेड स्टेट्स से यह अनुरोध किया, कि वह जर्मनी की ऋण वापिस करने की क्षमता के अनुसंधान में सहयोग दे ।[1] उन्हें इसका अनुकूल उत्तर मिला और परिणाम यह हुआ कि वर्ष के अन्त में अमेरिकन सेनापति चार्ल्स जी० डावेस (Charles G. Dawes) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त हुई । समिति की बैठक पेरिस में जनवरी १९२४ में हुई और उसने अपना प्रतिवेदन ९ अप्रैल को पेश किया । 'व्यवसाय, न कि राजनीति' इस नारे को अपना आधार बनाकर प्रतिवेदन में इस बात पर बल दिया गया था कि जर्मनी को अपने सारे क्षेत्र के साधनों की आवश्यकता है और स्थार्याभूत चलार्थ (stabilized currency) और संतुलित बजट ये दोनों अपेक्षित वस्तुएँ अन्योन्याश्रित हैं । नये 'रेंट टेन मार्क'[2] को स्थिर स्थायिता प्रदान करने के लिए निर्गम के बैंक (Bank of Issue) का, सरकारी हस्तक्षेप से परे और विदेशी हितों की रक्षा के लिए आवश्यक पर्यवेक्षण के अधीन पुनर्गठन करने का निश्चय हुआ । जर्मनी को ५ वर्ष में एक अरब स्वर्ण मार्क या ५ करोड़ पौंड से बढ़ाते हुए ढाई अरब स्वर्ण मार्क (साढ़े बारह करोड़ पौंड) तक देने थे जिसमें से कुछ राशि जर्मन बजट में से निकाली जाती तथा कुछ राज्य रेलवे बंध-पत्रों (State railway bonds) और औद्योगिक ऋण-पत्रों (industrial debentures) से तथा एक परिवहन कर द्वारा जमा की जानी थी । स्थानाँतरण की कठिनाइयों के कारण विनिमय के कम होने को रोकने के लिए यह निश्चय हुआ कि भुगतान जर्मन चलार्थ में हो और हस्ताक्षर का कार्य प्राप्तिकर्त्ता के जिम्मे रहे । नये बैंक की स्वर्ण संचिति की आवश्यकताओं को और १९२४—५ में संधि के प्रयोजनों के लिए भीतरी भुगतानों की पूर्ति करने के लिए ८० करोड़ स्वर्ण मार्क का विदेशी ऋण इस योजना की पूर्ति की परमावश्यक शर्त माना गया ।

इस प्रतिवेदन से बल पाकर बद्धहित शक्तियों ने अपनी वार्त्ताएँ जारी रक्खीं और अंत में एक सम्मेलन की व्यवस्था की, जो १६ जुलाई १९२४ को लन्दन में हुआ । इसी बीच, पोइनकारे (M. Poincare) की सरकार का पतन (११ मई) हो जाने से सफल परिणाम की आशा और बढ़ गई । यद्यपि कुछ समय से फ्रेंच प्रधान मन्त्री

---

१. ऐसे सहयोग के लिए पहला सुझाव यूनाइटेड स्टेट्स में श्री सी० ई० ह्यूज ने अमेरिकन इतिहास संघ के समक्ष दिसम्बर १९२२ में दिये एक भाषण में रखा था ।

२. यह नवम्बर १९२३ में संघ आपात चलार्थ (emergency currency) के रूप में नया प्रचलित किया गया था ।

अपने भूतपूर्व मित्रराष्ट्रों के प्रति काफी समझौते का रूख रखने लगे थे पर श्री हेरियो और श्री रैम्ज़े मैकडौनल्ड में बातचीत होने से पिछले वर्ष की बातचीत की अपेक्षा जिसमें श्री पोइंकारे और लार्ड कर्जन पक्ष-प्रतिपादक थे, समझौते की अधिक आशा हो गई। तथ्य तो यह है कि यह सम्मेलन अच्छी तरह आगे बढ़ा; ५ अगस्त को यह जर्मन प्रतिनिधियों के आगमन का स्वागत करने के लिए तैयार था और १६ को डावेस योजना लागू करने के लिए आवश्यक समझौतों पर हस्ताक्षर हो गए। महीने के अन्त तक अभीष्ट विधान रीश्टैग (Reichstag)[1] से पास हो गया और अक्तूबर में प्रस्थापित ऋण पूर्ण सफलता के साथ ले लिया गया। सब से बड़ा अंश (११ करोड़ डालर) यूनाटेड स्टेट्स से मिला।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार
(Improvement in International Relations)

लन्दन सम्मेलन ने जो अनुकूल वातावरण पैदा किया उसने और डावेस योजना के अंगीकरण ने न केवल मित्रराष्ट्रों और जर्मनी के बीच वल्कि ब्रिटेन और फ्राँस के बीच भी अधिक सौहार्द के काल का सूत्रपात किया। क्षतिपूर्ति के भुगतानों के अभि-भाजन (apportionment) का गौण प्रश्न मित्रराष्ट्रों के वित मन्त्रियों के सम्मेलन में, जो जनवरी १९२५ में हुआ, शीघ्र और सुखद रूप में तय हो गया। कई वर्ष तक भुगतान भी ठीक समय पर किये जाते रहे, हालाँकि योजना का आशय इससे अधिक कुछ नहीं था कि समस्या का सुनिश्चित निपटारा न होने तक एक अस्थायी व्यवस्था कर ली जाय। इस बात पर क्षतिपूर्ति भुगतानों के महा-अभिकर्त्ता (एजेंट जनरल) के वार्षिक प्रतिवेदनों में शुरू से बल दिया गया था,[2] पर फिलहाल क्षतिपूर्ति के प्रश्न को न छोड़ा गया और योरोप के राजनीतिज्ञों को विश्व शाँति के स्थायी संगठन की ओर अपना ध्यान एकाग्र भाव से लगाने का अवसर मिल गया। इस प्रकार डावेस समझौते का एक तर्कसंगत परिणाम वह 'लोकार्नो भावना' (Locarno spirit) थी जिसने आगामी वर्षों में सुरक्षा की बहुत अधिक आशा पैदा करने में योग दिया था और क्योंकि अमेरिकन सहयोग के लिए जिसकी यह अन्तिम परिणति थी, अपील करने का मौका रूहर पर आधिपत्य के विनाशकारी अनुभवों के कारण ही आया था और इसी मार्मिक पाठ के परिणामस्वरूप दोनों पक्षों वाले एक-दूसरे के निकट आये इसलिए कम से कम से उस समय तो अवश्य ही प्रतीत होता कि बुराई में से अच्छाई का जन्म हुआ है।

---

१. जर्मनी की विधान सभा।

२. 'जो परिणाम हुए......वे अपने आप में अन्तिम पुनः समञ्जन (readjustment) के नहीं हैं, बल्कि वे ऐसे आरम्भ बिन्दु हैं जिनमें पुनः समञ्जन आगे चलना चाहिए। पायोग : क्षतिपूर्ति भुगतानों के महाअभिकर्त्ता का प्रतिवेदन मई १९२५।

: ५ :

सुरक्षा की समस्या : लोकार्नो संधियों तक

(The Problem of Security : To The Locarno Treaties)

१९२४ के अन्त तक ऐसी स्थिति आ गई थी जिसमें शांति संधियों की अधिकतर समस्या या तो हल हो गई थी और हल होने के मार्ग पर आ गई थी और योरोप के राजनीतिज्ञ अब स्थायी शांति की नींव रखने में नये शासन के रचनात्मक कार्य की ओर अधिक एकाग्रता से ध्यान लगा सकते थे। राज्यक्षेत्रीय समंजन (territorial adjustments) न केवल योरोप में बल्कि पूर्वी एशिया में भी पूरे हो चुके थे और यदि क्षतिपूर्ति की समस्या अंतिम रूप से तय भी न मानी जाय तो भी कम से कम एक ऐसा रास्ता अवश्य बन गया था, जिससे इस सवाल के कुछ समय तक दबे रहने का भरोसा किया जा सकता था। अन्तिम बात यह है कि यद्यपि रूसी क्रांतिकारियों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियाँ अब भी अच्छे सम्बन्धों को बिगाड़ने का कार्य कर रही थीं, पर जनवरी १९२४ में लेनिन की मृत्यु के बाद से उनकी नीति का यह पहलू सोवियत सरकार के उद्देश्यों के साथ अधिकाधिक असंगत होता जाता था और जहाँ सोवियत सरकार प्रमुख योरोपीय शक्तियों द्वारा किये गये अपने अभिज्ञान को अपनी काफ़ी सफलता मान सकती थी, वहाँ तृतीय कम्यूनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ (थर्ड इन्टरनेशनल) ने अपनी निरन्तर विफलताओं द्वारा इसे बदनाम ही किया था।[1]

तथ्य तो यह है कि परिस्थितियाँ ऐसी नई प्रणाली को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति करने के लिए परिपक्व प्रतीत होती थीं, जिससे युद्ध का भय समाप्त किया जा सके। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि शांति समझौते के निर्माताओं के मन में मुख्यतः यही उद्देश्य था और शुरू में वे सचमुच यह समझ रहे थे कि उनका उद्देश्य सिद्ध हो गया। कम से कम ब्रिटेन में तो, योरोपियन संधियों पर हस्ताक्षर होने के बाद कुछ वर्षों तक एक और लड़ाई की संभावना का संकेत करना भी नास्तिकता जैसा समझा जाता था। १९१४ से १९१८ तक की लड़ाई ब्रिटेन में अधिकतर लोगों के विचार में, अपने अन्तिम दिनों में, युद्ध को समाप्त करने के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध बन गयी थी। यदि यह लक्ष्य सिद्ध न हो तो सारा प्रयत्न बिल्कुल निष्फल रहा। जिस बात की विश्वास के साथ आशा की जाती थी या कम से कम खुले तौर पर संदेह नहीं किया जा सकता था, वह यह थी कि एक ऐसे नये युग का सूत्रपात होगा जिसमें राष्ट्र और जातियाँ अपनी मन-पसंद सरकारों के अधीन निःस्वार्थभाव से स्वयमेव बल-प्रयोग के प्रथम चिह्न के दिखाई देते ही उसके दमन में सहयोग करेंगी।

---

१. देखिए अध्याय ७।

ऐसे स्वर्ण युग में निरस्त्रीकरण में शुरू में कोई गम्भीर कठिनाई आने की आशा नहीं थी, यह तो पुनः स्थापित विश्वास, संतुष्ट आकांक्षाओं, शांति के व्यापक संकल्प, और सैनिकवाद तथा आक्रमण का सहारा लेने के अवशिष्ट प्रयोगों के हट जाने का स्वाभाविक परिणाम था। यह सच है कि शांति सम्मेलन की समाप्ति से पहले ही, संधि वार्ता करने वाले कुछ नेताओं ने कठिनाइयों और खतरों को भाँप लिया था। उदाहरण के लिए, श्री लॉयड जार्ज ने न केवल भविष्य के झगड़ों के बीजों को, जो राज्य-क्षेत्र-संबंधी समझौते में मौजूद थे, पहले से समझ लिया था, बल्कि मौक़े पर चोट करने के फ़ायदे भी स्पष्टतः अनुभव कर लिये थे और उन पर बल दिया था। उनका विचार था कि शस्त्रास्त्रों की वृद्धि पर सन्तोषजनक पाबन्दी लगाने के लिए वर्त्तमान समय ही ठीक था क्योंकि अभी शांति के लिए सामूहिक व्यवस्था की सफलता के बारे में संदेह पैदा होने के लिए काफ़ी समय नहीं मिला था, इस कारण उन्होंने यत्नपूर्वक यह पक्ष प्रतिपादित किया कि प्रसंविदा (covenant) पर हस्ताक्षर होने से पहले प्रमुख शक्तियों के बीच उनके शस्त्रास्त्रों की मात्रा सीमित करने के बारे में समझौता हो जाना चाहिए।

इसलिए आपने अनुरोध किया कि राष्ट्रसंघ की सफलता की पहली शर्त यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य यूनाटेड स्टेट्स, फ्राँस और इटली के बीच यह पक्का समझौता हो जाय कि वे समुद्री बेड़े या स्थल सेना खड़ी करने में एक दूसरे से होड़ नहीं करेंगे। यदि प्रसंविदा पर हस्ताक्षर होने से पहले यह समझौता न हुआ तो राष्ट्रसंघ एक विडम्बना मात्र होगा। इसे इस बात का प्रमाण माना जायगा, और ठीक ही माना जायगा कि इसके प्रमुख प्रवर्त्तकों और सरक्षकों को उसकी प्रभावकारिता में कोई विश्वास नहीं है। पर यदि राष्ट्रसंघ के प्रमुख सदस्य यह स्पष्ट कर दें कि उनमें एक ऐसा समझौता हो गया है जिससे राष्ट्रसंघ को अपने सदस्यों की रक्षा कर सकने के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त हो जाएगी और जिसमें साथ ही शस्त्रास्त्रों के बारे में एक दूसरे पर अविश्वास और संदेह असम्भव हो जाएगा तो इसका भविष्य और इसकी सत्ता सुनिश्चित हो जाएगी। तब यह सुनिश्चित रूप से यह व्यवस्था कर सकेगा कि न केवल जर्मनी बल्कि योरोप के सभी छोटे राज्य भी अपने शस्त्रास्त्रों को सीमित रक्खें और अनिवार्य भरती समाप्त करदें। अगर छोटे राष्ट्रों को अनिवार्य भरती द्वारा सेनाएं बनाने और कायम रखने की इजाजत दे दी जाय—और इनमें से प्रत्येक सेना लाखों की संख्या में होगी—तो सीमा सम्बन्धी युद्ध अनिवार्यतः होंगे और सारा योरोप उनमें खिंच आयेगा।[1]

पर इस अनुकूल अवसर की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सच तो यह है कि बाद की घटनाओं के प्रकाश में विचार करने पर यह संदेह भी पैदा हो जाता है कि प्रस्थापित नीति या प्रस्तुत युक्तियाँ सुस्थित भी थीं या नहीं। वस्तुतः, विश्व शाँति का खतरा छोटे राज्यों के आचरण से नहीं पैदा हुआ और यह संदिग्ध है कि विजेता महाशक्तियों ने विजय के तात्कालिक उत्साह से उत्पन्न आशावाद की गर्मी में अपने शस्त्रास्त्रों में कमी कर दी होती तो क्या वह बुद्धिमत्तापूर्ण या लाभदायक होता। तो भी यह स्पष्ट है कि १९२० में सब मित्रराष्ट्रों और उनकी सहकारी शक्तियों ने शस्त्रास्त्रों में व्यापक कमी करने का विचार किया था। राष्ट्रीय सुरक्षा से संगत निम्नतम सीमा तक शस्त्रास्त्रों में कमी और साझी कार्यवाही के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आभारों का लागू करना १४ सूत्रों में भी थे—सूत्र ४ और प्रसंविदा के अनुच्छेद ८ में भी थे

१. २५ मार्च १९१९ का स्मृति पत्र। १९२२ के Cmd. १६१४ में प्रकाशित।

और यही इरादा (सब पर लागू होने वाली सीमा के सूत्रपात को सम्भव बना देना) वर्साई सन्धि के भाग ५ में जर्मनी के अत्यधिक निरस्त्रीकरण करने के लिए कारण के रूप में दिया गया है, और १६ जून १९१९ को जर्मन प्रतिनिधियों को दिये गये उत्तर में और भी व्यक्त रूप से दोहराया गया था। इन शब्दों को जर्मन प्रचारकों ने गलत रूप में प्रस्तुत किया है और इस कार्य में राइख (Reich) का सीमाओं के बाहर भी, उन्हें अहेतुक मात्रा तक सफलता हुई। उन्होंने यह स्थापना प्रस्तुत की है कि मानो यह कोई अनुबन्ध किया गया था कि पराजित का निरस्त्रीकरण करके विजेताओं का निरस्त्रीकरण भी अवश्य किया जायेगा। निःसन्देह इस तरह का दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1] मित्रराष्ट्रों ने कभी यह नहीं कहा कि यदि तुम अस्त्रों का परित्याग करोगे तो हम भी करेंगे। उनका रवैया तो उचित रूप से वैसा समझना चाहिए जैसा गृहस्थियों के उस समूह का है जो किसी दंडित चोर से यह कहता है 'पेटेंट ताले और बहुत सी पुलिस बहुत महंगी सुविधाएँ हैं, जिनसे हम पिंड छुड़ाना चाहते हैं पर इनसे हम तब तक पिंड नहीं छुड़ा सकते जब तक तुम्हारी हानि पहुँचाने की क्षमता नष्ट न कर दी जाये'। कहीं भी यह संकेत नहीं मिलता कि विजेताओं ने उस अनुपात में कमी करने का विचार किया हो, जो जर्मनी पर लागू किया गया था, पर यह कसौटी कि 'राष्ट्रीय सुरक्षा से संगत निम्नतम सीमा' तक स्पष्टत: एक परिवतनशील प्रमाप है, जो प्रमुख सम्भावित शान्ति-भंजक को निरुपद्रव कर दिये जाने पर अपेक्षया नीचा होगा। यह कसौटी जो प्रसंविदा के अनुच्छेद ८ में सन्निविष्ट है, यह कहने का दूसरा तरीका है कि सुरक्षा ही सब कुछ है। शस्त्रास्त्रों की अधिकता युद्ध का उतना कारण नहीं है जितना एक खतरनाक स्थिति को सूचित करने वाला लक्षण है, आक्रमण के वास्तविक या काल्पनिक जोखिम से पूरी तरह निश्चित किये जाने पर शायद ही कोई राष्ट्र ऐसा पागल हो, जो अपने सैन्य बलों पर होने वाले कमर तोड़ और अनुत्पादक व्यय को आपसे आप सबको संतुष्टि करा सकने वाली न्यूनतम मात्रा तक घटा दे। दूसरी ओर यदि कोई राज्य यह अनुभव करे कि शस्त्रास्त्रों में कमी करने से उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा है तो उसे उनमें कमी करने के लिए प्रेरित करना स्पष्टत: असम्भव है, इसलिए यह जरा आश्चर्य की बात है कि राष्ट्र संघ ने इस समस्या के समाधान के लिए शुरू में जो प्रयत्न किये वे संकुचित होकर सांख्यिकीय और गणितीय आधार पर निरस्त्रीकरण करने की योजनाओं पर केंद्रित होने लगे जिनमें नियन्त्रण करने वाले इस तत्त्व की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया गया था। मई १९२० में, प्रसंविदा के अनुच्छेद ९ के अनुसार ही एक स्थायी सलाहकार आयोग (Perma-

१. देखिए ब्रिटेन का नीति संबन्धी वक्तव्य, १८ सितम्बर १९३२, 'यह बताना कि किसी ठहराव का उद्देश्य या लक्ष्य क्या है, उस उद्देश्य की सफल परिपूर्ति को उस ठहराव की शर्तें बना देने से बहुत भिन्न वस्तु है' (जे० डब्ल्यू० व्हीलर-वैनिट, सम्पादक; डाक्यूमेन्ट्स ऑन इण्टर-नैशनल अफैअर्स, १९३२। लन्दन, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की ब्रिटिश संस्था के वास्ते ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित १९३३, पृष्ठ १९६)।

nent Advisory Commission) गठित किया गया जिसमें सैनिक, नौ-सैनिक और वायु-सैनिक विशेषज्ञ थे और इसके नौ महीने बाद अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) बनाया गया।[1] परन्तु इन निकायों ने शुरू में मौजूदा शस्त्रास्त्रों के बारे में सांख्यिकीय और अन्य जानकारी के संग्रह और विनिमय में बहुत समय लगाया जबकि एसेम्बली ने अपने पहले चार सत्रों (sessions) में से प्रत्येक में शस्त्रास्त्रों सम्बन्धी व्यय पर प्रत्येक राष्ट्रीय बजट की तत्कालीन संख्या तक का प्रतिबन्ध लगाने की सिफारिश की। १६२२ में अस्थायी मिश्रित आयोग के ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड ऐशर (Lord Esher) ने जो योजना प्रस्थापित की वह भी गणितीय ढङ्ग की थी और उसमें प्रत्येक योरोपीय शक्ति के लिए एक सुनिर्दिष्ट अनुपात में ३० हजार व्यक्तियों की इकाइयों की एक निश्चित संख्या तय कर देने की प्रस्थापना रक्खी गई थी।

वाशिंगटन सम्मेलन, १६२१-२
(Washington Conference, 1921-2)

लार्ड ऐशर की योजना उस उदाहरण पर ही आधारित थी जो १९२१-२२ के वाशिंगटन सम्मेलन में नौ-सैनिक निरस्त्रीकरण पर लागू किया गया था परन्तु जिन परिस्थितियों में उस अवसर पर समझौता हो सका था वे उन परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न थीं जिनमें योरोपीय स्थल सेनाओं में कमी करने का यत्न किया जा रहा था। पहली बात तो यह है कि यूनाइटेड स्टेट्स की, जिसने ११ अगस्त १६२१ को वाशिंगटन सम्मेलन का नियन्त्रण किया था उस समय वित्तीय स्थिति औरों के मुकाबिले में इतनी ऊँची थी कि यदि अप्रतिबंधित जहाज निर्माण होने दिया जाता तो कोई भी शक्ति उससे मुकाबिला न कर सकती थी। इस समझौते में यूनाइटेड स्टेट्स की साथी अन्य शक्तियों में से न तो फ्रांस को और न ही इटली को ही ब्रिटिश साम्राज्य, यूनाइटेड स्टेट्स या जापान की नौ-सैनिक श्रेष्ठता से खतरा था और इटली जो अपेक्षतया निर्धन राष्ट्र था, फ्राँस के साथ समता के आधार पर, प्रस्थापित पाबंदियों का निश्चय ही स्वागत करने के लिए प्रस्तुत था। ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स के सम्बन्ध ऐसे थे कि ब्रिटेन को युद्ध-पोतों की शक्ति अमेरिका के बराबर हो जाने से कोई भय नहीं था और इस समझौते से वह इस दृष्टि से योरोप की अगली दो नौ-सैनिक शक्तियों के मुकाबिले में ५ व ३·५ के अनुपात में हो गया।[2] संख्या पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए थे वे सिर्फ़ बड़े[3] युद्धपोतों के बारे में थे—इस प्रकार के युद्ध के साधन की

१. सर्वे आफ़ इन्टरनेशनल अफ़ेअर्स, १६२०-३, पृष्ठ १०४।

२. 'योरोप में पिछले ७० साल में हमें वह स्थिति नहीं प्राप्त हो सकी' सर फ्रेडरिक मौरिस का भाषण, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की ब्रिटिश संस्था में जो इसके जरनल, जिल्द १, १६२२ पृष्ठ १०३ पर प्रकाशित हुआ।

३. विमान-वाहकों पर कुल टनेज की पाबंदी लगाई गई थी और महायुद्धपोतों (कैपीटल शिप) विमान वाहकों और पर्यटक पोतों (क्रूज़र) के लिए तथा उनकी तोपों के लिए अधिकतम आकार तय कर दिया था जिसे कुछ लोग अनावश्यक रूप से अधिक मानते हैं।

आवश्यकता के बारे में मतभेद हो सकते हैं और अन्य पोतों की अपेक्षा ऐसे ही पोतों पर गणितीय अनुपात अधिक स्पष्ट रूप से लागू हो सकता है; इसके अलावा, यह ऐसी चीज है जिसे गुप्त रूप में रखना या बहुत अधिक वित्तीय उद्व्यय (outlay) के बिना बना सकना असम्भव है। इस समझौते में अन्तर्ग्रस्त पक्ष अपेक्षया थोड़े थे और इसकी कालावधि भी सीमित थी क्योंकि संधि १९३६ में समाप्त की जा सकती थी। परन्तु सबसे बड़ी बात यह थी कि यह समझौता संभव संकट स्थानों और सब पक्षों की सुरक्षा पर पूर्व विचार किये बिना नहीं हुआ था।[1] जापान और चीन में हुई आनुषंगिक बातचीत में उनके पारस्परिक मतभेद तय हो गए थे और जापान के अधिदिष्ट (mandated) यापद्वीप में अमेरिका के अधिकार स्वीकार कर लिये जाने से उसके भय का आधार समाप्त हो गया था। सुरक्षा की दृष्टि से, कुछ कार्य वह संधि होने से हो गया, जो दिसम्बर १९२१ में ब्रिटिश साम्राज्य, यूनाइटेड स्टेट्स, जापान और फ्रांस में हुई थी, और जिसमें चारों पक्षों ने प्रशान्त के क्षेत्र में सहयोग, परामर्श और पारस्परिक सहायता की नीति अपनाने की प्रतिज्ञा की थी। इसी प्रकार फरवरी १९२२ की नौ देशों की संधि से भी जिसके द्वारा चीन की सर्वोच्च स्वाधीनता और राज्यक्षेत्रीय तथा प्रशासनीय अखंडता स्वीकार की गई थी, सुरक्षा की कुछ आवश्यकता पूरी हुई। इन परिस्थितियों में, यद्यपि सफलता काफ़ी हुई पर यह स्पष्ट है कि यह समस्या उस समस्या से कहीं सीधी और आसान थी, जो योरोप की स्थल सेनाओं के सिलसिले में राष्ट्रसंघ के सामने आई।

फ्रांस और सुरक्षा
(France and Security)

जिनीवा के वातावरण के उत्तम प्रभावों से बाहर, पहले ही से इस बात में कोई संदेह नहीं था कि सब से पहले सुरक्षा की भावना की आवश्यकता है। फ्राँस को जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, शान्ति सम्मेलन में आँग्ल-अमेरिकन गारन्टी संधि (Anglo-American Treaty of Guarantee) के बदले में ही जर्मन सीमान्त को राइन से परे रहने की अपनी प्रिय योजना छोड़ने के लिए मनाया जा सकता था और जब यूनाइटेड स्टेट्स के हट जाने के कारण यह बात रह गई तब उसने बिना समय खोये फरवरी १९२१ में पोलैंड के साथ संधि करके अपनी स्थिति मजबूत कर ली। लिटिल एटेन्ट (Little Entente) या लघु संधि वाले राज्यों ने स्थिति की वास्तविकता को देखते हुए एक साथ कार्य किया, और उनकी मैत्री प्रणाली इस तथ्य के कारण पहले ही फ्राँस के साथ जुड़ी हुई थी, कि उनका शान्ति समझौते को कायम रखने में साझा हित था—उस सम्बन्ध की औपचारिक पूर्ति तो बहुत समय बाद हुई। पर ये सावधानियाँ भी फ्रांस की चिन्ताओं को दूर करने के लिए नाकाफी थीं; आँग्ल-

१. अब भी इस बारे में संदेह किया जाता है कि क्या यह प्रतिफल काफ़ी था। उदाहरण के लिए, यह कहा जाता है कि फ्रांस ने पनडुब्बी निर्माण, मुख्यतः इस कारण शुरू किया क्योंकि पाँच महायुद्ध पोतों (कैपिटल जहाजों) की संख्या अपर्याप्त मालूम हुई। वाशिंगटन संधि (Washington Treaty) ने छोटी शक्तियों की आवश्यकताओं को अपना आधार बनाने की बजाय ऊपर से नीचे उतरने का यत्न किया।

फ्रेंच संधि के पुनर्नवन (renewal) के लिए बातचीत १९२२ तक चलती रही और कैनीज सम्मेलन (Cannes Conference) के दौरान वे लगभग पूरी होती दिखाई दे रही थीं कि उनमें श्री ब्रियेंड के स्थान में श्री पोइंकारे के सत्तारूढ़ हो जाने से बाधा आ गई। अंत में यह परियोजना इसलिए ठप्प हो गई क्योंकि ब्रिटेन जर्मनी द्वारा वर्साई की संधि के अनुच्छेद ४२ और ४३ (राइन के निकट विसैन्यीकृत क्षेत्र में किलेबन्दी या सशस्त्र बल) के अतिक्रमण को युद्ध छेड़ने के लिए उचित कारण मानने के या जर्मनी के पूर्वी सीमान्त पर विद्यमान देशों के बारे में प्रसंविदा के अधीन ग्रहण किये हुए दायित्वों के अलावा और कोई दायित्व लेने को अनिच्छुक था। ब्रिटिश तर्क फरवरी में लार्ड कर्जन द्वारा तैयार किये गये एक ज्ञापन में सार-रूप में दिया गया है: —

जहाँ तक यह प्रश्न है कि ब्रिटिश लोकमत हमारी गारंटी का समर्थन करेगा, यह इसी विश्वास में होगा कि यह शर्त सिर्फ तब कार्यान्वित होगी जब कोई जर्मन सेना सचमुच फ्रेंच सीमान्त को लाँघेगी······[अन्य स्थानों के दायित्वों के बारे में] दोनों शक्तियां किसी और की प्रतीक्षा न करती हुईं 'मिलकर वे उपाय सोचेंगी, जो शीघ्र ही शान्तिपूर्ण और न्यायसंगत समझौता होने के लिए आवश्यक हो।' निःसंदेह इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि वे इकट्ठी मिलकर यह मामला राष्ट्रसंघ में भेजेंगी, पर यदि ऐसा है तो उस पर उपबन्ध अनावश्यक है। दूसरी ओर संभाव्यत; 'फ्राँसीसियों का यह आशय है······कि इसका यह अर्थ लगाया जाय कि योरोप के भविष्य के विवादों को निपटाना प्रथमतः ब्रिटेन और फ्राँस का काम है और शेष संसार तब तक देखता ही रहेगा जब तक हमारी दो सरकारें यह तय न कर लें कि क्या करना है······ब्रिटेन और फ्राँस की इस तरह की सैनिक संधि का परिणाम यही होगा कि अन्य शक्तियाँ प्रतिस्पर्धी, और सम्भव है कि शत्रुतापूर्ण, गठबंधन बनायेंगी ·····और यह उस विचार से असंगत है जिसके आधार पर अब तक यह मान लिया गया है कि योरोप की युद्धोत्तर राजनैतिक व्यवस्था उस पर आधारित होगी।

अनुशास्तियों से किनारा
(The Flight from Sanctions)

इसी बीच, सामूहिक कार्यवाही के लिए राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के उपबन्धों में निविष्ट विश्वास बड़ी तेजी से घट रहा था। निःसन्देह इस परिवर्तन को लाने में सबसे महत्त्वपूर्ण कारक यूनाइटेड स्टेट्स का हट जाना था। पर कुछ समय तक अब भी यह आम विश्वास था कि शांति की स्थापना स्थायी आधार पर की गई है। अब यह विश्वास घटने लगा। युद्ध की समाप्ति के बाद के समय में विद्यमान आशावादिता में, जो जिम्मेवारियाँ प्रसन्नता से ग्रहण की गई थीं, वे अब, जब यह प्रतीत होने लगा कि शायद वे सचमुच पूरी करनी होंगी, अधिक गम्भीर रूप ग्रहण करने लगीं, और बहुत से हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने शीघ्र ही उन्हें मर्यादित करना शुरू कर दिया। १९२० में पहली असेम्बली में कनाडियन प्रतिनिधि ने अनुच्छेद १० (राज्यक्षेत्र की अखंडता की रक्षा) को हटा देने की प्रस्थापना रक्खी और १९२२ में अपने दृष्टिकोण को और परिवर्धित करते हुए एक प्रस्थापना रक्खी जिस में बीच में यह शब्द थे 'कि किसी सदस्य पर अपनी संसद्, विधान मंडल या अन्य प्रतिनिधि संस्था की सम्मति के बिना किसी युद्ध-कार्य में लगने का दायित्व न होगा।' १९२२ में चौथी असेम्बली में एक निर्वचन-कर्त्ता संकल्प प्रस्थापित किया गया जिसमें इस आशय का एक और कनेडियन

संशोधन स्वीकार करने के बाद कि राष्ट्र-संघीय परिषद् को अनुच्छेद १० के अधीन दायित्व की पूर्ति के लिए की जाने वाली कार्यवाही के बारे में राय देते हुए प्रत्येक राज्य की भौगोलिक और साधारण स्थिति का ध्यान रखना चाहिये, यह कहा गया था कि

सदस्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा और उनके राज्य-क्षेत्र की अखण्डता की रक्षा के दायित्व के सिलसिले में यह निश्चय करना प्रत्येक सदस्य के वैधानिक प्राधिकारियों (authorities) का काम है कि सदस्य किस सीमा तक अपने सैनिक बलों के उपयोग द्वारा इस दायित्व की पूर्ति करने को बाधित है।

यद्यपि ईरान ने इस संकल्प का विरोध किया और इसलिए यह पास नहीं हुआ, पर उसके बाद आम तौर से यह उस अनुच्छेद के स्वीकृत निर्वचन को प्रकट करने वाला माना जाने लगा, और जो सिद्धान्त इसने निर्धारित किया, वह अनेक स्थानों पर अनुच्छेद १६ के अधीन लागू की गई अनुशास्तियों पर भी प्रयुक्त किया गया। इसी बीच द्वितीय असेम्बली ने १९२१ में अनुच्छेद १६ को प्रभावित करने वाले १९ संकल्प स्वीकार किये थे जिनका परिणाम यह हुआ कि अनुशास्तियों के बारे में प्रसंविदा के उपबंध कमज़ोर पड़ गये। एक फ्रांसीसी लेखक ने इसकी इन शब्दों में आलोचना की थी :

भय यह है कि हम जिस परिणाम पर पहुँचे हैं उसने मूल अनुच्छेद १६ की शक्ति को नष्ट कर दिया है पर उसके स्थान पर कोई और चीज नहीं रक्खी।[1]

तथ्य तो यह है कि एक नई विचारधारा, विशेषकर ब्रिटेन और ब्रिटिश डोमीनियनों में बड़ी तेज़ी से बढ़ रही थी, जो राष्ट्संघ को सिर्फ़ इसलिए महत्त्वपूर्ण समझती थी कि इससे परामर्श और अंतर्राष्ट्रीय लोकमत के निर्माण का अवसर मिलता था और प्रसंविदा पर हस्ताक्षर करने वाले रष्ट्रों को आक्रमणों के विरुद्ध गारंटी देने के उद्देश्य से बनाई गई व्यवस्था के न केवल कम महत्त्व का, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से ख़तरनाक समझती थी। परिणाम यह था कि उत्तरोत्तर, वह सुरक्षा, जिसके लिए, राष्ट्रसंघ का अस्तित्व समझा जाता था, भ्रम मात्र समझी जाने लगी और राज्यों को फिर अपने बलों और मित्रराष्ट्रों की सेनाओं पर ही भरोसा रह गया।

पारस्परिक सहायता की संधि का मसविदा
(The Draft Treaty of Mutual Assistance)

इन घटनाओं ने जिनसे युद्ध-पूर्व की व्यवस्था के फिर बिगड़ जाने का ख़तरा मालूम होता था, फ्रांस में जो सुरक्षा की गारंटी दिये जाने का आग्रह कर रहा था और राष्ट्रसंघ के अधिक उत्साही पृष्ठ-पोषकों में अप्रत्याशित मैत्री पैदा कर दी और वे सभ्यता की अन्तिम रक्षा-पंक्ति के रूप में सामने आये। १९२२ में लार्ड राबर्ट सेसिल ने (जो अब विसकाउन्ट सेसिल हैं) अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) के सामने चार उपपत्तियाँ (propositions) रक्खीं :

1. Ray, J. *Commentaire du Pacte de la Societe des Nations.* Paris, Recueil Sirey, 1930, p. 519.

(१) शस्त्रास्त्रों में कमी का प्रस्ताव तभी सफल हो सकता है, जब यह कमी आम हो।

(२) यह कमी सुरक्षा की सन्तोषजनक गारन्टियों पर निर्भर है।

(३) ये गारन्टियाँ आम होनी चाहिएं।

(४) ये गारन्टियाँ शस्त्रास्त्रों में कमी करने का वचन देने पर ही लागू होनी चाहिएँ।

इस पर असेम्बली में विवाद चला, जिसके परिणामस्वरूप लॉर्ड राबर्ट सेसिल ने और कर्नल रेक्विन ने, जो उसकी तीसरी उपपत्ति के प्रमुख आलोचक थे, अस्थायी आयोग के सामने दो मसविदे पेश किये और इन दोनों की विषय-वस्तुओं का समन्वय करके पारस्परिक सहायता की संधि का वह मसविदा तैयार किया गया, जो राष्ट्रसंघ के सदस्यों में और सदस्येतरों में भी उनके विचार जानने के लिए प्रचारित किया गया।

सन्धि का यह मसविदा एक आम गारन्टी और स्थानीय मैत्रियों की प्रणाली के अपने-अपने लाभों को समन्वित करने और उनकी त्रुटियाँ दूर करने का एक अत्यधिक बुद्धिमत्तापूर्ण यत्न था। इसमें युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध बताया गया था, और प्रत्येक हस्ताक्षरकर्त्ता पर सम्मिलित रूप से और पृथक्-पृथक् रूप से यह दायित्व था कि वह आक्रमणात्मक युद्ध में दूसरे की सहायता करे, पर सैनिक, नौ-सैनिक या वायु-सैनिक कार्यवाही करने का दायित्व सिर्फ उन राज्यों पर डाला गया था, जो उस महाद्वीप में स्थित हों, जिसमें वह आक्रमण हुआ है। इन कर्त्तव्यों का बंटवारा तथा आक्रमणकारी को निर्धारण करने का कार्य राष्ट्रसंघ की परिषद् (Council of the League) पर डाला गया और ऐच्छिक स्थानीय सन्धियों की इजाजत दे दी गई तथा उनके अविलम्ब हस्तक्षेप की मंजूरी भी दे दी गई; शर्त सिर्फ यह थी कि यदि परिषद् की राय में इस शक्ति का दुरुपयोग किया गया तो उन्हें आक्रमण के दंड का भागी होने का जोखिम उठाना होगा। इस प्रकार यह खतरा कम हो गया कि शांति की स्थापना से भिन्न कार्यों के लिए प्रादेशिक गुट्ट बनें और सन्धि के अनुसार लिये गये साधारण दायित्वों की शर्तों के लिए कार्यवाही करने की प्रेरणा स्वार्थ से मिलनी निश्चित हो गई। परन्तु जिस सावधान रीति से हस्ताक्षरकर्त्ताओं के दायित्व सीमित किये गये थे, उसने योजना को रद्द कर दिया। महाद्वीपीय आधार पर दायित्वों के बटवारे से ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के, जिसकी जिम्मेदारियाँ दुनिया भर में फैली हुई हैं, ढांचे के घातक टुकड़े हो जाने थे। या तो साम्राज्य के कुछ हिस्से जिस समय युद्धरत हों तो उसी समय दूसरे हिस्से शान्ति की स्थिति में होते—यह स्थिति उस समय असह्य समझी जाती थी—अथवा ब्रिटेन और उसके डोमीनियनों को संसार के सब भागों में आक्रमण का प्रतिरोध करने के बोझ का बहुत बड़ा हिस्सा उठाना पड़ता। जो हो, कोई भी महाद्वीपीय छूट (exemption) ब्रिटिश नौ-सेना पर लागू नहीं हो सकती थी और जो व्यवस्था सोची गई थी उससे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में राष्ट्रों के बीच वैधानिक सम्बन्धों का कठिन प्रश्न बड़े तीव्र रूप में सामने आने की सम्भावना मालूम होती थी। इन कारणों से

और इस कारण भी कि सन्धि ने राष्ट्रसंघ की परिषद् को बहुत अधिक प्रबन्धसंबंधी कार्य सौंप दिये थे, इंगलैंड की सरकार और डोमीनियनों ने यह योजना ठुकरा दी, अन्य राष्ट्रों, विशेषकर योरोप की भूतपूर्व तटस्थ शक्तियों, ने भी आक्षेप और आलोचनाएँ कीं, पर ब्रिटेन और डोमीनियनों द्वारा अस्वीकृति ही निर्णायक रही।

जिनीवा प्रोटोकोल

(The Geneva Protocol)

पर इस रद्द प्रस्थापना ने योरोपीय नेताओं को सही रास्ते पर ला दिया। सुरक्षा की, न केवल शस्त्रास्त्रों में पर्याप्त कमी करने की प्रारम्भिक कार्यवाही के रूप में, बल्कि ऐसे एकमात्र आधार के रूप में भी जिस पर स्थायी शाँति का भवन खड़ा किया जा सके, सुरक्षा की सर्वोच्च महत्ता आमतौर से स्वीकार की जाती थी। यदि संधि के मसविदे को फेंकना ही है तो यह अनुभव किया गया कि जिस सुरक्षा के उद्देश्य से वह बनाया गया था, उस को स्थापित करने का अब कोई स्वीकार्य दूसरा उपाय वहीं से पैदा होना चाहिए। इसके लिए यह सोचा गया कि फिर प्रसंविदा (covenant) पर आया जाय और शाँति की रक्षा तथा आक्रमण पर रोक के साधन के रूप में राष्ट्रसंघ की व्यवस्था को सुधारने का यत्न किया जाये। यह परिणाम प्राप्त करने के लिए दो तरीके सुझाये गये—एक तो यह कि आक्रमण की सन्तोषजनक कसौटी बना दी जाय और दूसरा यह कि प्रसविदा की उस त्रुटि को दूर कर दिया जाय जिसके होने से युद्ध अब भी, अनुच्छेद १५ में विहित निपटारे की व्यवस्था विफल हो जाने पर, कानून-सम्मत था। इन दोनों कठिनाइयों को हल करने के लिए अनिवार्य पंच-निर्णय (compulsory arbitration) का सहारा लेने की बात सोची गई। इस उपाय की आक्रमण की कसौटी के रूप में उपयोगिता पर श्री रैम्जे मैकडोनल्ड ने सितम्बर १९२४ में राष्ट्र-संघ की पाँचवीं असेम्बली में अपने उद्घाटन भाषण में बल दिया था,

> वह उपाय जिससे हम आक्रमण की जिम्मेदारी का यथार्थ आरोपण कर सकते हैं या उसके अधिकतम निकट पहुंच सकते हैं, पंच निर्णय है··· ··· कसौटी यह है : क्या आप पञ्च निर्णय के लिए राजी हैं?

पर यह भी स्पष्ट था कि सब विवादों में पंचनिर्णय स्वीकार कर लेने से सब निजी गुट्टों का द्वार बन्द हो जाएगा। इन विचारों से भरे हुए मस्तिष्कों से श्री मैकडोनल्ड और श्री हेरियो (M. Herriot) ने एक सयुक्त संकल्प प्रस्तुत किया जिसके परिणामस्वरूप श्री पोलीटिस (Mr. Politis) और श्री बेनेश ने जिनीवा समझौते का मसविदा तैयार करने की मेहनत की जिसमें ये सिद्धान्त सन्निविष्ट किये गए।

इस इतिहास-प्रसिद्ध लेख्य के ब्योरे में, जो किसी भी तरह आसानी से सुलभ नहीं है, जाना असम्भव है। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि इसने आक्रान्ता को पहचानने के अवंचनीय साधन विशेष रूप से उपर्युक्त कसौटी लागू करके

निश्चित करने पर भरोसा किया और इसने, सिवाय उन विवादों के जो किसी एक पक्ष के एकमात्र घरेलू क्षेत्र की बातों से पैदा हुए हों, और सब विवादों पर पंच निर्णय की व्यवस्था लागू की। इन घरेलू क्षेत्र की बातों में भी परिषद् या असेम्बली प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अधीन स्थिति पर फिर विचार कर सकती थी। आक्रांता के विरुद्ध लागू की जाने वाली अनुशास्तियां (sanctions) वही थीं जो प्रसंविदा के अनुच्छेद १६ में विहित थी।

इस कार्य-विधि पर वास्तविक आक्षेप यह है कि जिन विवादों मे युद्ध पैदा होता है वे प्राय: ऐसे ढंग के होते हैं जिन पर पंच-निर्णय प्रभावी नहीं होता। पोलिश सपथ (Polish Corridor) की समस्या इसका अच्छा उदाहरण है। कानूनी दृष्टि से देखें तो पोलैंड का स्वत्व अनाक्षेप्य था। न्यायिक विनिश्चय का विकल्प है समझौता, पर यहाँ कोई ऐसा समझौता सोचना कठिन है, जो एक पक्ष को स्वीकार्य हो और दूसरे के लिए अनिवार्यत: असंतोषजनक न हो। जर्मन रीश (German Reich) को पूर्वी प्रशा से जोड़ देने से, जो जर्मनों की न्यूनतम आकाँक्षा थी, स्पष्टत: पोलैंड का समुद्र से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता, और उत्तर से दक्षिण के बजाय पूर्व से पश्चिम को एक संपथ (corridor) मात्र बन जाता। इन अवस्थाओं में समझौता (protocol) सुरक्षा की समस्या में कोई नया योगदान नहीं करता था। बल्कि राष्ट्रों को उसी पुराने प्रश्न पर ला पटकता था—कि क्या प्रसंविदा की अनुशास्तियाँ पर्याप्त या विश्वास-योग्य सुरक्षा-साधन थीं। परन्तु प्रोटोकोल को अंत में किसी इस तरह के आक्षेप के कारण नहीं ठुकराया गया। सच तो यह है कि उस समय जिनीवा के अनुकूल वातावरण में उस नीति की सफलता, जो इसने प्रस्थापित की थी, निश्चित प्रतीत होती थी।

समझौते या प्रोटोकोल की अस्वीकृति

(Rejection of the Protocol)

२ अक्तूबर १९२४ को राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने अपने सदस्य-राज्यों की सरकारों से इसे स्वीकार करने की सर्वसम्मति से सिफारिश की। कुछ ही दिनों के भीतर लगभग १७ राज्यों के प्रतिनिधियों ने इस लिखत (instrument) पर हस्ताक्षर कर दिये और महीना समाप्त होने से पहले चैकोस्लोवाकिया ने, न केवल हस्ताक्षर कर दिये बल्कि इसका अनुसमर्थन भी कर दिया। तो भी अगले वर्ष के बसंत में यह योजना मृत हो गई। इसकी आकस्मिक मृत्यु का कुछ स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

कुछ लेखकों ने [1] इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि श्री रैम्जे मैकडोनल्ड की जिन्होंने उन विचारों के निर्माण में प्रमुख भाग लिया था, जिनके परिणामस्वरूप प्रोटोकोल तैयार हुआ, सरकार नवम्बर १९२४ में गिर गई और उसके स्थान पर

१. देखिये एस० डी० मडारियागा, डिसआर्मामेंट ; द रोल आफ द ऐंग्लो-सैक्सन नेशन्स, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जिनीवा संस्था के निमित्त प्रकाशित, १९२७, पृष्ठ १८।

अनुदार दल पदारूढ़ हुआ। निःसन्देह आम चुनाव की गरमागरमी में दलगत राजनीति की आवश्यकताओं के कारण प्रतिपक्षियों की सारी नीति की ऐसी आलोचना की जाने लगती है कि बाद में उनके कार्यक्रम को मानना कठिन हो जाता है। परन्तु यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि प्रोटोकोल को सिर्फ़ इसके जन्मदाता के कारण अस्वीकार कर दिया गया। ब्रिटेन में विदेश नीति की निरंतरता एक प्रथा रही है जिस पर चलने के लिए अनुदारवादी शायद अन्य किसी दल की अपेक्षा अधिक उद्यत रहे हैं, और यद्यपि नई संसद् में बहुसंख्यक दल में कुछ सदस्य ऐसे भी थे, जो पृथक्ता-वाद के पक्ष में थे परन्तु विदेश मंत्री श्री आस्टिन चैम्बरलेन (Mr. Austen Chamberlain) का निश्चित ही यह रुख कभी भी न था।

आपने ५ मार्च १९२५ को ब्रिटिश लोकसभा में कहा था :

> हम योरोप महाद्वीप के इतने निकट हैं कि वहाँ की घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। अपने इतिहास के कुछ कालों में हमने अपने आप को सब योरोपीय हितों से अलग करने का यत्न किया ...... परन्तु हमारी तरह कोई भी राष्ट्र योरोप महाद्वीप के २० मील के अन्दर रहता हुआ उस महाद्वीप की शाँति और सुरक्षा से उदासीन नहीं रह सकता ...... और न वह स्वार्थपूर्ण और साथ ही अदूरदर्शी पृथकत्व की भावना रखते हुए हम अब, जबकि हम एक महान् साम्राज्य के स्वतन्त्र आत्मशासी डोमीनियनों के साथ परामर्श करके बोलते हैं, संसार में अपने उद्दिष्ट कार्य और अपने प्रभाव को सफल ही बना सकते हैं।

अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि ब्रिटेन की राजनैतिक स्थिति के परिणामस्वरूप अविलम्ब और संभवतः तत्काल निर्णय होने में देर लगी। नई सरकार के सामने रूस मे जीनोवीव पत्र (Zinoviev Letter) से उत्पन्न और मिश्र में नवम्बर १९२४ में सर लीस्टैक (Sir Lee Stack) की हत्या के परिणामस्वरूप अविलम्बनीय समस्याएँ थीं। इसलिए यह उचित ही था कि उसने प्रोटोकोल के प्रति अपने रुख पर विचार करने के लिए और समय मांगा, और संभव है कि बीच के समय में वे आपत्तियाँ जो पहले नहीं दिखाई देती थीं, अधिकाधिक स्पष्ट हो गईं।

परन्तु प्रोटोकोल को अस्वीकार करने का मुख्य कारण निःसंदेह समुद्र-पार के ब्रिटिश डोमीनियमों का रुख था। उनके विरोध का आंशिक कारण यह था कि जापानियों के कहने पर उस लेख्य में किये गए रूपभेदों को देखते हुए उन्हें यह भय था कि अन्तःप्रवास (immigration) जैसे मामलों में उनकी घरेलू सर्वोच्चता में दखलन्दाजी की जायेगी, परन्तु मूलतः इसका आधार यह था कि ब्रिटेन के साथ डोमीनियनों को जोड़ने वाले राज-बन्धन (imperial tie) के परिणामस्वरूप अनुशास्तियों को लागू करने की जिम्मेवारी लेने के सारे विचार के प्रति ही विमुखता बढ़ती जा रही थी। संसार के संभाव्य संकटस्थलों से उस समय भौगोलिक दृष्टि से बहुत दूर प्रतीत होने वाले डोमीनियनों में योरोपीय झंझटों में फंसने की संभावना में उलझने की अधिकाधिक अरुचि हो रही थी। कनाडा में, जहाँ यूनाइटेड स्टेट्स की निकटता के कारण अमेरिकन पृथक्तावाद (isolationism) के प्रति सहानुभूति पैदा हो गई थी, यह देर से दिखाई दे रही थी। इसकी ध्वनि जिनीवा में उसकी नीति से

जैसा कि हम देख चुके है, पहली एसेम्बली के दिनों से ही आ रही थी और यह उसके प्रतिनिधि श्री डन्डूरन्ड (M. Dandurand) की भविष्य का संकेत करने वाली उन उक्तियों में प्रकट हुई थी जिनसे उन्होंने एसेम्बली के विवादों में प्रोटोकोल की सर्व-सम्मत स्वीकृति का रस भंग किया था।

पारस्परिक अग्नि बीमे के इस संघ में विभिन्न राज्यों की जोखिम एक समान नहीं है। हम अग्निरोधी (फायर प्रूफ) मकान मे रहते हैं जो सुज्वाल्य वस्तुओं से बहुत दूर है।

दक्षिण अफ्रीका भी राष्ट्रसंघ के असली कार्यों के बारे में वह विचार अपनाने को पहले ही तैयार था जो बाद में जनरल स्मट्स ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों की ब्रिटिश संस्था की एक सभा में प्रकट किया (जनवरी १९३०):—

प्रसंविदा में अब भी पिछली व्यवस्था के कुछ चिन्ह शेष हैं। वह लुप्त हो जायेंगे; लोकमत उनके—अर्थात् खण्ड १० और खण्ड १६ के उस भाग के जो स्थल-सैनिक और नौ-सैनिक बल के बारे में है—अधिकाधिक विरुद्ध होता जा रहा है। उन पर कभी अमल नहीं किया गया। लोकमत उन खण्डों के प्रति सख्त होता जा रहा है।[1]

भारत को भी वह भय था कि एशिया में गड़बड़ी होने पर अनुशास्तियों का उसके ऊपर अत्यधिक बोझ पड़ेगा और आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड जो अनुशास्तियों को लागू करने के लिए अपने सैनिक संसाधनों की संभावित माँग से उतने भयभीत नहीं थे जितनी अपनी आंतरिक सर्वोच्चता में दखल दिये जाने से प्रोटोकोल के पूरी तरह विरोधी थे। संक्षेप में हम इसे चाहे जिस रूप में प्रस्तुत करें पर प्रोटोकोल की मृत्यु का वास्तव में यह अर्थ था कि उन कई देशों ने जिन्होंने १९१९ में प्रसंविदा के आभारों को खुशी से स्वीकार कर लिया था, १९२४ में उन्हें मानने से इन्कार कर दिया। अनुशास्तियां वही थीं, उनका बोझ भी उतना ही था, पर उनमें क्या-क्या करना होगा, यह बात अधिक प्रत्यक्ष हो चुकी थी। इन परिस्थितियों में प्रोटोकोल अस्वीकार तो होना ही था और उसे अन्तिम धक्का श्री चैम्बरलेन ने १२ मार्च १९२५ को राष्ट्रसंघ की परिषद् में भाषण देते हुए लगा दिया।

लोकार्नो समझौते

(The Locarno Agreements)

तो भी यह स्पष्ट था और सब लोग इस बात पर सहमत थे कि योरोपीय शांति को भंग कर सकने वाले मुख्य खतरों के विरुद्ध किसी न किसी प्रकार की गारन्टी के बिना काम नहीं चल सकता; विशेषकर उस अवस्था में जब कि उस गारन्टी को, जो प्रसंविदा से मिलती समझी जाती थी, उत्तरोत्तर भ्रांति मात्र समझा जा रहा था। यह ठीक है कि मामूली संघर्ष की स्थितियों का सामना करने के लिए राष्ट्रसंघ को अब भी समर्थ माना जा सकता था, पर पुनर्जीवित और शक्तिशाली जर्मनी के खतरे का, जिसे अनिश्चित काल के लिए टाला नहीं जा सकता था, सामना करने के लिए कुछ अधिक सुनिश्चित और विशिष्ट कार्यवाही करने के बाद ही फ्राँस

१. जरनल १९३०, पृष्ठ १५०।

या उसके पूर्वी मित्रराष्ट्रों से निरस्त्रीकरण की पूरी आशा की जा सकती था। अनुशास्तियों की व्यापक व्यवस्था तो प्रत्यक्ष रूप से भंग ही हो गई थी इसलिए पुनः प्रादेशिक समझौतों की संभावनाओं की ओर ध्यान गया। स्थानीय गुट-बन्दियों का इस तरह की पद्धति पर मुख्य आक्षेप यह है कि इससे प्रतिमैत्रियों या मुकाबले की संधियों (counter alliances) की प्रवृत्ति होने लगती है और एक बार बन जाने पर दोनों ओर की मैत्रियाँ अपने सदस्यों द्वारा अपनाई जा रही नीति के गुण-दोषों पर बिना विचार किये संभाव्यत: कायम रहेंगी, और वे आक्रमण का भयंकर उपकरण भी बन सकती हैं; इन आक्षेपों का उत्तर उस अवस्था में अधिकतर मिल जाता है, जब किसी संभव विवाद के दोनों पक्ष आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक गारण्टी की प्रणाली और अपने मतभेदों को शाँतिपूर्वक हल करने के समझौतों द्वारा उस ही गुट्ट में सम्मिलित हों। जहाँ तक राइनलैंड सीमान्त का सम्बन्ध है, इस प्रकार का एक हल जर्मनी ने १९२२ में ही सुझाया था। तब जर्मनी ने फ्राँस के सामने यह प्रस्थापना रक्खी थी कि राइन में बद्धहित शक्तियाँ एक पीढ़ी तक युद्ध न करने की पारस्परिक प्रतिज्ञा करें तथा एक नि:स्वार्थ शक्ति को न्यासी या ट्रस्टी के रूप में संधि में शामिल किया जाये। पर श्री पोइंकारे (Mr. Poincare) ने, जो उस समय फ्रांस में सत्तारूढ़ थे, इस प्रस्ताव को एक 'भौंडी चाल' कहकर ठुकरा दिया। १९२३ में यह प्रस्ताव दो बार दुहराया गया पर कोई लाभ नहीं हुआ, लेकिन १९२४ के अन्त में बर्लिन-स्थित ब्रिटिश राजदूत लॉर्ड डी एबरनॉन (Lord D' Abernon) ने यह संकेत दिया कि उस प्रस्थापना को फिर पेश करने के लिए अनुकूल समय आ गया है। ब्रिटिश लोकमत तो अचिंत्य परिस्थितियों में व्यापक वचन-बन्धों के प्रति आम तौर पर अनिच्छुक था, पर फ्राँस और बेलजियम के सीमान्तों तक सीमित गारण्टी इस देश की परम्परागत नीति के अनुसार थी और ब्रिटेन के सामयिक हितों पर आ सकने वाले सीधे खतरों का सामना करने तक ही सीमित थी।[1] और जिनीवा प्रोटोकोल की भावी अस्वीकृति से फ्राँस का ध्यान सुरक्षा प्राप्त करने के किसी दूसरे उपाय को जो उतना व्यापक न हो, अनुकूलतापूर्वक सोचने की ओर जा सकता था। परिणामत:, जर्मन प्रस्थापना फिर पेश की गई और ५ फरवरी १९२५ को पेरिस प्रेषित की गई।

फ्रेंच लोकमत तत्काल ही इसके प्रति अनुकूल न हुआ और फ्रांस, बेलजियम तथा जर्मनी में शासन-संबंधी परिवर्त्तनों के कारण विनिश्चय में देर हुई। फरवरी १९२५ में राष्ट्रपति एबर्ट की मृत्यु और उनके स्थान पर फील्डमार्शल वौन हिन्डनबर्ग की नियुक्ति शुरू में समझौते की नीति के लिए अशुभ प्रतीत होती थी कि बेल्जियम में थीयूनिस मन्त्रि-मण्डल के पतन के कारण वह देश इस प्रश्न की ओर तत्काल ध्यान न दे सका। अप्रैल में श्री हेरियो की पराजय से और बाधा पड़ गई

---

१. 'हमारी सब बड़ी लड़ाइयाँ योरोप पर किसी एक महान् शक्ति का प्रभुत्व रोकने के लिए और साथ ही इङ्गलिश चैनल और निम्न देशों (हालैण्ड आदि समुद्र तल से नीचे देश हैं) के बन्दरगाहों में अपनी प्रधानता को बनाए रखने के लिए लड़ी गईं ... ... यह ऐसा प्रश्न है जो हमारी सुरक्षा से सम्बन्ध रखता है'। श्री आस्टिन चैम्बरलेन का ब्रिटिश लोक सभा में २४ मार्च १९२५ को दिया गया भाषण।

परन्तु नये फ्रेंच विदेश मन्त्री ऐसे आदमी थे जिनके साथ श्री आस्टिन चैम्बरलेन विशेष रूप से प्रेमपूर्ण संबंध बना सके और मई के मध्य तक इस प्रस्थापना का अस्थायी रूप से स्वागत किया गया।

परन्तु जर्मनी की ओर से भी कठिनाईयाँ थीं यद्यपि जर्मनी ने ही इस प्रस्थापना का सूत्रपात किया था तो भी श्री ब्रियेन्ड ने यह शर्त रक्खी कि जर्मनी बिना शर्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बने, और ऐसी सरकार के लिए यह काम कठिन था जो विशेष रूप से राष्ट्रवादी समर्थन पर निर्भर संयुक्त दल के शंकास्पद बहुमत पर आधारित हो। जर्मनी राष्ट्रसंघ में इस शर्त पर प्रविष्ट होना चाहता था न कि केवल रूहर को बल्कि राइनलड के प्रथम क्षेत्र को भी खाली कर दिया जाय। वह प्रसविदा के अनुच्छेद १६ के सिलसिले में विशेष स्थिति भी प्राप्त करना चाहता था।[1] जर्मनी राइनलैंड की संधि के प्रश्न को अपने पूर्वी सीमान्त के निपटारे के प्रश्न से पूर्णतः अलग भी रखना चाहता था जब कि फ्रांस दोनों समस्याओं में आर्थिक संबन्ध समझता था।

पर समझौते की बातचीत इतने अनुकूल ढंग से चलती रही कि लोकार्नो सम्मेलन की असेम्बली ५ अक्तूबर को हो सकी और उस मनमोहक स्थान के आनन्द-कारक वातावरण में शीघ्र समझौता हो गया। प्रसंविदा के अनुच्छेद १६ की कठिनाई को दूर करने के लिए प्रोटोकोल का वह संदर्भ समाविष्ट कर लिया गया, जो भौगोलिक स्थिति और शस्त्रास्त्रों के बारे में विशेष अवस्था के अनुसार सहयोग की मात्रा को सीमित करता था और जर्मनी ने इसका यह अर्थ लगाया कि उसकी सेनाओं का मार्ग देने से इन्कार किया जा रहा है। जर्मन प्रतिनिधि पूर्वीय पंच निर्णय संधियां (arbitration treaties) एक साथ करने के प्रश्न पर दब गये जबकि राइनलैंड को खाली करने का सवाल समझौते द्वारा कार्य सूची से हटा दिया गया था। परन्तु लोकार्नो में आधिपत्य (occupation) की अवस्थाओं की कठिनाइयाँ कम करने के बारे में समझौता हो गया, अधिकृत प्रदेशों के लिए एक जर्मन आयुक्त नियुक्त करना तय हुआ। सेना की संख्या घटाकर सामान्य के निकट ले आने और प्रथम क्षेत्र (first zone) को खाली करना, जो वास्तव में दिसम्बर १९२५ में शुरू हुआ और १ फरवरी १९२८ तक पूरा हुआ, एक अविलम्ब संभावना बताई गई। १५ अक्तूबर को लोकार्नो संधि के सारे तरह-तरह के लेख्यों पर हस्ताक्षर होने के साथ सम्मेलन आनन्द से समाप्त हुआ। इनमें अंतिम प्रोटोकोल के अलावा ये लेख्य भी थे :—

(१) फ्रांको-जर्मन और बेल्जो-जर्मन सीमाओं के बारे में जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के बीच पारस्परिक गारन्टी का संधि।

(२) जर्मनी और बेल्जियम में तथा जर्मनी और फ्रांस में पंच निर्णय के अभिसमय (convention)।

---

१. सम्भाव्यतः जर्मनी को यह भय था कि स्वदेशी लोकमत पोलैंड की रूसी आक्रमण से रक्षा की दृष्टि से लगाई गई अनुशास्तियों में सहयोग करने की आज्ञा नहीं देगा।

(३) जर्मनी और पोलैंड में और जर्मनी तथा चैकोस्लोवाकिया में पंच निर्णय संधियां (arbitration treaties) ।

(४) जर्मनी के आक्रमण की अवस्था में फ्रांस और पोलैंड के बीच तथा फ्रांस और चैकोस्लोवाकिया के बीच पारस्परिक सहायता संधि ।

ब्रिटिश डोमीनियन योरोपियन सुरक्षा की रक्षा की जिम्मेवारी स्वीकार करने को अनिच्छुक थे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक खण्ड रक्खा गया (अनुच्छेद ९) जो ब्रिटिश डोमीनियनों और भारत को संधि के अधीन आभारों (obligations) से उन्मुक्त करता था, बशर्तेकि वे आभार विशिष्ट रूप से स्वीकार न किए गए हों। यह सधि जर्मन संसद् (German Reichstag) में काफी कठिनाई से ही पास हो सकी पर राष्ट्रपति हिंडनबर्ग (President Hindenburg) के समर्थन के कारण इसे १७४ के मुकाबिले में २९१ का बहुमत प्राप्त हो गया। संधियों पर लंदन में १ दिसम्बर को हस्ताक्षर हुए।

योरोप में अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश गारन्टी से फ्रांसीसियों और जर्मनों के मन में सुरक्षा की भावना बढ़ गई और इसका महत्त्व इस प्रश्न की अपेक्षा कहीं अधिक हो गया कि क्या अवसर आने पर ब्रिटेन के लिए अपने दायित्वों को पूरा करना संभव होगा। किसी लोकतंत्र के लिए राष्ट्रीय समर्थन के बिना युद्ध छेड़ना संभव नहीं और किसी परिचित मित्र की ओर से लड़ने के लिए राष्ट्रीय लोकमत को अपने पक्ष में करना अपेक्षया सरल है, पर यदि दो मित्र या विरोधी हों तो स्थिति जटिल हो जाती है। युद्ध छेड़ने से पहले के संकट काल में सहानुभूति उस पक्ष के साथ होनी बहुत संभव है जो अंत में आक्रान्ता सिद्ध होता है, तब सहसा पक्ष-परिवर्तन कठिन होता है। यह और भी अधिक संभाव्य है कि ऐसी अवस्था में लोकमत गुण-दोषों के बारे में निराशाजनक रूप से विभाजित होगा। परन्तु जब तक दोनों पक्षों के संभाव्य आक्रांताओं को ब्रिटिश हस्तक्षेप का भय रहेगा तब तक यह असंभावित प्रतीत होता था कि संधि की वास्तविकता कसौटी पर कसी जायेगी। युद्धकर्त्ता को उसके प्रयोजन से डराकर दूर रखना उसके अपराध करने के बाद उसे रोकने या पराजित करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी कार्य है। कम से कम इसके स्वीकार किये जाने के समय तो लोकार्नो संधि एक बहुत प्रभावी और भयंकर विभीषिका थी जिससे इसके निर्माणकर्त्ता श्री ऑस्टन चैम्बरलेन के मत का औचित्य बहुत कुछ सिद्ध हो जाता था और वह मत यह था कि यह संधि युद्ध के वर्षों और शांति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजक रेखा को अंकित करती है।

पूर्वी योरोप में समझौता

(The Settlement in Eastern Europe)

पूर्वी योरोप मे युद्ध, क्रान्ति और आत्म-निर्णय के विध्वंसक प्रक्रमों ने एक विशाल भूकम्प की तरह पूर्वत: विद्यमान ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर दिया था। इस प्रदेश का चार या पांच साल का इतिहास इस ज्वालामुखीय उत्पात के अंतिम आघातों और प्रकम्पनों का इतिहास था और जब यह कम हो गया, तब राजनैतिक धरातल में इसने जो दरारें कर दी थीं, वे उत्तर में हिम महासागर से लेकर महाद्वीप के दक्षिण में काले सागर और एड्रियाटिक तक दिखाई पड़ती थी। इस उत्पात के दो मुख्य केन्द्र थे, जो क्रमश: रूसी और आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य पर कार्यशील थे, और इनकी अपनी-अपनी विभेदक और लाक्षणिक विशेषताएँ थीं। अंतिम विश्लेषण की दृष्टि से, रूस में विस्फोटक बल, वह पार्श्विक तनाव (lateral tension) था जिसे पूर्व और पश्चिम के परस्पर-विरोधी राजनैतिक आदर्श प्रस्तुत करते थे। इसका परिणाम यह था कि रूस, जो अर्ध-एशियाई शक्ति था, एक ही दरार द्वारा योरोप से विच्छिन्न हो गया और यह दरार, ऐस्टोनिया और फ़िनलैंड के बीच छोटी सी जगह को छोड़कर जहां सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ का बाल्टिक और पश्चिमी सभ्यता से अब भी संपर्क क़ायम था, निरन्तर विद्यमान थी।

बाल्टिक राज्य और फ़िनलैण्ड

(The Baltic states and Finland)

इस बाल्टिक प्रदेश में शीघ्र ही स्थायिता की अवस्था पैदा हो गई, क्योंकि इस समय सोवियत सरकार ने अलग होने वाले राज्यों का आत्म-निर्णय का अधिकार सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया, यद्यपि उसका लक्ष्य यह था कि उनमें अपने राजनैतिक आदर्श प्रविष्ट करा दिये जायें और उनके द्वारा उन्हें स्वायत्त समुदायों के एक संघ (federation) के रूप में सोवियत प्रणाली के भीतर ले आया जाय। फ़िनलैंड में, यद्यपि इसकी स्वाधीनता जनवरी १६१८ में ही औपचारिक रूप में स्वीकार कर ली गई थी, सोवियत प्रचार के परिणाम-स्वरूप गृह-युद्ध हो गया और अन्त में 'श्वेत' प्रतिक्रिया हुई जिसने आरकेंजल प्रदेश (Archangel region) और मुरमांस्क (Murmansk) पर मित्रराष्ट्रीय आधिपत्य के दिनों में बोल्शेविकों के पराजय की आशाओं से अनुप्राणित होकर रूस पर चढ़ाई कर दी। पर १६२० के वसंत में मित्रराष्ट्रों के पीछे हट जाने ने फ़िनलैंड की सरकार को शांति समझौते के लिए बाधित कर दिया और १४ अक्तूबर को डौरपेट (Dorpat) में कुछ शर्तें तय हुई जिनके द्वारा ग्रांड डची की पुरानी सीमाओं की पुष्टि कर दी गई; अंतर केवल इतना था कि मुरमांस्क और नार्वे के बीच की तंग ज़मीन का थोड़ा सा टुकड़ा

उसमें और जोड़ दिया गया, जिससे फिनलैंड को उत्तरी महासागर में घुसने का द्वार मिल गया। परन्तु पूर्वी करेलिया (Karelia) की आबादी ने, जो फिनिश जाति की थी, नवम्बर में सोवियत सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस स्थिति के परिणामस्वरूप और विवाद पैदा हो गए। चूंकि डौरपेट की संधि में इस प्रदेश के लिए रूसी सर्वोच्चता के अधीन स्वायत्तता का उपबन्ध किया गया था और फ़िन लोगों का कहना था कि उसका अतिक्रमण किया गया है, इसलिए फिनलैंड ने यह मामला राष्ट्रसंघ और स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में पेश किया परन्तु न्यायालय ने यह निश्चय किया कि यह प्रश्न उसके क्षेत्राधिकार से बाहर है और इसलिए अपने करेलियन बन्धुओं की ओर से फिनलैंडवासियों द्वारा किये गये प्रयत्न निष्फल हो गए।

फिनलैंड को अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के घटना-क्रम में लाने वाला दूसरा एक-मात्र प्रश्न आलैंड-द्वीपों (Aaland Islands) का था। यह द्वीप जो स्वीडन ने १८०९ में फिनलैंड समेत रूस को दे दिये थे, स्वीडन के साथ फिर मिलकर आत्म-निर्णय के अधिकार का उपयोग करना चाहते थे। यह प्रश्न जून १९२० में राष्ट्रसंघ में भेजा गया और फिनलैंड के पक्ष में तय हुआ पर वहां की आबादी के अधिकारों की रक्षा के लिए कुछ गारण्टियों की शर्त रख दी गई। यह प्रश्न न केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह पहला उदाहरण था जिसमें राष्ट्रसंघ ने राज्य-क्षेत्र के बंटवारे के किसी प्रश्न में हस्तक्षेप किया था, बल्कि इसलिए भी कि इसने आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये थे।

आस्ट्रिया-हङ्गरी का विघटन
(Break-up of Austria Hungary)

इसलिए उत्तरी योरोप का यह भयङ्कर विक्षोभ अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाओं की दृष्टि से काफी समय तक अपेक्षया कम महत्त्वपूर्ण रहा। पर इसने उस विक्षोभ के, जिसने जर्मनी को ध्वस्त कर दिया था, तथा हैप्सबर्ग राजतन्त्र के भूतपूर्व अधिकार-क्षेत्र में विनाशकारी उत्स्फोट कर दिया था, के साथ मिलकर पोलैंड को किसी पुराने भूले हुए ज्वालामुखीय द्वीप की तरह फिर नकशे में ला दिया था। डैन्यूब की घाटी के नदी-क्षेत्र में ही इस राजनैतिक भूकम्प ने सबसे अधिक जटिल और उल्लेखनीय परिणाम पैदा किये थे। इस क्षेत्र में यह असल में एक ऐसे विस्फोट के बराबर था जिसने सारे क्षेत्र को टुकड़े-टुकड़े करके पहचाने जाने के अयोग्य कर दिया था।

इन टुकड़ों ने नकशे में, जो रूप ग्रहण किया, उसको देखने में ऐसा लगता था जैसे कोई भूखा कुत्ता पहले ही खूब अच्छी तरह चबाए हुए माँस-पिंड को अपने जबड़ों में दबा रहा हो और उस टुकड़े से आगे उसके गले में एक और ग्रास मौजूद हो। यह मांस-पिंड आस्ट्रिया के बचे-खुचे अंश थे। हङ्गरी वह माँस-पिंड था जो पहले निगला जा चुका था; ऊपर का और नीचे का जबड़ा क्रमशः चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया थे तथा रूमानिया उन्हें चबाने वाली माँस पेशियां था, जो उस संधि का तीसरा सदस्य था, जो कुछ ही काल बाद लिटिल एन्टेंट या लघु देश संधि

कहलाई। विलुप्त साम्राज्य के बहिर्वर्ती भाग इटली और पोलैंड में समाविष्ट थे जिससे टुकड़ों की कुल संख्या ७ हो गई थी।

आर्थिक परिणाम
(Economic Effects)

ऐसी प्रलयंकर घटना से उत्पन्न आर्थिक विशृंखलता का वर्णन करने की कोशिश व्यर्थ है। युद्ध से पहले की प्रणाली में यह सारा प्रदेश सीमा-शुल्क (customs) की दृष्टि से एक था जिसका बाहरी व्यापार बड़े लम्बे-चौड़े और खर्चीले रेलवे संचार द्वारा ऐड्रियाटिक के ट्रीस्ट और फ़्यूम बंदरगाहों पर पहुँचता था, क्योंकि यद्यपि इसके वाणिज्य का स्वाभाविक बहिर्द्वार डैन्यूब नदी की नौवहन-योग्य प्रणाली से काले सागर तक था, परन्तु इस जल मार्ग की योरोपीय आर्थिक हलचल से मुख्य केन्द्रों से दूरी और जलडमरूमध्य (straits) से होकर भूमध्य सागर तक जाने के मार्ग से सम्बन्धित राजनैतिक अनिश्चितताओं के कारण वाणिज्य का प्रवाह पश्चिम की ओर हो गया। इस प्रदेश का वित्तीय और वाणिज्यिक केन्द्र वियना में था। यह देश औद्योगिक सामान प्रधानतः बोहीमिया से लेता था, जहाँ इसके निर्माण उद्योग का अधिकांश भी अवस्थित था, और हंगरी के कृषिबहुल मैदानों से तथा उन जिलों से जो अब यूगोस्लाविया और रूमानिया में समाविष्ट थे, परमावश्यक खाद्य पदार्थों का अंश आता था। अब स्वाभाविक तथा कृत्रिम दोनों संचार मार्ग अवरुद्ध, बाधायुक्त या दिशांतरित हो गये, कृषि और निर्माण उद्योग का संतुलन नष्ट हो गया और एक महान् वाणिज्यिक इकाई के भीतरी व्यापार का पारस्परिक प्रवाह एक ईर्ष्यालु आर्थिक राष्ट्रवाद की तटकर नीतियों से प्रत्येक दिशा में रुक गया।

आस्ट्रिया
(Austria)

इस दुर्व्यवस्था में सबसे बुरा हाल आस्ट्रिया का हुआ। जो फ़ैक्टरियाँ उसके राज्य-क्षेत्र के अन्दर थीं वे अपना तेल गैलीशिया से, और कोयला तथा अन्य बहुत सारे सामान वहाँ से लेती थीं, जो अब चैकोस्लोवाकिया में हैं और जो असल में उसकी पुरानी हलचल का केन्द्र था। वियना ऐसा विश्व नगर था जिसकी सार्थकता नष्ट हो गई थी; वह एक ऐसा हृदय था जिससे प्रत्येक प्राणमय धमनी निर्दयतापूर्वक अलग कर दी गई थी। जो नगर एक महान् और संवर्धमान साम्राज्य के लिए वित्तीय और वाणिज्यिक केन्द्र के रूप में काम आने के लिए बनाया गया था, वह अब आस्ट्रिया के पर्वतों के मध्य अर्थहीन के रूप में पड़ा था और वह किसी अतीत सभ्यता के उन भग्नावशेषों जैसा लगता था जिन पर मरुस्थल में यात्री आश्चर्य-चकित हो रहा हो। आस्ट्रिया में जीवन के चिह्न सिर्फ तब दिखाई देते थे जब विदेशी दान लेने के लिए उसकी प्रतिक्रिया दिखाई देती थी, अन्यथा वह मृतक मालूम होता था।

उसका सौभाग्य था कि उसकी असहाय अवस्था में उसके पड़ोसियों ने सहानुभूति दिखाई। असल में यह स्पष्ट था कि इस उदाहरण में दया और स्वार्थ मिल कर एक हो गये थे। अगर आस्ट्रियन जनता को हताश हो जाने के कारण बोल्शेविज़्म के हाथों में नहीं सौंपना था या जर्मनी के साथ उसका सम्बन्ध —जिससे मित्रराष्ट्र

डरते थे और जो उनकी संधि में निषिद्ध था, नहीं होने देना था, तो यह आवश्यक था कि उस देश की सहायता की जाये। पर उसे सहायता देने के लिए एक वस्तुत: आदर्शपूर्ण भावना भी प्रेरक थी जिसमें राजनैतिक लाभ का कोई प्रश्न नहीं था। शुरू में यह बात अजीब मालूम हो सकती है क्योंकि युद्ध का तात्कालिक कारण एक आस्ट्रियन अल्टीमेटम (ultimatum) था-कि अधिक से अधिक बुरे संघर्ष के दिनों में भी उसके प्रति शत्रुता और घृणा के भाव नहीं पैदा हुए थे जो जर्मनी के प्रति पैदा हुए थे। ब्रिटेन और फ्राँस दोनो में कई वर्ष जर्मन आक्रमण की आशंका की जा रही थी। इन आशंकाओं को न केवल कई उत्तरोत्तर वास्तविक संकटों से, बल्कि इस सर्वत: स्वीकृत और सम्भाव्यत: औचित्यपूर्ण विश्वास से भी उद्दीपन मिला कि जर्मन सैनिक हलकों में आदतन उस दिन 'डेरटैग' (Der Tag) का नाम लेकर शराब पी जाती थी। इन्हें, पंच (Punch) अखबार में क्रूगर को कैसर द्वारा भेजे गये तार के दिनों (१८९६) से निरन्तर प्रकाशित होने वाले व्यंग चित्रों से पोषण मिलता रहा और सर नौरमन एंजिल के १९०९ में प्रकाशित ग्रंथ 'ग्रेट इल्यूजन' (Great Illusion) जैसी शाँतिवादी पुस्तक में भी वे ध्वनित हैं। इसके अलावा युद्ध के आरम्भ से उसकी समाप्ति तक बेल्जियम की तटस्थता के अतिक्रमण, विषैली गैस के प्रयोग, लूसीटैनियाँ के डुबाने और नर्स कैवेल को फाँसी देने जैसे कार्यों से शत्रुतापूर्ण भाव जर्मनी के विरुद्ध ही इकट्ठा हो गया था। आस्ट्रिया इस सब से बचा रहा। आस्ट्रियनों के बारे में सोचते हुए अधिकतर अंग्रेज वियना के शान-शौकत भरे सामाजिक जीवन, टिरोलीज़ (Tyrolese) लोगों के साथ पर्वतारोहण तथा मैत्रियों और खेलकूद के शौकीन आस्ट्रियन भद्र पुरुषों की ही बात सोचते थे और यदि सिर्फ सर्बिया के साथ हुए विवाद को अलग कर दिया जा सकता तो इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रिटेन में विद्यमान सहानुभूति यही पसंद करती कि आस्ट्रिया उन लोगों के उस राष्ट्र को सीधा कर दे जिसे, चाहे अनुचित रूप से ही असभ्य डाकुओं का गिरोह समझा जाता था। फ्रांस को भी आस्ट्रिया से कोई पुराना द्वेष नहीं था और जर्मनी के साथ उसकी मैत्री को छोड़ कर और किसी कारण से न तो उसे आस्ट्रिया से आशंका थी और न उसके साथ उसका कोई पुराना झगड़ा था। इटली भी अंतर्राष्ट्रीय विद्वेषों के बावजूद युद्ध से पहले तक आस्ट्रिया का मित्र था; अब उसकी प्रादेशिक आकांक्षाएं आस्ट्रिया खास में तृप्त होती थीं, और उनका जो अंश शेष रहता था वह क्रोशिअनों (Croatians) पर केन्द्रित था—क्रोशिअनों से इटली वाले इसलिए विशेष रूप से घृणा करते थे कि आस्ट्रिया की अधीनता में उन्होंने बड़े अप्रिय कार्य किये थे और अब वे एक पृथक् और अमित्र यूगोस्लोविया राज्य का हिस्सा थे। इन कारणों से आस्ट्रिया द्वारा किये गये कार्य को भूलना और माफ़ करना एक जैसा आसान था और दया और नीति इन दोनों की दृष्टि से आवश्यक मालूम होने वाली सहायता क्रियात्मक रूप में अविलम्ब इकट्ठी करने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं थी। भाग्य की विडम्बना देखिए कि आवश्यक सहायता की दिशा में पहले कार्य करने की जिम्मेवारी क्षतिपूर्ति आयोग (Reparation Commission) पर पड़ी, जिससे सर्वोच्च परिषद ने मई १९१९ में प्रार्थना की कि वह सहायता के प्रश्न पर विचार करे, क्षतिपूर्ति के नहीं। अप्रैल १९२० में सहायता

के आधार को विस्तृत करके उसमें भूतपूर्व तटस्थ राष्ट्रों के समर्थन को भी शामिल कर लिया गया और एक अंतर्राष्ट्रीय सहायता प्रत्यय समिति (International Relief Credits Committee) बनाई गई जिसके साथ परामर्श करके क्षतिपूर्ति आयाग ने आस्ट्रिया की आस्तियों और राजस्वों (assets aud revenues) पर भारित वाहक शोध्य ऋणपत्रों (bearer bonds) के निर्गम को प्राधिकृत कर दिया, जिन्हें संधि के अधीन तय होने वाली क्षतिपूर्ति के खर्चो पर पूर्वता प्रदान की गई, अर्थात् इन ऋणपत्रों का धन क्षतिपूर्ति वाला राशि से पहले चुकाया जाना था । फरवरी १९२१ में चार प्रमुख मित्र शक्तियों ने क्षतिपूर्ति और सहायता ऋणपत्रों की अदायगी दोनों पर अपने दावे छोड़ने स्वीकार कर लिये, बशर्तेकि अन्य ऋणदाता देश भी उनके उदाहरण पर चलें और उन्होंने इस समस्या को आगे हल करने का प्रश्न राष्ट्र संघ के पास भेजने का महत्त्वपूर्ण कदम उठाया । इसी बीच यह स्पष्ट हो गया कि आस्ट्रिया के पुनः उद्धार के लिए न केवल सहायता बल्कि बहुत अधिक वित्तीय पुनर्निर्माण आवश्यक है—फरवरी १९२२ में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और चैकोस्लोवाकिया द्वारा सार्वजनिक निधियों से दिये गये अग्रिमों (advances) के जरिये ही पूर्ण समवसाद (collapse) मुश्किल से रोका जा सकता था । उसी वर्ष बाद में पुनर्निर्माण की एक पूर्ण योजना राष्ट्रसंघ की वित्तीय समिति द्वारा पेश की गई और अक्तूबर १९२२ में स्वीकार की गई ।

इसका पहला लक्ष्य यह था कि आस्ट्रियन वित्तों का प्रभावी नियंत्रण और सुधार किया जाय और दूसरा यह था कि आम बाजार में चार हस्ताक्षरकर्त्ता देशों ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और चैकोस्लोवाकिया, तथा शामिल होने के इच्छुक किसी अन्य देश की गारन्टी के जरिये ऋण मिलने में सुविधा हो । इसने एक नियन्त्रण समिति बनाई जिसमें गारंटी देने वाली सरकारों के प्रतिनिधि थे और एक महाआयुक्त (कमिश्नर जनरल) नियुक्त किया जो राष्ट्र संघ का प्रतिनिधि था और जानबूझकर एक तटस्थ देश (नीदरलैंड्स) से लिया गया था—इसका कार्य था सुधार के कार्यक्रम का पर्यवेक्षण । इसने एक नया निर्गम बैंक (Bank of Issue) भी बनाया जिसे नोट निर्गमित करने का अनन्य (exclusive) अधिकार था और जो सरकारी नियन्त्रण से स्वतन्त्र था ।

आवश्यक विधान आस्ट्रिया की संसद् ने नवम्बर १९२२ में पारित कर दिया । मुद्रा स्फीति (inflation) रुक गई और स्थिति यहाँ तक सुधर गई कि १९२३ के फरवरी और अप्रैल में दो ऋण लिये जा सकें जिनमें से पहले की गारन्टी चार उपयुक्त शक्तियों और बेल्जियम ने दी थी, तथा दूसरे के लिए स्वीडन, हालैंड तथा डेन्मार्क से अतिरिक्त गारन्टियाँ प्राप्त कर ली गई थीं । दोनों निर्गम अत्यधिक सफल रहे और दूसरे में तो सब जगह कुछ ही घण्टों में निर्धारित से अधिक धन आ गया । उस समय तो आस्ट्रिया के पुनः स्वास्थ्य लाभ की अच्छी संभावनाएँ दिखाई देती थीं ।

बर्गेनलैंड विवाद
(The Burgenland Dispute)

सेन्ट जर्मेन की संधि पर हस्ताक्षर होने के और राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में आस्ट्रिया के पुनर्निर्माण के बीच के समय में देश की आशाहीन दिखाई देने वाली

स्थिति ने उसके निवासियों को राजनैतिक उदासीनता की अवस्था में ढकेल दिया था जिसमें से वे सिर्फ एक बार अस्थायी रूप से बाहर निकले थे। यह मामला उस झगड़े के बारे में था, जो उसके दुर्भाग्य के साथी और भूतपूर्व सहचारी हंगरी के साथ बर्गेनलैंड (Burgenland) के प्रश्न पर पैदा हो गया था। बर्गेनलैंड पश्चिमी हंगरी में राज्य-क्षेत्र की एक पट्टी (strip) थी जिसका सीमांत निकटतम बिन्दु पर वियेना से सिर्फ १५ मील था। यह जिला सेंट जर्मेन और ट्रायेनोन (Trianon) की संधियों द्वारा प्रजातीय आधार पर हंगरी से लेकर आस्ट्रिया को दे दिया गया था—प्रजातीय आधारों के अलावा हंगरी में बेला कुन (Bela Kun) के बोल्शेविस्ट शासन के दिनों में सामरिक विचार भी काम कर रहे थे। इसके ३३०,००० निवासियों में से २३५,००० जर्मन थे और शेष में से सिर्फ लगभग २५,००० मगयार जाति के थे। यह प्रदेश खाद्य पदार्थों का महत्त्वपूर्ण स्रोत होने के कारण आस्ट्रिया के लिए आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था और इसे वियेना का शाकोद्यान कहा जाता था। इसलिए मित्रराष्ट्रों ने मत-संग्रह की औपचारिकता के बिना ही यह प्रदेश आस्ट्रिया को सौंपना तय कर लिया—मित्रराष्ट्र मत-संग्रह को अनावश्यक समझते थे हालांकि शुरू में दोनों संबद्ध पक्षों ने मत-संग्रह के लिए प्रार्थना की थी परन्तु ट्रायेनोन की संधि के अनुसमर्थन के दिन बर्गेनलैंड अभी हंगरी के ही अधिकार में था और जब इसे खाली करने का दिन आया तब हंगरी के अनियमित सैनिकों के गिरोहों ने नियन्त्रण संभाल लिया और आस्ट्रियन सेना को बाहर कर दिया तथा हस्तांतरण का पर्यवेक्षण करने के लिए नियुक्त आयोग का नियन्त्रण मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार एक गतिरोध पैदा हो गया और इटली ने अक्तूबर १९२१ में इसमें मध्यस्थता करने का प्रस्ताव रक्खा। विवाद का मुख्य विषय नये हंगेरियन सीमान्त के निकट सोप्रोन या ओडेनबुग नगर था, जिसमें मगयार आबादी काफ़ी बताई जाती थी। इस नगर और इसके आस-पास के गाँवों का निर्णय मत-संग्रह द्वारा करने के निश्चय पर सब एकमत हो गए। १४ और १५ दिसम्बर को मत-संग्रह हुआ जिसमें पूँजीपति मतदाताओं में से लगभग ८७ प्रतिशत ने हंगरी के साथ मिला दिये जाने के पक्ष में राय प्रकट की। परन्तु रजिस्टरों के सन्तोषजनक पुनरीक्षण (revision) के लिए बहुत थोड़ा समय दिया गया था। पर मत-संग्रह से दो दिन पहले आस्ट्रियन प्रतिनिधि मंडल ने विरोध में त्यागपत्र दे दिया। परन्तु राजदूतों के सम्मेलन में, जिसने आस्ट्रियन असंतोष के कारणों को शायद पूरी तरह नहीं समझा था, मत-संग्रह को मान्य ठहराने का निश्चय किया और जनवरी १९३२ में सोप्रोन हंगरी को सौप दिया गया। इस तरह बहुत रोष पैदा हुआ, यद्यपि फ़रवरी में आस्ट्रियन सरकार ने 'जो अनिवार्य' था उसे स्वीकार कर लिया और हस्तांतरण को अभिज्ञात कर लिया।

हंगरी में घटना-चक्र
(Events in Austria)

इस घटना के इतिहास से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि हंगरी के मगयार, यद्यपि संधि ने उन्हें प्रायः वैसी ही निराशा की अवस्था में ला दिया था, आस्ट्रिया के जर्मनों की अपेक्षा कम दब्बू स्वभाव के लोग थे। तथ्य तो यह है कि यह ग्रास अपने शत्रुओं

के जबड़ों में अधिक तरह दबा हुआ होने पर भी उनके लिए इसे पचाना बहुत कठिन था। सैनिक कारणों से हंगेरियन प्रदेश के बहुत से हिस्से पर अधिकार करने की, रूमानिया को अस्थायी रूप से जो इजाज़त दी गई थी, उसने मार्च १९१९ में बेला कुन (Bela Kun) के युद्धप्रेमी कम्यूनिस्ट शासन को जन्म दिया, जो दो मोर्चों पर न केवल रूमानिया से बल्कि चैकोस्लोवाकिया से भी बेमुक़ाबिले लड़ाई लड़ता रहा। रूमानियन क़ब्जे के बाद, जिसने स्थायी कटुता के बीज बो दिये थे, यह घटना हुई और इसके बाद राजतंत्र पक्षपाती 'श्वेत' प्रतिक्रांति हुई जिसने हंगेरियन राजछत्र (Hungarian Crown) के अभाव के दिनों में हंगेरियन राजछत्र की ओर से हैब्सबर्ग के एक आर्कड्यूक को प्रशासक नियुक्त कर दिया था—राजतन्त्र का उन्मूलन तो हंगरी में कभी अभिज्ञात किया ही नहीं गया था, और न वह ट्रायनोन की संधि में अपेक्षित था, परन्तु मित्र राष्ट्रों ने हैब्सबर्ग प्रशासन फिर स्थापित होने की इज़ाज़त देने से इन्कार कर दिया और आर्कड्यूक इस निश्चय को मानने को राज़ी हो गया परन्तु मार्च १९२१ में और फिर अक्तूबर में हंगरी में भूतपूर्व राजा चार्ल्स के आने पर खलबली मच गई। इनमें से पहले मौक़े पर मित्रराष्ट्रों के विरोध और चैकोस्लोवाकिया के अल्टीमेटम के परिणामस्वरूप चार्ल्स स्विटज़रलैंड चला गया पर दूसरी क्रांति ने अधिक गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी। बर्गेनलैंड के उपद्रवों का फ़ायदा उठाकर भूतपूर्व राजा २० अक्तूबर को विमान द्वारा वहाँ पहुँचा और उसने बुडापेस्ट की ओर प्रयाण आरम्भ कर दिया। इस आपात में हंगेरियन सरकार ने ठीक कार्यवाही की और उसके अधीन सेनाओं ने राज्योत्क्षेपण (Coup) का सफलतापूर्वक विरोध किया जिसका यह परिणाम हुआ कि २८ तारीख को राजतन्त्र-पक्षपाती सेनाएँ पराजित हो गईं और उनका नेता अगले दिन गिरफ़्तार होगया। परन्तु इससे आसपास के नये राज्यों, विशेषकर चैकोस्लोवाकिया, में उत्पन्न उत्तेजन और भय दूर नहीं हुआ। यूगोस्लाविया और चैकोस्लोवाकिया ने लामबन्दी कर ली और श्री बेनेश (M. Benes) ने ऐसा धमकी भरा रुख़ ग्रहण कर लिया कि अजीब स्थिति पैदा हो गई जिसमें चैकोस्लोवाकिया के धमकी भरे रुख़ से रक्षा के लिए हंगरी मित्रराष्ट्रों से अपील कर रहा था। ७ नवम्बर को भूतपूर्व राजा को सुरक्षित रूप में मडीरा (Madeira) पहुँचा दिया गया था जहाँ वह अगले वर्ष मर गया पर श्री बेनेश का प्रबल दबाव संकट के मुख्य कारण के हट जाने से ही समाप्त नहीं होगया। उन्होंने सैनिक हस्तक्षेप की धमकी देते हुए न केवल चार्ल्स की पदच्युति और हैब्सबर्ग परिवार को गद्दी से क़ानूनन वंचित करने पर बल दिया बल्कि लामबंदी के खर्चे की क्षतिपूर्ति का भी आग्रह किया। यह अन्तिम मांग अस्वीकृत कर दी गई परन्तु अन्य दृष्टियों से उनकी नीति सफल रही क्योंकि नवम्बर में ऐसा क़ानून बनाया गया जिसने राजतन्त्रीय शासन रखने का हंगरी का अधिकार कायम रखते हुए चार्ल्स को औपचारिक रूप से अपवर्जित कर दिया और उत्तराधिकार आनुवंशिकता से हटाकर निर्वाचन पर आश्रित कर दिया। साथ ही एक प्रथम घोषणा द्वारा हंगेरियन सरकार ने हैब्सबर्ग-वंश को अपवर्जित करने का वचन दिया, और यह घोषणा की कि राजदूतों के सम्मेलन की अनुमति बिना कोई चुनाव नहीं किया जायेगा। इसलिए यह सारा मामला

श्री बेनेश और उनके साथियों की प्रबल राजनयज्ञता के लिए एक अच्छी बड़ी विजय के रूप में समाप्त हो गया।

आस्ट्रिया-हंगरी के अनुवर्ती राज्य

(The Austro-Hungarian Succersion States)

तीनों 'तृप्त' अनुवर्त्ती राज्यों, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया में निकट सम्बन्ध और घनिष्ठता का कारण वास्तव में अपने पड़ोसियों और विशेषकर हंगरी का भय ही था—हंगरी ही एक राज्य था जिसे उन सब से शिकायतें थीं। यह भी कहा जा सकता है कि इनमें से दो राज्यों की सीमाओं में विद्यमान विभिन्न प्रकार के लोगों का परस्पर संबंध भी अंशत: इसी कारण था जैसा कि चैकोस्लोवाकिया के नाम से ही ध्वनित होता है। यह दो विभिन्न सम्बन्धित जातियों से बना हुआ था, जो संस्कृति, भाषा और ऐतिहासिक परम्पराओं और आर्थिक दृष्टिकोण से एक दूसरे से भिन्न थे और भौगोलिक दृष्टि से एक पर्वत-शृंखला द्वारा, जिससे स्लोवाक वाली तरफ़ के सब प्राकृतिक संचार साधन दक्षिण की ओर हंगरी पहुँचाते थे, बंटा हुआ था, पर सर्ब-क्रोट-स्लोवान जातियों के यूगोस्लाव राज्य की एकता और भी अधिक संकटापन्न थी। यह, जैसा कि 'हिस्ट्री आफ़ दि पीस कॉन्फ्रेंस आफ़ पैरिस' के एक सहलेखक ने बताया है, 'साहित्यिक व्यक्तियों और स्वप्न-द्रष्टाओं द्वारा विचारित आदर्श को निरूपित करता था' और युद्ध की असामान्य दशाओं में जल्दी-जल्दी में स्वीकार कर लिया गया होगा। शायद यह कहना अधिक सही होगा कि यह दो आदर्शों के सायुज्यन (fusion) को सूचित करता था—एक तो बैलग्रेड से चला हुआ बृहत्तर सर्बिया आँदोलन और दूसरा सर्ब क्रोट और स्लोवान जातिओं के एक संघ की योजना जो भूतपूर्व हैब्सबर्ग साम्राज्य की सीमाओं के अन्दर एक स्वायत्त राज्य हो और जिसकी राजधानी ज़गरेब हो। यह जो पिछला आदर्श है, वह क्रोशियन राष्ट्रीय संसद् ने २० अक्तूबर १६१८ को पास किये गए एक संकल्प में रक्खा था पर यद्यपि उस समिति की प्रामाणिकता (credentials) पर जिसने १ दिसम्बर को सम्राट् एलेक्ज़ेंडर को राजमुकुट प्रस्तुत किया था, आपत्ति की गई है, तो भी यह संभाव्य प्रतीत होता है कि उस समय सर्बिया के साथ मिलाकर संघ बनाने के प्रस्ताव को यूगोस्लाव लोकमत का व्यापक समर्थन प्राप्त था हालांकि यह स्मरण रहना चाहिए कि लन्दन की संधि के अधीन इटालियन दावों के मुक़ाबिले में एक संयुक्त मोर्चा पेश करने का, जो लाभ था उसका अन्तिम निश्चय में महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। पर क्रोट और सर्ब लोगों की मनोवृत्तियाँ मूलत: भिन्न हैं, सर्ब लोग अविकसित किसान जाति है जो ३५० साल तक तुर्की आधिपत्य में रहकर कुछ समय पूर्व मुक्त हुए; क्रोट लोग १० वीं शताब्दी से योरोपीय राज्य में रहे। उनपर बाइज़ेंटाइन की अपेक्षा रोमन प्रभाव अधिक पड़ा है। क्रोट लोग कैथोलिक हैं; सर्ब आर्थोडोक्स हैं, और यद्यपि दोनों जातियाँ एक ही भाषा बोलती हैं, पर वे अलग-अलग वर्णमालाओं का प्रयोग करती हैं। असल में यूगोस्लाव राष्ट्र बहिर्दबाव के कारण उत्पन्न तनाव की स्थिति में भी खड़ा था और यह भय था कि उस दबाव के हटते ही यह सर्वथा खंड-खंड हो जावेगा।

रूमानिया और लघु देश संधि
(Roumania and the Little Entente)

जिसे लिटिल एटेंट या लघु देश संधि कहते थे, उसके तीसरे सदस्य को अपने दोनों साथियों की अपेक्षा अधिक गम्भीर स्वातन्त्र्यवादी (irredentist) खतरों के कारण मित्रता संधि की नीति अपनानी पड़ी। उसने १९१३ के बाल्कनयुद्ध के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए डोब्रूजा (Dobrudja) स्थान पर अधिकार कर रक्खा था, हालांकि जातिवंशीय (ethnic) आधारों पर वह निर्विवादरूप से बलगर (Bulgar) था। उसे हंगरी से छीनकर ट्रांसिलवानिया तो दे ही दिया गया था और बेला कुन (Bela Kun) के शासनकाल में रूमानियन आधिपत्य की स्मृतियाँ भी हंगरी में कटुता पैदा कर रहीं थीं—बेलाकुन के शासनकाल में, जो लूटमार के काम हुए थे वे आसानी से भूले या माफ़ किये नहीं जा सकते और उनके कारण रूमानियाँ और मित्रराष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council of the Allies) में सीधी टक्कर हो गई थी। इसके अलावा बैसरबिया (Bessarabia) पर रूमानियाँ का कब्जा संशयात्मक था जिसे सोवियत सरकार ने अभिज्ञात करने से इन्कार कर दिया था। यह अनियमित रीति से गठित बेसरबियन परिषद् के वोट पर आधारित था और इसलिए मित्रराष्ट्रों में से, मार्च १९२० तक, जबकि रूमानियन विरोध के समाप्त हो जाने के कारण उन्होंने अधिक अनुकूल रवैय्या अपना लिया, भी इस अभिज्ञान को कार्यान्वित करने वाली २८ अक्तूबर की संधि का न तो यूनाइटेड स्टेट्स ने समर्थन किया था, और न ब्रिटेन के अलावा अन्य राष्ट्रों ने अनुसमर्थन किया था तथा रूसी सरकार ने इसका तत्काल विरोध किया था। इस तरह रूमानियाँ को मित्रों की सख्त आवश्यकता थी और श्री टाकेजोनिस्कू (M. Take Jonescu) की नीति उस प्रदेश के पांच 'विजेता' राज्यों अर्थात् ग्रीस और पोलैंड, तथा उन तीनों के बीच, जिन्होंने बाद में लिटिल एन्टेंट बनाया, व्यापक प्रतिरक्षात्मक संधि की ओर मुड़ी। परन्तु चैकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया किसी रूस-विरोधी गुट्ट में शामिल न होने को दृढ़ थे क्योंकि एक तो दोनों ओर की स्लाव जनता में भावनात्मक संबंध था और दूसरे उन्हें रूस के स्वस्थ हो जाने का विश्वास था और परिणामतः वे रूस के साथ वाले सीमांत को, चाहे वह पोलैंड हो या कहीं अन्यत्र, अस्थिर और खतरनाक मानते थे। इसलिए लघुदेश संधि का वास्तविक सूत्रपात करने वाले चैकोस्लोवाकिया के श्री बेनेश (M. Benes) थे, जिन्होंने सबसे पहले अगस्त १९२० में यूगोस्लाविया के साथ एक शुद्ध द्विपक्षीय अभिसमय किया। यह अभिसमय ट्रायनोन की संधि को कायम रखने, और हंगेरियन आक्रमण के विरुद्ध आपसी प्रतिरक्षा के लिए किया गया था। तुरन्त ही चैकोस्लोवाकिया और रूमानिया के बीच इसी प्रकार का समझौता करने की तैय्यारियां की गईं, पर अभी ये तैय्यारियां शुरू ही हुई थीं कि भूतपूर्व राजा चार्ल्स के पहले आगमन और क्रांति ने प्रस्थापित कार्यवाही की शीघ्रता को बढ़ा दिया और २३ अप्रैल १९२१ को लगभग उसी प्रकार का एक दूसरा द्विपक्षीय समझौता चैकोस्लोवाकिया और रूमानिया में हो गया। तीनों देशों के आपसी संधि संबंध ७ जून को यूगोस्लाविया और रूमानियां के बीच हुए एक अभिसमय से पूरे हो गये जो चैकोस्लोवाकिया के साथ हुई संधियों

से इस बात में भिन्न थे कि यह न केवल हंगेरियन आक्रमण के, बल्कि बलगेरियन आक्रमण के भी विरुद्ध किये गये थे। इस प्रकार जब चार्ल्स दुबारा आया तब लघुदेश संधि का अस्तित्व वास्तव में मौजूद था और निःसंदेह इसी कारण श्री बेनेश उत्साहपूर्वक अपनी नीति का अनुसरण कर सके और उन्हें सफलता प्राप्त हुई। पर रूमानिया ने संकट के दिनों में लघुदेश संधि के अन्य सदस्यों के साथ अपेक्षया बहुत कम ऐक्य प्रदर्शित किया।

हंगेरियन पुनर्निर्माण के प्रभाव, १९२३-४
(Effects of Hungarian Reconstruction, 1923-4)

नकशे पर एक नज़र डालने से वह बात स्पष्ट सामने आ जायेगी जिसका पहले भी संकेत किया जा चुका है, अर्थात् लघु देशों की संधि कराने में सर्वोपरि महत्त्व हंगेरियन खतरे का था। भौगोलिक दृष्टि से चैकोस्लोवाकिया मध्य योरोप का हिस्सा है—फ्रांस और पोलैण्ड का नैसर्गिक मित्र[1] और जर्मन प्रसार के खतरे से हमेशा सतर्क; यूगोस्लाविया और रूमानियाँ दोनों बाल्कन देश हैं जिन्हें बल्गेरिया के इस दावे का भय रहता है कि वह अपने भूतपूर्व प्रदेश माँगने लगेगा। इधर अगर हङ्गरी न हो तो रूमानिया को मुख्यतः रूस की चिंता हो जाएगी और यूगोस्लाविया को इटली तथा एड्रियाटिक के प्रश्न की। लघु सन्धि के तीन सदस्यों का प्रादेशिक समझौते को कायम रखने में सामान्य हित था। मोटा वर्गीकरण किया जाय तो वे संशोधन विरोधी समूह में थे, परन्तु अगर हंगरी के भय के कारण उत्पन्न तनाव शिथिल हो जाय तो इनमें से प्रत्येक की अपनी चितायें उभर जायेंगी। १९२३ में यही परिणाम तब पैदा हुआ जब यह पता चला कि हंगरी भी आस्ट्रिया की तरह वित्तीय दृष्टि से अपने पड़ोसियों की सद्भावना पर निर्भर है और उसी प्रकार की एक पुनर्निर्माण की योजना मान लेने को तैयार है जैसी आस्ट्रिया की अवस्था में इतनी सफल सिद्ध हुई। आवश्यक व्यवस्थाओं को, जो मई १९२४ में पूरी हुईं, लघुसंधि के सदस्यों का अनुमोदन और समर्थन प्राप्त हो गया और उनकी चितायें हट जाने से प्रत्येक सदस्य की नीति ने कुछ सीमा तक एक नई दिशा ग्रहण की। जब फ्रांस ने, जिसकी रूहर में हुई हलचलों ने उसे ब्रिटिश समर्थन से वंचित कर दिया था, जनवरी १९२४ में उस सन्धि-व्यवस्था को बढ़ाने के उद्देश्य से कोशिश शुरू की जिसका प्रारम्भ १९२१ की फ्रांको-पोलिश संधि से हुआ था, तब लघु-सन्धि के पृथक्-पृथक् सदस्यों की तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ एक दूसरे से भिन्न थीं। फ्रांस की चैकोस्लोवाकिया से तुरन्त संधि हो गई (२४ जनवरी सन् १९२४) पर रूमानिया ने उस समय वह प्रस्ताव मानने से इंकार कर दिया। यूगोस्लाविया उस समय इटली के साथ संधि करने में जिन परिस्थियों में वस्तुतः लगा हुआ था, अब हम उन पर विचार करेंगे।

---

१. इस नैसर्गिक मैत्री से वस्तुतः चैकों और पोलों के बीच परम्परागत उदासीनता के कारण रुकावट पड़ती थी।

इटली और यूगोस्लाविया के सम्बन्ध

(Italo-Yugoslav Relations)

यदि अब यूगोस्लविया की परराष्ट्रनीति हंगरी और बल्गेरिया के सम्भव विमोचनवाद (irredentism) के विरुद्ध थी तो उसकी आन्तरिक एकता मुख्यतः एड्रियाटिक तट पंक्ति पर इटालियन दावों के दबाव के कारण कायम रही। ये दावे ब्रिटेन और फ्राँस द्वारा लंदन की संधि (२६ अप्रैल १९१५) में किये गए वायदों पर आधारित थे, अतः इन्हें शान्ति सम्मेलन को नियंत्रित करने वाली चार महाशक्तियों में से तीन का काफ़ी समर्थन प्राप्त था। राष्ट्रपति विल्सन तो बेशक उस सन्धि को मानने से इन्कार कर देते जिसके बारे में उन्होंने कहा था कि पेरिस पहुँचने से पहले मैंने इसका नाम भी न सुना था, परन्तु फरवरी १९२०[1] के ब्रिटिश और फ्रेंच ज्ञापन से स्पष्ट होता है कि यह शक्तियाँ इसके दायित्वों को कम से कम अंशतः पूरा करने के लिए अपने आपको प्रतिज्ञाबद्ध समझती थीं। यह स्पष्ट था कि इटालियन दावों पर यूगोस्लाविया, जिसमें एक भूतपूर्व युद्धरत मित्रराष्ट्र सर्बिया समाविष्ट था, पराजित शत्रु के ही प्रदेश से बने हुए नए राज्य की अपेक्षा अधिक दृढ़ स्थिति में था, और परिस्थितियों ने इटली के साथ उनके संघर्ष को इतना लम्बा कर दिया कि वह शाँति सम्मेलन के भी बाद समाप्त हुआ। यद्यपि सीमान्त का मुख्य प्रश्न फ़रवरी १९३१ में रैपेलो की संधि (The Treaty of Rapallo) से हल हो गया था, पर कवि डैनजियो (D' Annunzio) के दस्यु कार्य ने—इसने सितम्बर १९१९ में फ्यूम पर कब्जा करके आधिपत्य कायम कर लिया था—स्थिति में एक नई कठिनाई पैदा कर दी, क्योंकि यह बन्दरगाह अब भी इटालियन अधिकार में था और यहाँ कई बार राष्ट्रवादियों के उपद्रव हो चुके थे। असल में २३ अक्तूबर १९२२ को इटालियन यूगोस्लाव समझौते पर हस्ताक्षर होने पर भी यह समस्या पूरी तरह हल नहीं हुई क्योंकि इसके बाद ३० अक्तूबर को इटली में मुसोलिनी की अधिनायकता या डिक्टेटरशिप शुरू हो गई,—यह एक ऐसी घटना थी जो समझौतापूर्ण परराष्ट्रनीति जारी रहने की दृष्टि से शुभ नहीं प्रतीत होती थी। सीमान्त, सबसे अधिक विवादास्पद हिस्से में अपरिसीमित था और मार्च १९२२ में जनरल गियार्डिनो की फ्यूम के गवर्नर के पद पर नियुक्ति से गम्भीर आशंकाएँ पैदा हो गई थीं, क्योंकि उसके कार्यों से ऐसा प्रतीत होता था कि वह सब दृष्टियों से उस नगर को इटली में मिला लेने की हिदायतों का पालन कर रहा है; विशेष रूप से इस कारण कि उसके आने की और कौरफ़्यू घटना (Corfu incident) की तिथि प्रायः एक थीं, पर यह प्रश्न रोम में २७ जनवरी १९२४ को हुए एक समझौते से, और दोनों पक्षों के बीच में एक उपयोगी 'मित्रता और प्रेमपूर्ण सहयोग की संधि' (Pact of Friendship and cordial collaboration) से, जो इकट्ठी ही कार्यान्वित की गई, अंतिम रूप से हल हो गया। इस व्यवस्था से फ़्यूम का एक स्वतन्त्र राज्य बनाने की पहली योजना त्याग दी गई और विवादास्पद क्षेत्र का अधिकतर भाग इटली में मिला लिया

१. हिस्ट्री ऑफ दि पीस कॉन्फ्रेंस ऑफ द पेरिस जिल्द ५, पृष्ठ ४२३।

गया और यूगोस्लाविया निकटवर्ती वारोस बन्दरगाह पर काबिज़ रहा और उसे मुख्य पोतगाह में सन्तोषजनक आर्थिक सुविधाएँ दे दी गई। यद्यपि फ़्यूम का प्रश्न इस तरह हल हो गया पर वे शर्तें यूगोस्लाव लोकमत के क्रोशियन और स्लोवीन भाग को उतनी प्रिय नहीं मालूम हुईं जितनी सर्बियन भाग को, और भीतरी तनाव कम नहीं हुआ। सर्बिया वालों की समुद्र तक पहुँचने की ज़रूरत मई १९२३ में ग्रीस के साथ हुए कन्वेन्शन द्वारा पूरी हो गई थी जिसमें यूगोस्लाविया को सैलोनिका बन्दरगाह में एक स्वतन्त्र क्षेत्र दे दिया गया था पर यह १९२५ से पहले औपचारिक रूप से सौंपा नहीं गया था।

अलबानिया
(Albania)

परन्तु 'मित्रता और प्रेमपूर्वक सहयोग' की स्थायिता के बहुत आसार नहीं थे। जहां एक राष्ट्र समुद्र को चुपचाप देखता रहे और दूसरा उसके अधिकतर बंदरगाहों का नियन्त्रण करता हो, वहां मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध होने बहुत कठिन हैं, पर एड्रियाटिक के मसले की वह अवस्था जिसमें इटली और यूगोस्लाविया के प्रतिस्पर्धी हितों में संघर्ष हो सकता था, अलबानिया की स्थिति से सम्बद्ध थी। यद्यपि १९१२ में स्वायत्तता मिलने से पहिले यह देश राजनैतिक दृष्टि से तुर्की का एक हिस्सा था, तो भी यह एक इतना पृथक् प्रदेश था कि इसमें न केवल आसपास के बाल्कन राज्यों की, बल्कि विशेष रूप से इटली और आस्ट्रिया-हंगरी की भी विशेष दिलचस्पी थी। यह विश्वास किया जाता है कि इन महाशक्तियों ने स्थानीय राजनीतिज्ञों की जेबें भरने में काफ़ी रुपया खर्च किया और जब यह स्वायत्त इकाई बना, तब से ही इसे एक प्रकार का 'एड्रियाटिक का कुस्तुन्तुनिया' (Adriatic Constantinople) कहा जा सकता था, जिसका अस्तित्व अपने पड़ोसियों की परस्पर-विरोधी ईर्ष्याओं के कारण बना रहा। १९१२ के बाल्कन युद्ध के दिनों में, इटली और आस्ट्रिया-हंगरी दोनों ने एड्रियाटिक पर तीसरी शक्ति का जो प्रतिरोध किया, उसने इसका अंग भंग करने की बाल्कन मित्र-राष्ट्रों की कोशिशों को विफल कर दिया, और जुलाई १९१३ में लंदन में राजनैतिक दूतों के सम्मेलन ने अलबानिया को एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य घोषित किया पर इस देश के कुछ हिस्सों पर सर्बिया मौंटिनीग्रो और ग्रीस की लोलुप दृष्टि थी; आस्ट्रिया-हंगरी इसे अपने हितों का विशेष क्षेत्र समझते थे और इटली वैलोना (Valona) के उत्तम पोतगाह (harbour) पर, जो इटालियन तट से ६० मील था, और एड्रियाटिक में प्रवेश को नियन्त्रित करता था, एक महत्वपूर्ण शक्ति का अधिकार हो जाने से चिंतित था। युद्ध में शामिल होने से पहले ही इटली ने ससनो द्वीप (Island of Sasseno) पर अधिकार कर लिया था, जो वैलोना पोतगाह के प्रवेश-द्वार पर है, और नवम्बर १९२४ से उसने वैलोना पर ही अधिकार कर लिया। अप्रैल १९१५ की लन्दन की संधि (Treaty of London) द्वारा मित्रराष्ट्रीय शक्तियां अलबानिया को इटली—जिसके पास वैलोना, ससेनो और आस-पास का प्रदेश रहना था—तथा मौंटिनीग्रो सर्बिया और ग्रीस में विभाजित करने की योजना पर विचार कर रहे थे। पर १९२० में इटली को सारे अलबानिया पर अधि-

देश (mandate) और वैनोला पर पूर्ण प्रभुत्व देने की प्रस्थापना हुई। परन्तु चारों ओर की आबादी के कारण उसे कुछ समय परेशानी में गुज़ारना पड़ा और अगस्त १९२० में इटली और अलबानिया की सरकार में एक समझौता हो गया जिसमें इस प्रदेश की स्वतन्त्रता और यहाँ से इटालियन सेना के निकल जाने का उपबंध था। इधर यूगोस्लाविया को आस्ट्रियन और सर्बियन दोनों दृष्टिकोण प्राप्त हो गये थे। ग्रीस और यूगोस्लाविया १९१३ में निर्धारित सीमांत के संशोधन की मांग कर रहे थे। छोटे यूगोस्लाव हमलों की शिकायतें बार-बार राष्ट्रसंघ के सामने आ रही थीं, और इन सब बातों से प्रेरित होकर राजदूतों के सम्मेलन ने ९ नवम्बर १९२१ को १९१३ के सीमान्त की पुष्टि कर दी, पर उसके साथ यह शर्त थी कि कुछ हिस्सों का पुनः परिसीमन (delimitation) होगा।

उसी दिन ब्रिटिश, फ्रेंच, इटालियन और जापानी सरकारों ने पेरिस में एक उल्लेखनीय घोषणा पर हस्ताक्षर किये। इस लिखत (instrument) में इटली के सर्वोच्च हित को बलपूर्वक स्वीकार किया गया था और यह घोषणा की गई थी कि यदि अलबानिया ने अपनी प्रादेशिक अखंडता के लिए राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया तो परिषद् में उनके प्रतिनिधि यह सिफ़ारिश करेंगे कि सीमांतों का पुनः-स्थापन इटली को सौंप दिया जाय। इस घोषणा की कुछ आलोचना हुई और इसे राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों की अप्रतिष्ठा बताया गया।[1] यहाँ पाठक को उस स्थिति की विस्फोटक सम्भावनाएँ दर्शाने के लिए काफी कह दिया गया है, और आगे चलकर इस पर और प्रकाश डाला जायेगा।

कौर्फ़ू की घटना

(The Corfu Incident)

नवम्बर १९२१ में राजदूतों के सम्मेलन ने जिस परिसीमन की आज्ञा दी थी, उसके काम से एक ऐसी घटना हो गई जिसे युद्धोत्तर पद्धति के कार्य करने की एक आरम्भिक कसौटी माना जा सकता है। २७ अगस्त १९२३ को ग्रीक भूमि पर जनीना के निकट परिसीमन का कार्य करते हुए एक इटालियन सेनापति और उसके तीन इटालियन साथी तथा एक अलबानियन कत्ल कर दिये गये। इटालियन सरकार ने एक अल्टीमेटम (ultimatum) देकर जो १९१४ में आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया को दिये गये अल्टीमेटम की याद दिलाता था और उसका वैसा ही विनम्र उत्तर मिलने पर, जैसा उस समय सर्बिया ने दिया था, ग्रीस के कौर्फ़ू द्वीप में इटली ने एक जहाजी बेड़ा (squadron) भेज दिया और बमबारी करने के बाद उस पर अधिकार कर लिया। बमबारी में हताहत हुए लोग अनातोलिया से आये हुए कुछ अभागे ग्रीक और आरमीनियन शरणार्थी थे, जो इस पुराने किले में बसा दिये गये थे। एक सितम्बर को, दो नयपत्र (note) दिये गये; एक तो ग्रीक सरकार ने राष्ट्रसंघ की परिषद् (Council of the League) को दिया, जिसमें इटालियन अल्टीमेटम की ओर

१. देखिए विकहमस्टीड का लेख, जनरल आफ दि रॉयल इन्स्टीट्यूट आफ़ इन्टरनेशनल अफ़ेअर्स, मई १९२७।

ध्यान खींचा गया था—यद्यपि इसमें बमबारी का जिक्र नहीं था—और दूसरा राजदूतों के सम्मेलन की ओर से ग्रीकों को दिया गया था और इसमें जनीना (Janina) में हुए कांड पर विरोध प्रदर्शन करते हुए जाँच की माँग की गई थी। दूसरे नय-पत्र के उत्तर में ग्रीक सरकार ने पहले ही राजदूतों के सम्मेलन द्वारा किये गये निश्चय को मानना स्वीकार कर लिया और इस प्रकार यह मामला दुर्भाग्य से दो भिन्न प्राधिकारियों के हाथ में था। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने उत्साह और फुर्ती से कार्यवाही की, पर इसकी कार्यवाहियों में न केवल मुसोलिनी की उस धमकी से कि यदि राष्ट्रसंघ ने दखल दिया तो कोर्फू पर अनिश्चित काल के लिए आधिपत्य कर लिया जायगा बल्कि जनीना में इटालियन प्रतिनिधि के राष्ट्रसंघ द्वारा कार्यवाही किये जाने से सहमत न होने के कारण भी बाधा पड़ी। इटली के रवैये पर टिप्पणी के रूप में प्रसंविदा के अनुच्छेद १०, १२ और १५ जोर से पढ़ दिये जाने के बाद परिषद् की एक अनौपचारिक बैठक में निबटारे की एक योजना बनाई गई और राजदूतों के एक सम्मेलन में भेजी गई। यह प्रस्थापना मामूली संशोधनों के साथ राजदूतों द्वारा स्वीकृत कर लिये जाने और ४८ घंटे के भीतर दोनों विवादी पक्षों द्वारा मान लिये जाने से यह घटना संतोषजनक रूप से समाप्त हो गई प्रतीत होती थी। जो शर्तें तय हुईं थीं उनके अनुसार, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) का निश्चय होने तक के लिए ग्रीस को ५ करोड़ लीरा (lire) जमा कराने थे पर कुछ दिनों बाद राजदूतों का सम्मेलन अपनी स्थिति से पीछे हट गया और एक मित्रराष्ट्रीय जाँच आयोग द्वारा दिये गये आरम्भिक प्रतिवेदन के बल पर ग्रीस की लापरवाही बताते हुए उसने यह आग्रह किया कि ग्रीस द्वारा जमा कराई हुई राशि इटली को दी जाय। इस नतीजे से, जो आक्रान्ता को कौर्फू खाली करने के लिए कीमत चुकाने जैसी दुःखद बात मालूम होती थी, ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति कम होने की सम्भावना नहीं थी।

ग्रीस और बल्गेरिया के संबन्ध

(Graeco-Bulgarian Relations)

इस प्रसंग में ग्रीस की चर्चा से थोड़ी देर के लिए लघु संधि (Little Entente) के चिन्तनीय विषयों से दूर होना और अपना ध्यान डैन्यूब नदी के क्षेत्र से ग्रीक-बल्गेरियन सीमा पर ले आना सरल हो जायेगा। युद्धोत्तर काल की आरम्भिक अवस्थाओं में बल्गेरिया भी आस्ट्रिया की तरह इतना अधिक अशक्त हो चुका था कि वह कोई गंभीर खतरा नहीं बन सकता था और उधर ग्रीस का ध्यान अनातोलिया में अपने अनर्थकारक साहस पर केंद्रित था (देखिये अध्याय ८)। पर तुर्की द्वारा ग्रीकों को खदेड़ दिये जाने से एक नई स्थिति पैदा हो गई, जिसकी मैसिडोनिया के सीमान्त पर महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाएं हुईं। अनातोलिया से ग्रीक शरणार्थियों की भगदड़ के कारण यह आवश्यक हो गया कि उन्हें ग्रीस ही में बसाने के लिए स्थान तलाश किया जाय। क्रमशः ग्रीक और बल्गेरियन अल्पसंख्यकों को मेसिडोनिया की सीमा के पार उसी समय स्वदेश वापस भेजने के प्रयत्नों ने इस प्रश्न को और जटिल

कर दिया। अनातोलियन ग्रीकों के आगमन को तो तुर्कों को उनके देश भेजकर अंशतः हल किया जा सकता था और बल्गेरियनों को भी वापस जाने को प्रेरित करने के लिए प्रयत्न किये गये। इसका यह परिणाम हुआ कि इन लोगों के साथ व्यवहार के बारे में लगातार शिकायतें पैदा होती रहीं। इसके अलावा क्योंकि अधिकतर स्थानांतरित ग्रीक और बेलगर उन सीमाँत प्रदेशों में बसे जिनमें विरोधी प्रजाति के समुदाय बहुत अधिक संख्या में थे, इसलिए उनके संबन्ध उत्तरोत्तर बिगड़ते गये और हिंसा की घटनाओं तथा गुरिल्ला हमलों और अन्य सामांतवर्ती घटनाओं की शिकायतें उत्तरोत्तर आती रहीं।

एक विशेष रूप से गंभीर घटना जुलाई १९२४ में तार्लिस में हुई। तार्लिस (Tarlis) सीमांत की ग्रीस वाली दिशा में था। घटना यह थी कि कुछ बल्गेरियन कैदियों का जो एक गुरिल्ला हमले में लिप्त होने के संदेह में गिरफ्तार किये गये थे, उनके पहरेदारों ने कत्लेआम कर दिया—यह कत्लेआम जिन परिस्थितियों में किया गया उन्हें मिले-जुले उत्प्रवास आयोग (Mixed Emigration Commission) ने सर्वथा औचित्यहीन ठहराया, हालांकि ग्रीक सरकार को उसने जिम्मेवारी से मुक्त कर दिया। सितम्बर १९२४ में यह यत्न किया गया कि राष्ट्रसंघ की असेम्बली के सत्र के दिनों में हुई वार्त्ताओं के परिणामस्वरूप दो प्रोटोकोलों (Protocols) के द्वारा अल्प-संख्यक समस्या का संतोषजनक हल कर लिया जाय। परन्तु यह प्रयत्न मुख्यतः यूगोस्लावों के दबाव के कारण व्यर्थ हो गया—यूगोस्लाव यह अनुभव करते थे कि यदि ग्रीस ने मैसिडोनिया में बल्गेरियन अल्पसंख्यकों का अस्तित्व स्वीकार कर लिया तो इससे मैसिडोनिया के उस भाग में जो सर्बियन शासन के अधीन था, उनके अपने भावों के अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। ग्रीस ने प्रोटोकोल का परित्याग कर दिया और मामला जहाँ का तहाँ रह गया। अक्तूबर १९२५ में देमीर कापू (Demir Kapu) में एक सीमांत दुर्घटना के परिणामस्वरूप एक संकट पैदा हो गया—इस दुर्घटना में सफेद झण्डा लेकर मध्यस्थता का यत्न करते हुए एक ग्रीक सैनिक मारा गया और चौकी का ग्रीक सेनानायक गोली से उड़ा दिया गया। ग्रीकों ने गंभीरतापूर्वक बल्गेरियन राज्य-क्षेत्र पर चढ़ाई शुरू कर दी और युद्ध राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के कारण ही रुक सका। राष्ट्रसंघ के समर्थकों का यह दावा ठीक ही है कि यह घटना शाँति की रक्षा के लिए इसकी मशीनरी की प्रभावकारिता का सबसे उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करने वाला उदाहरण है। इस उदाहरण में न केवल आक्रमण को रोका गया, बल्कि उसे साफ़ तौर से दंडित किया गया, क्योंकि राष्ट्रसंघीय जांच आयोग ने यह सिफारिश की कि ग्रीस बल्गेरिया को लगभग ४५००० पौंड हर्जाना दे और आगामी मार्च (१९२८) के शुरू तक यह राशि पूरी चुका दी गई। पर इस प्रश्न के एक और पहलू पर आधुनिक ग्रीस के एक इतिहास लेखक ने बल दिया है। एथेंस में विद्यमान यह भावना असंगत नहीं थी कि राष्ट्र संघ की गौरव की रक्षा के लिए ग्रीस को दूसरी बार बलि चढ़ाया गया। वह महाशक्तियों की ओर तो दूसरा गाल भी कर देता है, और छोटे राज्यों से अधिक से अधिक धन मांगता है।[1]

---

१ डब्ल्यूमिलर, ग्रीस, लंदन, बेन, १९२८ पृष्ठ ९४।

पोलैण्ड और उसके पड़ौसी
(Poland and her Neighbours)

जैसा कि पहले बता चुके हैं, चैक और यूगोस्लाव पोलैंड को अपनी प्रतिरक्षा सन्धि-प्रणाली मे इसलिए शामिल करना नहीं चाहते थे कि एक तो वे सोवियत रूस से सहानुभूति रखते थे और अन्त में उसके स्वस्थ हो जाने में विश्वास रखते थे, और दूसरे, वे यह अनुभव करने थे कि पोलैंड की स्थिति, जो जर्मनी और सोवियत संघ के आकार और संभाव्य (potential) ताकत वाली दो शक्तियों के बीच में था, आपवादिक रूप से जोखिम भरा थी। शांति के बाद पहले वर्षों में इन दोनों देशों के मेल-मिलाप से आम तौर पर संकट की आशंका की जाती थी—उदाहरण के लिए, अप्रैल १९२२ में रैपेलो में रूस-जर्मन संधि पर हस्ताक्षर होने से बहुत चिंता पैदा हुई थी। इसके अलावा पोलैंड और चैकोस्लोवाकिया में कुछ पुराने मतभेद थे जिनके कारण कुछ समय तक सम्बन्ध बिगड़े रहे। तेशचैंन (Teschen) के सवाल ने फ़रवरी १९१९ में दोनों देशों में वास्तविक टक्कर पैदा कर दी थी और ज़िप्स प्रदेश में जैवोर्जिना ज़िले के बारे में सीमा सम्बन्धी विवाद १९२४ तक बिना निपटे खिंचता रहा, और अन्त में उसे राजदूतों के सम्मेलन से राष्ट्रसंघ के पास भेजना पड़ा।[1]

असल में नए पोलैंड में विचारहीन और प्रायः मतांध देश-भक्ति बहुत विशेष प्रतीत होती थी, जिसके परिणामस्वरूप वह अपने बिखरे हुए लोगों द्वारा अधिकृत दूरतम सीमा तक मुक्ति (liberation) की नीति का अनुसरण करना चाहता था, राजनैतिक समझदारी का नहीं, जो उसकी डगमग स्थिति की दृष्टि से आवश्यक थी। उदाहरण के लिए, शान्ति सम्मेलन के दिनों में वह सर्वोच्च परिषद् की खुले आम अवहेलना करता हुआ, पूर्वी गैलीशिया के रूथीनियनों से लड़ाई करता रहा और यह मानना पड़ेगा कि उसने परिषद् के सामने जो सिद्ध तथ्य (fait accompli) इस प्रकार प्रस्तुत कर दिया, उसके परिणामस्वरूप उसे अन्त में एक ऐसा भूमिखण्ड मिल गया जिस पर उसका प्रजातीय आधारों पर दावा अत्यधिक आपत्ति-योग्य था। समझौते के तौर पर शुरू में पूर्वी गैलीशिया पर उसे २५ वर्ष तक अधिदेश (mandate) दे दिया गया। इस अवधि के बाद इस प्रश्न पर राष्ट्रसघ को पुनः विचार करना था और अन्त में मार्च १९२३ में यह सारा प्रदेश पोलैंड को सौंप दिया गया।

लिथुआनिया के साथ सम्बन्ध
(Relations with Lithuania)

पोलैंड के अपने नए पड़ोसी लिथुआनिया के साथ जो सम्बन्ध थे, उनमें भी ऐसा ही हठ—जो ऐसा ही सफल रहा—परिलक्षित होता है, यद्यपि इस उदाहरण में शायद पोलैंड वासियों के पास अधिक बहाना था। लिथुआनिया की पृथक् स्वाधीनता का, तेरहवीं सदी के मध्य से चौदहवी सदी के अन्तिम चतुर्थांश तक का, लगभग एक शताब्दी से अधिक का पूर्व इतिहास था—चौदहवीं शताब्दी

---

१. इस विवाद के विस्तार के लिए, देखिए, हिस्ट्री ऑफ़ द पीस कॉन्फ्रेंस ऑफ़ पेरिस, जिल्द ४, पृष्ठ ३६४ तथा सर्वे ऑफ़ इण्टरनेशनल अफेअर्स, १९२४, पृष्ठ ४५७।

में यह देश लिथुआनिया के राजा जैगीलो की अधीनता में पोलैंड के साथ मिल गया और यह ऐक्य १५५९ में और अधिक दृढ़ हो गया तथा १७९३ में पोलैंड के विभाजन तक कायम रहा; १७९३ में लिथुआनिया पोलैंड के पूर्वी प्रान्तों के साथ रूसी साम्राज्य का अंग बन गया। इस सुदीर्घ साहचर्य ने स्वभावतः पोलिश और लिथुआनियन लोगों में बहुत काफी मिश्रण कर दिया था और लिथुआनिया की इतिहास-प्रसिद्ध राजधानी विलना तथा उसके चारों ओर के ज़िलों में पोलों की बड़ी प्रधानता थी—खास विलना नगर में इनका अनुपात ५६% पोलिश और २.५% लिथुआनियन था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लिथुआनिया के अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने के निश्चय से पोलों को निराशा हुई थी; यह भी ध्यान रखना चाहिये कि १९२० में पोलैंड अपने लोगों और अपने पड़ोसियों को बोल्शेविज़म के आतंक से बचाने के लिए—इस खतरे का मुकाबला करने के लिए अकेला स्वतन्त्र लिथुआनिया अत्यधिक कमज़ोर था—अपने आपको एक धर्म-युद्ध में लगा हुआ मानता था। पर १९१७ के जर्मन आधिपत्य के दिनों में विलना में स्थित एक टेरीबा (Taryba) या राष्ट्रीय परिषद् ने लिथुआनिया के आत्म-निर्णय की उद्घोषणा कर दी थी, यद्यपि यह मानना कठिन है कि यह परिषद् स्वतन्त्र अभिकर्त्ता थी, क्योंकि इसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा के साथ यह भी स्वीकार किया था कि जर्मन राज्य के साथ उसके स्थायी मैत्री सम्बन्ध होंगे। विलना को असेम्बली के अधिष्ठान के लिए चुनना ऐतिहासिक आधार पर तो समझ में आता है, पर नगर और जिले के पोलिश बहुमत को स्वभावतः यह बात पसन्द न आई। जर्मनों ने लिथुआनिया का स्वतन्त्रता विषयक दावा कुछ शर्तों के साथ जनवरी १९१८ में अभिज्ञात कर लिया और कैसर ने उसे मार्च में स्वीकार कर लिया। सैनिक सुलह के बाद जर्मनों के पीछे हटने पर विलना में बनी हुई अस्थायी लिथुआनियन सरकार का भी कूच विलना से पीछे को होने लगा। रूसियों का वापिस आना निश्चित था और जनवरी १९१९ में जनरल वेजको (General Wejtko) की अधीनता में एक पोलिश टुकड़ी द्वारा नगर की प्रतिरक्षा उसे बोलशेविकों के हाथ में पड़ने से नहीं रोक सकी, यद्यपि पोलों ने अप्रैल में इस पर पुनः अधिकार कर लिया था। १२ जुलाई, १९२० को जब विलना पर भी पोलों का ही आधिपत्य था, लिथुआनियन और सोवियत सरकारों ने एक शांति संधि पर हस्ताक्षर किये जिससे लिथुआनिया को न केवल विलना मिल गया बल्कि सुवाल्की (Suvalki) के निकट का वह प्रदेश भी मिल गया जिसे ८ दिसम्बर १९१९ को सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council) ने पोलिश प्रदेश घोषित किया था, हालांकि इस निश्चय की सूचना लिथुआनियनों को कभी नहीं दी गई थी। संधि के साथ लगी हुई दो टिप्पणियों में रूस को पोलैंड के विरुद्ध सैनिक कार्य करने के समय लिथुआनियन प्रदेश पर आधिपत्य करने की अनुज्ञा दी गई थी। १४ जुलाई, १९२० को बोल्शेविकों ने विलना पर फिर अधिकार कर लिया, पर अगस्त में युद्ध का प्रवाह मुड़ गया और जब रूसियों ने देखा कि हमें पीछे हटना ही पड़ेगा, तब उन्होंने लिथुआनियनों को नगर पर अधिकार कर लेने दिया और शेष प्रदेश संधि द्वारा उन्हें सौंप दिया। पोलैंड के नए अभि-

यान के दिनों में पोलिश और लिथुग्रानियन सैनिकों में सुवाल्की के पास टक्कर हुई। इस पर पोलैंड ने राष्ट्रसंघ से अपील की और यह आरोप लगाया कि लिथुग्रानियन बोल्शेविकों के साथ सक्रिय सहयोग कर रहे हैं—दूसरे पक्ष ने इस आरोप का जोर शोर से प्रतिवाद किया। इसके बाद समझौते की जो बातचीत हुई, उसमें ३ अक्तूबर को पोलिश परराष्ट्रमन्त्री ने यह निश्चित आश्वासन दिया कि पोल विलना पर अधिकार नहीं करेंगे और उसने सीमांत विवाद को तय करने के लिए मत-संग्रह (plebiscite) का सुझाव दिया। अगले दिन इसी आश्वासन को कुछ कम सुनिश्चित शब्दों में मार्शल पिलसुडस्की (Marshal Pilsudski) ने, जो स्वयं विलना का था और जो मुख्य सेनापति भी था और राज्य का अध्यक्ष भी, दुहराया। उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि विलना पर चढ़ाई करने का 'इरादा नहीं' है, परन्तु साथ ही साथ यह भी कहा कि यदि मैं राज्य का अध्यक्ष न होता तो सैनिक की दृष्टि से मैंने एक सप्ताह पहले इस पर अधिकार कर लिया होता। इसके बाद यह हुआ कि दोनों विवादियों ने ७ अक्तूबर को सुवाल्की में एक अस्थायी व्यवस्था समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इस व्यवस्था का उद्देश्य, जिसका इसमें स्पष्टतः उल्लेख था, अर्थात् कि इससे दोनों पक्षों के प्रदेश संबन्धी दावों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा, यह था कि लिथुआ-नियन और पोलिश फ़ौजों के बीच एक रुकावट की दीवार खड़ी कर दी जाय। परन्तु इस प्रयोजन के लिए यह खेदजनक रूप से अपूर्ण थी। क्योंकि सीमांकन रेखा (line of demarcation) के पूर्वी हिस्से पर यह व्यवस्था तब तक लागू नहीं होनी थी जब तक सोवियत सेना दक्षिण से विलना को आने वाले रेल मार्ग से पूर्व की ओर पूरी तरह न हट जाय, और तब भी यह व्यवस्था उस रेल मार्ग के बास्टूनी स्टेशन के पूर्व में नहीं लागू होनी थी इसलिए जहां तक सुवाल्की समझौते का सम्बन्ध था, विलना दक्षिण की ओर से चढ़ाई के लिए खुला हुआ था। यह समझौता १० अक्तूबर से लागू होना था पर पहले दिन एक अर्ध-स्वतन्त्र सेनापति जनरल ज़ेलगोवस्की (General Zeligowski) ने, जो पोलैंड का साथी था और उससे रुपया पाता था, विलना पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया। पोलिश सरकार ने सरकारी तौर से यह ऐलान किया कि उसके कार्य से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं पर नगर पर पोलिश कब्ज़ा बना रहा। चूँकि सेना उपलब्ध नहीं थी और वार्ताएँ निष्फल रहीं इसलिए स्थिति को संभालने के प्रयत्न विफल रहे। पोलैंड ने यह कब्जा कायम रक्खा। दो वर्ष बाद पोलिश सरकार ने राजदूतों के सम्मेलन से अपील की और १५ मार्च को उन्हें नगर पर तथा जिले पर, जिस पर उनका इतने समय से तथ्यतः अधिकार था, सरकारी तौर से स्वामित्व सौंप दिया गया।

मेमेल

(Memel)

इस प्रकार "सीधी कार्यवाही" (direct action) के फायदों का सबक मिलने पर लिथुग्रानियनों ने वही विधि एक और समस्या—मेमेल की स्थिति—पर लागू करने का विचार किया। यह जर्मन नगर और प्रदेश, जो नीमेन के दायें किनारे पर था, १९१२ के अन्त तक मित्रराष्ट्रों की ओर से एक फ्रेंच उच्चायुक्त द्वारा प्रशासित था। यद्यपि यह

स्पष्टतः आवश्यक था कि इस बन्दरगाह के लिथुआनिया के साथ विशेष सम्बन्ध हों, पर शायद इस योजना पर विचार चल रहा था कि इसे डैन्जिग की तरह एक स्वशासी प्रदेश बना दिया जाय। इस तरह के समाधान से आशंकित होकर लिथुआनियनों ने जनवरी १९२३ में मेमेल पर चढ़ाई कर दी, और गलियों में थोड़ी सी लड़ाई के बाद फ्रेंच टुकड़ी को समर्पण करने के लिए बाधित कर दिया क्योंकि यह घटना रूहर पर फ्रेंच आधिपत्य से पहले दिन हुई अतः मित्रराष्ट्रों के पास अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए कोई फौज खाली नहीं थी, परिणामतः उन्होंने वार्ता का आश्रय लिया, जिसके परिणामस्वरूप अंत में विध्यकूल प्रभुता (juridical sovereignty) लिथुआनिया के हाथ में छोड़ दी गई यद्यपि राष्ट्रसंघ के एक आयोग द्वारा सुझाये गये अभिसमय ने जो मार्च १९२४ में स्वीकार किया गया था, निवासियों को कुछ सीमा तक स्वायत्तता और पोलैंड को आने-जाने का अधिकार प्रदान किया, पर इस अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि आक्रमणकर्त्ता की अनुचित कार्यवाही से उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

अपर साइलेशिया
(Upper Silesia)

अपर साइलेशिया की समस्या हल करने में हम देखते हैं कि पोलैंड ने वही उपाय अपनाये, यद्यपि उसे जो सफलता हुई उसकी मात्रा पर विवाद हो सकता है। वर्साई की संधि ने अपने मूल रूप में यह प्रस्थापना रक्खी थी कि जर्मनी के इस भूतपूर्व प्रांत का अधिकतर भाग, वहां के निवासियों की इच्छाएँ बिना जाने, पोलैण्ड को हस्तांरित कर दिया जाय।[1] पर इसका विरोध होने पर यह निश्चय हुआ कि विवादास्पद क्षेत्र में मतसंग्रह किया जाए और तदनुसार यह किया गया (३० नवम्बर १९२१), जिसका परिणाम पोलों के लिए बहुत निराशाजनक था। मतसंग्रह के अंकों की घोषणा से, जिसके अनुसार जर्मनी के पक्ष में ७१७१२२ तथा पोलैंड के पक्ष में ४८३१५४ वोट आये थे, पोलैंड में यह भय पैदा हो गया कि शायद सारा जिला ही उसके पुराने स्वामी को लौटा दिया जाय—विशेष रूप से श्री लायड जार्ज इसी पक्ष में बताये जाते थे। परिणामतः ३ मई १९२२ को मतसंग्रह-आयुक्त श्री कोरफ़ेंटी (M. Korfanty) के नेतृत्व में भयंकर विद्रोह छिड़ गया। कुछ समय के लिए उस जिले पर से मित्रराष्ट्रीय नियन्त्रण हट गया और एक विशेष बात यह थी कि फ्रेंच टुकड़ी पोलिश दावों का प्रायः खुले आम समर्थन कर रही थी। ११ मई को *टाइम्स* (लन्दन) के संवाददाता ने यह खबर दी कि जब विद्रोहियों का पहला जत्था घुसा तब फ्रेंच सैनिकों ने इसका मित्रतापूर्वक स्वागत किया और,

> बथिन (Beuthen) में फ्रेंच पदाति सेना की टैंकों से सुसज्जित एक बटालियन शांति स्थापना कर रही है। सशस्त्र विद्रोही निर्भयतापूर्वक फ्रेंच बारकों के निकट परेड कर सकते हैं और रात में सड़कों पर घूमते हुए धड़ाधड़ गोली चलाते हुए सारे शहर को जागता हुआ रख सकते हैं।

मित्रराष्ट्रों में इस फूट के कारण यह कहना असम्भव है कि समस्या के अन्ततः हल होने में इन हिंसात्मक उपायों का कहाँ तक हिस्सा था, पर अगस्त १९२७ में

१. एक छोटा सा हिस्सा चैकोस्लोवाकिया के लिए भी रक्खा गया था।

सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council) ने यह मामला राष्ट्रसंघ में भेजा। राष्ट्रसंघ ने विभाजन का सुझाव रक्खा और अन्त में वही अंगीकृत हुआ। यह समाधान उन परिस्थितियों मे शायद सबसे अच्छा उपलब्ध समाधान था, पर इसे 'न्याय और प्रबल शक्ति' के स्वार्थ के मध्य सबसे आसान समझौता[1] कहकर तिरस्कृत किया गया और इस निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ता है कि पोलैंड को अपने कार्यों की निश्चित रूप से कोई सजा नहीं मिली और शायद कुछ लाभ ही हुआ। जो हो, इस प्रकार के फ़ैसले से परस्परविरोधी दावों की मान्यता की संतोषजनक कसौटी तो मिल जाती है पर जब उन्हें कार्यान्वित किया जाता है तब उनकी बहुत सी प्रभावकारिता गायब हो जाती है और प्रत्येक दावेदार में कुछ असन्तोष बढ़ने लगता है क्योंकि उनमें से कोई अपूर्ण चीज़ से सन्तुष्ट नहीं होना चाहता।

फ्रांस और रूमानिया के साथ मैत्री संधियां
(Alliances with France and Roumania)

यद्यपि पोलिश नीति उसकी जनता की भावना की ही सूचक थी पर यह न समझना चाहिए कि यदि वह अकेला होता तो भी इसी मार्ग पर चलता। शुरू से ही फ्रांस ने उसके विद्रोह को विशेष रूप से मित्रतापूर्ण दृष्टि से देखा था और अपने उस ऐतिहासिक साथी के वापिस आने का स्वागत किया था जिसके स्थान पर सिर्फ कुछ समय से रूस आगया था। यदि पहले से नही तो रिचलू (Richelieu) के दिनों से तो फ्रांस ने अपने पूर्वी सीमान्तों पर मित्रता संधियों द्वारा मध्य योरोप की शक्ति को संतुलित करने की नीति अपनाई थी और जब तक पोलैंड रहा तब तक वह इन मित्रों में प्राय: प्रमुख होता था इसलिए यह बात चाहे क्षंतव्य न हो पर समझ में आने वाली है कि उन सब आक्षेप-योग्य कार्यों में जिनकी ऊपर चर्चा की गई है, पोलैंड फ्रेंच समर्थन पर भरोसा कर सकता था, और १८ फरवरी १९२१ को ही एक निश्चित मैत्री संधि पर हस्ताक्षर कर के उस स्थिति को नियमित रूप दे दिया गया। इसके कुछ सप्ताह बाद (३ मार्च १९२१) पोलैंड तथा रूमानिया, जिसे रूस से पोलैंड की अपेक्षा अधिक ख़तरा था और परिणामतः जो उन बातों से भी प्रभावित नहीं हुआ जिनसे लघु संधि (Little Entente) के अन्य देश प्रभावित हुए थे, के बीच एक संधि हो गई। परन्तु यह संधि व्यापक प्रतिरक्षात्मक संधि नहीं थी, बल्कि इसका क्षेत्र दोनों देशों के पूर्वी सीमांतों की प्रतिरक्षा तक ही सीमित था। फ्रांस, पोलैंड और लघु संधि के सदस्यों के संबंधों का और परिवर्धन आगे के एक अध्याय में विचार का विषय होगा। इस काल का सम्बन्ध तो मुख्यतः प्रादेशिक समझौते करने से है और इस स्थिति में बात यहीं तक पहुँची थी जहाँ तक हमने बताई है।

इस अध्याय में बताई गई परिस्थितियों से जो संभावित शिक्षा निकलती है वह बल-प्रयोग के प्रयास और पंच-निर्णयों की व्यापक मान्यता पर आधारित नये संसार के भविष्य की दृष्टि से अशुभ की सूचक थी। प्रायः प्रत्येक उदाहरण में जिसमें किसी राष्ट्र ने बल-प्रयोग या बल-प्रयोग की धमकी का सहारा लिया, उसका साध्य यदि

१. जरनल आफ़ द ब्रिटिश (रायल) इन्स्टीट्यूट आफ़ इन्टरनेशनल अफ़ेअर्स, जिल्द १, १९२२, पृष्ठ २८।

पूरी तरह सिद्ध नहीं भी हुआ तो भी बहुत कुछ सिद्ध हो गया। हिंसा और अव्यवस्था ने सोप्रोन हंगरी को दिला दिया, डैननज़ियो (D'Annunzio) की अक्षम्य डाकेज़नी के कारण फ़ियूम पर इटली का अधिकार बना रहने में सुविधा हो गई, बल-प्रयोग के बिना पोलैंड को विलना पर अधिकार मिलना सम्भव नहीं था या लिथुआ-निया को मेमेल में वह स्थिति नहीं प्राप्त हो सकती थी जो उसे प्राप्त हो गई, अपर साइ-लेशिया से भी यही खेदयोग्य शिक्षा मिलती है; और कौर्फ़ू की घटना भी कोई अप-वाद नहीं प्रस्तुत करती। ग्रीस-बल्गेरियन घटना अपवाद प्रतीत हो सकती है, पर इस उदाहरण में यह बात कम से कम संदिग्ध है कि युद्ध नीति को एक साधन रूप में शुरू किया गया था। जो हो, यह तो मानना ही होगा कि इस अन्तिम उदाहरण को छोड़कर और किसी में भी सीधी कार्यवाही अपनाने से आक्रान्ता को कोई हानि नहीं उठानी पड़ी। यह निःसन्देह ठीक है कि सर्वोच्च परिषद् के मतभेदों और युद्धश्रांति के काल में उपलब्ध शक्ति के अभाव का भी ध्यान रखना होगा पर दुर्भाग्य से यह तथ्य तो बना ही रहता है, और शांति और सुरक्षा के युग की स्थापना से संबंधित अब तक हल न हुई कठिनाइयाँ बहुत कुछ इस तथ्य के अस्तित्व के कारण ही हैं।

: ७ :

सोवियत रूस की परराष्ट्र नीति

(The External Policy of Soviet Russia)

१६२० की समाप्ति से पहले रूस की क्रांतिकारी सरकार के काम में बाहरी हस्तक्षेप के सब प्रयत्न विफल हो गये थे। इंगलैंड और अन्य मित्रराष्ट्रों ने 'श्वेत' सेनापतियों का समर्थन करना बंद कर दिया, डेनीकिन १६१९ में पराजित हो गया था और कोलचक १६२० के शुरू में तथा सेमेनोव और रेंजल उसके समाप्त होने से पहले हार चुके थे यद्यपि व्लैडी वास्टक पर अब भी जापानी अधिकार था, पर बैकाल झील से पूर्व वाले साइबेरिया पर इस समय मास्कोस्थित सोवियत सरकार का सीधा शासन नहीं था—सोवियत सरकार ने इस प्रदेश में एक स्वतन्त्र संघात्मक गण-राज्य (Federated Republic) की घोषणा को अभिज्ञात कर लिया था । यह १६२० में जापानियों के चले जाने के बाद बृहत् रूस (Great Russia) के साथ सिर्फ़ औपचारिक रीति से पुनः एक हुआ।

परन्तु सोवियत सरकार के लिए यह परमावश्यक था कि वह उस आर्थिक बहिष्कार को तोड़ने का यत्न करे, जो योरोप वालों ने इसके सिद्धान्तों को पसंद न करने के कारण इस पर लागू कर दिया था। यदि यह सच है कि मनुष्य सिर्फ़ रोटी से नहीं जी सकता, तो १६२१ के रूसी दुर्भिक्ष ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पूँजी-वादी संसार में कम्यूनिज़्म के सिद्धान्त भी रोटी के संतोषजनक स्थानापन्न नहीं हो सकते। अप्रैल १६२१ में नई आर्थिक नीति अंगीकार करके उन सिद्धान्तों का शिथिलीकरण लाक्षणिक था और इसके साथ ही बाह्य संसार से वाणिज्य संबन्ध पुनः स्थापित करने के लिए बार-बार और दृढ़ संकल्प से प्रयत्न किये गये। मई १६२० में ही एक व्यापार प्रतिनिधि मंडल श्री क्रासिन (M. Krassin) के नेतृत्व में इंग्लैंड गया था, और यद्यपि उनके मंडल का मार्च १६२१ के आंग्ल-रूसी व्यापार समझौते के रूप में कुछ फल निकला पर इससे कोई विशेष सुधार नहीं हुआ क्योंकि इसके साथ रूस का विधितः अभिज्ञान (de jure recognition) नहीं किया गया, और उस प्रत्यय (credit) की पुनः स्थापना के लिए भी इसमें कोई उपबंध नहीं था जो विदेशी संपत्ति जब्त करके और विदेशी ऋणों का प्रत्याख्यान करके रूसी लोग खो चुके थे। इस समय ब्रिटिश सरकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के पुनः शुरू करने की आवश्यकता खूब अच्छी तरह अनुभव कर रही थी, और जनवरी १६२२ के कैनीज़ सम्मेलन (Cannes Conference) में श्री लायड जार्ज के ही प्रयत्न के कारण रूस उस बृहत् सम्मेलन में भाग ले सका था जो इसके बाद उसी वर्ष अप्रैल में जेनोआ में हुआ था। पर इस सम्मेलन का एकमात्र मूर्त्त परिणाम था रूस और जर्मनी के बीच रैपेलो-संधि (Treaty of Rapallo) का निष्पादन जिसने अन्य हिस्सा लेने वाली शक्तियों का संशय और अविश्वास बढ़ा दिया। इसके अलावा, क्रांतिकारी सरकार द्वारा राष्ट्रीयकृत

की गई निजी संपत्ति के प्रतिकर (compensation) के प्रश्न पर वार्त्ता भंग हो गई—इस प्रश्न पर बेल्जियम और फ्रांस सब प्रकार के समझौते के सुझावों के विरोधी थे और पूर्ण संपूर्ति (restitution) पर बल दे रहे थे। जर्मनों के साथ समझौता हो जाने के बाद रूसियों का रुख भी समझौते का नहीं था; सम्मेलन में पीछे के दिनों में वे युद्ध-ऋण सर्वथा छोड़ दिये जाने के पक्ष मे हो गये और उन्होंने यह प्रस्ताव रक्खा कि हमारी सरकार को सीधे ही बहुत सारा उधार दिया जाए। उन्होंने "श्वेत" प्रति-क्रांतिकारियों को मित्रराष्ट्रीय समर्थन मिलने से हुए दुष्परिणामों के लिए संपूर्ति की माँग भी की।

एक और कठिनाई, जो संतोषजनक व्यवस्थाएँ होने में बाधक बनी रही, यह थी कि रूसी लोग निरंतर कम्युनिस्ट प्रचार में लगे हुए थे जिसके द्वारा वे संसार के सब भागों में क्रांतिकारी आन्दोलन खड़े करना चाहते थे। वस्तुतः, सोवियत नीति के पहले नेता अपने आपको विश्व-व्यापी आर्थिक और सामाजिक क्रांति के मिशनरी या प्रचारक समझते थे और उनके लिए रूस सिर्फ एक ऐसा उपकरण था जिसके द्वारा उनके अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती थी। राष्ट्रवाद उनके विचारों से असंगत था। इसी कारण वे आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को मानने और रूस की सीमा के अन्दर बहुत से स्वायत्त समुदाय (autonomous communities) दिखाने के लिए रखने को तैयार थे। सीमान्तों के निकट ऐसी संतुष्ट जातियों के समुदायों का अस्तित्व जिन्होंने कम्युनिस्ट मत अपना लिया था, राजनैतिक दृष्टि से प्रति-क्रांतिकारी चढ़ाई के विरुद्ध पहरेदार का और बोल्शेविक प्रवाह के विस्तार के लिए अड्डे का काम करता था। इस दृष्टि से देखने पर, फिनिश सीमा पर विद्यमान करेलिया गणराज्य, रूमानिया की सीमा के अन्दर विद्यमान अपनी ही जाति के असन्तुष्ट सदस्यों के सम्मुख स्थित मोलडेविया गणराज्य और पोलिश सीमान्त पर यूक्रेनियन तथा ह्वाइट रशियन गणराज्यों को साधारण ढंग के किसी भी राष्ट्रीय राजनयज्ञ ने पसन्द कर लिया होता। बोल्शेविज़्म का तरीका बिना लड़े जीतने का था; इसी कारण सोवियत सरकार १९२० की गर्मियों में उनसे बहुत अच्छी शर्तें पोलैण्ड को देने के लिए तैयार हो गई थी जो उस समय मित्रराष्ट्र उसे देना चाह रहे थे। इस प्रकार राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को पुष्ट करके वे यह आशा करते थे कि पोलैण्ड के मजदूर हमारे पक्ष में खड़े हो जायेंगे और इस प्रकार एक दूसरा देश हमारे राजनैतिक चक्र में आ जायेगा और बहुत सम्भव था कि यदि पोलिश सेना को अप्रत्याशित सफलता न हुई होती तो उनका उद्देश्य सिद्ध हो गया होता। इसलिए रूसी सीमान्तों के निकट भूतपूर्व साम्राज्य के और विश्व आन्दोलन के रूप में कम्युनिज़्म के हितों के बीच कोई असंगति नहीं थी। सोवियत नेताओं ने बलगेरिया में १९२३ में श्री स्टैंबुलिस की सरकार के पतन के बाद जिन क्रांतिकारी आन्दोलनों को और १९२४ में एस्टोनिया और लैटविया में बढ़ावा दिया वे किसी भी तरह रूस को हानि पहुँचाने वाले नहीं थे। यदि वे सफल हो जाते, जैसे कि ट्रांसकाकेशिया में सफल हुए, तो उनके परिणामस्वरूप रूसी नियंत्रण के क्षेत्र में मूल्यवान् विस्तार हो गया होता।

कम्युनिस्ट हलकों में, अधिक बड़ी सीमा में किये जा रहे प्रचार और षड्यन्त्र की स्थिति दूसरी थी। सोवियत सरकार को परिस्थितियों से बाधित होकर पूँजीवादी

सरकार की वित्तीय और वाणिज्यिक सहायता मांगनी पड़ी और इस दिशा में उनके प्रयत्नों में तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Third International) के प्रचार कार्यों से बाधा अवश्य पड़ती थी। लेनिन के जीवन-काल में इन्टरनेशनल के और रूसी सरकार के संगठन में प्राय: कोई भेद नहीं था। वही थोड़े से लोग दोनों का संचालन करते थे और इसलिए उनकी नीतियों में कोई अन्तर होने की सम्भावना नहीं थी। वे एक ही यंत्र के दो भाग थे और दोनों को उन थोड़े से कुशल लोगों की प्रेरक शक्ति परिचालित करती थी, जो मिलकर कम्युनिस्ट पार्टी कहलाते थे। परन्तु क्योंकि रूस इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का एक परमावश्यक उपकरण था, अत: इसकी दक्षता बनाये रखना आवश्यक था, और शीघ्र ही उन लोगों में जिनका काम उपकरण की देखभाल करना था और उनमें जिनका काम इसे एक विस्तृत कार्य के हिस्से के रूप में इस्तेमाल करना था, चाहे इसमें इसे हानि भी हो जाये, स्वाभाविक मतभेद पैदा हो गया ; इस प्रकार एक ऐसी स्थिति हो गई जो विदेशी अध्ययनकर्ताओं को बहुत विभ्रम में डालने वाली थी और जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण पदों पर आरूढ़ कम्युनिस्ट दृढ़तापूर्वक यह कहते थे कि थर्ड इन्टरनेशनल और सोवियत सरकार सर्वथा भिन्न हैं, तथा दूसरे लोग जो स्वयं इतने ही प्रामाणिक थे, इस बात का बलपूर्वक विरोध करते थे।

जनवरी १९२४ में लेनिन की मृत्यु के साथ दृष्टिकोण में यह भिन्नता साफ दिखाई देने लगी। रूस के आन्तरिक तथा बाहरी मामलों के मन्त्री कोमीसार्स (Kommissars), क्रैसेन (Krassin) और चिकेरिन (Chicherin) अपने कामों में उत्तरोत्तर विशेष दिलचस्पी लेने लगे। चिकेरिन विदेश मन्त्री के रूप में, वचन और कार्य की दृष्टि से पुराने ढंग का परम्परागत राजनयज्ञ ही दिखाई देता था। दूसरी ओर जिनोविब, जो थर्ड इण्टरनेशनल का अध्यक्ष था, बिना यह सोचे संसार को कम्युनिस्ट सिद्धान्तों और प्रचार से पूरित करने के अपने काम में लगा रहा कि रूस की समृद्धि पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। उसकी विधियां सार्वजनिक भाषणों में आकर्षक खरेपन के साथ स्पष्ट की जाती थीं। वह उस तरह के वैधानिक समाजवाद की खुले-आम आलोचना और निंदा करता रहा जिसका उदाहरण १९२४ में ब्रिटिश मजदूर सरकार का संगठन था, और जिसे श्री मैकडोनल्ड ने 'मेरे और सरकार के लिए बहुत सहायक' बताया था। पर तो भी वह इसे एक ऐसा जीव-पिंड समझता था जिसकी देह में कम्युनिज्म के लाल कीटाणु प्रविष्ट करने की आशा रखी जा सकती थी।

(उसने कहा था) एक मजदूर सरकार सर्वहारा के अधिनायकवाद के पक्ष में जनता को इकट्ठा करने के लिए सबसे अधिक आकर्षक और लोकप्रिय साधन है। हमें ऐसी 'मजदूर' सरकारों—जैसे उदाहरण के लिए मैकडोनल्ड की सरकार—से मिलने वाले अवसरों का अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिये। मजदूर, किसान और रेलवे कर्मचारी पहले थोड़ा-थोड़ा ही क्रान्तिकार्य करेंगे और बाद में ही वे यह अनुभव करेंगे कि यह वास्तव में 'सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता' है।[1]

उसके इस विचार को उस शीघ्रता से नि:सन्देह प्रोत्साहन मिला था जिससे

१. थर्ड इण्टरनेशनल की काँग्रेस में भाषण, जौलाई १९२४।

मार्च १९१७ की बुर्जुआ-लोकतन्त्रीय क्रान्ति (bourgeois-democratic revolution) नवम्बर की सर्वहारा-बोलशेविक क्रान्ति (proletarian-Bolshevik revolution) के रूप में परिवर्धित हो गई थी। असल में, क्योंकि कम्युनिज्म बहुमत के समर्थन पर भरोसा नहीं करता, इसलिए जनता को एक ऐसी नीति का बोधहीन उपकरण बनाने की यह रीति—जिसके परिणामस्वरूप उसे गुलाम बनाना होगा—सीधे सामने के आक्रमण की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक लाभदायक थी। जर्मनी, हंगरी और अन्य स्थानों में लोक-क्रान्ति विफल हो जाने से बोलशेविक सिद्धान्तों और प्रचार के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई और थर्ड इंटरनेशनल को इस कारण राजनैतिक जीव-पिंड में कम्युनिस्ट "कोशिकाओं" या "सैलों" के प्रवेश पर ही अधिकाधिक भरोसा करना आवश्यक हो गया था। परन्तु रूसी क्रान्तिकारियों को अपनी विधियों का इतना अधिक अभिमान था कि वे उन पर आदतन अत्यधिक खुलकर बातचीत करने के द्वारा उनके प्रभावों को बहुत अंश तक समाप्त कर देते थे। सच तो यह है कि 'सैल" (cell) विधि को सारतः गुप्त न माना जाता था।[1] रूस में जो थोड़े से लोग कम्युनिस्ट पार्टी में भरती किए जाते थे, वे भी उसी प्रकार के नाभिक (nucleus) समझे जाते थे। इसलिए जिनोविव और उसके साथी न केवल सार्वजनिक भाषणों में अपनी कार्य-विधि आदतन पेश किया करते थे; अन्य देशों के कम्युनिस्ट संगठनों के साथ उनका पत्र-व्यवहार भी, जिसे छिपाने का वे कोई यत्न नहीं करते थे, ऐसी भाषा में होता था कि कोई भी वैधानिक सरकार उसका जरूर प्रबल विरोध करती।

इस प्रकार के प्रामाणिक पत्र, जो नौर्वेजियन, जर्मन तथा अमरीकन शिष्यों को लिखे गए थे, १९२३ और १९२४ में प्रकाश में आये। परन्तु इस तरह के रहस्योद्घाटनों ने स्वभावतः अभिज्ञान और वाणिज्यिक मेल-मिलाप की दिशा में किये जा रहे प्रयत्नों पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव डाला।

विशेष रूप से, ब्रिटेन में इन कार्यवाहियों से यह प्रकट हुआ कि राजनैतिक अयोग्यता कितनी अधिक और आश्चर्यकारक थी। बहुत दिन पहले प्रबल अनुदारवादी तत्त्व वाली मिली-जुली सरकार[2] के कार्यकाल में जो व्यापार समझौता हुआ था, उससे भविष्य में पूर्ण अभिज्ञान (recognition) और अधिक घनिष्ठ तथा अधिक लाभदायक सम्बन्ध होने की शुभ सूचना मिलती थी पर जिस वचन पर यह समझौता आधारित था, उसका एक आवश्यक भाग यह था कि कम्युनिस्ट प्रचार न किया जाय, और थर्ड इण्टरनेशनल की गतिविधियां इस वचन से सर्वथा असंगत थीं। ब्रिटिश सरकार ने बहुत धैर्य और सहिष्णुता प्रदर्शित की: वचन-पत्रों की शर्तों के बार-बार अतिक्रमण पर विरोध प्रदर्शन से अधिक कुछ नहीं किया गया। जब फरवरी १९२४ में मजदूर सरकार पदारूढ़ हुई, तब इसने सबसे पहले सोवियत यूनियन के विधितः अभिज्ञान का ऐलान कर दिया और अप्रैल में लन्दन में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसका उद्देश्य यह था कि पुराने अवशिष्ट मतभेदों को निपटाने

१. मार्क्स सब तरह के गुप्त कार्य का विशिष्ट रूप से विरोधी था।

२. समझौते पर हस्ताक्षर वास्तव में एक अनुदार दलीय वित्त-मन्त्री सर राबर्ट हौर्न ने किये थे (१६ मार्च १९२१)।

के लिए सन्धि कर ली जाए और ब्रिटिश सरकार द्वारा गारण्टी किये हुए एक ऋण के जरिये रूस की साख या प्रत्यय (credit) को फिर कायम किया जाय। पहले बातचीत टूट गई प्रतीत होती थी, पर अन्त में अन्तिम समय में समझौता हो गया। लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश संसद् (Parliament) इन सन्धियों को स्वीकार नहीं करेगी, क्योंकि न केवल अनुदार बल्कि उदार-दलीय हलकों में भी इसका बड़ा विरोध पैदा हो गया था।

इसलिए इस अवस्था में श्री मैकडोनल्ड ने देश से अपील करने का निश्चय किया, यद्यपि संसद् जिस प्रश्न पर वास्तव में विघटित हुई वह स्वयं सन्धियों का प्रश्न नहीं था, बल्कि कैम्पबैल काण्ड (The Campbell Case) वाला एक ऐसा ही मामला था, जिसमें सोवियत प्रचार के आरोपों का प्रश्न बीच में आता था। इसलिए रूसी राजनय की दृष्टि से यह सबसे अधिक आवश्यक था कि ब्रिटेन के लोकमत को दुश्मन बनाने या भयभीत करने वाला कोई काम न किया जाये।

निर्वाचन के लिए निश्चित तिथि से पाँच दिन पहले कुख्यात 'जिनोविव पत्र' (Zinoviev Letter) के रहस्योद्घाटन ने इंगलैंड में तहलका मचा दिया। इसकी प्रामाणिकता अब भी संदिग्ध है, पर यह निर्विवाद है कि पत्र हर तरह से बहुत उचित ढंग से तैयार किया गया था। तथ्य यह है, जैसा कि हम देख चुके हैं, कि ऐसे पत्र जिनोविव ने अनेक अवसरों पर लिखे थे और विशेष रूप से इस समय पत्र लिखने में जो मूढ़ता थी उससे इसकी ही आशा की जाती थी। जिस समय यह रहस्योद्घाटन हुआ, उस समय के कारण इसका अनिवार्य परिणाम यह होना था कि चुनाव में अनुदारवादी दल जीत गया और संधियाँ फौरन रद्द कर दी गईं।

परन्तु विधितः अभिज्ञान बना रहा और १९२४ के वर्ष में सोवियत सरकार ने इस दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रगति की। अपनी अभिज्ञान की अभिलाषा के कारण अभिज्ञात करने वाली पहली शक्ति को वह विशेष रूप से अनुकूल शर्तें देने को तैयार थी। तदनुसार इटली ने, जिसका रूस पर कोई खास या गम्भीर अवशिष्ट दावा नहीं था, सबसे पहले बातचीत शुरू की और यद्यपि ब्रिटेन ने रूस को वस्तुतः इटली से पहले अभिज्ञात कर लिया पर इटली ने मार्च १९२४ में रूस के साथ एक वाणिज्यिक सन्धि की, जिसमें यह भी समाविष्ट था। अक्तूबर में फ्रांस में श्री हेरियो (M. Herriot) की सरकार ने रूस को अभिज्ञात कर लिया, और उस साल के अन्त तक सोवियत संघ को विधितः अभिज्ञात करने वाले योरोपीय राज्यों की संख्या ६ से १५ हो गई थी, पर यूनाइटेड स्टेट्स ने अब भी उसे अभिज्ञात नहीं किया।

इधर रूसी कम्युनिज्म के अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष के प्रतिपादक जर्मनी की जनता को अपने पक्ष में करने की बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाये हुए थे। यह सफलता योरोप के देशों में जर्मनी की केन्द्रीय स्थिति के कारण अत्यधिक महत्त्व की होती; और जनवरी १९२३ में रूहर पर आधिपत्य कर के फ्राँस ने जो उत्तेजक कार्य किया था, उससे एक ऐसा अवसर मिल रहा था जिसकी उपेक्षा नहीं की जो सकती थी। परिणामतः थर्ड इन्टरनेशनल ने श्री कार्ल राडेक (M. Karl Radek) को जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी

से संपर्क कायम करने के लिए शीघ्र जर्मनी भेजा और ऐसी प्रबल सम्भावना थी कि यदि रूसी दूत क्रांति को समय से पूर्व मानने के कारण उसे रोकने के लिए अपना प्रभाव काम में न लाता तो १६२३ में गम्भीर क्रांति हो गई होती। इस कार्य के लिए रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने श्री राडेक की कठोर निन्दा की थी, परन्तु रूहर पर आधिपत्य के कारण उत्पन्न जोश की वजह से अक्तूबर १६२३ तक भी अवस्था संकटपूर्ण रही और विनाश होने से बाल-बाल बच गया।

पूर्वी देशों में रूसी प्रचार कुछ भिन्न ढंग का था। संसार के इन भागों में सोवियत सरकार का राजनैतिक नीति और थर्ड इन्टरनेशनल के प्रचार सम्बन्धी उत्साह में घनिष्ठ सहयोग दिखाई देता था। कम्युनिस्ट दृष्टिकोण से यह सर्वथा अवैज्ञानिक था कि अविकसित पूर्वी देशों में प्रचार की वही विधियाँ अपनाई जायें जो पश्चिमी योरोप के देशों में अपनायी जातीं थीं। पूर्वी देशों में अभी तक बुर्जुवा या मध्यवर्गीय क्रांति नहीं हुई थी और इसलिए वे किसी भी अर्थ में सर्वहारा क्रांति और पूँजीवाद के विनाश के लिए परिपक्व नहीं थे। इन परिस्थितियों में कम्युनिस्ट उन देशों में पूँजीवाद विरोधी प्रचार के बजाय राष्ट्रवादी प्रचार करने को किसी भी तरह असंगत नहीं समझते थे। भारत और पूर्वी एशिया में जनता में पश्चिमी देशों के पूँजीवाद के बजाए उनके कथित साम्राज्यवाद के विरुद्ध शत्रुता उभारी जाती थी। योरोपियन विरोधी आन्दोलनों के नेता कम्युनिस्ट होने के बजाय राष्ट्रवादी थे और तथ्य तो यह है कि उनमें से अधिकतर लोग पूँजीपति वर्गों के थे। इस कारण इन प्रदेशों में सोवियत प्रचार द्वारा स्थापित सम्पर्कों से परंपरागत रूसी राजनय के हितों की पूर्ति होती थी, कम्युनिज्म के सिद्धान्त को मानने वाले नये व्यक्तियों कीं भर्ती नहीं।

१६२४ के अन्त में रूसियों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियाँ कई विफलताओं के कारण निन्दा की पात्र बन गईं, जबकि सोवियत सरकार को बहुत सी राजनयिक सफलताएँ प्राप्त हुईं, और यदि थर्ड इन्टरनेशनल द्वारा इसके मार्ग में प्रस्तुत बाधाएँ न होतीं तो और भी सफलताएँ होतीं। असामान्य रूप से अनुकूल परिस्थितियों के बावजूद योरोप के विभिन्न भागों में क्रांतिकारी आन्दोलन अवरुद्ध या विफल कर दिये गये थे, जबकि ब्रिटेन में बोलशेविक प्रचार की स्थायिता बेकार और व्यर्थ सिद्ध हुई थी। १६२६ में खनिकों की हड़ताल और मई की आम हडताल से क्रांतिकारी कम्युनिज्म के प्रोत्साहन के लिए एक नया अवसर पैदा होता दिखाई देता था, रूसी ट्रेड यूनियनों द्वारा हड़तालियों की सहायता के लिए दी गई बड़ी-बड़ी दान-राशियाँ इसीलिए सोवियत सरकार ने ब्रिटेन भेजने की इजाजत देदी, हालांकि इसका चलार्थ (ourren-cy) के निर्यात पर नियंत्रण था। पर ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अपयश के भय से आम हड़ताल की सहायता के लिए भेजा गया धन अस्वीकार कर दिया और खनिकों को भेजे गये धन पर ब्रिटिश सरकार ने जोरदार विरोध प्रदर्शन किया और तनाव बढ़ गया। संसद् (Parliament) के भीतर और बाहर लोकमत व्यापार-सम्बन्ध जारी रखने से होने वाले कल्पित लाभों की अधिकाधिक आलोचना करने लगा और यह बताया गया कि व्यापार सन्तुलन अधिकाधिक रूस के पक्ष में हो रहा है। जबकि उस देश को किये जाने वाले ब्रिटिश निर्यात का मूल्य कुल राष्ट्रीय व्यापार

का नगण्य अंश था। ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर सोवियत प्रचार की शिकायतें चलती रहीं और फरवरी १९२७ में एक गम्भीर और अन्तिम चेतावनी के ढंग का नयपत्र (note) ब्रिटिश सरकार ने मास्को भेजा जिसमें विध्वंसक कार्यों के आरोप लगाये गये और प्रमाणित किये गये थे। रूस में इस अन्तिम चेतावनी का स्वागत शांति-दायक नहीं था, और मई में सोवियत व्यापार मण्डल और रूसी वाणिज्यिक संगठन जो अर्कौस लिमीटेड (Arcos Ltd.) कहलाता था, द्वारा संयुक्त रूप से लिये हुए भवन पर पुलिस के छापे के परिणामस्वरूप मामला संकट-बिन्दु पर पहुँच गया। पुलिस की ओर से इस कार्यवाही का औपचारिक आधार यह सूचना थी कि एक गोपनीय चुराया हुआ लेख्य उस स्थान पर पहुँचाया गया है। इस सूचना को प्रमाणित करने वाला कोई साक्ष्य नहीं मिला पर कुछ ऐसा सन्देह-योग्य सामान मिला, जो रूस की ब्रिटिश विरोधी कार्यवाहियों से सम्बन्ध रखता था। इसके परिणामस्वरूप १९२१ का व्यापार समझौता रद्द कर दिया गया और सोवियत राजनयिक कर्मचारियों तथा व्यापार मण्डल से देश छोड़ कर चले जाने की प्रार्थना की गई। जून में जिनोवीव और ट्राट्स्की को रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति से निकाल दिया गया—अक्तूबर में इस निश्चय को अन्तिम रूप से पुष्ट कर दिया गया—और नवम्बर में उन्हें पार्टी से ही निकाल दिया गया; इन घटनाओं से यह सूचित होता था कि विश्व-क्रान्ति के प्रयत्नों को अब रूसी अधिकारी अपना तात्कालिक लक्ष्य नहीं समझते थे।

इस्लामी जगत्

(The Islamic World)

इस अध्याय के शीर्षक से जो वर्गीकरण सूचित होता है—यह *सर्वे ऑफ इन्टरनेशनल अफेयर्स* (*Survey of International Affairs*) से लिया गया है—यह सिर्फ सुविधा की दृष्टि से अपनाया गया है। जिस मुख्य विषय का इसमें वर्णन है, अर्थात् युद्ध में तुर्कों की पराजय और बाद में उनके पुनः शक्तिलाभ के बाद वाली स्थिति, उससे बाहर अन्य देशों की ऐसी कुछ घटनाएँ हैं, जिनका किसी और प्रसंग में आसानी से वर्णन नहीं किया जा सकता और जो अपने आपमें इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि उन पर इस तरह की पुस्तक में एक अलग अध्याय लिखा जाये। ईरान, अफगानिस्तान, मोरक्को और लीबिया की घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। इनका मुख्य विषय से यही सम्बन्ध है कि ये सब घटनाएँ मुस्लिम देशों में हुईं। मिश्र जिसका ऑटोमन साम्राज्य से प्राविधिक परन्तु महत्त्वहीन सम्बन्ध था, मध्यवर्ती स्थिति में है। पर जिन घटनाओं का अभिलेखन किया गया है उनकी दृष्टि से यह पूछा जा सकता है कि एक इस्लामी जगत् की अवधारणा (concept) में कितनी वास्तविकता है। यदि इन देशों में धार्मिक विश्वास भिन्न-भिन्न होते, या इनमें से कोई भी जाति इस्लाम की अनुयायी न होती तो क्या इतिहास का क्रम यही न हुआ होता ? सिद्धान्ततः इस्लाम अपने राजनैतिक और धार्मिक पहलुओं से एक सार्वभौम, सम्भाव्यतः विश्वव्यापी समुदाय है, और इसका प्रधान एक खलीफा था। इन दोनों क्षेत्रों में उसके कार्य अभिन्न और अविभाज्य थे। यह सच है कि एकात्मक राज्य के, इस राजनैतिक सिद्धान्त को इस्लामी विचारकों ने व्यवहार में बहुत समय पूर्व त्याग दिया था; पर किसी भी इस्लामी अवधारणा (Islamic conception) में राष्ट्रीय राज्यों के आधुनिक योरोपीय आदर्श के लिए कोई स्थान नहीं। राजनैतिक बुद्धि वाले मुसलमानों के उत्तरोत्तर 'पश्चिमीकरण' के साथ—यह परिवर्तन सिर्फ मुसलमानों तक ही सीमित नहीं था—इस्लाम की एकता विसंगत आदर्शों के संघर्ष में नष्ट हो गई। यहाँ अभिलिखित इतिहास सारतः राष्ट्रवादी आकांक्षाओं की विजय का इतिहास है। सर्व-इस्लामवाद (सब मुसलमान एक हैं) की अपील की प्रभावहीनता नवम्बर १९१४ में प्रकट हो गई थी, जब कि खलीफा के नाम से की गई जिहाद की उद्‌घोषणा को आम तौर से किसी ने भी नहीं माना था। ब्रिटिश और रूसी सेनाओं के मुस्लिम सैनिक ऑटोमन सेनाओं के विरुद्ध निष्ठापूर्वक लड़े थे, जब कि अरब में मक्का के शेरिफ, नज्द के अमीर और अन्य स्थानीय शासकों ने तुर्की के प्रति अपनी निष्ठा त्याग दी थी और उस युद्ध में भाग लिया था

जो उनके लिए अपने सहधर्मियों के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति का युद्ध था।[1]

खिलाफत की समाप्ति
(Abolition of the Caliphate)

पर इस्लाम के लौकिक पक्ष का राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के विदेशी राजनैतिक सिद्धान्त के साथ समन्वय करने की अशक्यता उन घटनाओं में बड़े स्पष्ट रूप से सामने आई जिनके परिणामस्वरूप ३ मार्च १९२४ को औटोमन खिलाफत की प्रायः समाप्ति हो गई। इनका हम आगे विस्तार से वर्णन करेंगे। इन्होंने नये तुर्की की राजनैतिक सर्वोच्चता राष्ट्रवादी दल (Nationalist Party) को सौंप दी जिसने २८ जनवरी १९२८ को राष्ट्रीय करार (national pact) अंगीकार कर लिया, जिसके आधार पर मुस्तफा कमाल और उसके अनुयायी तुर्की का पुनरुद्धार करने वाले थे। यह प्रसंविदा शुद्ध राष्ट्रवादी अवधारणों के अनुसार की गई थी और इसने कुस्तुंतुनिया के महत्त्व का प्रासंगिक उल्लेख करते हुए खिलाफत के अस्तित्व को तो अभिज्ञात किया था, पर इसने 'औटोमन साम्राज्य के उन भागों पर, जिनमें अरबों का बहुमत था' तुर्की के दावों के त्याग की घोषणा करदी। सुलतान खलीफा मुहम्मद छठे का इन दिनों राष्ट्रवादियों के साथ सक्रिय विरोध हुआ—उसे भय था कि नियंत्रण उनके हाथों में चला जाएगा—और उसने न केवल उनके साथ संघर्ष किया बल्कि अप्रैल १९२० में यह फतवा भी निकाला कि उनका आचरण धर्म के प्रतिकूल है। भारत के मुसलमानों ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया। उस देश में जिसमें वे अल्पसंख्या में थे, उन्हें राष्ट्रवाद से कोई सहानुभूति नहीं हो सकती थी, यद्यपि उनका एक भाग ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध आन्दोलनों में सहयोग देने को तैयार था। वे इस्लामी खिलाफत के व्यापक रूप से कुछ शांति पाते थे, क्योंकि वे इस भावना से पीड़ित थे कि हिन्दुओं के मुकाबले में हम अल्पसंख्या में हैं, और यथासम्भव उसके गौरव को कायम रखना या पुनरुज्जीवित करना चाहते थे। १९२० में भारतीय मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमण्डल प्रमुख मित्रराष्ट्रों के सामने अपने विचार रखने के लिए योरोप आया और उसने यह माँग की कि मक्का, मदीना और जेरुसलम के धार्मिक नगरों पर खलीफा का अधिकार रहने दिया जाये और उन सब प्रदेशों पर उसकी सर्वोच्चता कायम रहे, जो १९१४ में औटोमन साम्राज्य के अधीन थे। वे अपने पक्ष को उचित सिद्ध करने के लिए यह

देते थे—जो प्राविधिक तथा मान्य थी—कि इस्लाम में धार्मिक और लौकिक शक्ति में कोई विभेद नहीं है और इसलिए खिलाफत की लौकिक शक्ति उस पद का सारतत्त्व है। इसलिए खिलाफत के दावे की कमालवादियों के लक्ष्य के साथ दो भिन्न क्षेत्रों से टक्कर हुई।

एक नवम्बर १९२२ को नेशनल असेम्बली (तुर्की संसद्) ने एक कानून पास किया जिसमें उसने कुस्तुंतुनिया के प्रति निष्ठा का निश्चित रूप से प्रत्याख्यान किया। सुलतान खलीफा मुहम्मद षष्ठ १७ नवम्बर को अपने देश से भाग गया और अगले दिन

१. निःसन्देह इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुछ पहलुओं में 'इस्लामी जगत्' एक वास्तविकता है; जिस बात पर यहाँ सन्देह किया गया है वह यह है कि क्या यह एकता, यहाँ वर्णित अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाओं में, कोई कार्यकारी घटक थी।

असैम्बली ने एक भूतपूर्व सुल्तान के पुत्र अब्दुल मजीद को उसके स्थान पर खलीफा निर्वाचित किया। यह चुनाव न केवल इस्लामी समाज के कुछ भागों को बहुत अधिक नापसंद था, बल्कि राष्ट्रवादियों में से वे लोग, जो पश्चिमी रंग में रंगे हुए थे, खलीफा के पद के वास्तविक रूप के विषय में योरोप में प्रचलित धारणा को स्पष्ट रूप से मानते थे। वे इसके धार्मिक कार्यों को इसके लौकिक या राजकीय अधिकार से पृथक् कर देना सम्भव समझते थे और उन पर खलीफा को राजनैतिक शक्ति से, जो पुराण-पंथी मुसलमानों की निगाह में कम आवश्यक नहीं थी, वंचित करने के प्रयत्न के कारण काफिर होने का आरोप लगाया गया। अंगोरा असैम्बली सिवाय अपने और किसी प्रभुसत्ता को अभिज्ञात करने का कोई इरादा नहीं रखती थी, और उसने अक्टूबर १६२३ में तुर्की को गणराज्य उद्घोषित करने वाली एक अधिनियमिति द्वारा और मुस्तफा कमाल को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करके अपना रुख स्पष्ट कर दिया। मार्च १६२४ में, जिससे पहले आगा खाँ और श्री अमीरअली के अच्छे इरादे से किये गये हस्तक्षेप के द्वारा असेम्बली को मौजूदा स्थिति की कठिनाइयों का दुःखद परिचय हो चुका था, असेम्बली ने अन्त में धार्मिक पुराण पंथ के मुकाबिले में राष्ट्रीय स्वाधीनता के पक्ष में निश्चय किया। उसने अपने कठपुतली अब्दुल मजीद को निष्कासित करने का आदेश दे दिया और खिलाफत के अधिकारी वंश से अपना अभिज्ञान लौटा लिया। इस कार्यवाही के बाद लौकिकीकरण या धर्म-निरपेक्षता के प्रचार की प्रबल नीति अपनाई गई और इस बात पर और भी बल दिया गया कि नवीन तुर्की के राज्यशासन में इस्लाम का नियन्त्रण नहीं रहेगा। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि शेष मुस्लिम समाज इस बात के लिए आज़ाद था कि वह या तो खिलाफत को स्थगित समझे या उस पद के लिए और कोई उम्मीदवार उपस्थित करे। १६२६ की खिलाफत कांग्रेस ने पहली बात को मानने का व्यवहारतः निश्चय किया।

एशियाई तुर्की में पुनर्गठन की समस्याएँ
(Problems of Reorganization in Asiatic Turkey)

खिलाफत का उन्मूलन और इसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक घटक के रूप में 'इस्लामी जगत्' के अस्तित्व के आरम्भिक प्रश्न पर जो असर पड़ा वह—जिन परिस्थितियों में हुआ, उसका वर्णन करते हुए हम इस अध्याय के मुख्य विषय से कुछ दूर आगये और कुछ सीमा तक हमने बाद की उन बातों का पहले ही वर्णन कर दिया जिन पर अब फिर विचार करना चाहिये। भूतपूर्व औटोमन साम्राज्य से सम्बन्धित समस्याओं का निबटारा कई विभिन्न कारणों से उलझा हुआ था। सबसे ऊपर यह परिस्थिति थी कि मित्र तथा सहचारी शक्तियों ने, कहानी के शब्दों में कहें तो, भालू की खाल का उसी समय बंटवारा कर लिया था जब वह जीवित था। जिस समय यह इतिहास शुरू होता है, उस समय तुर्की के साथ कोई शान्ति संधि नहीं हुई थी; सेवर्स की संधि (Treaty of Sevres) जिसकी शर्तें अप्रैल १६२० में तय हुई थीं, तुर्की राष्ट्र के एक आकस्मिक विद्रोह के कारण समाप्त हो गई थी और अन्तिम समझौता और ३ साल बाद तक विलम्बित होगया, पर इस प्रकार हुई गड़बड़ी के अलावा अन्य

समस्याएँ भी काफी कठिन थीं। इस कठिनाई के एक हिस्से की शुरुआत युद्ध के आरम्भ के दकियानूसी दिनों में हुई थी, जब राष्ट्र अभी दूसरे प्रदेशों को अपने में मिला लेने के रूप में ही सोचते थे और जब प्रायः सब युद्ध में हिस्सा लेने वाले राष्ट्र युद्ध के बाद की लूट में हिस्सा प्राप्त करने की संधियों, वायदों और समझौतों के संकुलन पर आधारित बहुधा असंगत आशाएँ लगाये रहते थे। रूसी क्रान्ति ने इनमें से एक प्रतियोगी को तो हटा दिया था, पर इसने उस आधार को परिवर्तित करके, जिस पर इनमें से कुछ व्यवस्थाएँ खड़ी थीं, अपनी नई जटिलताएँ पैदा कर लीं।

पर यह सब उस अव्यवस्था के मुकाबले में कुछ भी नहीं था जो तब पैदा हुई जब युद्ध के पिछले दिनों में दुनिया ने कम से कम बाहर से ही निबटारे का एक सर्वथा नया सिद्धान्त अपना लिया था। औटोमन नियन्त्रण से मुक्त हुई जातियों ने भी 'उस वरदान-रूप शब्द' आत्मनिर्णय, का नाम ले-लेकर निराश प्रदेश-लिप्सुओं (annextionists) की माँग में अपनी माँग मिला दी और शान्ति सम्मेलन (Peace Conference) अधिदेश (mandates) स्थापना द्वारा जो समझौता कराना चाहता था, वह कम से कम दो मोर्चों पर झगड़े में उलझ गया। प्रश्न यह था कि यदि बृहत्तर अरब में वहाँ की जातियों को स्वाधीन प्रभु-सत्ता दी जा सकती है तो सीरिया, फिलस्तीन या मेसोपोटामिया (ईराक) में क्यों नहीं दी जा सकती ? तथ्य तो यह है कि अधिदिष्ट क्षेत्रों (mandated areas) में समाविष्ट जातियों और धर्मों के विषम स्वरूप में भेद करने के लिए काफी आधार था, हालांकि यह युक्ति यूरोपीय मस्तिष्क को जितनी अधिक अपील करती थी उतनी एशियाई मस्तिष्क को नहीं। यदि इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर दे भी दिया जावे तो भी अधिदेष्टा (mandatory) की नियुक्ति सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council) के मनमाने निश्चय पर निर्भर होने के बजाय—जो इसके द्वारा यथासम्भव अपने पुराने संधि समझौतों को कार्यान्वित करने का यत्न करती थी—वहाँ के निवासियों की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर क्यों न की जावे ? सच तो यह है कि ७ नवम्बर १९१८ की एंग्लो फ्रेंच घोषणा से ऐसा प्रश्न अवश्य पैदा होना था। इस घोषणा में तुर्क नियन्त्रण से मुक्त हुई जातियों के बारे में इन दो देशों की नीति निर्दिष्ट की गई थी और वह यह थी कि ऐसी राष्ट्रीय सरकार और प्रशासन स्थापित किये जावेंगे जो अपना प्राधिकार वहाँ की जनता के स्वयं-कर्त्तृत्व (initiative) और स्वतन्त्र इच्छा से ग्रहण करते होंगे। इस घोषणा में सीरिया और मेसोपोटामिया में स्वदेशी सरकारों और प्रशासनों की स्थापना को बढ़ावा देने और उनकी सहायता करने का इरादा भी प्रकट किया गया था और 'इन प्रदेशों की जनता पर कोई विशेष संस्थाएँ लादने की' इच्छा का प्रतिवाद किया गया था। इसके अलावा वर्साई की संधि (Treaty of Versaielles) के और राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख था कि स्वदेशज समुदायों की इच्छाएँ कसौटी होंगी, कुछ यूरोपीय शक्तियों के संधि-सम्बन्धी दावे नहीं। दूसरी ओर, अब भी ये दावे पेश किये जा रहे थे, बल-पूर्वक सामने लाये जा रहे थे और, कई जगह, जबर्दस्ती लागू भी किये गये ; और कभी-कभी सम्बद्ध राष्ट्र के मन में नई और पुरानी व्यवस्थाओं के अधीन अपने अधिकारों और दायित्वों का अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं था। परन्तु इन कठिनाइयों

के अपनी उग्रतम अवस्था में पहुँचने से पहले यह आवश्यक था कि उस शक्ति के साथ, जिसके प्रदेश के बारे में कोई विवाद है, अन्तिम समझौता कर लिया जावे।

तुर्की के साथ समझौता
(The Settlement with Turkey)

शुरू में यह तथ्य एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है कि प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी की ओर से लड़ने वाले सब राष्ट्रों में से पराजय से सबसे पहले स्वस्थ होने वाला, शान्ति-संधि सबसे पीछे करने वाला और पराजित पक्ष का एक-मात्र ऐसा राष्ट्र जिसके साथ संधि की शर्तें बातचीत द्वारा तय हुई और उस पर लादी नहीं गई, तुर्की ही था। तुर्की अपने सैनिकों की कुशल युद्ध-कला के बावजूद योरोप की दृष्टि से एक पीढ़ी से भी बहुत अधिक काल से 'रोगी पुरुष' (sick man) था जो इसीलिए जीवित बच सका कि योरोप की महाशक्तियों ने यह समझौता कर लिया था कि उसके साथ बहुत कठोर व्यवहार न किया जावे, अथवा यह कहना चाहिए कि वे एक दूसरे से ईर्ष्या कर रही थीं। इसके अलावा, तुर्की का पतन उसी पक्ष के शायद बलगेरिया को छोड़ कर, और सब राष्ट्रों से पहले हो गया मालूम होता था; जिसने उस समय सैनिक सुलह पर हस्ताक्षर कर दिये थे जब फिलस्तीन में ऐलनबाई (Allenby) को निर्णायक विजय हासिल हुई थी। तुर्की के साथ सैनिक सुलह पर हस्ताक्षर मुडरोस में ३० अक्तूबर को हुए थे और इस प्रकार जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी के साथ युद्ध बन्द होने से कुछ दिन पहले ये हो गये थे। अगर नवम्बर १९१८ में कोई यह भविष्य-वाणी करता कि इस मृतकप्राय दीखने वाली शक्ति के साथ शाँति-संधि अन्तिम रूप से लगभग पांच वर्ष से पहले न होगी तो यह तसल्ली से कहा जा सकता है कि इस भविष्य-वाणी पर कोई विश्वास न करता।

तो भी हुआ ऐसा ही। यह कैसे हुआ, इसके अनेक कारण थे और सम्भाव्यतः इनमें से कोई भी कारण अकेला ऐसा आश्चर्यकारक परिणाम न पैदा कर पाता। इस सारे प्रश्न को एक बन्दर के काटने जैसी आकस्मिक दुर्घटना पर लटका देना, जिसमें अक्तूबर १९२० में ग्रीस का राजा अलेक्जेन्डर मारा गया था, ऐतिहासिक दृष्टि से तथा नाटकीय दृष्टि से उचित है।[1] यह अपरिहार्य कारण रहा होगा लेकिन इसे एकमात्र या मूल कारण नहीं कहा जा सकता। इस सुझाव में भी कुछ सचाई है कि राष्ट्रपति विल्सन ने उसी जगह एक आयोग द्वारा वहाँ के निवासियों की इच्छाएँ जानने का जो निश्चय किया उसके कारण हुए विलम्ब में उपद्रवी बलों को शक्तिशाली होने का घातक अवसर मिल गया। प्रोफ़ेसर टोयनबी ने लेखक को एक पत्र लिख कर इस घटना का एक कारण इस तथ्य को भी बताया है कि 'आदिरूपीय (primitive) जीव-पिंड आघात से उतने क्षतिग्रस्त नहीं होते जितने संकुल जीव-पिंड..... यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी कि सब पराजित शक्तियों में से तुर्की और रूस ही, जो युद्ध के समय बड़ी अप्रतिष्ठा के साथ धराशायी हुए थे, प्रायः तुरन्त

---

१. देखिए डब्लू. एस चर्चिल, दी वर्ल्ड क्राइसिस, पाँच जिल्दें, लन्दन, बटरवर्थ, १९१५-२९, जिल्द पाँच, पृष्ठ ३८६ 'यह कहना शायद अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इस बन्दर के काटने से लगभग ढाई लाख आदमी मर गये।'

बाद युद्ध के बाद का युद्ध लड़ सके। निम्न जीव पिंड अक्षम होता है, पर आप इसे उतनी आसानी से कुचल या मार नहीं सकते जितनी आसानी से उच्चतर जीव पिंड को।' ऐसे अधिकारी विद्वान के प्रति उचित आदर रखते हुए भी मुझे इस बात में संदेह है कि यह युक्ति तुर्क जीव-पिंड पर ठीक-ठीक लागू हो सकती है। पर आधारभूत कारण यह था कि अंशत: सैन्य-विघटन और युद्ध-भ्रांति की वजह से और अंशत: मित्रराष्ट्रों में परस्पर उत्पन्न ईर्ष्या और मतभेद की वजह से मित्रराष्ट्रीय माँगों के पीछे विद्यमान शक्तियाँ उत्तरोत्तर दुर्बल होती जा रही थीं। इस प्रकार के मतभेद का मुख्य आधार तुर्क प्रदेश के बंटवारे के बारे में किये गये उन अनेक और परस्पर असंगत वचनों में निहित था जो मित्र राष्ट्र को और अधिक सहायकों का समर्थन प्राप्त करने के लिए अनिवार्यत: देने पड़े थे।

समय की दृष्टि से, इनमें से सबसे पहली वह रिश्वत थी जो अप्रैल १९१५ को लन्दन की गुप्त संधि द्वारा इटालियन सहयोग के लिए पेश की गई थी। इसके द्वारा आस्ट्रिया-हंगरी से लेकर की जाने वाली क्षतिपूर्त्ति के अलावा जिसने सेन्ट जर्मेन की संधि पर शुद्ध विल्सनीय सिद्धांत लागू करने में कठिनाई पैदा कर दी, इटली से यह वायदा किया गया कि इसे 'एडोलिया प्राँत के निकटवर्ती भूमध्यसागरीय प्रदेश का उचित हिस्सा' दिया जावे। इसकी भाषा खेदजनक रूप से अस्पष्ट थी। योरोप में उसने अपने जो दावे पहले से सोच रखे थे, उनकी पूर्ति में हुई निराशा से यह सम्भावना नहीं थी कि इस लचीली पदावली का अर्थ इटली थोड़ा-सा ही लगायेगा, बल्कि इससे भी पहले से ब्रिटेन मक्का के शेरिफ अमीर हुसेन के सामने स्वतन्त्र अरब साम्राज्य का प्रलोभन रखता रहा था और यद्यपि इस शासक की आकांक्षा के अनुरूप व्यापक दावों को महत्त्वपूर्ण निर्बन्धों के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता था, पर यह आवश्यक था कि इन निर्बन्धों पर इतना बल न दिया जावे या उन्हें इतना स्पष्ट न किया जाये कि प्रतिज्ञात वस्तु का आकर्षण ही समाप्त हो जाय या उसकी प्रभाविता ही खतरे में पड़ जाय। इसलिए यहाँ भी कुछ अस्पष्टता थी।[1]

इन परिस्थितियों में अरबों को दिये गये प्रलोभनों से अपने को सम्बन्धित करने को उचित समझते हुए भी फ्रान्स ने यह आवश्यकता अनुभव की कि भविष्य की लूट के माल में अपने हिस्से की अधिक स्पष्ट रूप-रेखा निश्चित कर दी जाय—इस हिस्से का दावा १८ मार्च १९१५ को ही ब्रिटेन, फ्राँस और रूस के बीच हुए कुस्तुंतुनियाँ समझौते में साधारणत: सुरक्षित रखा गया था। उसकी इच्छा की पूर्त्ति साइक्स-पिकोट समझौते (Sykes-Picot Agreement) से हो गई जो फ्राँस, रूस और ब्रिटेन में मई १९१६ में, इटली की और मक्का की पीठ के पीछे हुआ था। यह समझौता महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बहुत मामूली हेर-फेर के साथ, यह निष्फल सेवर्स की संधि (Treaty of Severs) द्वारा प्रस्थापित निबटारे का आधार बना।

एशिया माइनर में इटली का हिस्सा निर्दिष्ट करने का एक और यत्न १९१७ में सेन्ट जीन द मोरियन (St. Jean de Maurienne) में किया गया, पर सम्भा-

१. स्वर्गीय डाक्टर होगार्थ ने हिस्ट्री आफ दी पीस कान्फ्रेन्स; जिल्द ६, पृष्ठ १२१ पर लिखा है; '(हमारे वचन का) शब्द-विन्यास ऐसा था कि हुसेन का वैसा अर्थ लगाना उचित था।'

व्यत: रूसी आपत्तियों के कारण इस व्यवस्था को पूर्णतया अभिज्ञात मान्यता कभी प्राप्त नहीं हो सकी।

शाँति सम्मेलन में श्री वेनीजिलोस (Venizelos) के रूप में एशिया माइनर में प्रदेश प्राप्ति का एक नया दावेदार सामने आया, जिनकी प्रेरणा से ग्रीस ने तटस्थता को छोड़ दिया था, और युद्ध के अन्तिम दिनों में मित्रराष्ट्रों की उल्लेखनीय सेवाएँ की थीं। ग्रीस के बजाय "श्री वेनीज़िलोस" कहना अधिक ठीक होगा क्योंकि ग्रीस आबादी के सिर्फ उस हिस्से ने जो इस क्रीटन नेता का समर्थक था एंटेन्ट या लघु संधि (Entente) वाले राष्ट्रों का उपकार किया था। भूतपूर्व राजा कोंस्टैन्टाइन और उसके पक्षपाती निश्चित रूप से मध्य-यूरोपीय शक्तियों के पक्ष में थे। वेनीजिलोस ने स्मर्ना क्षेत्र पर अपने देश की ओर से जो दावा पेश किया, उसका अमरीकनो ने सिद्धान्त के आधार पर विरोध किया और इटालियनों ने उसका घोर विरोध किया। इटालियनों ने यह भी कहा कि यह क्षेत्र सारा या अंशतः, लंदन की संधि के अधीन या सेन्टजीन द येन के समझौते (Agreement of St. jean do Maurienne) के अधीन उनके लिए निश्चित किया जा चुका था। पर ब्रिटेन और फ्रान्स ने इसका समर्थन किया और दुर्भाग्य से इस समय इटालियन प्रति निधि मंडल बहाने से अस्थायी तौर पर सम्मेलन से हट गया। उसके वापस आने से पहले के काल में इटालियनों ने अपना सैनिक आधिपत्य, जो वे एडेलिया में पहले शुरू कर चुके थे, उत्तर-पश्चिम की ओर स्मर्ना की दिशा में फैलाना शुरू कर दिया। प्रतीत होता था कि वे सिद्धतथ्य (Fait accompli)) के दबाव का उपाय अपनाने की सोच रहे थे और इस प्रकार फ्रेंच और ब्रिटिश लोगों को श्री विल्सन को यह समझाने का मौका मिल गया कि वे इसकी पेशबन्दी के लिए कार्यवाही करना स्वीकार करें।

मुडरोस की सैनिक सुलह के अनुसार, मित्र-राष्ट्रों को ऐसी स्थिति होने पर, जिसमें उनकी सुरक्षा को खतरा हो, तुर्क प्रदेश के सामरिक महत्त्व के स्थानों पर आधिपत्य करने का अधिकार मिलता था। मित्रराष्ट्रीय युद्ध-पोतों की तोपों की गोलाबारी के मध्य स्मर्ना में १४ मई १९१९ को एक ग्रीक टुकड़ी उतारी गई। यहां तुर्की और ग्रीस द्वरा एक दूसरे के विरुद्ध लगाये गये अत्याचारों के आरोपों से उत्पन्न कटु विवाद को पुन: आरम्भ करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि तुर्कों में व्यवस्था कायम रखने का भार उनके परम्परागत शत्रु और भूतपूर्व ग़ुलाम देश को सौंपने की विनाशकारी नीति से राष्ट्रवादी रोष की आग अनिवार्यत: उभरनी थी और यह भी निश्चित था कि इस तरह धोखा खाये हुए और निराश इटली में हर सूरत में क्षोभ फैल जायेगा, क्योंकि इस कार्यवाही का वास्तविक आशय इतना स्पष्ट था कि तुर्क या इटालियन कोई भी धोखे में न आ सकता था।

फौज उतरने के अविलम्ब बाद ग्रीक टुकड़ी को वहाँ के निवासियों से भयंकर संघर्ष करना पड़ा और इसके बाद कुछ ही दिनों में वह टुकड़ी अन्दर की ओर कुछ दूर तक बढ़ गई। यद्यपि सैनिक स्थिति कुछ समय तक ज्यों की त्यों रही, तो भी वे बल, जो मित्रराष्ट्रों की योजनाओं को विफल करने वाले थे पहले ही गतिमान हो चुके थे। तुर्की के राष्ट्रवाद को उसका भाग्य-विधाता मिल गया था। ६ जून को

बास्फोरस से परे का नियन्त्रण तथ्यतः कुस्तुन्तुनिया सरकार के हाथ से निकल गया और ब्रिटिश जनरल स्टाफ ने मंत्रिमंडल को यह चेतावनी दी थी कि ग्रीस द्वारा पौंटुस के किसी हिस्से पर अधिकार या उसका "ऐरीन विलायत" (जिसकी राजधानी स्मर्ना था) के किसी हिस्से पर स्थायी आधिपत्य ऐसे कार्य थे, जिन्हें करने के लिए उससे अधिक सैनिक शक्ति चाहिए थी, जितनी मित्रराष्ट्रों के पास उस समय इस काम के लिए आसानी से उपलब्ध प्रतीत होती थीं।[1] इससे पहले अक्तूबर में राष्ट्रपति विल्सन की बीमारी और यूनाइटेड स्टेट्स सैनेट में जर्मन संधि की प्रथम अस्वीकृति ने पहले ही यह संकेत कर दिया था कि कुछ ही समय में ग्रीकों को उन राष्ट्रों में से एक का समर्थन प्राप्त न रहेगा जिनके प्राधिकार पर वे कार्य कर रहे थे।

जनवरी १९२० में विद्रोह खास कुस्तुन्तुनिया तक फैल रहा था। २८ जनवरी को राष्ट्रवादियों ने नये चैम्बर आफ डिपुटीज़ (Chamber of Deputies) में नेशनल पैक्ट या राष्ट्रीय करार अंगीकार किया जो शीघ्र ही मुस्तफ़ा कमाल के कार्यक्रम का आधार बन गया। मार्च में मित्रराष्ट्रों को कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करना और कमालवादियों को बाहर निकालना पड़ा, यद्यपि फरवरी में इस अन्तिम विनिश्चय का ऐलान किया जा चुका था कि संधि के अनुसार नगर तुर्कों के हाथों में रहेगा।[2] अप्रैल के अन्त तक सेवर्स की संधि की पूरी शर्तें तय हो गईं और मई में उनका ऐलान कर दिया गया।

फ़िलहाल इसके उपबन्धों से हमारा सम्बन्ध शुद्ध तुर्क दृष्टिकोण से है और हमें उन व्यवस्थाओं पर विचार करने की आवश्यकता नहीं जो मित्रराष्ट्रों ने अभ्यर्पित (ceded) प्रदेश के बारे में की थी। तो, सेवर्स की संधि (Treaty of Sevres) के द्वारा तुर्कों को अरब, फिलस्तीन, सीरिया और मेसोपोटामिया से वंचित होना था और सीरिया तथा मेसोपोटामिया में बगदाद रेलवे की वह लम्बाई भी शामिल थी जो इस्कन्दरून की खाड़ी के पूर्व में थी। उसने अफ्रीका और भूमध्यसागर के द्वीपों में सब अधिकार त्याग दिये; आरमीनिया, जिसके सीमान्त का निश्चय यूनाइटेड स्टेट्स के राष्ट्रपति द्वारा होना था, को स्वतन्त्र और स्वाधीन करने का निश्चय हुआ; और कुर्दिस्तान को स्वायत्तता देना तय हुआ और इसके बाद सब से कड़वा घूंट यह था कि स्मर्ना और उसके पीछे की स्थल-भूमि पांच वर्ष तक ग्रीक प्रशासन में रहनी थी और इसके बाद मत-संग्रह द्वारा उसके भाग्य का निश्चय होना था।

यद्यपि संधि पर अन्तिम रूप से हस्ताक्षर १० अगस्त से पहले नहीं हुए तो भी इसकी शर्तें, जैसा कि कहा जा चुका है, मई में बता दी गई थीं। जून में कमाल की टुकड़ियों ने इस्मिड प्रायद्वीप में ब्रिटिश चौकियों पर हमले किये। यह कोई गंभीर

---

१. चर्चिल, दि वर्ल्ड क्राइसिस, जिल्द ५ पृष्ठ ३७१।

२. कुस्तुन्तुनिया पर आधिपत्य को, सैनिक सुलह की शर्तों के अधीन, उचित ठहराया जा सकता था, परन्तु कई प्रमुख तुर्क राष्ट्रवादियों को उनके घरों में कैद कर लिया गया था और ब्रिटिश युद्धपोतों के द्वारा माल्टा पहुँचा दिया गया था। यह कहना कठिन है कि यह कार्यवाही सैनिक सुलह के उपबन्धों के अन्तर्गत आती थी, और तुर्कों की राष्ट्रीय भावनाओं पर इसकी निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया हुई।

संघर्ष नहीं था और तुर्कों को शीघ्र ही हटकर दूर चले जाने को प्रेरित कर लिया गया, परन्तु यह एक ऐसा खतरा था जिसकी संभावनाएँ बड़ी असुखकर हो सकती थीं। इधर फ्रांस सीरिया में पूरी तरह उलझ गया था—जिन परिस्थितियों में ऐसा हुआ उनका वर्णन बाद में किया जायेगा। इस पर दोनों मित्रराष्ट्रों ने कुछ शंका के साथ श्री वेनीज़िलोस का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि स्थिति का सामना करने के लिए एक ग्रीक टुकड़ी भेजी जाय। ग्रीक सेना ने तुरन्त आगे बढ़ना शुरू कर दिया और शुरू में उसे आशातीत सफलता हुई। कमालवादी सेनाओं को खदेड़ दिया गया, कुस्तुन्तुनिया में सेवर्स की संधि पर हस्ताक्षर हो गये (१० अगस्त १९२०)। कुछ समय के लिए वातावरण आशापूर्ण प्रतीत होने लगा पर युद्ध जारी रहा।

अक्तूबर में उस भाग्य-प्रेरित बन्दर ने तरुण राजा अलैक्जेन्डर को काटा और उसके प्रभावों से उसकी मृत्यु हो जाने से ग्रीस में आम चुनाव हुआ। वेनीज़िलोस पराजित हो गया और उसने त्यागपत्र दे दिया तथा पुराना राजा कौंस्टेंटाइन वापस आ गया। इससे ग्रीस मित्रराष्ट्रों के अनुग्रह के सब दावों से वंचित हो गया और मित्रहीन रह गया—उसे श्री लायड जार्ज की वैयक्तिक सहानुभूति और विश्वास प्राप्त रह गया। यद्यपि काफी समय तक ग्रीक सेनाएँ आगे बढ़ती रहीं और अगले अगस्त (१९२१) के अन्त तक अंगोरा के करीब ४० मील निकट तक पहुँच गईं। तो भी इटालियनों ने अप्रैल १९२१ में एशिया से पीछे हटना शुरू कर दिया था। सक्करिया नदी पर ग्रीकों की पराजय के साथ सितम्बर १९२१ में लहर पलटी। मित्रराष्ट्रों द्वारा युद्धरत शक्तियों में मध्यस्थता करने के सब प्रयत्न व्यर्थ हुए। और अक्तूबर में श्री फ्रैंकलिन-बिलोन ने फ्रांस की ओर से अंगोरा सरकार के साथ गुप्त रूप से एक पृथक् शान्ति सन्धि कर ली।

इस समझौते के ऐलान पर लार्ड कर्जन की ओर से जोरदार विरोध प्रदर्शित किया गया। फ्रांस, मूल्यवान वाणिज्यिक रियायतों के बदले में न केवल सिलीसिया (Cilicia) से हट गया और उसने तुर्कों के साथ संधि कर ली, अपितु उसने वह भूमि भी समर्पित कर दी जो सेवर्स की संधि के अधीन सीरिया को देनी तय हुई थी। और अधिदिष्ट क्षेत्र (mandated area) के उत्तरी भाग में से जाती हुई रेलवे लाइन के अधिकांश भाग को तुर्क सीमान्त में ला दिया। पर मामला तो बिगड़ चुका था और ब्रिटेन को फ्रांस के इस कथन पर ही संतुष्ट होना पड़ा कि अन्य समझौतों का तरह इस समझौते की भी राज्य-क्षेत्र-सम्बन्धी धाराएँ तुर्की के साथ होने वाले अन्तिम समझौते में ठीक कर ली जाएँगी।

ग्रीक सेना की स्थिति अब अति निराशाजनक थी। जिन शक्तियों के निमन्त्रण पर वह अनातोलिया में प्रविष्ट हुआ था, उनमें से यूनाइटेड स्टेट्स लड़ाई से हट चुका था, फ्रांस न केवल शान्ति-संधि कर चुका था, बल्कि श्री विन्स्टन चर्चिल के शब्दों में 'अब तुर्कों का जोर-शोर से समर्थन और उन्हें पुनः शस्त्र-सज्जित कर रहा था'[1] और ब्रिटेन जो प्रायः पूरी तरह सैन्य-विघटन कर चुका था, अगर चाहता तो भी कोई कार्यसाधक सहायता देने की स्थिति में नहीं था। इटली जिसके लिए ग्रीक

१. चर्चिल, दी वर्ल्ड क्राइसिस, जिल्द ५, पृष्ठ ४१३.

आक्रमण को पसन्द करने के वास्ते शुरू से ही कोई कारण नहीं था, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रायः पूरी तरह लड़ाई से हट गया था। अप्रैल १९२२ में उसने वाणिज्यिक लाभ के लिए शत्रु के साथ समझौता करके फ्रांस के उदाहरण का अनुसरण किया था। अब जलडमरूमध्य (straits) की रक्षा करने वाले तटस्थ क्षेत्र पर मित्रराष्ट्रों का आधिपत्य था। अंत सामने दिखाई दे रहा था। अगस्त १९२२ के अंतिम दिनों में ग्रीक सेना तट की ओर अंधाधुंध भाग रही थी और सितम्बर १९२२ के शुरू में कमालवादी विजेता के रूप में स्मर्ना में प्रविष्ट हुए।

अब खतरा ग्रीस के अभागे और परित्यक्त सैनिकों के लिए नहीं था : बड़ा खतरा यह था कि सर्वोच्च परिषद् की दुर्बलता और संगठन के अभाव सामने आ जायेंगे जिसका परिणाम बहुत बुरा होगा। अगर कमाल और उसकी सेना विजय के हर्ष से उन्मत्त होकर यूरोप में पाँव जमा लेती तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि प्रथम विश्व-युद्ध के रक्तपात और बलिदान से प्राप्त किया गया सारा समझौता खतरे में पड़ जाता।[1]

यूरोप में ऐसी दुर्घटना को रोकने वाली मित्रराष्ट्रीय सेना की वे थोड़ी-सी बटालियनें थीं जो चानक में और इस्मिड प्रायद्वीप से आर-पार जलडमरूमध्य को जाने वाले मार्ग की रक्षा कर रही थीं। उनके साथ ब्रिटेन के भूमध्यसागरीय बेड़े की तोपें थीं जो मारमोरा सागर में अवस्थित था, पर उन्हें कुमुक की सख्त आवश्यकता थी। इस विषम परिस्थिति में मित्रराष्ट्रों के दुःखद मतभेदों से बड़े खेदजनक परिणाम पैदा हुए। फ्रेंच और इटालियन सरकारों ने अपनी-अपनी सेनाएँ वापस बुलाने के लिए आदेश जारी कर दिये और वे २१ सितम्बर १९२२ को एशिया से वापस आ गईं। श्री लायड जार्ज के स्थाई यश की यह बात स्मरण रहनी चाहिये कि इस असाध्य प्रतीत होने वाले अकेलेपन में भी वह दृढ़ रहे। उन्होंने सहायता के लिए ब्रिटिश डोमीनियनों से पहले ही अपील कर दी थी, जो जितनी जल्दी की परिस्थितियों में की गई थी उनसे यह बात बड़े स्पष्ट रूप से सामने आ गई कि राष्ट्रमंडल में विदेश नीति से सहयोग परम आवश्यक है और इसकी व्यवस्था को सुधारना आवश्यक है। तो भी, डोमिनियनों ने विरोध प्रदर्शित करते हुए भी सहायता देना स्वीकार किया, परन्तु उनकी सहायता पहुँचने से पहले ही ब्रिटेन के साहस से उसका प्रयोजन सिद्ध हो चुका था। सौभाग्य से मुस्तफा कमाल न केवल एक सफल सैनिक नेता था, बल्कि इतना बड़ा और काफी बुद्धिमान आदमी था कि उसने अपने पाँव बहुत अधिक नहीं फैलाये। उसने मित्रराष्ट्रों के साथ एक सम्मेलन में शामिल होना स्वीकार कर लिया जो ३ अक्तूबर को मुडानिया में हुआ। यहां भी फ्राँसीसियों और इटालियनों का रुख सहायक नहीं रहा और ११ अक्तूबर को जो सैनिक सुलह हुई वह एकमात्र ब्रिटेन की

---

१. स्थिति ऐसी ही दीखती थी यद्यपि यह स्मरण रहना चाहिये कि तुर्कों के युद्ध-उद्देश्य तथ्यतः सिर्फ राष्ट्रीय करार तक सीमित थे। परन्तु इच्छाओं की पूर्ति से इच्छाओं की तुष्टि नहीं होती। यह सम्भव है कि ऐसी प्रभूत विजय से मुस्तफा कमाल की माँगें बढ़ गई होतीं। जो हो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यूरोप में सर्वोच्च परिषद् की नैतिक सत्ता को बहुत गम्भीर आघात पहुँचा होता।

दृढ़ता तथा कमाल की राजनैतिक दूरदर्शिता के कारण हो सकी। पर संकट समाप्त हो गया। यह अन्तिम निबटारा लासेन की संधि (Treaty of Lousanne) (२३ अगस्त १९२३) में संन्निविष्ट किया गया।

उस समय की परिस्थितियों का ध्यान रखें तो मित्रराष्ट्रों को इस संधि में जो हानियां उठानी पड़ीं वे वहुत ही थोड़ी और मामूली थीं। तुर्कों ने अरब प्रान्त को छोड़ने का निश्चय कर रखा था और वे उस पर दृढ़ रहे। ब्रिटिश और फ्रेंच हितों पर सम्भाव्यतः समध्यर्पण पत्रों (capitulations) के समाप्त कर दिये जाने से गहरा असर पड़ा। तुर्कों ने इन्हें समाप्त करने का दृढ़तापूर्वक आग्रह किया। मुख्य हानि ग्रीस को हुई जो सारे समय मित्रराष्ट्रों का मुहरा रहा। तुर्की को स्मर्ना तो मिल ही गया और यूरोप में उसका राज्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि ऐड्रियानोपल और कारागाच समेत पूर्वी थ्रेस उसमें समाविष्ट था। द्वीपों में से इम्बरोस टेनेडोस और डार्डनेल्स के प्रवेश-द्वार के निकट रेबिट भी उसके पास रहे। परन्तु दो क्षेत्र असैन्यीकृत कर दिये गये। एक तो थ्रेस के सीमान्त पर और दूसरा जलडमरूमध्य के प्रदेश मे। अनातोलियन सीमान्त वैसा ही रहा जैसा फ्रेंकलिन-बिलोन समझौते (Franklin-Boullion Agreement) में निर्दिष्ट था। सब बातों पर विचार किया जाय तो *हिस्ट्री आफ दी पीस कान्फ्रेंस आफ पेरिस*[1] के एक लेखक का यह भविष्यवाणी करना सम्भाव्यतः उचित था कि इस संधि ने युद्ध के बाद वाली अन्य किसी संधि की अपेक्षा अधिक दृढ़ समझौते की शुरूआत की। यह लादी नहीं गई थी, बल्कि बातचीत से तय हुई थी और इसी तथ्य से इसकी स्थायिता की सम्भावनाओं की आशा थी।

मोसुल और ईराक
(Mosul and Iraq)

लासेन की संधि द्वारा अंगोरा के तुर्कों के एक को छोड़कर शेष सब घोषित उद्देश्य पूरे हो गए। राष्ट्रीय करार में उन क्षेत्रों पर जो दावा किया गया था, जिनमें अरबेतर मुसलिम बहुमत रहता था, तर्कानुसार मोसुल के विलायत[2] पर भी लागू होता था, जिसके बहुत बड़े हिस्से में कुर्द लोगों की प्रधानता थी। इसलिए भावना और आत्मगौरव की दृष्टि से तुर्क लोग मेसोपोटामिया की उत्तरी सीमा उस रेखा पर मानने के लिए तैयार न थे जिस पर वह सेवर्स की संधि में रखी गई थी। इस भावनात्मक आपत्ति को इस व्यावहारिक विचार से और बल मिल गया कि कुर्दों को आत्मसात् करने और 'तुर्क बनाने' की कमालवादी नीति में उस अवस्था में रुकावट पड़ने की सम्भावना थी जब बहुत बड़ी कुर्द आबादी अधिक स्वाधीनता और स्वायत्तता का उपभोग करती हुई तुर्क सीमान्त के एकदम बाहर मौजूद हो। इन कारणों से तुर्कों ने लासेन में मोसुल विलायत को ईराक के नए राज्य-क्षेत्र में शामिल करने का विरोध किया—ईराक के लिए मई १९२० में सर्वोच्च परिषद् के एक निश्चय द्वारा ब्रिटेन को अस्थायी रूप से अधिदेश (mandate) देने का निश्चय किया जा चुका था। लार्ड कर्जन के सुझाव पर संधि में यह उपबन्ध रखा

---

१. जिल्द ६, पृष्ठ ११५।

२. तुर्की में 'विलायत' प्रान्त को कहते हैं।

गया कि यदि ६ मास की अवधि में कोई सम्मत हल न निकल सके तो यह प्रश्न राष्ट्रसंघ में भेजा जाये। इसलिए अगस्त १६२४ में मामला राष्ट्रसंघ की परिषद् में आया। परिषद् ने घटना-स्थल पर समस्या की जाँच करने के लिए एक सर्वथा तटस्थ जाँच आयोग नियुक्त कर दिया। अक्तूबर में दोनों पक्षों की ओर से ये शिकायतें आने पर कि पूर्वावस्था वाली रेखा का अतिक्रमण करने के यत्न किये गये हैं, ब्रुसेल्स में राष्ट्रसंघ की परिषद् की असाधारण बैठक हुई जिसने एक अस्थाई सीमान्त स्थापित कर दिया—जो बाद में "ब्रुसेल्स रेखा" कहलाई—यह भूतपूर्व विलायत की उत्तरी सीमा से प्रायः मिलती-जुलती है।

यह प्रश्न अभी अनिर्णीत ही था कि तुर्कों ने १६२५ में कुर्द विद्रोह के परिणाम-स्वरूप तुर्केतर अल्पसंख्यकों, विशेषकर ब्रुसेल्स लाइन के एकदम उत्तर में रहने वाले कैल्डियन ईसाइयों का दमन करने के लिए जो कदम उठाए, उनसे राष्ट्रसंघ की निगाह में अपनी स्थिति खराब कर ली। ईराक में धड़ाधड़ शरणार्थी आने लगे और तुर्कों ने जो अत्याचार किये थे, वे राष्ट्रसंघ के एक प्रतिनिधि एस्टोनिया के जनरल लेडोनर की तटस्थ रिपोर्ट से निश्चित रूप से सिद्ध हो गए। परिणामतः राष्ट्रसंघ का फ़ैसला मुख्यतः ब्रुसेल्स लाइन पर ही रहा और इस प्रकार प्रायः सारा मोसुल विलायत ईराक में शामिल हो गया। यह प्रश्न अन्त में जून १६२६ में तुर्की, ईराक और ब्रिटेन में एक त्रिपक्षीय संधि (tripartite treaty) पर हस्ताक्षर द्वारा तय हुआ जिसने इस तरह निर्धारित सीमान्त को अंगीकार कर लिया, हालांकि तुर्क लोग इस पर हस्ताक्षर करने में बहुत हिचकिचाते रहे।

पर ईराक की मर्यादा और सीमान्तों का निबटारा अंगोरा सरकार के विरोध के अलावा अन्य कारणों से भी जटिल हो गया। इनमें से सबसे अधिक भयोत्पादक, प्रस्थापित अधिदेश पर वहाँ के निवासियों का रुख था, पर उस प्रदेश में पश्चिमी शक्तियों के अपने-अपने दावे पेश करने से भी कठिनाइयाँ पैदा हुई। साइक्स-पिकोट समझौते में मोसुल फ्राँस को दिया गया था पर यह व्यवस्था इस तथ्य पर आधारित थी कि रूस भी एशिया माइनर में प्रदेश प्राप्त करना चाहता था। इसलिए रूसी क्षेत्र और ब्रिटिश क्षेत्र के बीच में एक तीसरी शक्ति को एक अन्तराल (buffer) राज्य के रूप में रखना उचित समझा गया। रूस में क्रान्ति हो जाने पर इस तरह की नीति के लिए कोई कारण नहीं रहा: इस बात को फ्राँस और ब्रिटेन ने समझा और परिणामतः मोसुल को ब्रिटिश क्षेत्र में शामिल करने पर कोई गम्भीर आपत्ति नहीं उठाई गई; तथ्य तो यह है कि १६१६ के शुरू में ही श्री क्लीमेन्शो ने यह परिवर्तन स्वीकार कर लिया था। पर उस ज़िले की तैल सम्पत्ति में अन्य शक्तियों की भी हिस्सा बटाने की इच्छा ने एक और उलझन पैदा कर दी, यद्यपि इस कारण के महत्त्व को प्रायः अतिरंजित रूप में रखा जाता है। ब्रिटिश सरकार ने ईराक के तेल पर एकाधिकार करने के इरादे का लगातार प्रतिवाद किया और सच तो यह है कि १६२५ में अंगोरा सरकार के इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि यदि ब्रिटेन मोसुल विलायत तुर्की को लौटाये तो उसके बदले में वह एक ब्रिटिश कम्पनी को सारे तेल का परिमोक (concession) दे देगी। अंग्रेज ईराक के तेल पर जिन अधिकारों का

दावा करते थे, वे युद्ध से पहले तुर्कों द्वारा एक ब्रिटिश कम्पनी—टर्किश पेट्रोलियम कम्पनी—को दिये हुए परिमोक (concession) पर निर्भर थे। इस कम्पनी में ड्यूट्श बैंक (Deutsche Bank) के २५ प्रतिशत शेयर थे और अप्रैल १९२० के सानरेमो समझौते (San Remo agreement) के अधीन यह जर्मन स्वहित एक फ्रेंच ग्रुट को हस्तांतरित करके पूरा कर दिया गया था। परन्तु यूनाइटेड स्टेट्स ने सानरेमो समझौते की इस शर्त पर आपत्ति उठाई कि टर्किश पेट्रोलियम कम्पनी स्थायी रूप से ब्रिटिश नियन्त्रण में रहे और यह आग्रह करते हुए मेसोपोटामिया के अधिदेश की पूर्ति में देरी कर दी कि सब राष्ट्रों के साथ, चाहे वे राष्ट्रसंघ के सदस्य हों या न हों, समानता का व्यवहार अधिदेशात्मक पद्धति का सारभूत सिद्धान्त है, पर अन्त में स्टैंडर्ड आयल तथा अन्य अमेरिकन कम्पनियों को उस कम्पनी में शेयर देने का प्रस्ताव करके उनकी आपत्तियाँ दूर कर दी गईं।

इसी बीच स्वयं मेसोपोटामिया के मूल निवासियों ने अधिदेश को अस्वीकार कर दिया था। अधिदेश ब्रिटेन को सौंपने का ऐलान मुश्किल से हुआ ही था कि ईराक में एक गम्भीर विद्रोह पैदा हो गया जैसा कि *हिस्ट्री ऑफ़ द पीस कान्फ्रेन्स ऑफ़ पेरिस* में एक लेखक ने लिखा है[1] "नई अमेरिकन शराब पुरानी अरब बोतलों में उफन रही थी" और वहाँ के निवासी समय से पहले ही पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता की आशाओं में मग्न हो रहे थे। मामले को ठण्डा करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने हेजाज के शाह के पुत्र फ़ैज़ल को ईराक के तख्त पर निर्वाचित कर लिया (अगस्त १९२१) और कुछ समय बाद उसके साथ एक संधि कर ली, जिसके अनुसार अधिदेश द्वारा प्रकल्पित नियन्त्रण ब्रिटेन के हाथ में रहता और उसका बाह्य रूप वह छोड़ देता। राष्ट्रसंघ में यह संधि ऐसे उपकरण के रूप में उपस्थित की गई जिसके द्वारा अभी अस्फुटित अधिदेश पर पड़ने वाले कर्त्तव्य पूरे किये जा सकते थे और ईराकियों को यह यथासम्भव स्वतन्त्र प्रभुसत्ता के स्वत्वविलेख (title-deed) के रूप में प्रस्तुत की गई।

फिलस्तीन पर अधिदेश
(The Mandate for Palestine)

जैसा कि इस अध्याय में पहले संकेत कर चुके हैं, ईराक, फिलस्तीन और सीरिया के सम्बन्ध में दिये गए अधिदेशों को सिर्फ़ इस आधार पर उचित ठहराया जा सकता था कि वे कुछ परस्पर-विरोधी दावों को सन्तुष्ट करने तथा अंशतः युद्ध के अंत में अंगीकार किये गए उन मुख्य सिद्धान्तों का पहले किए हुए वायदों से समन्वय करने के उद्देश्य से किए गए व्यावहारिक समझौते थे। वे नवम्बर १९१८ की एंग्लो-फ्रेंच घोषणा की भाषा के साथ संगत नहीं थे और गम्भीरतापूर्वक यह कह सकना असम्भव है कि वे राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ की शर्तों के अनुरूप थे। कोई निष्पक्ष आदमी यह नहीं मान सकता कि 'इन समुदायों की इच्छाएँ' (जो पहले तुर्क साम्राज्य का हिस्सा थे) तथ्यतः 'अधिदेष्टा के चुनाव का

१. जिल्द ६, पृष्ठ १८४।

मुख्य आधार थीं।" सर्वोच्च परिषद् ने जो चुनाव जबरदस्ती लागू किया, उस सबका आरम्भ युद्ध के आरम्भिक दिनों में की गई गुप्त सन्धियों में और विशेषकर मई १९१६ के साइक्स-पिकोट समझौते में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। उस समझौते में फ्रांस को सीरिया में पाँव जमाने की अनुमति दी गई थी और ब्रिटेन को बगदाद तथा दक्षिणी मेसोपोटामिया दिये गए थे; इसके अलावा इसमें फिलस्तीन में किसी तरह के अन्तर्राष्ट्रीय शासन का अस्पष्ट सुझाव तो दिया गया था, पर इसने उस क्षेत्र में हैफ़ा और अक्का (एकर) के बन्दरगाह ब्रिटेन के लिए सुरक्षित रख कर इस क्षेत्र में उसके विशेष हितों को स्वीकार किया था। १९२० के मेसोपोटामियन विद्रोह के बावजूद यह तर्क किया जा सकता है कि यदि ईराकियों को किसी न किसी का आधिपत्य बाध्यतः मानना होता तो वे इसके लिए ब्रिटेन को ही स्वीकार करते; यही बात फिलस्तीन के बारे में कही जा सकती है पर तथ्य यह है कि वहाँ के निवासियों से कोई राय नहीं ली गई। जहाँ तक फ्रांस को सीरियन अधिदेश देने का प्रश्न है, यह मानने के लिए काफी कारण है कि जो राष्ट्र चुना गया वह बहुमत को विशेष रूप से अस्वीकार्य था[1]। शायद कोई और अधिदेष्टा उपलब्ध भी नहीं था क्योंकि यूनाइटेड स्टेट्स ने अपने आप को अपने ही महाद्वीप तक सिकोड़ लिया था। और ब्रिटेन ने श्री लायड जार्ज के जरिये पहले ही यह जिम्मेवारी लेने से स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया था। पर क्योंकि इस इन्कारी का कारण यह बताया गया था कि यदि ब्रिटेन इस अधिदेश को स्वीकार कर लेगा तो फ्राँस में सन्देह और घृणा पैदा हो जावेगी, इसलिए मामले में कोई खास परिवर्तन नहीं होता।

परन्तु फ़िलस्तीन में अव्वस्था का वास्तविक कारण न तो मुख्यतः यह तथ्य था कि उस प्रदेश पर बाह्य नियन्त्रण लागू किया गया और न अधिदेष्टा के रूप में ब्रिटेन के प्रति घृणा ही थी, यद्यपि यह प्रतीत होता है कि हेजाज़ के शाह ने ब्रिटिश वायदों का यह अर्थ लगाया था कि फिलस्तीन अरब साम्राज्य की सीमाओं से समाविष्ट होगा तो भी इस प्रकार का समाधान, जो वास्तव में अपनाया गया उसकी अपेक्षा आत्मनिर्णय के साथ अधिक सुसंगत न होता। इसके अलावा इस प्रदेश के विभिन्न धार्मिक हितों की निष्पक्षता की रक्षा के लिए किसी विशेष शासन की बात १९१६ में ही सोची गई थी और वहाँ के निवासी इंगलैंड की न्यायपरायणता के यश को जानते हुए सम्भाव्यतः वह शासन किसी अन्य यूरोपीय शक्ति या शक्तियों की अपेक्षा उसको ही देकर संतुष्ट होते। असंतोष का कारण वह प्रतिज्ञा थी जो ब्रिटेन ने ज़ियोनिस्टों (Zionists) से की थी।

यह प्रतिज्ञा जिस रूप में श्री (बाद में लार्ड) बालफोर ने ब्रिटिश लोक सभा में २ नवम्बर १९१७ को प्रकट की थी, वह निम्नलिखित शब्दों में थी :

ब्रिटिश सरकार फिलस्तीन में यहूदी जाति के लिए एक राष्ट्रीय स्वदेश की स्थापना के पक्ष में है और इस उद्देश्य की सिद्धि सरलता से कराने के लिए अपना भरसक प्रयत्न

१. यद्यपि जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि यह अधिदेश शुरू से प्रत्यक्ष रूप से सिर्फ तटवर्ती क्षेत्र पर लागू होने वाला था, वहाँ तक फ्राँस के चुनाव को कुछ उचित ठहराया जा सकता है, क्योंकि लेबनान के मेरोनाइट (Lebanese Maronites) असंदिग्ध रूप से फ्राँस के पक्ष में थे।

करेगी। पर यह स्पष्ट रहे कि ऐसा कोई काम न किया जावेगा जिससे फ़िलस्तीन में इस समय रहने वाले गैर-यहूदी समुदाय के जानपद (civil) और धार्मिक अधिकारों पर या किसी अन्य देश में यहूदियों को प्राप्त अधिकारों और राजनैतिक प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो।

यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि इस नीति को अपनाने के पीछे जो प्रेरक भाव थे, उनमें थोड़ा अश निःस्वार्थ आदर्शवाद का भी था, पर वे अधिकाँशतः निश्चित रूप से सामरिक (strategic) थे। पहली बात तो यह कि स्वेज़ नहर के मार्गों को ऐसे प्रदेश द्वारा रक्षित कर लेना लाभदायक था जो ब्रिटिश हितों के लिए अनुकूल हों पर तात्कालिक उद्देश्य यह था कि यहूदियों की सहानुभूति मित्रराष्ट्रों की ओर कर ली जाये—ये यहूदी स्वभावतः रूस-विरोधी थे, पर उस देश के साथ हमारी मैत्री के कारण मध्य-यूरोपीय शक्तियों के पक्ष में जो स्वयं इनका समर्थन प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के प्रलोभन दे रही थीं, झुक रहे थे। विशेष रूप से, १९१७ में, रूसी यहूदियों के, जिनके बारे में पहले ही विश्वास था कि उन्होंने ज़ार की शक्ति ध्वस्त करने में बड़ा हिस्सा लिया है, जर्मन पक्षपाती क्रिया-कलापों को रोकना वांछनीय था।

यदि इस नीति के ये उद्देश्य थे तो यह बात संदिग्ध है कि वे पूर्णतया सिद्ध हुए। रूस की स्थिति में निश्चित रूप से सुधार नहीं हुआ था और संसार भर में प्रभावशाली यहूदी लोकमत का बहुत बड़ा हिस्सा हमेशा ज़ियोनिज्म (zionism) का विरोधी रहा है। दूसरी ओर अरबों और सीरिया वासियों की सहानुभूति पहले ही से हट चुकी थी—सीरिया वासियों की तो इस कारण कि सीरिया की सीमाओं को बहुत खंडित किया गया था, और अरबों की इस भय के कारण, जो अंशतःइस प्रतिज्ञा की शर्तों के बारे में कुछ गलतफ़हमी पर आधारित था, कि यहूदी हितों के मुकाबिले में अरब हितों को गौण स्थान दिया जायगा और यहूदियों के अन्तःप्रवास (immigration) से आबादी का अनुपात गम्भीर रूप से बदल जायगा। निश्चित ही यह नीति वहाँ के बहुसंख्यक निवासियों की इच्छा के सीधे विरोध में थी, क्योंकि उस समय लगभग ९० प्रतिशत निवासी गैर-यहूदी उद्गम के थे। सिर्फ समय यह बता सकता था कि अधिदेश की दो मुख्य बाध्यताएँ, एक यहूदी राष्ट्रीय स्वदेश की स्थापना और स्वशासन का विकास सचमुच परस्पर अनुरूप थे या नहीं।

इस नीति के आदर्शवादी या भावनापूर्ण पहलू से जिस पर इसके यहूदी और ईसाई प्रवर्तक दोनों सहमत थे, उस प्रत्येक व्यक्ति की सहानुभूति होनी चाहिए जो ओल्ड टेस्टामेंट (Old Testament) में उल्लिखित ज़ीओन (Zion) के पुनः आगमन सम्बन्धी काव्यमय भविष्यवाणियों से प्रभावित हुआ है, पर यह, अधिक से अधिक, एक आदर्श प्रतीत होता है जो सिर्फ आंशिक रूप से प्राप्त किया जा सकता है। उन कठिनाइयों को देखते हुए जो इस आंशिक प्राप्ति में पैदा होती हैं इसे किसी शांति समझौते में अत्यधिक आदर्शवाद घुसेड़ने के खतरों का प्रमुख उदाहरण माना जा सकता है।

इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए अधिदेश के ब्रिटिश प्रशासन को शुरू में अपेक्षतया सफल मानना होगा। देश के औद्योगिक और कृषक विकास की दृष्टि से ज़ियोनिस्ट उपनिवेशन (Zionist colonization) संख्या में सावधानी से प्रतिबंधित

किये जाने पर भी बड़ी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करने का दावा कर सकता था। यदि कोई यह ख़याल कर सकता था कि पहला हाई कमिश्नर सर हरबर्ट सेमुअल को बनाने का परिणाम यहूदियों का अनुचित पक्ष-पोषण होगा तो यह ख़याल उनके अत्यधिक निष्पक्ष प्रशासन के कारण निश्चित रूप से मिथ्या सिद्ध हो गया और यद्यपि अप्रैल १९२० में अधिदेश का ऐलान होने के तुरन्त बाद जेरूसलम में यहूदी-विरोधी दंगे हो गये, और १९२१ में तथा फिलस्तीन से बाहर १९२५ में लार्ड बालफोर के दौरे के मौके पर और भी उपद्रव हुए तो भी सर हरबर्ट के कार्य-काल में इतनी शांति रही कि १९२५ तक ब्रिटिश गैरिजन (garrison) को घटाकर बहुत थोड़ा किया जा सका। सरकार अरबों के प्रति समझौते का रुख रखती थी। यह बात १९२३ में ट्रान्सजोर्डेनिया (जो आजकल जोर्डन कहलाता है) को हुसैन के पुत्र अब्दुल्ला की प्रभुसत्ता के अधीन स्वायत्त शासन देने से प्रकट हो गई थी। दूसरी ओर खुद फिलस्तीन में, जैसा कि बाद की घटनाओं से सिद्ध होना था, अरबों और यहूदियों का असमाधेय विरोध स्थायी चिन्ता का कारण बना रहा। अरबों द्वारा अपनाई गई असहयोग की नीति ने शुरू में सोचे गये रूप में विधान परिषद् के निर्माण को असम्भव कर दिया और यह आवश्यक था कि अर्द्धनिरंकुश नियंत्रण जारी रखा जाय, पर इन परिस्थितियों में शान्तिपूर्वक जो प्रगति हो सकी, वह ब्रिटिश प्रशासन के लिए बहुत गौरव की चीज थी।

सीरियन अधिदेश

(The Syrian Mandate)

फ्रांस को सौंपे गये निकटवर्ती प्रदेश में घटना-क्रम बहुत भिन्न था। फ्रेंच शासन उस अनुबन्धन (annexation) से बहुत सादृश्य रखता था जिसके स्थान पर उसे स्थापित किया गया और अधिदेश जिस रूप में शुरू में सोचा गया था उसकी सीमाएँ सैनिक विजय द्वारा शीघ्र ही विस्तृत कर ली गईं।

सचाई तो यह है कि शुरू में ब्रिटेन ने फ्रेंच ट्रस्टीशिप को तटीय प्रदेश तक सीमित रखने के लिये काफी यत्न किया था—साइक्स-पिकोट करार में फ्रांस को इतना ही प्रदेश देना तय हुआ था। इस परिसंविदा (compact) में यह तय हुआ था कि फ्रेंच और ब्रिटिश प्रदेशों के बीच में अरब राज्यों का एक महासंघ (con-federation) या एक स्वतंत्र अरब राज्य होगा जिसमें दमिश्क, होम्स, हामा और एलेप्पो शामिल होंगे। इस प्रदेश पर ब्रिटेन का विश्वस्त मित्र अमीर फ़ैज़ल सैनिक सुलह के समय वस्तुतः काबिज़ था। ३ अक्तूबर १९१८ को फ़ैज़ल अपने सैनिकों के साथ दमिश्क में आ धमका था और उसने जनरल ऐलनबाई और ब्रिटिश सरकार के अधिकार से वहाँ अरब झंडा फहराया था। उसने फौरन एक स्वतंत्र सरकार के निर्माण का ऐलान कर दिया था और समझौते की नीति द्वारा अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए बहुत कुछ किया था। २० मार्च १९१९ को हुई सर्वोच्च परिषद् की एक बैठक में श्री लायड जार्ज ने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि दमिश्क, होम्स, हामा और ऐलेप्पो पर फ्रांसीसियों के दावे को मान लेना अरबों के साथ विश्वासघात होगा। जहाँ तक शब्दों का सम्बन्ध

था, यह स्थिति लगातार बनाये रखी गई। जब सितम्बर १६१६ में यह तय हुआ कि ब्रिटिश गैरिज़न को सीरिया से हटा लिया जाय, तब यह ठहराव हुआ था कि साइक्स-पिकोट करार (Sykes-Picot agreement) के अनुसार जो क्षेत्र अरबों के लिए सुरक्षित था, उसमें उसके स्थान पर अरब सेना आये, फ्रेंच नहीं।

परन्तु फ़ैज़ल का यह संदेह बड़ा युक्तियुक्त था कि उसके ब्रिटिश मित्रों की अनुपस्थिति में फ्रेंच बहुत देर तक इस स्थिति को न मानते रहेंगे। मार्च १६२० में उसने अपने आपको सीरिया और फिलस्तीन का शाह घोषित करके गलत कदम उठाया—यह ऐसा कार्य था जिसका न केवल फ्राँस ने बल्कि फिलस्तीन के भावी अधिदेष्टा ब्रिटेन ने भी आवश्यक रूप से प्रत्याख्यान किया। २४ अप्रैल को सानरेमो के सम्मेलन में सर्वोच्च परिषद् ने सीरिया, फिलस्तीन और ईराक के लिए अधिदेश निश्चित रूप से सौंप दिये—पहला फ्राँस को और पिछले दो ब्रिटेन को। इन विनिश्चयों के ऐलान से सीरिया में इतनी अशान्ति हुई कि फ्राँसीसियों के षड्यन्त्र के लिए अनुकूलता पैदा हो गई। १४ जुलाई को फ्रेंच हाई कमिश्नर जनरल गुरोद (General Gouraud) ने फैज़ल को एक अल्टीमेटम भेज दिया, जिसे इसमें की गई माँगों के अरब प्रभुसत्ता की सर्वथा विरोधी होते हुए भी, तत्काल स्वीकार कर लिया गया। परन्तु अनिवार्य उपद्रव शुरू हो गये; कुछ अरब घुड़सवारों ने एक फ्रेंच चौकी पर हमला कर दिया; और फ्राँसीसियों ने इस अवसर का लाभ उठाकर व्यापक आक्रमण छेड़ दिया और फ़ैज़ल को देश से बाहर निकाल दिया। उनके इस कार्य का ब्रिटेन में अनुमोदन नहीं हुआ। श्री बोनर ला (Bonar Law) को आलोचनापूर्ण लोकसभा (House of Commons) में यह स्पष्ट करना पड़ा कि मुझे सरकारी तौर पर यह विश्वास दिलाया गया था कि फ्रेंच लोगों का विवादग्रस्त प्रदेश पर आधिपत्य सिर्फ अस्थायी होगा, पर यह आशा अनुचित रूप से आशावादी सिद्ध हुई। भविष्य की स्थिति भी एक हिंसा के कार्य और एक सिद्धतथ्य (fait accompli) द्वारा ही विनियमित होनी थी।

निःसंदेह इन कठिन परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार की कार्यवाही या कर्महीनता की निन्दा करना अनुचित होगा। उन्होंने फ़ैज़ल की क्षतिपूर्ति के लिए ईराक की गद्दी पर उसे निर्वाचित कर जो कुछ वे कर सकते थे वह किया, और उन्होंने उसके भाई अब्दुल्ला को ट्राँसजोर्डेनिया का शासक अभिज्ञात कर लिया, यद्यपि इस कार्यवाही का आंशिक कारण यह था कि उसे सीरिया में फ्रान्सीसियों पर हमला करने से रोका जा सके। पर फ्रान्सीसियों ने जिन विधियों से अपना लक्ष्य सिद्ध किया उनसे अनिवार्यतः यह प्रतीत होता था कि युद्धपूर्व की दुनिया की तरह युद्धोत्तर दुनिया में भी प्रबल सैनिक शक्ति का होना एक महत्त्वपूर्ण चीज थी और छोटे-बड़े सब के लिए समान न्याय अभी कल्पना-लोक की ही वस्तु था।

उस प्रदेश पर, जिस तक फ्रांसीसी अधिदेश अब फैला हुआ था, फ्रेंच प्रशासन से वह घृणा दूर नहीं हो सकती थी जो उनकी उपस्थिति से हर सूरत में पैदा होने की सम्भावना थी। प्रशासनीय कर्मचारी अधिकतर अनुभवशून्य थे और अरबी भाषा

वेशों और संरक्षित प्रदेशों (protectorates) से आये थे और उनकी विधियाँ निरंकुश होती थी। अधिदेष्टा शक्ति के वशवर्ती व्यक्तियों को नियुक्त करके बनाई गई तद्देशीय सरकार के आडम्बर के पीछे फ्राँस सर्वत्र व्यापक विधायक और प्रशासनीय नियन्त्रण करता था। सैनिक विधि (martial law) का शासन जिसमें अनेक बार देश-निकाला दिया जाता था; जारी था। शायद यह स्वाभाविक था कि लेबानी (Lebanese) ईसाइयों से जो बहुत समय से फ्रेंच संरक्षा में रह रहे थे और उन लोगों में थे जो अधिदेश के प्रति सबसे अधिक मैत्री की भावना रखते थे; विशेष व्यवहार किया जाय, पर सितम्बर १९२० में लेबनान का क्षेत्र बढ़ाकर उसमें गैर-ईसाई आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा शामिल कर दिया जाने पर स्वशासन की समस्याएँ जटिल हो गईं। और इससे उनके प्रति जो पक्षपात का संदेह पैदा हुआ उसने अशाँति को जन्म दिया। और स्थानों पर फ्रेंच नीति हिचकिचाहट और सातत्य के अभाव से दूषित थी। सारे अधि-देश को पहले पाँच पृथक् राज्यों में बांटा गया—बृहत्तर लेबनान, एलो आइटो का प्रदेश या अलाविथिन, एलेप्पो, दमिश्क और जबलएदद्रूस। स्वयं यह कार्य भी आलो-चना योग्य था, क्योंकि यह अधिकतर "विभाजन करो और शासन करो" (Divide and Rule) की युक्ति पर आधारित था, इस आशय पर नहीं कि सहयोग प्राप्त होने में सुविधा हो जिससे पूर्ण स्वायत्तता की दिशा में प्रगति हो सकती थी। पर प्रायः तुरन्त ही इस नीति को पलटने का यत्न किया गया और पाँच में से तीन इकाइयों का एक संघ (federation) बनाने की घोषणा की गई। पर शुरू में विभाजन करने से जो स्थानिक आन्दोलन पैदा हो गया था, उसने इस यत्न को व्यर्थ कर दिया, यद्यपि एलेप्पो और दमिश्क राज्यों को मिला कर एक इकाई बना दिया गया। बाद में अधिदेश आयोग (Mandates Commission) ने यह फैसला किया कि वहां की गड़बड़ी का मुख्य कारण वह अनिश्चितता थी जो बारम्बार और जल्दी-जल्दी नीति परिवर्तित करने से पैदा हुई। जिन अन्य बातों से शिकायत पैदा हुई वे ये थीं—स्कूलों और अदालतों में फ्रेंच भाषा को अत्यधिक बढ़ावा देना और सीरियन चलार्थ (currency) के स्थान पर जो पहले से विद्यमान थी, और स्थिर थी, तेजी से अवमूल्यित होते हुए फ्रेंच फ्रांक पर आधारित एक नोट जारी करना। परन्तु तब तक मामला संकट की अवस्था में नहीं पहुँचा जब तक नवम्बर १९२४ में न्यायपरायण और लोकप्रिय जनरल वेगा (Weygand) को वापस नहीं बुलाया गया और उनके उत्तराधिकारी जनरल सरेल (General Sarrail) १९२५ में, वहां नहीं पहुँच गये। इसलिए आगे की घटनाएँ किसी बाद के अध्याय के लिए स्थगित कर देना उचित होगा।

अरब का घटना-चक्र

(Events in Arabia)

अरब में १९१४ से पहले तक ब्रिटेन के स्वार्थ मुख्यतः अदन और ईरान की खाड़ी के तट तक ही सीमित थे पर मध्य यूरोप की शक्तियों की ओर से तुर्की के आ कूदने की सम्भावना के कारण प्रमुख अरब शासकों से तुरन्त बातचीत की गई। दोनों पक्षों ने वित्तीय सहायता पर आधारित अनुनय किया। इसका परिणाम यह हुआ कि तुर्कों को मध्य अरब में जनरल शम्मार के इब्न रशीद, और अदन के रक्षित प्रदेश के निकटवर्ती यमन के इमाम का समर्थन प्राप्त रहा। इंग्लैंड को अधिक सफलता

हुई। उसकी ईरान की खाड़ी के तटवर्ती सरदारों से पहले ही संधियां थीं। और इन सम्बन्धों को उसने कायम रखा। खाड़ी के शुरू में विद्यमान कुवैत के शेख को नवम्बर १९१४ में इस बात के लिए मना लिया गया कि यदि वह बसरा पर कब्ज़ा करने में सहयोग करे तो उसके प्रदेश को ब्रिटिश संरक्षण प्राप्त स्वतन्त्र राज्य के रूप में अभिज्ञात कर लिया जावेगा। सब्या के इदरीसी सैयद को आर्थिक सहायता देकर नाममात्र का सहायक बना लिया गया और अगले वर्ष स्वतन्त्रता की इस प्रकार की गारन्टी दी गई। पर इससे बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध वे थे जो वहाबी सरदार रियाद के इब्न सऊद और अमीर हुसेन से, जो हेजाज़ के शासक के रूप में इस्लाम के तीर्थ-नगरों का नियन्त्रण करता था, स्थापित हुए।

वहाबी धर्म इस्लाम में एक प्रचंड शुद्धतावादी आन्दोलन था, जिसका उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में अरब प्रायद्वीप में बहुत प्रभाव जम गया था। इसके एजेन्ट के रूप में कार्य करते हुए सऊद घराने ने १८०६ तक मक्का और मदीना पर अधिकार जमा लिया था और इस प्रकार वह अरब के अधिकांश भाग का स्वामी हो गया था। इसके बाद मिश्र के मुहम्मद अली ने इसे उखाड़ फेंका और नगण्य कर दिया। पर १९०१ में इसने अलरशीद के प्रतिस्पर्धी घराने से रियाद फिर छीन लिया—इस प्राप्ति को वह प्रथम विश्व-युद्ध के शुरू होने तक अधिकाधिक प्रदेश जीत कर दृढ़ करता रहा और प्रथम विश्व-युद्ध के शुरू में इसकी सत्ता ईरान की खाड़ी तक फैल गई थी। इस प्रकार इब्न सऊद का प्रभाव इतना महत्त्वपूर्ण था कि भारत सरकार का (पूर्वी अरब के साथ सम्बन्ध रखने वाली बातचीत भारत सरकार के ही क्षेत्र में आती थी) ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ, क्योंकि वह १९१३ तक भी तुर्कों से लड़ता रहा था और उसका वंशागत शत्रु इब्न रशीद विरोधी पक्ष में था। इसलिए ब्रिटेन के पक्ष में उसकी सहायता मिलने की सम्भावना शुरू से आशापूर्ण थी, और दिसम्बर १९१५ में उसके साथ एक संधि हो गई जिसके अनुसार उसे ५००० पौंड प्रति मास राज-सहायता दी गई और उसके वर्तमान प्रदेश पर उसके वंशपरम्परागत अधिकार के अभिज्ञान के बदले में उसकी सहायता या कम से कम तटस्थता प्राप्त की गयी। युद्ध के दिनों में इब्न सऊद ने अपने प्रतिद्वन्द्वी इब्न रशीद के कार्य को रोकने के अलावा कुछ नहीं किया। पर उसकी सेवाएँ जिस रूप में भी थीं उस रूप में, वे उस मामूली खर्च के बदले में जो ब्रिटेन को उनके लिए उठाना पड़ता था, निःसन्देह मूल्यवान थीं।

इसी बीच ब्रिटिश विदेश मंत्रालय ने हेजाज़ के अमीर हुसेन से एक समझौता किया जिसकी शर्तें तो उतनी सुनिश्चित नहीं थीं पर जो तात्कालिक सहायता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। ब्रिटिश हितों की दृष्टि से सरकार ने इसे जिस मार्ग पर चलने को बढ़ावा दिया उसकी प्रेरणा उसे स्वतन्त्र रूप से अपनी आकांक्षा से ही प्राप्त हुई थी। समझौते की बातचीत १९१४ में शुरू हुई थी और युद्ध में तुर्की के प्रवेश के अविलम्ब बाद उससे यह वचन लिया गया कि किसी अवस्था में वह मित्र-राष्ट्रों के शत्रु की सहायता नहीं करेगा। अगस्त १९१५ में हुसेन के एक पत्र से साम्राज्य बनाने के उसके लम्बे-चौड़े स्वप्नों का पता चला। उसका लक्ष्य एक स्वतन्त्र अरब राज्य का निर्माण था, जो भूमध्य सागर से ईरान की सीमा तक, उत्तर में ३७

अक्षांश तक, फैला हुआ हो और इस प्रकार जिसमें अरब के अलावा लगभग सारा सीरिया और फिलस्तीन तथा मेसोपोटामिया समाविष्ट हो। उसकी आकांक्षाओं के इस रूप ने ब्रिटिश अधिकारियों का, जो इस देश के प्रतिद्वन्द्वी दावों से पहले ही परिचित थे कठिन परिस्थिति में डाल दिया और यह सौभाग्य की बात थी कि अमीर की अपनी जल्दबाजी ने ब्रिटिश परिमोक (concession) की सीमाओं के यथार्थ निर्धारण की आवश्यकता न रहने दी। हुसेन ने संधि होने की प्रतीक्षा किये बिना, मई १९१६ में तुर्कों के विरुद्ध अपना विद्रोह शुरू कर दिया।

उस लड़ाई का वर्णन करना इस इतिहास-ग्रन्थ के विषय से बाहर है। जैसा कि सुविदित है, युद्ध के अन्त तक तुर्की के विरुद्ध युद्ध में अरब और ब्रिटिश सेनाओं में घनिष्ठ सहयोग रहा और हुसेन व उसके पुत्र फ़ैज़ल को अबाध रूप से शस्त्रास्त्र दिये जाते रहे तथा २४ लाख पौंड वार्षिक की वित्तीय सहायता भी दी गई। उनके साथ वास्तव में जो वायदे किये गये थे, उनका चाहे जो अर्थ लगाया जाय, पर उन्होंने जो सेवाएँ कीं उनके लिए ब्रिटेन को कृतज्ञ होना चाहिए था। हमने अरबों से जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उनसे उत्पन्न उलझनों पर अन्यत्र विचार किया गया है। यहां हम अमीर और उसके अरब पड़ोसियों के सम्बन्धों पर तथा अन्त में उसकी जो गति हुई, उस पर विचार करेंगे।

अमीर हुसेन ने पहली गलती यह की कि उसने अक्तूबर १९१६ में मक्का के प्रमुख व्यक्तियों से अपने आप को 'अरबों का शाह' उद्घोषित करा लिया। ब्रिटेन उसके दावों को स्वीकार नहीं कर सकता था, क्योंकि वह, जैसा कि हम देख चुके हैं, कई अन्य अरब संरक्षित राजाओं को स्वतन्त्रता की गारंटी दे चुका था, और यूरोपियन मित्रराष्ट्र उसकी 'हेजाज़ के शाह' की उपाधि ही अभिज्ञात कर सकते थे। उसका दावा वहाबियों की उदीयमान शक्ति को विशेष रूप से भड़काने वाला था, और यद्यपि इब्न सऊद उस समय इस तथ्य के कारण खुले आम लड़ाई न कर सका कि वह तथा उसका प्रतिद्वन्द्वी एक ही यूरोपियन शक्ति से रुपया पाते थे, पर उसने व्यवस्थित विचार परिवर्तन द्वारा कुछ छोटे कबायली नेताओं को हेजाज के प्रति निष्ठा से विमुख करना शुरू किया। १९१७ में उसने खुरमाह के मरूद्यान के सरदार को अपनी ओर कर लिया। इस पर उसने बिना सोचे समझे, अगले वर्ष खुरमाह पर अधिकार करने का यत्न किया। दोनों पक्षों में तनातनी पैदा हो गई और अन्त में मई १९१९ में तुरबाह में युद्ध हुआ जिसमें इब्न सऊद की सेनाओं ने हेज़ाज के शाह की सेनाओं को पराजित कर दिया। इस मामले में इस तथ्य से कुछ मजाक का अंश आगया कि दोनों युद्धरत पक्षों को अलग-अलग ब्रिटिश विभाग से शस्त्र और धन मिल रहे थे, मानो ब्रिटिश विदेश मंत्रालय और इण्डिया आफ़िस (यानी ब्रिटेन के भारत संबंधी मामलों के मंत्रालय) में युद्ध हो रहा था और इस स्थिति पर शायद बड़ा अच्छा नाटक खेला जा सकता है। बीच-बीच में लड़ाई होती रही, यद्यपि इब्न सऊद कुछ तो ब्रिटिश राज की सहायता छिन जाने के भय से और कुछ इस कारण कि उसने अपने वंशपरम्परागत शत्रु इब्न रशीद का अभी तक अन्तिम निबटारा नहीं किया था और आगे बढ़ने से रुका रहा। पर नवम्बर १९२१ में उसने अपने इस शत्रु को निश्चित

रूप से पराजित कर दिया और उसके क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लिया और मार्च १९२४ में उसकी राज-सहायता बन्द हो जाने से विलम्ब का दूसरा कारण भी हट गया।

इधर हुसेन ने अपनी अकड़ से सब संभव मित्रों को अपना दुश्मन बना लिया। सीरिया और फिलस्तीन के अधिदेशों (mandates) के बनने से उसे जो निराशा हुई, उसके कारण उसने वरसाई की संधि का अनुसमर्थन करने से, या ब्रिटेन के साथ संधि करने से इन्कार कर दिया। उसने मक्का की हज यात्रा के सिलसिले में पैदा हुए विवादों में जो रुख अपनाया उससे मिश्र भी नाराज़ हो गया। मार्च १९२४ में ठीक उस समय जब कि उसका प्रतिद्वन्द्वी प्रायः निश्चिन्त था, उसने खलीफा की पदवी धारण करली, जो अंगोरा सरकार द्वारा औटोमन खिलाफ़त खत्म कर दिये जाने के बाद खाली पड़ी थी। इस विचारहीन कार्य ने, जो हुसेन ने बड़ी अनिच्छा से किया दीखता था, इब्न सऊद को खिलाफत कमेटी के भारतीय मुसलमानों का खुला प्रोत्साहन प्राप्त करा दिया और अगस्त १९२४ में उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी के साथ आखिरी फैसला करना शुरू किया।

उस समय की लड़ाई ने हुसेन के विनाश को बड़ी जल्दी पूरा कर दिया। ब्रिटिश सहायता के लिए एक निष्फल अपील करने के बाद अक्तूबर १९२४ में उसने गद्दी छोड़ दी और अस्थायी रूप से उसका पुत्र अली गद्दी पर बैठा पर इस परिवर्तन से कोई सुधार नहीं हुआ। १३ अक्तूबर को वहाबियों ने मक्का पर अधिकार कर लिया और अगले १४ महीनों तक नया शाह जिद्दा के किले में घिरा पड़ा रहा। २२ दिसम्बर १९२२ को अली ने सब आशा त्याग दी और वह देश छोड़कर चला गया और क्रिसमस के दिन युद्ध-समाप्ति की घोषणा कर दी गई। जनवरी १९२६ में तथ्यतः स्थिति को मक्का के सरदारों के वोट से विनियमित कर दिया गया। सरदारों ने हेजाज की खाली गद्दी इब्न सऊद को सौंप दी और इस तरह अरब में उसने अपनी वह प्रधान स्थिति प्राप्त करली जो १९ वीं सदी के शुरू में उसके घराने को प्राप्त थी।

पर उसकी कठिनाइयों का अन्त नहीं हुआ था। यद्यपि वहाबियों का यह दावा था कि वे इस्लाम के प्राचीनतम रूप को मानते हैं, पर मुसलमानों के पवित्र स्थानों पर इस सम्प्रदाय के आधिपत्य को शेष मुस्लिम जगत् पूर्ण निर्विकार भाव से नहीं देख सकता था। इस खबर ने, जो स्पष्टतः बहुत अतिरंजित थी, कि मदीना में हज़रत मुहम्मद का मकबरा इब्न सऊद द्वारा युद्ध के समय की गई बमबारी से टूट गया था, एक तूफ़ान खड़ा कर दिया, जो बिना गड़बड़ किये शांत न हुआ और हेजाज में किये गये आन्दोलन के समय वार्षिक हज के मार्ग में जो रुकावटें डाली गई, उनसे विजेता की स्थिति दृढ़ हुई। उसने मक्का में एक इस्लामी कांग्रेस बुलाकर धार्मिक विचार के लोगों को संतुष्ट करने के जो प्रयत्न किये उन पर उसे शुरू में निराशाजनक दुत्कार हासिल हुई। जब अंत में जून १९२६ में उद्घाटन हुआ तब शुरू में इसमें बहुत थोड़े सरकारी प्रतिनिधि आये, और वहाँ उठाये गये प्रश्न अत्यधिक नाज़ुक सिद्ध हुए। उस वर्ष की हज में भी वहाबियों और मिश्रियों में कुछ दुर्भाग्यपूर्ण टक्करें हो गई और जो मुसलमान इस्लामी संगठन का यत्न कर रहे थे उनके यत्न कुछ संकट में पड गये।

इब्न सऊद के सत्तारूढ़ होने से कुछ राजनैतिक ढंग की कठिनाइयाँ भी पैदा हुईं। जबल शम्मार और हेज़ाज पर की गई अनेक चढ़ाइयों के परिणामस्वरूप वहाबी शक्ति का ट्रान्सजोर्डेनिया और ईराक के साथ सतत सम्पर्क होगया—इन दोनों प्रदेशों पर ब्रिटेन के तत्वावधान में हुसेन के पुत्र शासन करते थे। इब्न सऊद के लिए यह तो स्वभावतः बड़ा कठिन था कि सीमावर्ती कबीलों की छापामार प्रवृत्तियों को वह रोक सके। तथ्य तो यह है कि तुर्क साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होने से इन कार्यों को उद्दीपन और सुविधा प्राप्त हुई क्योंकि नये अन्तर्राष्ट्रीय सीमान्तों में आर्थिक भूगोल के तथ्यों को नज़रन्दाज़ कर दिया गया था और खानाबदोशों के प्रचलित प्रव्रजन (migration) में रुकावटें लगा दी गई थीं, जबकि कानून न मानने वाले लोग विभिन्न क्षेत्राधिकारों के बीच की विभाजक रेखाओं को पार करके आसानी से नियन्त्रण से बच सकते थे। पर यह विशेष रूप से आवश्यक था कि इब्न सऊद के राज्य के उत्तर की ओर के प्रदेश में व्यवस्था कायम रहे, क्योंकि वह द्रुत गति से भूमध्य सागर से बगदाद और ईरान को जोड़ने वाला एक महत्त्वपूर्ण मोटर मार्ग बन रहा था। गम्भीर हमले होते रहे और हेज़ाज पर इब्न सऊद के आक्रमण के दिनों में जान बूझ कर अपने दोनों पड़ौसियों के क्षेत्र के विरुद्ध झगड़े पैदा कर दिये थे, जिस पर ब्रिटिश विमानों और सशस्त्र गाड़ियों द्वारा कठोर हस्तक्षेप करना पड़ा था। सच तो यह है कि उस समय वह अपने सीमान्त को उत्तर में सीरियन सीमा तक विस्तृत करने की बात सोच रहा था, पर इस प्रकार फिलस्तीन और मैसोपोटामिया के संचार साधनों को गम्भीर खतरा पैदा कर रहा था पर अन्त में नवम्बर १९२५ में दो करार करके मामला निबटाया गया—इन करारों में क्रमशः ईराक और ट्रान्सजोर्डेनिया के सीमान्त सुनिर्दिष्ट किये गये थे। सीमावर्ती कबीलों के नियंत्रण के लिए नियम निश्चित किये गये और नियमों के अतिक्रमण के मामलों पर विचार करने के लिए मिश्रित न्यायाधिकरणों (mixed tribunals) की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार जहाँ तक लिखने-पढ़ने से समस्या हल हो सकती थी वहाँ तक उसे हल कर दिया गया था।

मिश्र
(Egypt)

मिश्र की स्थिति, तुर्की और ब्रिटेन दोनों की दृष्टि से, उन सब प्रदेशों की स्थिति से बहुत भिन्न थी जिन पर अब तक विचार किया गया है। सुल्तान का सैद्धान्तिक आधिपत्य प्रथम विश्व-युद्ध में तुर्की के प्रवेश तक मौजूद था, पर उन दिनों से इसका क्रियात्मक महत्त्व समाप्त हो चुका था, जब १८४१ में मुहम्मदअली ने पाशा-पद पर वंशपरम्परागत स्वत्व प्राप्त किया था। उस समय १८८२ में ब्रिटेन के दखल देने से पहले तक, इस देश में बहुत कुछ स्वायत्तता मौजूद थी। ब्रिटिश हस्तक्षेप से मिश्र की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में कोई कानूनी अन्तर नहीं आया, और शुरू में इसे अस्थायी घोषित किया गया था और अस्थायी ही रखने का सचमुच विचार था। १८८७ में ३ साल और बीत जाने के बाद सेना वापस हटा लेने की व्यवस्था प्रायः पूरी की जा चुकी थी, परन्तु यह व्यवस्था सिर्फ सुल्तान के विरोध के कारण भंग हो गयी। कानूनी स्थिति यह थी कि मिश्र पर मिश्री मन्त्रिमण्डल, मिश्री विधान परिषद् और

विधानसभा की सहायता से खेदिव शासन करता था, यद्यपि व्यवहार में ब्रिटेन वास्तविक प्रशासन और सैनिक नियंत्रण करता था।

प्रथम विश्व-युद्ध से पहले भी इस असंगत स्थिति का, जिसमें तुर्क अधिपति द्वारा मिश्री स्वाधीनता पर सैद्धान्तिक रुकावट तो नगण्य थी और ब्रिटेन द्वारा 'सलाह या मंत्रणा' के रूप में लादी गई बाध्यताएँ व्यवहारतः उसे एक रक्षित देश बना देती थीं, विरोध किया गया था। १९०५ में ही एक राष्ट्रवादी आंदोलन मौजूद था यद्यपि इस प्रारम्भिक अवस्था में वह भद्रलोक तक सीमित था। इस अवस्था में सर्व-इस्लाम-वाद (Pan Islamism) ने इस आंदोलन में निःसन्देह महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। युद्ध के बाद आन्दोलन का रूप अधिक लोकप्रिय होगया। यद्यपि इसके नेताओं ने निःसन्देह धार्मिक नारों से भी यथासम्भव लाभ उठाया पर यह मुख्यतः राजनैतिक स्वाधीनता का संघर्ष बन गया था जिसे अन्य संघर्षों की तरह 'आत्मनिर्णय' के नारों से प्रोत्साहन मिला और मुसलमानों का ईसाइयों से विरोध इसमें एक बहुत गौण घटना थी।

युद्ध के प्रायः शुरू में ही ब्रिटेन ने अपनी ही ओर से मिश्र पर तुर्क आधिपत्य की समाप्ति का ऐलान कर दिया और मिश्र को संरक्षित देश उद्घोषित कर दिया। यह ठीक है कि तुर्की के दावे कानूनी दृष्टि से तब तक परिशान्त नहीं हुए थे, जब तक लौसेन की संधि (Treaty of Lausanne) का अनुसमर्थन न होगया। पर ब्रिटिश घोषणा के दिन से ही उनका स्थिति पर कोई प्रभाव न रहा। राष्ट्रवादी नेता जगलुल को मार्च १९१९ में निर्वासित कर देने पर उपद्रव खड़े होगये, जिनपर अनुसन्धान और प्रतिवेदन के लिए मिलनर मिशन भेजा गया, जिसने यह प्रस्थापना रखी कि मिश्र की स्वाधीनता को अभिज्ञात करने वाली एक संधि कर ली जाय और उसमें ब्रिटिश हितों की सुरक्षा की शर्तें हों, तथा ब्रिटेन के साथ संरक्षण और मैत्री की संधि हो जाय। इस आधार पर वार्ता विफल हो गई। १९२१ में स्पेशल हाई कमिश्नर लार्ड ऐलनबाइ ने यह रिपोर्ट दी कि यदि मिश्र पर संरक्षण जारी रहा तो क्रान्ति का गम्भीर खतरा है। परिणामतः, फरवरी १९२२ में संरक्षण की स्थिति समाप्त कर दी गई और मिश्र की स्वतन्त्र प्रभुसत्ता अस्थायी रूप से अभिज्ञात कर ली गई। उसी समय ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा के लिए जो निर्बन्ध मिश्री प्रभुसत्ता पर लगाये गये थे, उनके कारण राष्ट्रवादियों ने उस स्थिति को मानने से सर्वथा इन्कार कर दिया। बहुत से हिंसात्मक अपराध हुए और अन्त में नवम्बर १९२४ में मिश्री सेना के सरदार तथा सूडान के गवर्नर-जनरल सर लीस्टेक की हत्या हो गई। परिणामतः मिश्री सरकार को एक अल्टीमेटम दिया गया और उससे ५ लाख पौंड जुर्माना वसूल किया गया। जगलुल ने इस्तीफा दे दिया और सेनेट के अध्यक्ष अहमद जिवारपाशा के अधीन नया मंत्रिमंडल गठित हुआ। मिश्री संसद् ने राष्ट्रसंघ को विरोध-पत्र भेजा, पर यह निश्चय किया गया कि ब्रिटेन और मिश्र का झगड़ा यथार्थतः कोई अन्तर्राष्ट्रीय मामला नहीं है। राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया। पर विवाद का मुख्य प्रश्न बार-बार यत्न करने पर भी दोनों पक्षों की सहमति से न निबटाया जा सका। सबसे कठिन विवादग्रस्त प्रश्न स्वेज नहर की रक्षा और सूडान की स्थिति के सम्बन्ध में था, जिसमें नील नदी के पानी के नियंत्रण और बंटवारे का सवाल भी आता था। इन प्रश्नों पर आगे चल कर विचार करने में अधिक सुविधा रहेगी।

मोरक्को
(Morocco)

उत्तरी अफ्रीका के शेष इस्लामी प्रदेशों में हुए उपद्रवों का कारण धार्मिक या पश्चिमी आधिपत्य के विरोध को बताना और भी कम उचित होगा। लीबिया में इटालियनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया जो परेशानी पैदी कर रही थी वह प्रथम विश्व-युद्ध से पहले उत्पन्न स्थिति का पुनः भड़कना मात्र थी। यह आक्रमण के सीधे और स्वाभाविक प्रतिरोध का मामला था—यह प्रतिरोध सैनिक साम्राज्यवाद के उस कार्य के बाद से, जिस से इटली ने अक्तूबर १९११ में लीबियन क्षेत्र पर धावा बोला था, प्रायः लगातार कायम रहा था। मोरक्को तथा फ्रांस के अधीन उत्तरी अफ्रीका के अन्य हिस्सों में स्पेन वासियों के विरुद्ध अब्दुल करीम के सफल विद्रोह से पहले तक असंतोष के कोई गहरे चिन्ह नहीं थे और इस क्षेत्र का बहुत बड़ा हिस्सा स्थायी रूप से शान्त पड़ा था। थोड़ा बहुत राष्ट्रवादी आन्दोलन संसदीय पद्धति पर अवश्य चल रहा था। अब्दुलकरीम ने निस्संदेह आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर अपना दावा पेश किया था, पर यह स्पष्ट है कि यदि शुरू में स्थिति को अधिक चतुराई से संभाला जाता तो रिफी और उनके नेता स्पेनिश संरक्षण से संतुष्ट रहते। स्पेनिश अधिकारियों की राजनैतिक और सामाजिक अयोग्यता के कारण ही वह लम्बी विनाशकारी लड़ाई, जो जुलाई १९२१ में अनबाल की दुर्घटना से शुरू हुई और बहुत भारी खर्च उठा कर फ्रेंच सहयोग से १९२६ में समाप्त की जा सकी, पैदा हुई।

ईरान और अफगानिस्तान
(Persia and Afghanistan)

प्रथम विश्व-युद्ध और उसके बाद की अवस्था पर इस्लामी जगत की प्रतिक्रियाओं के इस सक्षिप्त सर्वेक्षण में सिर्फ ईरान और अफगानिस्तान पर इस के प्रभावों पर विचार करना शेष है। दोनों देशों में परिस्थितियाँ और उनके परिणामों का बहुत सादृश्य दिखाई देता है। दोनों देशों के शासकों में भीतरी सुधार का उत्साह था यद्यपि अमीर की नीति में पश्चिमी विचारों का स्थान शाह की नीति की अपेक्षा अधिक प्रमुख था और सम्भाव्यतः कम व्यापक होने के कारण ही शाह का कार्यक्रम अधिक सफल रहा।

युद्ध से पहले ईरान की स्थिति एक अंतराल राज्य की अनभीष्ट स्थिति थी—इस पर रूस और ब्रिटेन के प्रतिस्पर्धी स्वार्थों का दबाव पड़ता था। ब्रिटेन सामरिक दृष्टि से बलूचिस्तान की सीमा से लगने वाले दक्षिण-पूर्वी सीमान्त में और वाणिज्य दृष्टि से ईरान की खाड़ी में दिलचस्पी रखता था। एंग्लो-पर्शियन तेल-क्षेत्र में उसके हित के कारण दक्षिण-पश्चिम में उसका कुछ हद तक आर्थिक प्रवेश आवश्यक हो गया था। ईरान को देश के उत्तरी आधे भाग में रूस द्वारा प्रयुक्त नियंत्रण से अधिक परेशानी थी। १९०७ के आंग्ल-रूसी समझौते पर जिसमें दोनों यूरोपियन शक्तियों के प्रभाव-क्षेत्र अलग-अलग निश्चित कर दिये गये थे, सकारण ही यह संदेह किया जाता था कि वह इस प्रदेश को अपने क्षेत्र में मिलाने की रूसी दुरभिसंधि पर आड़ करने के

यही चाल खेलने की आवश्यकता हो सकती थी।[1] जो हो, पर ईरान की आत्मा पराधीन थी। इस समझौते से उसकी अपने प्रतिस्पर्धी स्वामियों को एक दूसरे के विरुद्ध लड़ाने की परम्परागत नीति में बाधा पड़ती थी। उसे ऐसे तथ्यों का सामना करना पड़ा, जैसे कि इसकी सेना के उत्तरी और दक्षिणी भागों के अधिकतर अफ्सर क्रमशः रूसी और अंग्रेज़ थे और एक अमेरिकन वित्तीय सलाहकार को, जिसे ईरान ने छांटा था, रूसी राजनैतिक दबाव के कारण देश से निकाल दिया गया।

युद्ध के दिनों में जैसी कि रूस और ब्रिटेन की मित्रता होने के कारण आशा थी, ईरानी तटस्थता में स्पष्टतः जर्मन पक्षपाती झलक मौजूद थी, पर उत्तरी क्षेत्र में रूसी सेनाओं और बुशाइर में ब्रिटिश सेना की उपस्थिति इस तथ्य को अर्थहीन कर देती थी। जब क्रान्ति के परिणामस्वरूप रूसी सेनाएँ हटा ली गईं तब ब्रिटिश सेनाएं देश में से मार्च करती हुईं और उत्तर तथा पूर्व पर अधिकार करती हुईं उनके स्थान पर आगईं। १९१९ में एक आंग्ल-ईरानी समझौते पर हस्ताक्षर हुए। पर इसका अनुसमर्थन न हो सका—इसमें उपबन्धित स्थापना पर कि ईरानी प्रशासन के सब विभागों में ब्रिटिश सलाहकार रखे जायं, ईरान में व्यापक विरोध पैदा होगया। १९२० में बोलशेविक अभिज्ञान के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सेना वापिस बुला ली गई और रूसियों ने निःस्वार्थता का प्रदर्शन करके देश के शोषण के प्रयत्न का कलंक अकेले इंगलैण्ड पर डलवा दिया। फरवरी १९२१ में ईरान के कौसेक डिवीजन के एक सैनिक रिज़ाखाँ के नेतृत्व में किये गये राज्योत्क्षेपण (coup d'e tat) के परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी प्रशासन सत्तारूढ़ होगया और उसने तुरन्त आंग्ल-ईरानी समझौते को मानने से इंकार कर दिया। इसके बाद रिज़ाखां का क्रमशः सेनापति, युद्धमंत्री, प्रधानमंत्री और अन्त में १९२५ के आखिरी दिनों में ईरान का शाह बनना उस देश के घरेलू इतिहास का हिस्सा है, और इसका अन्यत्र अध्ययन करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का तथ्य तो यह है कि ईरान उन विदेशी प्रभावों से सर्वथा मुक्त होगया जो अब तक उसे दबाये हुए थे और उत्साहपूर्ण घरेलू नीति द्वारा नये शाह ने इस स्थिति को सुदृढ़ बना लिया जिसने उसे, अपने किसी निकटकालीन पूर्ववर्ती की अपेक्षा अधिक वास्तविक अर्थ में, सारे देश का स्वामी बना दिया।

इसी प्रकार, अफगानिस्तान के अमीर की संप्रभुता में उन्हीं यूरोपियन शक्तियों, रूस और ब्रिटेन, के दबाव के कारण रुकावट पड़ती थी। रूस के भय के कारण अफ़गान सरकार ने अपनी नीति पर ब्रिटिश नियंत्रण को स्वीकार कर लिया था। १९१७ में रूसी साम्राज्य के खत्म हो जाने पर उसके ब्रिटिश दासता में रहने का एकमात्र प्रेरक कारण समाप्त होगया। यद्यपि अमीर हबीबुल्ला पुरानी मित्रता के कारण शान्त रहा, तो भी १९१९ में उसकी हत्या के अविलम्ब बाद उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अमानुल्ला ने ब्रिटिश भारत पर हमला किया। यद्यपि इस अबुद्धिमत्तापूर्ण कार्य का अन्त उसकी शीघ्र और पूर्ण पराजय में हुआ पर बाद में वज़ीरिस्तान में होने वाले विद्रोहों में अफगान षड्यन्त्रों का महत्त्वपूर्ण भाग रहा और शान्ति की शर्तों

---

१. सर पी. साइक्स, पर्शिया, आक्सफोर्ड क्लैरेंडन प्रेस, १९२२, पृ० १४८

से अफगान विदेश नीति पर ब्रिटिश नियंत्रण को, जो पहले प्रयुक्त किया जाता था; छोड़ने की घोषणा कर दी गई।

दोनों देशों, ईरान और अफगानिस्तान ने अपनी नवप्राप्त स्वतंत्रता को जिन रूपों में मनाया, उनमें उल्लेखनीय सादृश्य था। १९२१ में दोनों देशों ने कई ऐसे संधि सम्बन्ध किये जिनसे पश्चिमी एशिया में सोवियत रूस के लिए लाभकर एक प्रकार की लघुदेश संधि बन गई। फरवरी में सोवियत रूस ने क्रमशः अफगानिस्तान और ईरान से संधियां कीं और इनके बाद मार्च में रूस-तुर्की और तुर्क-अफ़गान संधियां हुईं। १९२६ में तुर्की और ईरान में एक संधि होने से यह क्रम पूरा हुआ।

सर्वे आफ इन्टरनेशनल अफेयर्स की पहली जिल्द में इस्लामी जगत् की घटनाओं का आलोचन करते हुए प्रोफेसर टोयनबी (Toynbee) ने यह सुझाया है कि एक विरोधाभासमय वैषम्य सर्वत्र दिखाई देता है। वह यह है कि लोगों ने पश्चिमी विचारों को तो स्वीकार किया, पर पश्चिमी दासता को उखाड़ फेंका। उपर्युक्त विवरण पढ़ने के बाद शायद पाठक को ऐसा कोई विरोधाभास होने में संदेह होने लगेगा। बल्कि यह कहना उचित होगा कि वे राष्ट्रवादी आकांक्षाएं, जिनसे कई इस्लामी राष्ट्र स्वतन्त्र रूप से अनुप्राणित होगये, स्वयं पश्चिमी विचारधारा का एक हिस्सा थीं, और इस विचारधारा को वे अधिकाधिक अपनाते जा रहे थे और यह प्रक्रम इसीलिए सर्वथा तर्कसंगत था। अरबों के उदाहरण से प्रकट होता है कि उनके आन्दोलन में पश्चिम का इसी कारण कोई विरोध नहीं था। उन्हें कोई भी आधिपत्य चाहे वह अपने सहधर्मियों का हो उतना ही नापसन्द था। अरब में तो नेताओं ने राष्ट्रवादी लक्ष्यों की अपेक्षा साम्राज्यवादी लक्ष्य अधिक प्रदर्शित किया, जिसकी पूर्त्ति के लिए वे आपस में लड़ने को और एक पश्चिमी तथा ईसाई शक्ति की सहायता करने को तैय्यार थे। तथ्य तो यह है कि इस अध्याय में वर्णित सब घटनाओं से कोई एक निष्कर्ष निकालना कठिन है। यदि कोई एक निष्कर्ष हो सकता है तो वह इस्लाम के दायरे से बाहर भी, सारे ही युद्धोत्तर संसार पर लागू होगा। क्योंकि लोकतंत्र, जिसकी रक्षा के लिए युद्ध किया गया बताया जाता था, उस प्रसिद्ध विशेषज्ञ श्री स्क्वीयर्स के इस शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करता है, कि 'जब लड़का इसे पुस्तक से बाहर जानता है तब वह जाता है और इसे करके देखता है।' जिस शब्द से चढ़ती हुई पीढ़ी बहुत यत्नपूर्वक परिचित कराई गई, वह था 'आत्मनिर्णय'।

भाग दो

परिपूर्ति का काल

(The Period of Fulfilment)

(१६२५–१६३०)

: ६ :

१६२५ में संसार की स्थिति

(The World in 1925)

घटनाओं के जो विराम-चिह्न इतिहास-लेखक और उसके पाठकों को क्षण भर साँस लेने देते हैं वे दुर्भाग्य से कभी भी ऐसे समक्रमित (synchronised) नहीं होते कि सारे संसार पर लागू हो सकें। यदि किसी जगह कोलन या पूर्ण विराम है तो दूसरी जगह अधिक से अधिक सिर्फ एक अर्द्ध-विराम है, पर लोकार्नो वाला वर्ष चारों ओर देखने का, और अतीत का आलोचन करने का अधिक सुविधा-जनक अवसर देता है। इसमें इतिहास-लेखक और उसका पाठक लगातार दौड़कर आती हुई घटनाओं के बीच में दबने से बचा रह सकता है। योरोप में यह निश्चित रूप से आरम्भिक समझौते के काल की समाप्ति को अंकित करता है और 'पालन की नीति' के आरम्भ को सूचित करता है जिससे कम से कम अस्थायी स्थिरता की आशा हो गयी थी। पूर्वी एशिया में मई और जून १९२५ की शँघाई और शमीन की घटनाएँ उस काल का श्रीगणेश करती हैं जिसमें चीन के उलझे हुए मामले, जो अब तक मुख्यत: घरेलू चिंता का विषय थे, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के रंगमंच पर अधिकाधक महत्त्व का स्थान घेरने लगते हैं। अमरीका महाद्वीप पर निकारागुआ में चमोरो (Chamorro) का राज्योत्क्षेपण (coup d'e tat) जो प्रायः उसी समय हुआ, जब अक्तूबर १९२५ में लोकार्नो संधियों पर हस्ताक्षर हुए, एक ऐसी घटना का आरम्भ बिंदु बन गया, जिसके परिणामस्वरूप यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा लैटिन अमेरिका में अब तक अपनाई गयी अधिक साम्राज्यवाद की नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए और उसके प्रधानता के दावे का ऐसा प्रबल विरोध हुआ कि जनवरी १९२७ में पनामा ने पिछली गर्मियों में वाशिंगटन में हुई संधि का अनुसमर्थन करने से इन्कार कर दिया। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सम्बन्धों के इतिहास में लोकार्नो संधि का अनुच्छेद ९ डोमीनियनों और भारत को इसकी बाध्यताओं से उन्मुक्त करते हुए यह निर्दिष्ट करता है कि यह अवस्था आ पहुँची है जिसमें युगान्तकारी १९२६ की इम्पीरियल कान्फ्रेंस एक संवैधानिक सूत्र का रूप देने का यत्न करती है। अंततः इस्लामी जगत् में सीरिया में फ्रेंच अधिदेश के विरुद्ध जौलाई १९२५ में द्रूस विद्रोह फूट पड़ता है और उस वर्ष के उत्तरार्ध में गम्भीर महत्त्व धारण कर लेता है। सब जगह हम नई घटनाओं के क्षेत्र में आ रहे मालूम होते हैं और इसलिए यूरोप के मामलों में आई अस्थायी शान्ति का लाभ उठाकर उस समय तक हुई वृद्धि पर विचार किया जा सकता है।

अगर पाठक इस पुस्तक के पहले अध्याय पर अपना दिमाग दौड़ाए तो उसे स्मरण होगा कि शान्ति-सम्मेलन में जिस नीति का श्रीगणेश किया गया, वह कुछ ऐसी कल्पनाओं पर आधारित थी, जिनके आधार पर उस स्थिति की तुलना सरलता

से की जा सकती है जो वास्तव में पैदा हुईं। प्रायः प्रत्येक मामले में यह पाया गया कि १९२० में आशा मिथ्या सिद्ध हुई।

१. यूरोपियन पद्धति के स्थान पर एक ऐसी विश्वव्यापी पद्धति प्रचलित की जाएगी जिसमें अब यूरोप की प्रधानता नहीं रहेगी।

यह, युद्ध के बाद योरोप के शक्तिक्षय और जापान तथा यूनाइटेड स्टेट्स के समृद्धि और महत्त्व में तदनुसार वृद्धि से निकाला जाने वाला स्वाभाविक निष्कर्ष था। इसे जनरल स्मट्स ने जून १९२१ की इम्पीरियल कॉन्फ्रेंस में भाषण करते हुए सबसे अधिक बल के साथ प्रकट किया था।

हमारा झुकाव अब भी यूरोपियन रङ्गमञ्च को सबसे अधिक महत्त्व देने की ओर है। अब ऐसी बात नहीं रही ... ... ये वास्तव में अब प्रथम कोटि की घटनाएँ नहीं हैं ...... निस्संदेह रङ्गमञ्च अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर में पहुँच गया है। मेरा विचार है कि अगले ५० या इससे भी अधिक वर्षों तक प्रशान्त महासागर की समस्याएँ विश्व समस्याएँ होंगी।

यह विचार शायद किसी परवर्ती काल में अपने विधायक रूप में माननीय हो सकता है, यद्यपि यूरोप में बड़े संकट की शक्यताओं को अब भी अनुचित रूप से गौण कर दिया गया मालूम होता है। १९२५ के वर्ष के अन्त तक आमतौर पर यह माना जाता था कि अब भी यूरोप ही घटना-चक्र का केन्द्र था। विश्व पद्धति भी आशाओं के अनुसार सफल नहीं हुई थी। यूनाइटेड स्टेट्स के पृथक् हो जाने से, और वह, 'सर्वशक्तिमान् डालर' तथा मनरो सिद्धान्त के द्वारा पश्चिमी गोलार्द्ध पर जो ईर्ष्याजनक प्रधानता बनाए हुए था उससे, अधिकांशतः अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का नियन्त्रण एक बार फिर प्रादेशिक आधार पर पहुँच गया।

२. यूरोप की संविधा (Concert of Europe) में महाशक्तियों की प्रधानता के स्थान पर एक ऐसी लोकतन्त्रीय-प्रणाली स्थापित होनी थी जिसमें यह प्रधानता छोटे राज्यों की बहुत बड़ी संख्या से प्रतितुलित हो जाती।

दुनियां के भी नहीं तो यूरोप के मामले तो अब भी उस महाद्वीप की महाशक्तियों के नियन्त्रण में थे। चाहे मित्र और सहचारी शक्तियों की सर्वोच्च परिषद् के रूप में और चाहे राष्ट्रसंघ की परिषद् के स्थायी सदस्यों के रूप में, यूरोप की संविधा (Concert of Europe) अब भी निर्णायक भाग अदा कर रही थी। प्रमुख राजनैतिक प्रश्नों पर जिनीवा में होने वाले विचार-विमर्शों का स्थान अन्यत्र होने वाले सम्मेलन अधिकाधिक लेते जा रहे थे और राष्ट्रसंघ की बैठकों में भी यह प्रवृत्ति थी जो मार्च १९२६ की विशेष असेम्बली के बुलाए जाने के दिनों में विशेष रूप से दिखाई पड़ी कि गौण सदस्यों की उपेक्षा करके मामले निबटाने के लिए बड़ी शक्तियों की चाय पार्टियाँ की जाती थीं।

३. स्थानीय मैत्रियों की पुरानी पद्धति के अनुसार एक सामान्य स्वतः प्रेरित सहयोग, जो सब प्रकार के आक्रमण के विरुद्ध निष्पक्ष भाव से प्रयुक्त किया जाए प्रतिस्थापित करना था।

राष्ट्रपति विल्सन के २७ सितम्बर १९१८ के भाषण में अभिव्यक्त 'पांच विशिष्ट बातों' में से तीसरी यह थी :

राष्ट्रसंघ के साधारण और साझे परिवार के भीतर कोई गुट या मैत्री संधि या विशेष प्रसंविदा और समझौते नहीं हो सकते।

उस सिद्धान्त को एक अर्थ में स्वयम् अमेरिकन राष्ट्रपति ने फ्राँस को दी गई निष्फल एंग्लो-अमेरिकन गारण्टी के रूप में भंग किया था, पर इस अपवाद में वे प्रत्यक्ष त्रुटियाँ शायद नहीं थीं, जो यूरोप महाद्वीप के राष्ट्रों के बीच होने वाली स्थानीय मैत्री संधियों में होती हैं। इन समझौतों को भी उस निष्पक्ष और सर्व-सामान्य सहयोग से असंगत अनुभव किया जा सकता था, जिसके लिए राष्ट्रसंघ बनाया गया था, चाहे उन्हें कितनी ही सावधानी से 'राष्ट्र संघ के ढाँचे के अन्दर' प्रकट किया जाए। क्या यह सोच सकना सम्भव था कि फ्राँस पोलिश आक्रमण के विरुद्ध अनुशास्तियाँ (sanctions) लागू करेगा या पोलैंड फ्राँस के विरुद्ध सहयोग करेगा। अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से देखें तो सारे विचाराधीन काल में जो कुछ हुआ वह यही था कि राष्ट्र पुरानी पद्धति पर लौट आए। राष्ट्रसंघ के सदस्य शुरू से ही शान्ति कायम रखने के लिए अपने सामूहिक दायित्वों से मुकर चुके थे। अनुशास्तियों वाले अनुच्छेद को अधिकाधिक शिथिल कर दिया गया था, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना उन कारणों से हुई थी जो अधिक कार्यसाधक और भरोसे-योग्य माने जा सकते थे, पर यह पद्धति वस्तुतः पुराने ढंग की संतुष्ट शक्तियों की मैत्री-सन्धि के बराबर थी। ये लोग परिवर्तनवादियों के विरुद्ध संगठित होते थे और परिवर्तनवादी आपस में समझौता करके युद्धपूर्व की पद्धति पर पूरी तरह लौटने की स्थिति में नहीं थे। ब्रिटेन द्वारा लोकार्नो में किया हुआ समझौता भी स्थानीय समझौता था, जो उसकी परम्परागत नीति से सुसंगत था; यह बेल्जियन तटस्थता पर इसकी गारन्टी जैसा था, और इंगलिश चेनल के तटों और निम्न देशों के बन्दरगाहों की उस सुरक्षा तक सीमित था जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से वह बहुत काल से अपने हितों के लिए अत्यधिक महत्त्व का समझता रहा था। राष्ट्रसंघ की व्यवस्था छोटे झगड़ों में, जैसे ग्रीस और बल्गेरिया का झगड़ा, प्रभावी रूप में प्रयुक्त की जा सकती थी, और जिनीवा ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के एक साधन तथा विश्व लोकमत के उद्दीपन और अभिव्यक्ति के मंच के रूप में अपनी उपयोगिता प्रभूत मात्रा में सिद्ध कर दी थी, पर मसविदा, संधि और प्रोटोकोल का जो हाल हुआ, उससे यह काफी स्पष्ट संकेत मिलता था कि जिन लोगों ने प्रसंविदा पर हस्ताक्षर किये हैं, वे सामूहिक कार्यवाही करने के दायित्व को कितने हल्के रूप में ले रहे हैं।

४. लोकतन्त्र के लिए संसार को सुरक्षित करना।

इस पहलू पर राष्ट्रपति विल्सन ने विशेष रूप से बल दिया था। 'इस संसार के लोगों ने ...... दृढ़ संकल्प कर लिया है कि अब निरंकुश सरकारें नहीं होंगी', 'राष्ट्रसंघ निरंकुश सरकारों को जातिबहिष्कृत करता है' 'और सब से अधिक आश्चर्य-

जनक राष्ट्रसंघ के संविधान का निम्नलिखित निर्वचन है जो १८ सितम्बर १९१९ को ऑकलड, कैलीफोर्निया में दिए हुए एक भाषण में है :

राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में एक मनोरञ्जक उपबन्ध यह है कि ऐसा कोई भी राष्ट्र राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं हो सकता जो स्वशासनकारी राष्ट्र न हो। कोई भी निरंकुश सरकार—ऐसी कोई भी सरकार जो अपनी जनता के संकल्प और मत से नियन्त्रित नहीं होती—इसकी सदस्य नहीं हो सकती।

यह निर्वचन करने वाले एकमात्र अमरीकन राष्ट्रपति ही प्रतीत होते हैं: निश्चित रूप से राष्ट्रसंघ की सदस्यता की अर्हता के रूप में ऐसी कसौटी लागू करने का कोई प्रयत्न नही किया गया, पर युद्ध के परिणाम को आम तौर पर लोक-तन्त्र की विजय माना जाता था और राष्ट्रसंघ को सारत: लोकतन्त्रीय यन्त्र तथा छोटे और दुर्बल राष्ट्रों का त्राता समझा जाता था। ये दोनों आशाएँ द्रुतगति से और उत्तरोत्तर निराशा सिद्ध होनी थीं। लोकप्रिय शासन के लिए सब से अधिक अनुकूल परिस्थितियां शांति के काल में होती है। जब आर्थिक यन्त्र अच्छी तरह और लाभ-दायक रूप में चल रहा होता है और जब राजनैतिक प्रश्न थोड़े, सरल और मुख्यत: घरेलू होते हैं, और क्रमश: परिवर्धित होते हैं। इसके अलावा यह एक ऐसी प्रणाली है जो उन राष्ट्रों में सबसे अच्छी तरह कार्य करती है जिनमें यह धीरे-धीरे और स्वाभाविक रीति से विकसित हुई हो जिससे उनकी जनताओं को राजनैतिक शिक्षण के लिए पर्याप्त अवसर मिल गया हो। युद्धोत्तर विश्व में ये सब अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से अविद्यमान थीं। यह ऐसा ज़माना था जिसमें उदार और निष्पक्ष मस्तिष्कों द्वारा तत्काल निर्णयों की आवश्यकता थी। यह कठिनाइयों का युग था, जिसमें पीड़ित जनता तत्कालीन सुख पहुँचाने की किसी भी राजनैतिक दल की अनिवार्य असफलता को ही देखती थी और परिणामत: उसकी यह प्रवृत्ति होती थी कि वह अपनी निराशा और अधैर्य को अपनी राजनैतिक निष्ठा में जल्दी-जल्दी परिवर्तन करके किसी भी सरकार से, जिसे वे पराजित करने की धमकी दे सकते थे असम्भव बातों की मांग करें, यद्यपि साथ ही वह अपनी विचारहीनता और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता को अनुभव करती थी। वह किसी भी ऐसे नेता को अपनी शक्तियाँ अर्पित करने को तैयार थी जो उन्हें उस मार्गहीन अव्यवस्था से निकालने का वायदा करे। यह ऐसा जमाना भी था जब समझ में न आने वाली बड़ी जटिल आर्थिक समस्याओं को, जो आम आदमी की समझ से बिल्कुल बाहर थीं, फौरन हल करने के लिए शोर मचाया जा रहा था। सबसे बड़ी बात यह है कि लोकतन्त्र का दक्ष कार्य इस बात पर निर्भर है कि बहुत सी सामान्य धारणाएँ मौजूद हों, और परिणामत: लोग सहयोग करने को तैयार हों। जहां लोग धर्म की मतान्धता के साथ विरोधी विचारधाराओं और आदर्शों में विभक्त हों, या जहां प्रधान बहुसंख्यकों की माँगों का अर्थ यह हो या यह प्रतीत होता हो कि उनके विरोधियों को जीने योग्य जीवन का अधिकार नहीं है, वहां लोकतन्त्र की पद्धति चलनी असम्भव हो जाती है। ये प्रतिकूल परिस्थितियां दुनिया में अधिकाधिक मौजूद थीं। इन परिस्थितियों में लोकतन्त्र वहां भी मुरझा गया जहां इसकी जड़ें मज़बूत जमी हुई थीं और नई तथा अपरिचित धरती में यह जीवित रहने की आशा

नहीं कर सकता था। अप्रत्याशित रूप से पर अनिवार्यतः दुनिया नये रूप में फिर एकाधिपत्य पर आ गई। १९२५ में यह प्रवृत्ति सिर्फ शुरू हुई थी। रूस में, 'सर्व-हारा के अधिनायकत्व' से इसकी शुरुआत हुई जिसका अर्थ था बोल्शेविक अल्पतन्त्र की निरंकुशता, इटली में मुसोलिनी के फासिस्ट अधिनायकत्व से, स्पेन में जनरल आइमो डी रिवेरा से और अस्थायी रूप से ग्रीस में जनरल पैंगेलोस के शासन में वह प्रवृत्ति तीव्र रूप में प्रकट हुई, पर यह प्रवृत्ति वातावरण में सर्वत्र पहले ही थी और अगले कुछ ही वर्षों में आश्चर्यजनक द्रुतता के साथ फैल जाने वाली थी। उस राष्ट्रसंघ में जिसमें सदस्यता के लिए राष्ट्रपति विल्सन की लोकतन्त्रीय अर्हताएँ होतीं, सदस्यों की संख्या कुछ भी नहीं हो सकती थी। इन कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय मामले अधिकाधिक कुछ थोड़ी सी महाशक्तियों के नेतृत्व पर निर्भर थे। जिनीवा समकक्ष राष्ट्रों की संसद् होने के बजाय नई योरोप की संविधा के राजनैतिक दाव-पेचों के लिए एक सुविधाजनक क्षेत्र ही अधिक था।

५. राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति शांति और सहयोग का सर्वोत्तम आधार सिद्ध होगी।

हम एक पूर्ववर्त्ती अध्याय में इस कठिनाई का उल्लेख कर चुके हैं कि आत्म-निर्णय (self-determination) के सिद्धान्त का प्रयोग करने में अनिवार्यतः इसका अपना ही अतिक्रमण होता था। यदि इस दृष्टि से क्षेत्रीय निबटारा त्रुटिहीन भी हो जाय, तो भी उन राज्यों का स्थितिज (potential) विरोध तो रहता ही, जिन्होंने 'सब जगह स्वशासन' के सिद्धान्तों को न कभी व्यवहार में लाया और न माना। प्रदेश के पुनर्वितरण पर, जहाँ कहीं मौका मिलता, ऐतिहासिक, आर्थिक और यहां तक कि सामाजिक आधार पर आपत्ति उठाई जा सकती थी। इसके अलावा, राष्ट्रवाद का अपखंडनकारी बल निःस्वार्थ सहयोग पर आधारित योजना से अच्छी तरह मेल नहीं खाता था। उदाहरण के लिए कनाडा इस सिद्धान्त के कारण यह सोचने की ओर झुका कि वह 'एक अग्निरोधक मकान' में स्वयं सुरक्षित रहे और ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के सदस्य के नाते या राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के हस्ताक्षरकर्त्ता के नाते वह अपनी विस्तृत निष्ठाओं को भूल गया।

तथ्य तो यह है कि शायद उस समय की सबसे अशाँतिकारी विशेषता यह थी कि अधिक से अधिक गंभीर और पवित्र प्रतिज्ञाओं की यदि वे बाद में उन प्रतिज्ञा करने वालों को अपने लिए अलाभकर प्रतीत हों तो, उपेक्षा करने की आम प्रवृत्ति थी। निस्संदेह सारे इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें राष्ट्रों ने आपात के समय संधि के कर्तव्यों को नहीं निभाया। पर अब तक कम से कम यह आम आशा की जाती रही कि उन कर्तव्यों को सामान्यतः पूरा किया जावेगा। अनुच्छेद १६ के अधीन राष्ट्रसंघ की अनुशास्तियों की अवस्था में ऐसी आशा ही सब से महत्त्व-पूर्ण बात थी। यदि आक्रान्ता को पहले से यह आशा हो कि यदि पहले मैंने आक्रमण किया तो मेरे मुकाबले में आपसे आप प्रबल संगठित शक्ति खड़ी हो जायगी तो कोई आक्रमण नहीं हो सकता। जब तक यह बात तर्कसंगत रूप से सम्भाव्य भी रहती, तब तक यह अत्यधिक असम्भावित था कि विश्व-शान्ति की गारन्टी देने वालों को

कभी अपनी प्रतिज्ञा भी पूरी करनी होगी। पर अब ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई थी जिसमें किसी ऐसे समझौते पर भरोसा नहीं किया जा सकता था जो प्रत्यक्ष और तात्कालिक स्वार्थ पर आधारित न हो, और इसलिए, मिथ्या भय-प्रदर्शन व्यर्थ हो जाने की संभावना बढ़ गई थी। यह महसूस किया जाता था कि अपनी सब कमियों के बावजूद पुरानी पद्धति इन 'स्याही के धब्बों और गली हुई चर्मपत्र प्रतिज्ञाओं' से अधिक अच्छी थी, जिन्हें कोई भी वास्तव में बंधनकारी नहीं मानता प्रतीत होता था। तो भी, अब जब असुविधाजनक दायित्वों को अस्वीकार करने से कोई अपकीर्ति नहीं प्रतीत होती थी, पुराने ढंग की प्रादेशिक संधियों से भी सुरक्षा अनुभव करना कठिन था। यह भी पक्षों के स्वार्थों पर आधारित मालूम होती थी, हस्ताक्षरों पर नहीं, और बाद की घटनाओं से स्वार्थों में बहुत आसानी से परिवर्तन हो जाना सम्भव था। इस प्रकार यह सम्भव था कि करार पर करार, संधि पर संधि होती जाय पर सुरक्षा की कोई भरोसे योग्य भावना न पैदा हो।

इसके अलावा फिलहाल प्रादेशिक मैत्री की पुरानी प्रणाली काफ़ी सुरक्षित थी। परिवर्तनवादी शक्तियां न केवल बल में कम थीं बल्कि नीति, स्वार्थ और दृष्टि-कोण के अन्तरों के कारण इतनी पृथक् थीं कि वे एक विरोधी गुट का निर्माण न कर सकती थीं। पर इसमें भविष्य के लिए खतरनाक शक्यताएं मौजूद थीं। एक महायुद्ध के बाद समूह-बन्धन के उलटी दिशा में सामान्य प्रवृत्ति होने से यह संकेत मिलता था कि अन्त में रूस, जर्मनी और इटली में मेल-मिलाप हो जायगा। इनमें से पहले दो ने १९२२ में ही रेपेलो की संधि कर के योरोप में खलबली पैदा कर दी थी और फ्रांस तथा इटली का विरोध अधिकाधिक उग्र होता जाता था और शांति सम्मेलन में अपने साथ किए गए व्यवहार पर इटली के असंतोष ने उसे अनिवार्यतः परिवर्तनवादी शिविर में आने की ओर प्रवृत्त कर दिया। इन तीन शक्तियों में मौजूद मतभेदों की प्रत्येक समाप्ति से और अन्ततः जर्मनी के अनिवार्य पुनरुत्थान से एक ऐसी परिस्थिति आती हुई दिखाई दे सकती थी जिसमें युद्धपूर्व की पद्धति की बुरी और अच्छी दोनों विशेषताएं आसानी से देखी जा सकें। इस खतरे की शक्यताओं पर बाद के अध्यायों में अधिक विस्तार से विचार करना होगा।

इटली की परराष्ट्र नीति और दक्षिण-पूर्वी योरोप

(The Foreign Policy of Italy and South Eastern Europe)

फासिज्म का जन्म

(The Genesis of Fascism)

इतिहास की विस्तृत पार्श्व-भूमि में देखें तो वह घटना, जो इटली के हाल के इतिहास में सम्भाव्यत: सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटना मानी जायगी, अक्तूबर १९२२ में फासिस्ट शासन की स्थापना होगी। परन्तु इसके शुरू होने के बाद आरम्भिक वर्षों में इस आन्दोलन को आमतौर पर मुख्यतया घरेलू महत्त्व का समझा जाता था। मुसोलिनी के भाषणों और कार्यों की प्रदर्शित होने वाली भीषणता के बावजूद उसके उस कथन में आस्था रखी जाती थी जिसका उसने १९३० में बहुत हल्के तौर से प्रतिवाद किया था कि फासिज्म कोई निर्यात करने योग्य वस्तु नहीं है। सच तो यह है कि अपने शुद्ध विचारात्मक रूप में फासिज्म कुछ समय तक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण रहा और इस पुस्तक के पहले संस्करणों में इसकी अनुचित रूप से उपेक्षा की गई क्योंकि इसके घरेलू पहलुओं की दृष्टि से इसे इस पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय से असंगत समझा गया और उसके साधारण तथ्य इतनी हाल की घटना थी कि यह माना जा सकता था कि वे पाठक को याद ही होंगे, परन्तु सर्वाधिकारवाद की विचारधारा को अब एक ऐसा घटक मानना होगा जिसका विश्व इतिहास में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है कि उस काल के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का वर्णन करने वाली किसी भी पुस्तक में उसके उद्गम और स्वरूप की व्याख्या और विवेचना अवश्य की जानी चाहिए।

विशेष रूप से उस प्रचलित गलत धारणा को दूर करना आवश्यक मालूम देता है जो इस तथा ऐसे ही सर्वाधिकारवाद के आन्दोलनों (totalitarian movements) को रूढ़िवादी प्रतिक्रिया मानती है। दूसरी ओर, यह बात साफ तौर से अनुभव कर लेनी चाहिए कि अधिकांश अवस्थाओं में सर्वाधिकारी अधिनायक उन हल्कों से आया जो समाजवाद और राजनैतिक वाम पक्ष से सम्बन्धित थे। रूसी उदाहरण की दृष्टि से यह एक ऐसी सत्यता है जिसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पर उन आन्दोलनों के बारे में भी यह उतनी ही सही है जिन्होंने इटली में और जर्मनी में सत्ता प्राप्त की। जर्मनी में हिटलर ने अपना राजनैतिक नेतृत्व का जीवन मजदूर वर्ग के मामूली सदस्य के रूप में आरम्भ किया, उसके घनिष्ठतम साथी गौटफ्राइड फीडर जैसे व्यक्ति उग्र पूँजीपति-विरोधी थे, जिन्होंने अधिकृत नात्सी कार्यक्रम का मसविदा तैयार किया था, जिसके आर्थिक अंश सारत: समाजवादी थे, पार्टी का मूल नाम सीधा जर्मन मजदूर पार्टी (Deutsche Arbeiterpartei) था और इसके संशोधित नाम एन० एस० डी० ए० पी० या नेशनल सोशिलिस्टश ड्यूट्स आरबिटर पार्टी ने भी वही साहचर्य बनाये

रखा। सारे मीन कंफ (*Mein Kamfp*) में इस बात पर बल दिया गया कि इस आन्दोलन की प्रेरणा मध्य वर्ग या बूर्जुआ की अपेक्षा औद्योगिक सर्वहारा की आम जनता के लिए है।

प्रसंगत: यह स्मरण दिलाना उपयोगी होगा कि ब्रिटेन में भी किस प्रकार ब्रिटिश फासिस्ट सर ओसवाल्ड मोसले १९२४ से मजदूर दल का प्रतिनिधि था और १९२९-३० में समाजवादी सरकार का सदस्य था; तथा सर्वाधिकारवादी विचार-धारा के नारवेजियन व्याख्याता गद्दार क्विज़लिंग ने अपना राजनैतिक कार्यारम्भ चरम वाम पक्ष ग्रहण करके किया था। उसने क्रान्तिकारी प्रयोजनों के लिए प्रयोग में लाने के वास्ते रेडगार्ड या लाल सन्तरी संगठित करने में अपनी सहायता देने का प्रस्ताव किया था।

पर सबसे बड़ी बात यह है कि मुसोलिनी, जैसा कि हम देखेंगे, क्रान्तिकारी समाजवाद की पैदावार था। तथ्य तो यह है कि इस आन्दोलन की अधिकतर विशेषता समाजवाद में ही पाई जाती है—व्यक्ति का राज्य के अधीन होना, हिंसात्मक उपायों को तरजीह और भाषण देने की कला पर पूर्ण भरोसा। अन्तिम बात महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि अपनी अन्तिम सफलता के लिए बहुत काफी जन-समर्थन पर निर्भर होने के कारण ही ऐसे अधिनायक भाषण और विचार की स्वाधीनता को दबा देते हैं और शिक्षा को दूषित करके एकपक्षीय प्रचार की प्रणाली में परिवर्तित कर देते हैं। लोकमत पर यह निर्भरता ही बीसवीं सदी के अत्याचारी शासक (tyrant) का पूर्ववर्ती एकाधिपतियों से सारत: भेद प्रदर्शित करती है।

निःसन्देह, यह सच है कि कई योरपीय देशों में संसदीय लोकतन्त्र के असन्तोष-जनक संचालन के कारण अधिक सीधे प्रतिक्रियावादी ढंग के अधिनायकीय शासन पैदा हो गये जो अधिकतर उदाहरणों में, सेना के जनरलों द्वारा नियन्त्रित थे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि सैनिक अफसर का प्रशिक्षण संदिग्ध प्रश्नों को हल करने के लिए बल-प्रयोग और व्यवस्था कायम रखने के लिए ही होता है और यह उन्हें सत्ता तथा अनुशासन पर निर्भरता की शिक्षा देता है। किसी राजनैतिक गुत्थी को हल करने के लिए, स्वभावत: सैनिक उलझी हुई गांठ को काट देने की कोशिश करेगा। परन्तु इन व्यक्तियों के मन का सारा झुकाव राजनीतिज्ञ के मन के झुकाव से इतना दूर होता है कि वे अधिकांशत: कोई राजनैतिक विचारधारा बनाने के अयोग्य होते हैं, और सच तो यह है कि वे बहुधा अपने ही हस्तक्षेप को अस्थायी समझते हैं। सैनिक उद्घोषणाओं द्वारा राजनैतिक परिवर्तन इतिहास में कोई नई बात नहीं और यद्यपि ये अपवाद मौलिकता के अभाव में ऐसी ही सरकारों के प्रचलित रूप का अनुसरण करने लगते हैं, ये सर्वाधिकारवादी आन्दोलन के साधारण स्वरूप को प्रभावित नहीं करते।

इटली में जिन परिस्थितियों से फासिज्म का विकास हुआ उनसे, यद्यपि एक अर्थ में वे उस देश की विशिष्ट परिस्थितियाँ थीं, इस विचार की पुष्टि होती है कि एकाधिपत्य का यह रूप तब पैदा होता है जब लोकतन्त्रीय भावना प्रभावी संसदीय शासन से असंगत हो जाती है। इटली में एक संयुक्त लोकमत के विकास के लिए या

राजनैतिक दलों के मध्य उस आपसी सहिष्णुता के लिए जिसके होने पर संसदीय प्रणाली ठीक तरह कार्य कर सकती है, अवस्थाएं सदैव प्रतिकूल रहीं। रोमन साम्राज्य के ध्वंस से लेकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के पहले तक इस प्रायद्वीप का इतिहास अनेक अलग-अलग छोटे-छोटे सत्ताधिकारियों का इतिहास था जो बहुधा अन्य देशों के नियन्त्रण में होते थे और गृहयुद्धों के कारण एक दूसरे से अलग रहते थे, और नगर-नगर में आपस में वैर होता था। देश का राष्ट्रीय एकीकरण, जो १८७० से पहलेअन्तिम रूप नहीं ले सका, विभिन्न उपायों एवं विभिन्न उद्देश्यों के संयोग के कारण सिद्ध हो सका। इनमें से कुछ का लक्ष्य शुरू में यह था कि मौजूदा शासनसत्ताओं का एक संघ (federation) बना दिया जाय; कुछ लोग एक संयुक्त इटालियन गणराज्य के पक्ष में थे तथा कुछ और लोग पीडमौन्ट राजतन्त्र को ही क्रमश: विस्तृत करने के रूप में सोचते थे। एक और कल्पना जियोबर्टी ने की थी, और वह यह थी कि कैथोलिक सम्प्रदाय के आधार पर पोप की अध्यक्षता में संघ या फैडरेशन का निर्माण हो। इनके लिए बताये जाने वाले और अपनाये जाने वाले साधन भी इतने ही भिन्न-भिन्न थे। मैंवेज़िनी के गुप्त षड्यन्त्रात्मक उपायों से लेकर कैवूर की राजनीतिज्ञोचित कूटनीति तक भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। सब में एक वास्तविक सामान्य घटक आस्ट्रिया के विदेशी आधिपत्य से घृणा थी—उत्तर में यह आधिपत्य प्रत्यक्ष था और अन्यत्र अप्रत्यक्ष। आस्ट्रियन संरक्षण में अनेक स्थानीय शासक मौज कर रहे थे। जब इस अस्थायी संगठन का कारण दूर हो गया, तब इटालियन एकता का खंडित रूप फौरन दिखाई देने लगा। यह विभिन्नता दो बाद की घटनाओं १८७० में रोम पर जबर्दस्ती आधिपत्य के परिणामस्वरूप कैथोलिक चर्च की शत्रुता तथा उत्तर में उद्योग की वृद्धि जिससे राजनैतिक मतभेद का नया स्थानीय तत्त्व पैदा हो गया से और अधिक बढ़ गई। गरीबी और भारी कराधान (taxation) ने जो रिसोरजीमेन्टो (Risorgimento) की देन था, शासन की समस्याओं को और भी जटिल बना दिया। इन परिस्थितियों में संसदीय प्रणाली का सफल परिचालन अनेक न्यूनाधिक विरोधी पक्षों के विषमांग बहुमत को संतुलित रियायतों और निर्वाचन सम्बन्धी सौदेबाजी की प्रणाली से अधिकाधिक चतुराई के साथ अपने पक्ष में किये रखने पर निर्भर था, जिससे प्रत्येक पक्ष में एक असन्तुष्ट राजनैतिक दृष्टि से बलहीन अल्पसंख्यक वर्ग रह जाता था और निर्वाचन-क्षेत्रों का नियन्त्रण और भी कम कीर्तिकर तरीकों से किया जाता था। गियोलिटी के, जो प्रथम विश्व-युद्ध से ठीक पहले की दशाब्दी में इटालियन राजनीति पर छाया रहा, हृदयहीन प्रबन्ध में इन दांवपेंचों का यह परिणाम रहा कि एक प्रबल संसदीय नेता की प्रायः अधिनायकता कायम हो गई, जिसमें कोई संगत सिद्धान्त दिखाई नहीं देता था। इन परिस्थितियों में इटालियन समाजवाद का स्वरूप संसदीय पद्धति की विजय से निराश होकर अधिकाधिक उग्र और क्रान्तिकारी हो गया।

बेनिटो मुसोलिनी, जिसके नाम का स्पेनिश पूर्वार्द्ध पादरी-विरोधी मेक्सिकन राष्ट्रपति बैनिटो जुआरेज का, जिसने सम्राट् मैक्सीमिलियन को मरवा दिया था, खास तौर से स्मरण कराता है, रोमाग्ना के कुख्यात उपद्रवी क्षेत्र के एक राजनैतिक प्रवृत्ति वाले लोहार का पुत्र था। वह सबसे पहले १९११ में गियोलिटी द्वारा छेड़ी गयी

लीबिया की लड़ाई के विरुद्ध हिंसात्मक आन्दोलन में उग्र क्रान्तिकारी ढंग के एक समाजवादी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस अवसर पर उसके कार्यों ने उसे कुछ महीनों जेल में रखा, जहाँ से वह प्रमुख समाजवादी पत्र 'एवन्टी' (*Avanti*) का सम्पादक हो गया और उसने अपनी पार्टी के उस नरमदली वर्ग को सत्ताहीन कर दिया जो गियोलिटी के साथ मेलजोल का पक्षपाती था।

१९१४ की लड़ाई छिड़ने से मुसोलिनी के रुख में एक अद्भुत परिवर्तन आ गया जिसकी दोस्तों और दुश्मनों ने अलग-अलग व्याख्या की थी। कुछ समय तक हिचकिचाने के बाद वह युद्ध में इटालियन हस्तक्षेप के प्रबल पक्षपाती के रूप में मैदान में आ गया। पश्चिमी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में हस्तक्षेप का निर्णय प्रधानमन्त्री श्री सैलान्डरा (Signor Salandra) ने १९१५ में शुद्ध भाड़ैती आधार (mercenary grounds) पर किया था। दोनों पक्षों के साथ बातचीत करने के बाद उसने सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को अपने देश की सेवाएं बेच दीं। वह युद्ध के आदर्शवादी पहलुओं में कोई दिलचस्पी नहीं रखता था। यह बात इस तरह स्पष्ट है कि उसकी युद्ध-घोषणा आस्ट्रिया के विरुद्ध थी, तो भी उदार लोकतन्त्र और छोटे राष्ट्रों के अधिकारों की ओर से युद्ध में शामिल होने के लिए एक अधिक कीर्तिकर युक्ति मौजूद थी जो इटली के लोकमत को उत्तरोत्तर प्रभावित कर रही थी। तो भी इटालियन समाजवाद ने इस तथा अन्य किसी भी युद्ध का लगातार विरोध करना जारी रखा जिससे इसका वैटिकन और गियोलिटी के साथ विचित्र साहचर्य हो गया। इसलिए मुसोलिनी के फूट जाने का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि वह पार्टी से और अपने सम्पादकीय पद से निकाल दिया गया। उसने गहरे क्षोभ के साथ और बदले की साफ-साफ धमकी देते हुए विदा ली।

मुसोलिनी के प्रेरक भाव के विषय में यह कहा गया है कि उसमें शक्ति की सिद्धान्तहीन लिप्सा कार्य कर रही थी जिसे भूतपूर्व विरोधियों के साथ असंगत संबंध में और विभेद करने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता था। यदि वह इसके विपरीत मार्ग पकड़ता तो उसे उनका साथी बनना पड़ता। दूसरी ओर ऐसे शत्रुओं से समझौता करना बड़ा कड़वा घूंट था। यह भी सम्भव है कि मुसोलिनी ने ऐसे युद्ध को क्रान्तिकारी भावना के प्रसार का अवसर समझ लिया हो। तो भी, हम उसे सन्देह का लाभ प्रदान करें और एक न्यायोचित युद्ध में, जिसके उद्देश्यों में एक यह बताया जाता था कि संस्था के रूप में युद्ध को समाप्त कर दिया जायेगा, भाग लेने का प्रतिपादन करने के उसके निश्चय की प्रशंसा करते हुए हार्दिक विश्वास का श्रेय दें तो अच्छा हो।

उसके मन में चाहे जो कारण हो, अब उसने पूरी शक्ति के साथ एक हिंसात्मक आन्दोलन के अनुरूप कार्य में अपने आप को लगा दिया जिसके परिणामस्वरूप लोकमत निश्चित रूप से उत्तेजित हो सका और उसने गियोलिटी (Giolitti) की योजनाओं को विफल कर दिया तथा मई १९१५ में सैलान्डरा की नीति का समर्थन किया। इस आन्दोलन के काल में ही भावी ड्यूचे (नेता) ने एक प्रमुख सिन्डीकलिस्ट या ट्रेड यूनियनवादी वह विचारधारा, जो उत्पादन के साधन मजदूर संघों के नियन्त्रण में रखने की पक्षपाती है, मानने वाले कौरीडोनी के साथ मिलकर फैसीडी कोम्बैटीमेन्टो

(Fasci di Combattimento) या योद्धादल के नाम से किसानों के गिरोह भरना करने आरम्भ किये।

युद्ध ने जो मार्ग पकड़ा उससे आशाएं भंग हो गईं। इटली के हस्तक्षेप से शीघ्र ही आशा के अनुसार पासा नहीं पलटा। लड़ाई लम्बी और खर्चीली थी और ऐसी अकीर्तिकर और शोभाहीन घटनाओं से कलंकित थी जैसे केपोरैटो का पतन। शान्ति से, जिसमें हस्तक्षेप की निर्धारित कीमत विल्सनीय सिद्धान्तों के बीच में आ जाने के कारण पूरी-पूरी वसूल न की जा सकी, सिर्फ जन-असन्तोष की वृद्धि हुई। इस प्रकार अधिकृत समाजवाद के पक्ष को शुरू में अपने युद्ध-विरोध के कारण बहुत अधिक लाभ हुआ। समाजवादी, देश में प्रबलतम राजनैतिक इकाई हो गये। १९१९ के चुनावों में १५६ सोशलिस्ट निर्वाचित हुए और इसकी तुलना में कोई अन्य अकेली पार्टी नहीं ठहरती थी। साथ ही, इससे उन्हें संसदीय बहुमत नहीं प्राप्त हुआ और रूसी क्रान्ति के हाल के उदाहरण के कारण सैनिक पराजय को सर्वहारा अधिनायकवाद के लाभ के लिए प्रयुक्त करने का एक मार्ग दिखाई देता था। संवैधानिक दीर्घसूत्रता की तुलना में 'सीधी कार्यवाही' के लाभ फियूम में डैनन्ज़ियो (D' Annunzio) के दस्युकार्य जैसी घटनाओं से और अधिक प्रचारित हो गये। नई संसद् के उद्घाटन पर समाजवादी सदस्य एक साथ उठे और भवन-त्याग कर गये। कुछ समय बाद पार्टी की अखिल राष्ट्रीय परिषद् ने बोलशेविक ढाँचे पर मज़दूरों की परिषदें बनाने का प्रस्ताव पास किया।

संसदीय लोकतन्त्र विफल हो गया। श्री निटी की सरकार को आज्ञप्ति (decree) द्वारा विधान बनाने को बाधित होना पड़ा। इधर व्यापक असन्तोष का परिणाम यह हुआ कि किसानों ने जगह-जगह ज़मीन हथिया ली और छुट-पुट लूट को बहुत बढ़ावा मिला। यह सब अधिकृत तौर से कराया तो नहीं गया था पर, स्वभावतः इसके लिए प्रचलित बोल्शेविज्म को जिम्मेवार ठहराया गया। सितम्बर १९२० में मिलान में तथा अन्य स्थानों पर मज़दूरों द्वारा फैक्ट्रियों पर कब्जा करने की प्रसिद्ध घटना हुई।

ये अतियाँ, जो मुसोलिनी के अपने तरीकों से बहुत मिलती-जुलती थीं, एक ऐसी पार्टी के संरक्षण में हुईं जिसके साथ उसका सम्बन्ध सदा के लिए समाप्त हो चुका था और जिसके नेताओं से बदला लेने की उसने कसम खाई हुई थी। फासिस्टों को दूसरी ओर अपने कार्य प्रदर्शित करने का स्थान मिल गया और इस प्रकार उनके हिंसात्मक उपायों को अप्रत्याशित क्षेत्रों से समर्थन और अनुमोदन प्राप्त हो गया। १९२१ के चुनावों में उनकी गुण्डागर्दी का उपयोग गियोलिटी के पक्ष में हुआ, पर मुसोलिनी अब भी क्रांति की अपेक्षा संसदीय शासन की बात कम सोच रहा था। 'हमारी क्रान्ति' उसने कहा था, 'ऐसी है जो बोल्शेविक रूप को उखाड़ फेंकेगी और यह आशा करेगी कि बाद में मौजूद उदार या लिबरल राज्य से बाद में निपटा जाएगा[1]'। तथ्य तो यह है कि उसने समाजवाद और राष्ट्रवाद के बलों के संयोजन से उत्पन्न शक्ति को पहचान लिया

---

१. सी० जे० एस० स्प्रिग की दी डेवलैपमेन्ट ऑफ मॉडर्न इटली में उद्धृत, लन्दन, डकवर्थ, १९४३, पृष्ठ १९४।

था, जिसे बाद में हिटलर ने भी पहचाना था। जिन साहसकारियों ने डेनन्जियो को क्षणिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में सहायता की उनमें से उसे बहुत से समर्थक प्राप्त हुए। स्वभावतः उस समय फैली हुई अराजकता का संपत्तिशाली वर्ग ने भी इस विरोधाभास रूप त्राता के आविर्भाव का स्वागत किया।

यह पशु बड़ा मरखना है
जाने कब हमला करदे, इससे अपनी रक्षा करो।

(एक फ्रेंच कहावत)

पर सामान्यतः इस वर्ग में लोगों की संख्या इतनी थोडी होती है कि यह किसी से दो-दो हाथ नहीं कर सकता और संस्थापित विधि पर इतना निर्भर होता है कि इसे क्रान्ति की अराजकता नापसन्द होती है।

तथ्य तो यह है कि इस समय सहानुभूति की लहर समाजवादियों के प्रतिकूल हो रही थी और यह कथन बहुत कुछ सही है कि अक्तूबर १९२२ में रोम पर कूच करके फासिस्टों के राज्योत्क्षेपण या सत्ता हथियाने से पहले उनके विरोधी अपनी गोली चला चुके थे और उनका अपना ही अस्तित्व-कारण (raison d'etre) विलुप्त हो चुका था। यह बात विवादास्पद है कि पहले-पहले अगस्त की आम हड़ताल में सोशलिस्टों के अन्तिम प्रयत्नों की विफलता का क्षेत्र कहां तक फासिज्म को है। तो भी, इटली में संसदीय लोकतन्त्र की असफलता सारे देश में एक व्यापक विश्वास बन चुकी थी और अब यह आशा करना व्यर्थ था कि मुसोलिनी जैसे प्रबल और आकांक्षापूर्ण चरित्र का आदमी अपना पुरस्कार बटोरने से बाज आएगा। पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसके सत्तारूढ़ होने की प्रथम अवस्था का रूप सतर्कतया वैधानिक था। १९२४ के पहले तक उसने तथा-कथित सुधार द्वारा निर्वाचन विधि में संशोधन करके अपनी शक्ति को पक्का नहीं किया था; एक वर्ष बाद तक सर्वाधिकार-वादी प्रणाली और इसके सहगामी समस्त व्यक्तिगत स्वाधीनता के उन्मूलन की खुले आम उद्घोषणा नहीं की गई थी।

अन्त में मार्क्सवादी कम्यूनिज्म के कटु विरोध की, जो इटालियन फ़ासिज्म और इसके जर्मन प्रतिरूप की सामान्य विशेषता है, व्याख्या में दो शब्द कह देना शायद उचित हो। मुसोलिनी के मामले में तो, जैसा हम देख चुके हैं, इसका आंशिक कारण निजी विद्वेष था, पर इस विरोध को राष्ट्रवाद के संयोग से अनिवार्यतः बल मिल गया, क्योंकि मार्क्सवाद सारतः अन्तर्राष्ट्रीय है; हिटलर ने मीन कैम्फ (*Mein Kampf*) के पृष्ठों में इसके इस गुण के कारण ही इस पर लगातार दोषारोपण किया, इसके अर्थशास्त्र के कारण नहीं। कम्यूनिज्म या साम्यवाद का यह विरोध फासिज्म और नाज़ीवाद की ऐसी विशेषता है जिससे इस आम भ्रान्ति का औचित्य सिद्ध होता है कि ये आन्दोलन रूढ़िप्रिय थे। यह सच है कि डूचे और फ्यूहरर के समर्थकों में दक्षिण पन्थी लोग भी शामिल थे जिन्होंने इन नेताओं का, एक घृणित नेता के विरुद्ध कार्यसाधक मित्र के रूप में, स्वागत किया, पर ये दोनों नेता सारतः ऐसे लोग थे जिनका दृष्टिकोण सर्वहारा-वामपन्थी का दृष्टिकोण था और उनके दोनों

आन्दोलनों का शुद्ध वर्णनात्मक नाम फासिज्म न होकर नेशनल सोशलिज्म या राष्ट्रीय समाजवाद है।

इटली और शान्ति सन्धियां

(Italy and the Peace Treaties)

परन्तु इस इतिहास-पुस्तक में वर्णित काल के आरम्भिक वर्षों में इटालियन परराष्ट्र नीति में विचारधारा सम्बन्धी दृष्टिकोण का बहुत गौण स्थान था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में मुख्य घटक शान्ति समझौते पर इटालियन असन्तोष था। यद्यपि शान्ति संधियों के कारण इटली ने १९१५ में हैब्सबर्ग साम्राज्य के साथ समझौता करते हुए हस्तक्षेप न करने की कीमत के रूप में आस्ट्रिया में जितना प्रदेश मांगा था उससे बहुत अधिक उसे मिल चुका था, पर समझौते का अन्तिम परिणाम यह था कि वह असन्तुष्ट, हताश और अपने को बहुत क्षतिग्रस्त अनुभव करता था। परिणाम यह था कि उसे परिवर्तनवादी और परिवर्तनविरोधी शक्तियों के बीच में विशेष मध्यवर्ती स्थान दिया गया। आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को सख्ती से लागू किया जाता तो उसे अपने अत्यन्त अभिलषित ब्रेनर सीमान्त से वंचित होना पड़ता जो उसे स्पष्टत: इस सहमति पर दिया गया था 'कि इटालियन सरकार जर्मन मूलवंश की अपनी नई प्रजा के प्रति उनकी भाषा, संस्कृति और आर्थिक हितों के मामलों में एक विस्तृत उदार नीति अपनाना चाहती थी'।[1] उसके मंत्रियों की उस घोषणा पर, जिसे ऊपर उद्धृत संदर्भ निर्दिष्ट करता है, भरोसा करके इटली को उन नियंत्रण उपबन्धों से भी मुक्त कर दिया गया था जो अल्पसंख्यक संधियों द्वारा अन्य राष्ट्रों पर लागू किये गए थे, पर और जगह विल्सनीय सिद्धान्तों के लागू होने से जिन्हें वह अपनी न्याय्य मांगें समझता था, उनके पूरा होने में बहुतेरी बाधा पड़ी थी। इटालियनों का यह कहना था, जो प्राविधिक दृष्टि से कुछ उचित भी था, कि हैब्सबर्ग साम्राज्य के साथ की गई सैनिक सुलह उन शर्तों से मुक्त थी जो मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी के साथ शान्ति के रूप में स्वीकार की थी, पर यह कथन चाहे कितना भी सही क्यों न हो, सुसंगति की दृष्टि से एक से सिद्धान्त लागू करना जरूरी था[2] और अमरीकन राष्ट्रपति ने अप्रैल १९१९ में इटालियन प्रतिनिधि-मण्डल से स्वयं यह कहा था कि मुझे यह अनुभव होता है कि जर्मन और आस्ट्रियन संधियों पर लागू सिद्धान्तों में विभेद करने के लिए मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ।[3] फ्रेंच और ब्रिटिश सरकारों की स्थिति इटली और अमरीका के बीच मे कुछ अनिश्चित सी थी। उन्होंने स्वीकार्य समझौते के लिए बड़ा यत्न किया पर साथ ही वे 'स्वेच्छया समझौता न होने की अवस्था में अपने-आप को लन्दन की संधि से बंधा हुआ मानते थे'[4]। पर पेरिस सम्मेलन में सम्बन्ध कठिन और तनावपूर्ण हो गए थे, और एक समय तो इटालियन प्रतिनिधि-

---

१. मित्र और सहचारी शक्तियों का उत्तर, २ सितम्बर सन् १९१९।

२. देखिए इन पत्रों के बीच १७, १८ और २७ अक्तूबर, १९१८ के नयपत्र। हिस्ट्री ऑफ द पीस कॉन्फ्रेंस, जिल्द १, पृष्ठ ४४९, ४५२ और ४५६ तथा देखिए अध्याय १, पृष्ठ १८।

३. हिस्ट्री आफ द पीस कान्फ्रेंस, जिल्द ५, पृष्ठ ३९७।

४. हिस्ट्री आफ द पीस कान्फ्रेंस जिल्द ५, पृष्ठ ४२९।

मण्डल अस्थायी रूप से भवन-त्याग भी कर गया था। यूगोस्लाविया के साथ सीमान्त का फैसला अन्त में दोनों संबद्ध देशों की सीधी वार्ता से हुआ जिसके परिणाम २ फरवरी १९२१ की रैपेलो संधि में समाविष्ट किये गए।

मुसोलिनी का रुख
(Attitude of Mussolini)

परन्तु यह संधि इटली में आमतौर से नापसन्द की गई और शान्ति-वार्ता में इटालियन सरकार पर कमजोरी दिखाने का जो आरोप लगाया गया उससे फासिस्ट आन्दोलन की वृद्धि में बड़ी मदद मिली। अक्तूबर १९२२ में मुसोलिनी की सत्ता आरम्भ होने पर ड्यूचे ने अपना यह मत गुप्त नहीं रखा कि रैपेलो की संधि (Treaty of Rapallo) शोक-जनक सौदा थी, पर उस समय रैपेलो की संधि को अस्वीकार करना असम्भव था क्योंकि इसमें सारे समझौते के सवाल को फिर शुरू कर देने का जोखिम था। यह ऐसा कदम था, कि व्यापक शांति को इससे जो खतरे थे उन्हें छोड़ भी दें तो भी; यह उस प्रदेश में इटली के लिए प्रत्यक्षतः अलाभकर था जो उसे टाईरोल में प्राप्त हुआ था। तथ्य तो यह हैं कि मुसोलिनी को अपने आरम्भिक भाषणों में, एक ओर तो उसके सत्तारूढ़ होने से योरप में उत्पन्न भय को दूर करने के लिए आवश्यक शांतिमय भावनाओं के, और दूसरी ओर, उसके पूर्ववर्ती भाषणों को देखते हुए उसके अनुयायी उससे जिस रुख की आशा करते थे, उसके बीच में बहुत कठिनाई से और संभल कर चलना पड़ता था। उसके पहले प्रयत्न इटली का प्रभाव और दब-दबा पुनः स्थापित करने और यह भी प्रचारित करने में लगे कि उसके देश को उपेक्षित या अपमानित नहीं किया जा सकता पर वह इतना अधिक यथार्थवादी था कि तत्काल अप्राप्य उद्देश्यों के पीछे नहीं दौड़ता था। इसलिए उसने प्रचंड शब्दों द्वारा और ऐसे कार्यों द्वारा जैसे कौर्फू पर बमबारी, फासिस्ट लोकमत को प्रसन्न करना जारी रखा, पर दूसरी ओर उसने यह नीति अपनायी कि एक बार की गई संधियों का पालन होना चाहिए, और उसने यह सिद्धान्त इटैलो-यूगोस्लाव अभिसमयों पर भी लागू किया जो उसके सत्तारूढ़ होने से पहले रोम में हस्ताक्षरित हुए थे। पर, यदि इस काल में मुसोलिनी के अधिक युद्धोत्तेजक भाषण प्रायः दूसरे भाषणों से और अमल में अप्रत्याशित नरमी से प्रतितुलित हो जाते थे तो भी यह मानना सुरक्षित नहीं था कि यह नरमी फासिस्ट नीति की सही दिशा और अन्तिम लक्ष्यों को निरूपित करती थी।[1]

फ्रांको इटालियन तनाव के कारण
(Causes of Franco-Italian Tension)

फासिस्ट अधिनायकवाद के उदय ने अनिवार्यतः इटली और फ्रांस को विरोधी शिविरों की ओर धकेलना शुरू किया। फ्रांस लोकतन्त्रीय शासन का नमूना था और

१. देखिये मुसोलिनी का २६ मई १९२७ का भाषण: 'उस समय हम ऐसी स्थिति में हों जब १९३५ और १९४० के बीच उस जगह पहुँच जायेंगे जिसे मैं योरपीय इतिहास का निर्णायक बिन्दु कहता हूँ—उस समय हम ऐसी स्थिति में होंगे जब हम अपनी आवाज का अहसास करा सकें और अन्त में अपने अधिकार अभिज्ञात करा सकें।'

अपनी महान् क्रांति के सिद्धांतों के प्रति निष्ठावान था, इटली अब एक नई निरंकुशता का, जो लोकप्रिय शासन का बिल्कुल विरोधी रूप थी, निरूपण करता था और अन्य लोकतन्त्रों में, जिनके आदर्शों को वह नफरत की निगाह से देखता था, संक्रमण का सम्भव स्रोत था। संघर्ष का यह आधार इस तथ्य के कारण और उग्र हो गया कि फासिस्ट विरोधी शरणार्थियों में से बहुत सारे फ्रांस में शरण लेकर रहने लगे, और इस प्रकार फ्राँस इटालियन सरकार के विरोधी प्रचार का और ड्रूचे के जीवन के विरुद्ध षड्यन्त्रों का भी अड्डा बन गया। फ्राँस यह कह सकता था कि यह उसका दुर्भाग्य था, भूल नहीं, कि ये प्रवासी उसके विरोध-प्रदर्शनों के बावजूद उस पर लाद दिये गये थे और उनके साथ पेशेवर अपराधियों का और अधिक अवांछनीय अंश भी आ गया था, पर यह तथ्य तो कायम रहा ही कि इटालियन शासन के शत्रु उसके पड़ोसी देश में बड़ी मात्रा में जमा थे। युद्धोत्तर नीति के मुख्य प्रश्न पर भी फ्रांस और इटली में मौलिक विरोध था। फ्रांस यथापूर्व शक्तियों का पक्षपाती और संधि समझौते में कोई भी परिवर्तन न करने का समर्थक था, जबकि इटली अपने टाईरोल में विद्यमान हितों के बावजूद शुरू से परिवर्तनवादी पक्ष से अपनी सहानुभूति दिखाता रहा था। पर परस्पर-विरोधी राजनैतिक आदर्शों और लक्ष्यों के अलावा उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी भूमध्यसागर में तथा इससे भी अधिक मात्रा में बालकन क्षेत्र और डैन्यूब नदी क्षेत्र में—जो ऐसा प्रदेश है जिसमें इतिहास बताता है कि बाहरी शक्तियों के नेतृत्व की प्रतिस्पर्धा से विशेष खतरा रहता है—प्रतिद्वंद्विता के कारण विद्यमान थे।

औपनिवेशिक प्रश्न
(Colonial Questions)

इटली की औपनिवेशिक आकाक्षाएं सिर्फ अपने गौरव के प्रश्न पर ही आधारित नहीं थीं बल्कि वे परमावश्यक कच्चे सामान की प्राप्ति की और अपनी अत्यधिक तथा साथ ही लगातार बढ़ती हुई अबादी के वास्ते निकासमार्ग की वास्तविक आवश्यकता पर भी आधारित थीं। युद्ध के बाद से यह पिछली समस्या उन निर्बन्धनों (restrictions) के कारण और भी उग्र हो गई थी जो कई देशों ने, विशेष रूप से अमेरिका ने अंतःप्रवास (immigration) पर लगा दिये थे। फ़ासिज्म अन्य देशों में उत्प्रवास को कभी भी अच्छी निगाह से नहीं देखता था, क्योंकि इससे अपनी जन्मभूमि के प्रति निष्ठा रखने वाले इटालियनों की संख्या कम हो जाती थी और यह इस समस्या को अंशतः देश के अन्दर विकास द्वारा हल करना चाहता था जिसमें देश की अधिक आबादी कार्यसंलग्न और कार्यपालित हो सके—यह विकास-कार्य इस पुस्तक के विचार-क्षेत्र से बाहर है। पर जहाँ तक सम्भव हो वहां तक विदेशी राज्यों द्वारा इटालियन तत्वों के स्वीयकरण (assimilation) को रोकने के लिए भी यत्न किया गया और फासिस्ट यह भी स्वीकार करते थे कि वे और अधिक प्रदेश प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं। 'हम भूमि के भूखे है' ड्रूचे ने १९२६ में कहा था, 'क्योंकि हम बहुप्रज (prolific) हैं और वैसे ही रहना चाहते है।'

इटली के औपनिवेशक क्षेत्र अपने आप में ऐसे नहीं थे कि उसकी अतिशय आबादी के लिए भूमि की या उसके उद्योगपतियों के लिए कच्चे सामान की माँग को

पर्याप्त मात्रा में पूरा कर सकें, तो भी उनसे स्थिति सरल हो सकती थी और हर सूरत में वे एक ऐसा मामला थे जिससे इटली अपने गौरव के दृष्टिकोण से गहरी दिलचस्पी दिखाता था। १९१५ की लंदन संधि द्वारा यह तय हुआ था कि यदि युद्ध के परिणामस्वरूप फ्रेंच या ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रदेश में कोई वृद्धि हो तो इरीट्रिया सोमालीलैंड और लीबिया में फ्रांस और ब्रिटेन के राज्य-क्षेत्र में से प्रदेश लेकर इटालियन सीमान्तों की विस्तार वृद्धि करके उसकी समपूर्ति कर दी जाये। ब्रिटेन ने स्वयं शान्ति-सम्मेलन में हुई वार्ताओं के दौरान में सिद्धान्ततः इस प्रतिज्ञा की पूर्ति करदी जिससे ब्रिटिश जूबालैंड इटली को देना तय हो गया। अन्तिम समझौता, जो डोडैकेनीज (Dodecanese) पर ग्रीस और इटली के विवाद के साथ इसे जोड़ देने से विलम्बित हो गया, १९२४ में जाकर हुआ, और तब इसके परिणामस्वरूप इटली को बहुत सा क्षेत्र मिल गया। इस प्रदेश में इटालियन अभिलाषाएँ पूरी हो गईं पर फ्राँस के साथ हो रही वार्ता अधिक निराशाजनक थी। फ्रेंच लोग इस कहावत के रूप में अपना जवाब दे सकते थे, कि जो शीघ्र दे सकता है वह दो बार देता है, क्योंकि उनकी रियायतों (concessions) के बारे में-वे रियायतें ही थीं—सितम्बर १९१९ में ही करार हो गया था। पर वे लीबिया के दक्षिण पश्चिम में सीमान्त के मामूली हेर-फेर से अधिक कुछ नहीं थे और उन्हें इटालियन वक्ता फ्रेंच सैनिकों द्वारा युद्ध के शुरू में अधिकृत इटालियन क्षेत्र का 'पुनः स्थापन' (restitution) मात्र बताया करते थे[1] करार में अन्य बातों पर भविष्य में विचार करने का उल्लेख भी था, पर इस स्थिति में उस मामले में और कार्यवाही नहीं की गई।

पर इटली के अफ्रीकी हित सिर्फ उसी प्रदेश तक सीमित नहीं थे जो इसके प्रभुत्व या नियन्त्रण में था। फ्रेंच संरक्षित प्रदेश ट्यूनीशिया में इटालियन निवासियों की संख्या फ्रेंच निवासियों की संख्या से लगभग तीस हजार अधिक थी। इटालियन ट्यूनीशिया पर जो लालसा भरी निगाह डाल रहे थे, उसका ध्यान रखते हुए और इस तथ्य का ध्यान रखते हुए कि १८८१ में फ्रेंच संरक्षण की स्थापना को उस प्रदेश में इटालियन आकांक्षाओं की पेशबन्दी के रूप में निरूपित किया गया था,[2] फ्रांस ने स्थिति को इतना काफी गम्भीर समझा कि समंजन (adjustment) का प्रस्ताव किया। १८९६ के फ्रांको इटालियन करार द्वारा इटालियन निवासियों के वंशजों को अपनी राष्ट्रीयता बनाये रखने का अधिकार दे दिया गया था, पर १९१८ में इस समझौते को मानने से इन्कार कर दिया गया और तब से वह नई बातचीत की प्रतीक्षा में इसे तीन-तीन महीने की अवधियों के लिए पुनर्नवन (renewal) द्वारा जीवित रखा गया था। इसी बीच १९२१ में फ्रेंच और ट्यूनीशियन अधिकारियों द्वारा प्रस्थापित राष्ट्रीयता सम्बन्धी आज्ञप्तियों से, जिनसे ब्रिटेन के साथ भी विवाद पैदा हो गया था, १८९६ के करार का अन्तिम रूप से प्रत्याख्यान हो जाने पर ट्यूनीशिया में

---

१. देखिये डाक्टर जी. परेस का निबन्ध, इंटरनेशनल अफेयर्स मई १९३१, पृष्ठ ३५२।

२. मुख्यतः इसी कार्यवाही के कारण इटली कुछ वर्ष बाद त्रिदेशीय संधि (triple alliance) में शामिल हो गया।

उत्पन्न दूसरी पीढ़ी की इटालियन परिस्थिति (status) को खतरा पैदा हो गया था। इस प्रश्न पर जो विक्षोभ पैदा हुआ उससे दोनों महाशक्तियों के मध्य तनातनी बढ़ गई। यह तब और उग्र हो गई जब इटली को तांजियर (Tangier) की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में होने वाली वार्ताओं में, जो युद्ध के बाद हुईं, भाग लेने के लिए आमन्त्रित नहीं किया गया। इसे अपमान समझा जाय कि नई संविधि (statute), जो अधिकृत रूप से १९२५ में लागू की गई थी, ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन के सम्मेलन में तैयार की गई। इटली ने विरोधस्वरूप इसकी मान्यता को अभिज्ञात करने से इन्कार कर दिया।

दक्षिण-पूर्वी योरोप में प्रतिस्पर्धा

(Competition in South East Europe)

पश्चिमी भूमध्यसागर में प्रतिस्पर्धा के जो कारण थे उनकी वजह से इटली ने ब्रिटेन और स्पेन के साथ मेल-मिलाप करके अपनी स्थिति को मजबूत किया, पर उसे इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रसार की कोई तात्कालिक आशा नहीं थी इसलिए उसका ध्यान दक्षिण-पूर्वी योरप में अन्तर्निहित सम्भावनाओं की ओर गया जहां कई नये या पुनर्निर्मित राज्यों में आर्थिक प्रवेश का अवसर मिलने की आशा थी। एड्रियाटिक पर नये मिले हुए बन्दरगाहों द्वारा इस प्रवेश के लिए रास्ता खुल गया था। यही कारण था, जिसे स्वीकार भी किया गया, कि मुसोलिनी ने यूगोस्लाविया के साथ अप्रत्याशित रूप से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये जो २७ जनवरी १९२४ के 'मैत्री और हार्दिक सहयोग' के करार में समाविष्ट थे। उसने स्पष्टीकरण करते हुए बताया

> बहुत समय तक फ्यूम का प्रश्न एक प्रकार की रुकावट रहा जो विस्तृत डेन्यूबियन जगत् के साथ सीधे और प्रत्यक्ष संपर्कों में ... बाधा डालता रहा। अब इटली पूर्व की दिशा में ही बढ़ सकता है, क्योंकि तथ्य यह है कि पश्चिम की ओर ऐसे राष्ट्रीय राज्य हैं जो अन्तिम रूप ग्रहण कर चुके हैं और जिन्हें हम अपने श्रमिकों के अलावा और कुछ नहीं भेज सकते—हालांकि हमारा उसका निर्यात भी किसी दिन प्रतिषिद्ध या निर्बन्धित किया जा सकता है। इसलिए इटली के शान्तिपूर्ण प्रसार का मार्ग पूर्व की ओर है।

इसका अर्थ यह था कि इटली बालकन और डेन्यूब के देशों को अपना ही प्रभाव-क्षेत्र मानना चाहता था। दूसरी ओर, यूगोस्लाविया के लिए इटली के साथ संधि का यह अर्थ नहीं था कि वह एक और महाशक्ति से इतना ही अधिक निकट सम्बन्ध न रखे। लघुदेश संधि (Little Entente) की और इसके अलग-अलग सदस्यों की उस समय यह नीति थी कि अन्त में बाह्य प्रभावों से स्वतन्त्र एक डेन्यूबियन गुट बनाया जाय पर उस समय इस नीति में इस प्रदेश के राज्यों के बीच अन्तहीन मतभेदों से बाधा पड़ी और इस बाधा को इटली के प्रयासों से दूर करने में सहायता मिल सकती थी। इसके अलावा, फ्रांस के साथ मैत्री को इटली के साथ मेल-मिलाप की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक समझा जाता था, और एक बात को दूसरे की अपवर्जक नहीं माना जाता था। इसी भावना से श्री बेनेस (M. Benes) ने २५ जनवरी १९२४ की फ्रांको-चेकोस्लोवाक संधि के बाद जुलाई में इटली से संधि की, और खुले तौर से यह स्पष्ट

किया कि महाशक्तियों के साथ संधि उनमें से किसी एक की अनन्य-प्रधानता के विरुद्ध गारंटी है। इस प्रकार लघुदेश संधि के देशों की प्रवृत्ति यह थी कि अपनी मैत्री के लिए, जिस पर इटली अपना एकाधिकार चाहता था, प्रतियोगिता को बढ़ावा दें।

पर प्रतियोगिता शुरू हो चुकी थी। पहला दौर इटली के लिए थोड़ा अनुकूल रहा। उसने चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया के साथ संधियां कर लीं, जबकि फ्रांस १९२४ में सिर्फ़ चेकोस्लोवाकिया के साथ ही बातचीत में सफल हो सका था, यद्यपि यूगोस्लाविया ने जनवरी में, फ्रांस से शस्त्रास्त्र और सैनिक सामग्री खरीदने के लिए तीस करोड़ फ्रांक का एक फ्रेंच ऋण स्वीकार कर लिया था। १९२५ में लोकार्नो संधियों के समय यह परिस्थिति थी—जर्मनी के साथ हुई पूर्वी संधियां फ्रांस, पोलेंड और चैकोस्लोवाकिया तक ही सीमित थीं।

पर १९२६ में अगला दौर जनवरी में रूमानिया से संधि होने के साथ, फ्रांस के पक्ष में, शुरू हुआ। इस उद्देश्य से की गई वार्ता १९२४ के शुरू में विफल हो गई थी। अप्रैल में बैसरेबिया के प्रश्न पर रूस-रूमानियन सम्मेलन के भंग हो जाने से फ्रांस के समर्थन का लाभ अधिक आकर्षक बन गया। और फ्रांस ने अक्तूबर १९२० की बैसरेबियन संधि का अनुसमर्थन करके स्थिति को और अनुकूल बना लिया। फिलहाल प्रतिरक्षा-सम्बन्धी परियोजना यूगोस्लाविया का सहयोग न मिलने के कारण भंग हो गई। फ्रांस यूगोस्लाविया के सहयोग पर बल दे रहा था[1] पर इटली १९२४ से रूस के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने को यत्नशील था; इसलिए उसने बैसरेबियन संधि का अनुसमर्थन (ratification) १९२७ तक रोके रखा। इसका यह परिणाम हुआ कि रूमानिया के साथ उसके सम्बन्ध फ्रांको-रूमानियन संधि पर हस्ताक्षर होने से पहले तक घनिष्ठ नहीं थे। इस समय तक डेन्यूब नदीक्षेत्र और बालकन क्षेत्रों में इटली का घुस जाना मुसोलिनी की वैदेशिक नीति का आधारभूत लक्ष्य हो गया था पर वह फ्रेंच संधि को आठ महीने बाद रूमानिया के साथ मैत्री और सम्बन्ध करके ही मात दे सका।

प्रतीत होता है कि इस प्रतियोगिता में फ्रांस जानबूझ कर अन्तर्ग्रस्त नहीं था। अब तक जो व्यवस्थाएं हुई थीं, वह उनमें इटली के शामिल करने का स्वागत करने को तैयार था। इटली ही दूर न रहने का रुख अपनाये हुए था। यह बात फ्रांस और लघुसंधि राज्यों के बीच हुई तीसरी संधि, जो यूगोस्लाविया से हुई थी, के इतिहास में स्पष्ट रूप से सामने आगई, क्योंकि इस लेख्य के बारे में १९२५ के जाड़ों में ही मतैक्य हो गया था, पर हस्ताक्षर इस आशा में स्थगित कर दिये गये थे कि एक त्रिपक्षीय समझौता, जिसमें इटली भी एक पक्ष होगा, किया जा सकेगा। पर रोम में यह सुझाव नापसन्द किया गया और परिणामतः फ्रांस-यूगोस्लाव संधि पर मार्च १९२६ में हस्ताक्षर हो गये यद्यपि उस समय भी कुछ आशा बाकी थी, जिसके कारण

१. सम्भवतः यूगोस्लाव रुख पर, टेमेस्वर सीमान्त के अन्तिम रूप से विनियमन के बाद अप्रैल १९२४ में इस क्षेत्र से निष्क्रमण के अवसर पर कुछ रूमानियन सैनिकों के दुर्व्यवहार से प्रभाव पड़ा था।

इस लिखत पर औपचारिक हस्ताक्षर अगले वर्ष ११ नवम्बर तक के लिए स्थगित कर दिये गये।

त्रिपक्षीय समझौता करने के विचार का स्वागत न करने के इस कार्य से एक ऐसा बिन्दु निर्दिष्ट होता है जहाँ से इटली की 'अग्रेसरण नीति' (Forward Policy) दक्षिण-पूर्वी योरोप से और अधिक प्रबलता से अपनाई जाने लगी। सब जगह नई मैत्रियाँ की गईं। १९२३ में कौर्फू घटना के बाद से ग्रीस और इटली के सम्बन्ध शुरू में स्वभावतः विकृत हो गये थे, यद्यपि जनवरी १९२४ में एथेन्स में एक इटालियन दूत नियुक्त करने का अच्छा स्वागत हुआ था। पर १९२६ में एक उल्लेखनीय मेल-मिलाप हुआ। बल्गेरिया जो मैसीडोनियन क्रांतिकारी संगठन की गतिविधियों के कारण अपने पड़ौसियों के साथ लगातार झगड़ों में पड़ा हुआ था, इटैलियन समर्थन का बहुत ऋणी था, और बल्गेरिया ने शरणार्थियों को बसाने के लिए जिस ऋण के लिए राष्ट्रसंघ से अपील की थी, उसके सिलसिले में भी इटली की मध्यस्थता बहुत काम आई पर यह इटालियन प्रभाव बल्गर-यूगोस्लाव समझौते के लिए प्रतिकूल था। अक्तूबर में हंगरी के पास भी पहुँच की गई और हंगेरियन निर्यात व्यापार के लिए एड्रियाटिक पर एक मार्ग देने का सुझाव रखा गया, यद्यपि इस मामले में इटालियन प्रस्थापनाओं का कुछ क्षेत्रों में यह अर्थ लगाया गया कि यह उन प्रयत्नों को व्यर्थ करने की कोशिश है जो यूगोस्लाविया द्वारा किये गये थे। तो भी इटली के प्रति यूगोस्लाव परराष्ट्र मन्त्री श्री निनसिक (M. Nincic) अब तक समझौते की जो नीति अपनाते रहे थे, वह नवम्बर के अन्त तक जारी रही, पर नवम्बर में इटली और अल्बानिया के मध्य तिराना (Tirana) में एक संधि पर हस्ताक्षर होने से बेलग्रेड में ऐसी प्रतिक्रियाएँ पैदा हुईं जिन्होंने यूगोस्लाविया और इटली के मध्य सम्बन्धों को स्थायी रूप से बिगाड़ दिया।

इटली और अल्बानिया
(Italy and Albania)

जैसा एक पहले के अध्याय में बताया गया था, अल्बानियनों की परम्परागत नीति यह थी कि बाह्य शक्तियों की प्रतिस्पर्धाओं को एक दूसरे से लड़ाते रहा जाय। युद्ध के बाद जो दो मुख्य राष्ट्र उससे सम्बन्धित थे वे इटली और यूगोस्लाविया थे। यूगोस्लाविया सीमान्त परिसीमन आयोग (Frontier Delimitation Commission) के निर्णय से असन्तुष्ट था—इस आयोग ने औक्रीड़ा झील के दक्षिण-पूर्वी तट पर विद्यमान स्वेतीनौम का मठ और वर्मोशा जिला, जो स्कुटारी से लगभग तीस मील उत्तर-उत्तरपूर्व में था, अल्बानिया को दे दिये थे। सितम्बर १९२४ में इस निर्णय की पुष्टि से सीमान्त-क्षेत्र में उपद्रव पैदा हो गये, जिन पर शिकायतें हुईं। दिसम्बर में मौजूदा अल्बानियन प्रशासन के विरुद्ध, जो ड्यूरैज़ो के औरथोडाक्स पादरी फ़ाननोली की अध्यक्षता में था, क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू हो गया। इस क्रान्ति को भूतपूर्व सरकार के मुस्लिम अध्यक्ष अहमद जोगू द्वारा, जिसे जून में अपने पद से हटा दिया गया था,

चलाया और बढ़ाया गया। अहमद ज़ोग ने बैलग्रेड में शरण ले ली थी और फाननोली की सरकार ने यूगोस्लाव सरकार पर इस विद्रोह में सहापराधिता (complicity) का आरोप लगाया। इस आरोप का सरकारी तौर से प्रतिवाद किया गया और एक मास के भीतर क्रान्ति के सफल हो जाने से इसकी जांच की आवश्यकता न रही; इस बार फाननोली और उसके समर्थक देश छोड़कर भाग गये और अहमद ज़ोगू ने स्वभावतः अपने पूर्ववर्ती आरोपण को वापस ले लिया। यह तथ्य तो है ही कि जनवरी १९२५ में ज़ोगू के अल्बानियन गणराज्य का राष्ट्रपति बन जाने के अविलम्ब बाद स्वेतीनौम और वर्मोशा के विवादग्रस्त क्षेत्र यूगोस्लाविया को दे दिये गये।

अहमद ज़ोगू जो बाद में राजा बना (१ सितम्बर १९२८) महत्त्वाकांक्षी और पश्चिमीकरण के विचारों से भरा हुआ था और उसकी नीति का निर्धारण आर्थिक विकास के लिए धन की आवश्यकता से होता था। यद्यपि उसने यूगोस्लाविया में अपने पुराने मित्रों से प्रार्थना करके यह कार्य शुरू किया; पर वहाँ से आवश्यक धन न आया और इससे इटली के हाथों में, जो उस देश में आर्थिक प्रवेश करने के लिए बिल्कुल रज़ामन्द था, एक शक्तिशाली उपाय आ गया। सितम्बर १९२५ में रोम में एक नेशनल बैंक आफ अल्बानिया की स्थापना हुई और उसी वर्ष इटली में अल्बानिया के आर्थिक विकास के लिए एक संस्था (S.V.E.A.) संगठित की गई जिसने १९२६ में अल्बानियन सरकार को पाँच करोड़ फ्रॉक का ऋण दिया, जिसकी सर्विस (ब्याज और निक्षेप निधि के भारों की लागत) की गारण्टी बाद में इटालियन राज्य के एक राजकीय आदेश द्वारा दी गई। इसलिए अहमद ज़ोगू के पास अपने वैदेशिक सम्बन्धों में परिवर्तन करने के लिए बड़े आकर्षक कारण थे। २३ नवम्बर, १९२३ को एक कैथोलिक पादरी डोन लोंरो ज़ाका के नेतृत्व में उसकी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह हो गया जो फाननोली के समथकों द्वारा डलमेशिया में विद्यमान इटालियन क्षेत्र ज़ारा में आयोजित किया गया बताया जाता था। नवम्बर १९२६ की इटालो-अलबानियन संधि (Italo-Albanian Treaty) पर तिराना में इन परिस्थितियों में हस्ताक्षर हुए थे।

इस संधि की शर्तों से, यद्यपि इटली ने उसे १९२१ के राजनयिक वचनबन्धों की पुष्टिमात्र बताया था, अन्य देशों में बड़ी चिन्ता पैदा हो गई और यूगोस्लाविया में तीव्र उत्तेजना उत्पन्न हो गई, तथा उसकी सरकार व राष्ट्र बिल्कुल चकित रह गये। इस समझौते का यह अर्थ लगाया गया कि अलबानिया को लगभग संरक्षित देश बना लिया गया है और दक्षिणपूर्वी योरोप में इटालियन गतिविधि के अन्य रूप को देखकर यूगोस्लाविया ने अपनी नीति की दिशा पूर्ण रूप से बदल दी। १९२४ के इटैलो-यूगोस्लाव करार (Italo-Yugoslav Pact) को, पांच वर्ष बाद पुनर्विचार का अवसर आने पर पुनः नहीं किया गया।

१९२७ में अलबानिया के साथ कई सम्बन्धित घटनाएँ घटने से स्थिति और विषम हो गई। मार्च में इटली ने यह आरोप लगाये, कि यूगोस्लाविया अलबानिया के विरुद्ध तैयारियाँ कर रहा है और यूगोस्लाविया ने उनका प्रतिवाद किया। मई में तिराना स्थित यूगोस्लाव उपदूतावास (legation) के एक कर्मचारी की जासूसी के आरोप में गिरफ्तारी

से और उत्तेजना पैदा हो गई जिससे अस्थायी रूप में राजनयिक सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। अक्तूबर में एक अलबानियन ने प्राग में सरबोफिल अलबानियन दूत की हत्या कर दी—इस अलबानियन ने इटली में शिक्षा पाने की और बैलग्रेड से अपराध-स्थल तक इटालियन दृष्टाँक (विसा) से यात्रा की थी। इन सब घटनाओं से उत्पन्न संचित तनाव ने यूगोस्लाविया द्वारा ११ नवम्बर को उठाये गये कदम का निश्चय करने में निःसन्देह सहायता की—यूगोस्लाविया ने फ्राँस के साथ अति-निलम्बित संधि पर अंतिम रूप से हस्ताक्षर कर दिये।

इसके बाद ग्यारह दिन पीछे इटली और अल्बानिया में तिराना की दूसरी संधि पर हस्ताक्षर हुए जिसके लिए अल्बानिया कई बार कुछ अनिच्छा से तैयार हुआ। यह निश्चित रूप से प्रतिरक्षा के लिए सैनिक संधि थी जिसके द्वारा युद्ध होने की अवस्था में पारस्परिक सहायता का वचन दिया गया था और प्रत्येक पक्ष पृथक् शान्ति संधि न करने के लिए बद्ध था। यद्यपि फ्रेंच और इटालियन संधियों के होने की प्रायः समकालिकता आकस्मिक बताई जाती थी, पर इससे एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव पैदा हो गया और यूगोस्लाविया के मुख्य प्रतिनिधि ने राष्ट्रसंघ की सुरक्षा विषयक विशेष समिति में नई संधि की शर्तों पर, मौका पाकर, प्रतिकूल आलोचना कर डाली। वस्तुतः यह स्थिति ऐसी लगती थी जैसे पूर्वी भूमध्य सागर में फ्रांस-विरोधी गुटबन्दी करके पश्चिमी भूमध्य सागर में फ्रांस की प्रधानता को प्रतितुलित करने का निश्चित प्रयत्न किया गया था और मुसोलिनी द्वारा तथा इटालियन अखबारों की टिप्पणियों में यह पहलू थोड़ा बहुत खुले तौर से स्वीकार किया गया था। उस तनाव को कम करने का एक श्रेष्ठ प्रयत्न भी ब्रिएण्ड द्वारा फ्रेंच संसद् में ३० नवम्बर को दिये गए एक भाषण में किया गया, और इसके बाद, कुछ दिन पीछे प्रत्येक देश के नागरिकों की दूसरे के राज्यक्षेत्र में स्थिति के पारस्परिक विनियमन के लिए एक अस्थाई समझौते पर हस्ताक्षर हुए, पर आसमान पूरी तरह साफ नहीं हुआ।

यूगोस्लाविया को परिवृत्ति का संशय

(Yugoslav Suspicions of Encirclement)

इसी बीच यूगोस्लाविया में यह धारणा पैदा हो गई कि इटली द्वारा अपने पड़ौसियों से मेल-मिलाप के यत्नों का अर्थ जान-बूझकर परिवृत्ति (encirclement) की नीति है। इस संशय के लिए कुछ कारण भी थे। इटली जहां भी जाता था, वहीं इटालियन प्रभाव दिखाई देता था। अप्रैल १९२७ में काउण्ट बैथलेन की रोम-यात्रा के अविलम्ब बाद हंगरी के साथ सौहार्द और मध्यस्थ निर्णय (arbitration) की एक संधि पर हस्ताक्षर हुए और इस अवसर पर दिये गए भाषणों से घनिष्ठतम मैत्री की पारस्परिक इच्छा ध्वनित होती थी; उधर इन घटनाओं ने उन समझौता वार्ताओं में बाधा डाल दी जो यूगोस्लाविया स्वयं अपने पड़ौसी के साथ कर रहा था। बलगेरिया के प्रति वह समझौते का रुख बनाए रखने पर आमादा था, पर इस नीति के मार्ग में, सितम्बर में मैसीडोनियन क्रान्तिकारी संगठन द्वारा शुरू किये गए अत्याचार के उग्र आन्दोलन से बड़ी कठिनाइयां पैदा हो गई। इस संगठन में, कोई निश्चयजनक प्रमाण न होने पर भी, जिम्मेवार यूगोस्लाव राजनीतिज्ञ तक, इटली का हाथ होने

का सन्देह करते थे। इसमें निश्चय ही कोई सन्देह नहीं था कि बल्गेरिया की मित्रता प्राप्त करने में इटली एक प्रतिस्पर्धी था। ग्रीस के साथ इटली का मेल-मिलाप हो जाने का परिणाम इस बात से प्रत्यक्ष था कि उस देश में पहली तिराना संधि का शान्ति से स्वागत किया गया, यद्यपि सम्भवतः इसका आँशिक कारण कुछ और था। १९२५-६ के वर्षों में १९१३ की उस पुरानी ग्रीस-सर्बियन मैत्री संधि के पुनर्नवन के लिए वार्ता चल रही थी, जिसे यूगोस्लाविया ने १९२४ के पिछले दिनों में प्रत्याख्यात कर दिया था। इनके साथ सेलोनिका के बन्दरगाह में यूगोस्लाव स्वतन्त्र क्षेत्र (Yugoslav Free Zone) से सम्बद्ध प्रश्न भी थे, जिनके बारे में यूगोस्लाविया के दावे कुछ युक्तिहीन थे। अगस्त १९२६ में, जनरल पेंगालोस की अधिनायकता के दिनों में हुए समझौते को, एक वर्ष बाद उसके स्थान पर आई सरकार ने रद्द कर दिया था। यूगोस्लाविया की कुछ कठिनाइयां निःसन्देह उसकी अपनी राजनय (diplomacy) की त्रुटियों के कारण थीं, पर उसका यह संशय अंशतः न्यायसंगत प्रतीत होता था कि वह जिस परिस्थिति में है, उसकी जिम्मेवार इटालियन नीति है।

रूमानिया और विकल्पक

(Roumania and the Optants)

रूमानिया की फ्राँस के साथ संधि थी और वह यूगोस्लाविया के साथ भी लघुदेश संधि के एक साथी सदस्य के रूप में सम्बन्धित था। इसलिए इटली के साथ उसकी संधि हर सूरत में मामूली महत्त्व की थी पर वह इटली और हंगरी के मेल-मिलाप को भी न केवल साधारण आधार पर बल्कि इसलिए भी कि उसके सम्बन्ध इन दिनों हंगरी के साथ विशेष रूप से बिगड़े हुए थे, नापसन्द करता था। १९२७ के शुरू में हंगेरियन विकल्पकों (optants) की छीनी गई जमीनों का प्रश्न पुनर्जीवित किया जा चुका था और उस वर्ष के भीतर वह राष्ट्रसंघ के अधिवेशन में विचार का एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया।

ट्रायनोन की संधि (Treaty of Trianon) द्वारा भूतपूर्व हंगेरियन राज्य-क्षेत्र के निवासियों को हंगेरियन नागरिकता चुनने का अधिकार था। इसी संधि के अनुच्छेद २५० द्वारा, हंगेरियन नागरिकों की जो सम्पत्ति रूमानिया में थी, उसका 'निरोध' (retention) या अपाकर्म (liquidation) नहीं किया जा सकता था। ट्रायनॉन की संधि (Treaty of Trianon) प्रवृत्त होने के (जुलाई १९३१) अविलंब बाद रूमानिया में एक 'कृषि-कानून' स्वीकार करके अन्यत्रवासियों (absentees) की देहाती जमीन छीन ली गई। पहले यह कानून विदेशियों की सम्पत्ति पर लागू नहीं होता था, पर १९२२ में यह उन्मुक्ति समाप्त कर दी गई। हंगेरियनों का कहना था कि इस तरह उनकी रूमानिया स्थित जमीनों का छीना जाना संधि के प्रतिकूल था। रूमानियनों ने उत्तर दिया कि यह घरेलू नीति के साधारण कानून का हिस्सा है और हंगेरियनों को दूसरे अन्य देशियों की तुलना में विशेष स्थिति नहीं प्रदान की जा सकती। १९२३ में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से यह विवाद हल न हो सका, पर

जनवरी १९२७ में मिली-जुली पंचायत (जो ट्रायनोन की संधि द्वारा गठित की गई थी) के निर्णय से—कुछ हंगेरियन विकल्पकों (optants) ने इसी बीच यह मामला उसके निर्देश के लिए उसके पास भेज दिया था—एक नया प्रश्न पैदा हो गया कि यह उसके क्षेत्राधिकार में आता था। रूमानिया ने पंचायत से अपने न्यायाधीश को वापिस बुला लिया और यह प्रश्न पुन: राष्ट्रसंघ के पास आया। १९२७-८ के दोनों वर्ष यह कटु विवाद का विषय बना रहा और इस अवधि के बाद समझौते के लिए सीधी बातचीत करने के उद्देश्य से दोनों पक्षों का सम्मेलन हुआ। पर यह वार्तालाप भी निष्फल सिद्ध हुआ और ये मामले जनवरी १९३० में दूसरे हेग सम्मेलन (Hague Conference) की बैठक तक अन्तिम रूप से तय न हो सके; इस सम्मेलन में क्षतिपूर्ति और ऋणों के विषयों में पूर्वी योरोप के दावों और प्रतिदावों के व्यापक निपटारों में वे भी एक विचारणीय विषय थे।

जेंट गोटहार्ड दुर्घटना
(The Szent Gotthard Incident)

जनवरी १९२८ में आस्ट्रो-हंगेरियन सीमान्त के हंगरी वाली तरफ ज़ेन्ट गोटहार्ड में पांच ट्रकों में भरे हुए मशीनगनों के बहुत सारे हिस्से मिलने से भ्रम का मौका पैदा हो गया। यह रहस्य आस्ट्रिया के सीमाशुल्क-अधिकारियों ने पता लगाया था। यह माल, जिसे मशीनरी बताया गया था, वैरोना की एक फर्म द्वारा भेजा गया था और इसकी तात्कालिक मंजिल हंगेरियन-चेकोस्लोवाक सीमा पर स्लोवेनस्के नोवेमेस्टो (Slovenske' Nove' Mesto) था। हंगेरियनों का यह कहना था कि ये वस्तुएं अन्त में वारसा पहुँचनी थीं और आस्ट्रिया व हंगरी के स्थानीय सीमाशुल्क-अधिकारियों की संयुक्त जांच से यह तथ्य सिद्ध हो गया है, पर पोलिश सरकार ने इसका प्रतिवाद किया था। यह मामला लघुसन्धि-शक्तियों की प्रार्थना पर राष्ट्रसंघ के सामने आया और जांच की गई, पर उससे कोई निश्चित परिणाम नहीं निकले। मशीनगनों की अन्तिम मंजिल का सवाल कभी स्पष्ट नहीं हुआ।

फ्रांस और इटली के सम्बन्ध, १९२८
(Franco-Italian Relations, 1928)

पर कुल मिलाकर, स्थिति कम से कम कुछ समय के लिए, १९२८ में स्पष्ट हुई। विशेष रूप से फ्रांस और इटली के सम्बन्धों में उल्लेखनीय सुधार हुआ था। इस का आंशिक कारण श्री ब्रिएन्ड द्वारा तीस नवम्बर १९२७ को प्रदर्शित किये गये मैत्रीपूर्ण रुख और उस अस्थायी समझौते पर हस्ताक्षर थे जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। पर इसमें तांजिये की उस संविधि (Statute of Tangier) के संशोधन से बड़ी सहायता मिली थी, जो १९२५ में लागू हुआ था और आम तौर से असन्तोषजनक सिद्ध हुआ था। यह पहले ही बताया जा चुका है। इटली से पहली बातचीत में परामर्श नहीं किया गया था और इसलिए उसने उस अवस्था को अभिज्ञात नहीं किया था। स्पेन भी असन्तुष्ट था और ७ अगस्त १९२६ को इटली के साथ सौहार्द संधि

होने के बाद उसने फौरन इस प्रश्न को नये सिरे से शुरू कर दिया।[1] बाद के वार्तालाप में इटली ने हिस्सा लिया और नई संविधि में, जिसमें उसे विधानसभा और नियन्त्रण समिति में प्रतिनिधित्व दिया गया, संतोषजनक व्यवस्था हो गई। अनुसमर्थनों (ratifications) का आदान-प्रदान १४ सितम्बर १९२८ को हो गया।

यूगोस्लाविया के साथ सम्बन्ध
(Relations with Yugoslavia)

उसी समय इटालियन राजनय यूगोस्लाविया के साथ अपने व्यवहार में कुछ सफल रहा। अब तक यूगोस्लावों ने फ्यूम, ज़ारा, और डलमेज़िया से सम्बन्धित उन टैक्निकल अभिसमयों का अनुसमर्थन करने से लगातार इन्कार किया था जो नेट्टूनो (Nettuno) में जुलाई १९२५ में हस्ताक्षारित हुए थे, पर वे अब और ज्यादा देर इटालियन दबाव के मुकाबले में टिके रहने की स्थिति में नहीं थे। इटालियन राजनय के प्रयत्नों से उनके ग्रीस के साथ सम्बन्धों पर भी असर पड़ा। इटैलो-टर्किश सन्धि और इटली तथा ग्रीस में इस प्रकार की एक सन्धि १९२८ में हुई और उसी समय इटली के सक्रिय प्रोत्साहन से ग्रीस और तुर्की के मध्य समझौते की बातचीत होती रही, जो अन्त में ३० अक्तूबर १९३० की ग्रीस-तुर्की सन्धि के रूप में फलीभूत हुई। सेलोनिका क्षेत्र के प्रश्न के निपटारे में, जो १९२८ में किया गया और जो १९२९ में अन्तिम रूप से अनुसमर्थित हुआ, यूगोस्लाविया को अपने वे अतिरंजित दावे, जो उसने पहले किये थे, छोड़ने को बाधित होना पड़ा। उसकी मुख्य कमज़ोरी का कारण देश की आन्तरिक अवस्था थी जिसमें सर्व और क्रीट लोगों का विरोध विषम स्थिति में पहुँच गया था। २० जून १९२८ को क्रीट कृषक नेता रेडिक अपने भतीजे और एक अन्य क्रीट सदस्य सहित विधान सभा में सरकारी बेन्चों से एक सर्बियन सदस्य पूनीचा रेचिक द्वारा चलाई गई गोलियों से मारा गया। ऐसा साक्ष्य विद्यमान है जिससे यह सिद्ध होता दीखता है कि यह भयंकर कार्य आयोजित और पूर्वचिन्तित था।[2] इस घटना के बाद क्रीट सदस्य, सबके सब, विधानसभा छोड़ गये और इन परिस्थितियों में १३ अगस्त को उस बची-खुची संसद् ने नेट्टूनो अभिसमय का अनुसमर्थन किया था। इटालियन विरोधी दंगे, जो उसी वर्ष पहले इस प्रस्थापना पर हुए थे, उनसे यह प्रकट था कि वह निश्चय जनता के रुख को सूचित नहीं करता। यूगोस्लाविया की आन्तरिक अवस्थाओं के कारण राजा ने जनवरी १९२९ में संविधान निलम्बित कर दिया और स्वाधिकारी (autocratic) शासन शुरू कर दिया।

टाइरोल में इटालियनकरण
(Italianization in the Tyrol)

इटली और फ्रांस में विरोध के जो कारण थे, उनकी मौजूदगी तथा सन्धि में संशोधन करने के पक्ष की ओर इटली के अधिकाधिक झुकाव के कारण जर्मनी के

---

१. स्पेन इस मामले में अपने दावों को राष्ट्रसंघ की परिषद् में अपने स्थान के प्रश्न से जोड़ता था और इसे अपनी राष्ट्रसंघ की सदस्यता जारी रखने की एक शर्त मानता था।

२. देखिये सी. डी. बूथ का भाषण, जरनल आफ द रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेअर्स, जिल्द ८, १९२९, पृष्ठ ३३२।

साथ उसके सम्बन्धों का स्थायी शान्ति की सम्भावना की दृष्टि मे बड़ा महत्त्व हो गया। फासिस्ट शासन के शुरू होने के बाद कुछ समय तक इटली की उस नीति के कारण, जो वह अपर एडीगे (Upper Adige) के प्रदेश में—जो पहले आस्ट्रियन टायरोल था—निवास करने वाले जर्मन मूलवंश के अपने प्रजाजनों के प्रति अपनाये हुए था, इन दोनों देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों की आशा नहीं प्रतीत होती थी। मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने के साथ ज़बरदस्ती इटालियनकरण की विमर्शित नीति को, जो फासिस्ट लोग पहले से अपनाए हुए थे, कानूनी अनुमोदन प्राप्त हो गया। बहाना यह बनाया गया कि पिछली सरकारों की नरमी का लाभ उठाकर सारे ज़िले को जर्मन क्षेत्रवृद्धि (irredentism) का केन्द्र बनाया जा रहा था, पर यह स्मरण रहना चाहिए कि यह पेरिस में शान्ति-सम्मेलन के समय जिम्मेवार इटालियनों द्वारा बार-बार किये गये वायदों का स्पष्ट भंग करना था। असल में, यह साफ तौर से घोषणा कर दी गई थी कि इसी शर्त पर यह प्रदेश इटली को सौंपा गया था। अब इन प्रतिज्ञाओं की खुले तौर पर उपेक्षा की गई। पहले सारे जर्मन-भाषी तथा इटालियन क्षेत्र को एक ही प्रान्त बना कर स्थानीय स्वायत्तता अपवर्जित कर दी गई। इस क्षेत्र के भीतर इटालियन भाषा के अनन्य उपयोग को अधिकाधिक लागू किया गया। सरकारी दस्तावेजों, स्थानों के नामों और सार्वजनिक उत्कीर्ण लेखों (जिनमें मकबरे भी शामिल थे) से शुरू होकर यह न्यायालयों और इसके बाद विद्यालयों में फैल गई—विद्यालयों में अक्तूबर १९२४ से किंडरगार्टन शिक्षा भी बाध्यतः इटालियन भाषा में, और शिक्षा कार्यालय द्वारा स्वीकृत अध्यापकों द्वारा, जिन्हें बहुधा जर्मन भाषा का बिलकुल ज्ञान नहीं होता था, दी जाने लगी। इससे बच्चे प्रभावी शिक्षा से वंचित हो गये, और जब उन निवासियों ने निजी विद्यालयों द्वारा इस कठिनाई को दूर करने का यत्न किया, तब एक नये आदेश ने विभिन्न परिवारों के तीन से अधिक बच्चों के पढ़ाने पर भी पाबन्दी लगा दी। इन परिस्थितियों में सारे दक्षिणी टाइरोल में गैरकानूनी गुप्त विद्यालय शुरू हो गये पर इन्हें निर्दयता से बन्द कर दिया गया।[1] इन कार्यवाहियों के साथ अधिक सामान्य ढंग के कदम भी उठाये गये, जैसे स्थानीय जर्मन प्रेस पर पाबन्दी।

लोकार्नो समझौते के बाद जर्मनी की स्थिति में सुधार होने पर सारे जर्मनी में इस नीति की प्रबल आलोचना हुई—वहाँ सब इटालियन वस्तुओं का बहिष्कार करने का सुझाव रखा गया, यद्यपि स्वयं टाइरोल निवासियों ने इसे नापसन्द किया क्योंकि इससे उन्हें और भी अधिक भयंकर दमन किये जाने का भय था। तथ्य तो यह है कि मुसोलिनी ने इस सुझाव के जवाब में 'बहिष्कार के बदले में बहिष्कार' और 'प्रतिरोध के बदले में प्रतिरोध' की धमकी दी और यह कहा कि 'एंटी एडीगे के जर्मन राष्ट्रीय अल्पसंख्यक नहीं हैं वे तो एक जातीय (ethnical) अवशेष हैं', और इस तरह का भी संकेत किया कि 'फासिस्ट इटली आवश्यकता पड़ने पर अपना तिरंगा आगे भी ले जा सकता है'।[2]

---

१. २८ जून १९३४ के टाइम्स (लन्दन) में यह ऐलान किया गया था कि जर्मन भाषा सिखाने के लिए एल्टो एडीगे में निजी स्कूल फिर खोले जा सकते हैं।

२. ६ फरवरी १९२६ का भाषण।

तो भी, इस कहा-सुनी से जो तनातनी पैदा होनी आवश्यक न थी, उसके बावजूद, इस प्रश्न का इटली व जर्मनी के राजनीतिक सम्बन्धों पर आश्चर्यजनक रूप से थोड़ा और क्षणिक प्रभाव पड़ा। दिसम्बर १९२६ मे दोनों देशों ने समझौते और मध्यस्थ निर्णय की सधि पर हस्ताक्षर किये और १९२५ के वाणिज्य समझौते में एक नया प्रोटोकोल जोड़ा गया। इसके बाद स्थिति अस्थायी रूप से सचमुच कुछ सुधर गई। इस प्रदेश के जर्मन हिस्से को प्रशासन की दृष्टि से ट्रेंटीनो से पृथक् कर दिया गया। पर इस परिवर्तन से जिन लाभों की आशा की गई थी, वे नही हुए। तो भी आगामी वर्षों में इटली तथा जर्मनी के पारस्परिक सम्बन्ध लगातार अति घनिष्ठतर होते गए। मित्रतापूर्ण मेल-मिलाप से शान्ति के लिए खतरे की बात सोचना विरोधाभास मालूम हो सकता है, पर योरोप दो परस्पर-विरोधी गुटों की युद्धपूर्व की अवस्था की ओर एक कदम आगे बढ़ गया मालूम देता था। इसके साथ बाल्कन मे दो महाशक्तियाँ थीं, जिनमें से प्रत्येक मित्र गुट में थी। प्रतिस्पर्धा को भी रखा जाय तो ऐसा चित्र सामने आता है जो सुपरिचित अपशकुन मालूम होता है।

निरस्त्रीकरण की समस्या, १९२५-३०

(The Problem of Disarmament, 1925-30)

लोकार्नो संधियां होने के बाद निरस्त्रीकरण की आशाएँ बढ़ गयीं। जर्मन आक्रमण से निःशंकता की फ्रांसीसी माँग उस समय प्रभावी रूप से पूरी कर दी गई थी, और संविदा करने वाली शक्तियों ने अंतिम प्रोटोकोल के अन्तिम पैरे में राष्ट्रसंघ द्वारा पहले ही हाथ में लिये हुए निरस्त्रीकरण-सम्बन्धी काम में अपना हार्दिक सहयोग देने और एक व्यापक समझौते द्वारा इसे कार्यान्वित करने का वचन दिया। उस समय फैले हुए आशावाद से अनुप्राणित राष्ट्रसंघीय परिषद् ने दिसम्बर १९२५ में एक प्रारम्भिक आयोग के द्वारा नए सिरे से यह कार्य शुरू किया। यह कल्पना की गई थी कि यह आयोग थोडे ही समय में अन्तिम निरस्त्रीकरण सम्मेलन (Disarmament Conference) की बैठक का मार्ग साफ कर देगा। यह आशा व्यापक रूप से फैली हुई थी कि सम्मेलन १९२७ की समाप्ति से पहले शुरू हो जायगा।

यह सही था कि युद्ध का खतरा सिर्फ जर्मन पुनरुत्थान के कारण ही नहीं था। पोलैंड, रूमानिया और रूसी सीमा पर बसे हुए राज्यों के लिए निरस्त्रीकरण तब तक असंभव था, जब तक सोवियत यूनियन इस व्यवस्था में एक हिस्सेदार न हो। मुख्यतः सोवियत सरकार का प्रतिनिधित्व कराने की इच्छा के कारण ही काम शुरू होने में देर हुई। प्रारम्भिक आयोग की पहली बैठक का समय जिनीवा में १५ फरवरी १९२५ मे रखा गया था, पर इस समय, १९२३ मे लासेन सम्मेलन में शामिल हुए सोवियत प्रतिनिधि की हत्या के परिणामस्वरूप रूस और स्विट्ज़रलैंड की सरकारों में मतभेद थे, जो अभी तय नहीं हुए थे। इन परिस्थितियों मे सोवियत यूनियन स्विस प्रदेश में होने वाले सम्मेलन में भाग लेने को रजामन्द नहीं था, पर उस समय तक चल रही बातचीत में सन्तोषजनक समाधान होने की आशा थी। इसलिए रूसी प्रतिनिधि की उपस्थिति प्राप्त करने के उद्देश्य से सम्मेलन मई तक विलम्बित करने की स्थापना रखी गई। यह कदम इस आशा से भी उठाया गया था कि मई तक राष्ट्रसंघ की विशेष असेम्बली, जर्मनी को सदस्य बनाने का कार्य, जो उसे सौंपा जा चुका था, पूरा कर लेगी, पर युक्तियुक्त होते हुए भी इस विलम्बन ने कार्यवाही के आरम्भ पर अशुभ छाया डाल दी।

हुआ यह कि इसका एक भी उद्देश्य सिद्ध न हो सका। परिषद् के गठन पर जो विचार पैदा हुए उनके परिणामस्वरूप असेम्बली की विशेष बैठक असफल हुई और रूस तथा स्विट्ज़रलैंड की बातचीत फरवरी से भंग हो गई, जिसका नतीजा यह हुआ कि जब, १८ मई १९१९, को प्रारम्भिक आयोग की पहली बैठक शुरू हुई, तब भी उसमें सोवियत यूनियन का प्रतिनिधि नहीं था।

इस कठिनाई के अलावा भी, सत्वर प्रगति की जो आशाएं की गई थीं, वे भ्रमपूर्ण सिद्ध हुईं। उसमें भाग लेने वाले कुछ राज्यों के विचार में सुरक्षा की प्राथमिक समस्या अभी इतनी काफी हल नहीं हुई थी कि निरस्त्रीकरण के प्रश्न को सीधे और बिना रुकावट उठाया जाये। फ्रेंच, पोलिश और फिनिश प्रतिनिधिमण्डलों ने सुरक्षा के प्रश्न को प्रथम स्थान दिलाने का तुरन्त यत्न किया। उनकी प्रस्थापनाएँ परिषद् को भेज दी गईं, जिसकी एक समिति समस्या के अनुसंधान में व्यस्त थी। पर आयोग ने अपने को सौंपे हुए काम पर एकमात्र निरस्त्रीकरण की दृष्टि से विचार जारी रखा और अधिक गम्भीर ढंग की बाधाएँ पैदा होते देर नहीं लगी। ऐसे बहुत से और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों सम्बन्धी प्रश्न थे जिन पर आयोग में तीव्र मतभेद था।

फ्रेंच प्रतिनिधिमंडल ऐसे निरस्त्रीकरण के, जो प्रभावी अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण द्वारा नियन्त्रित न हो, उपायों के बारे में होने वाले किसी भी समझौते को पूर्ण अविश्वास की दृष्टि से देखता था। ऐसे किसी नियन्त्रण को इटली तथा यूनाइटेड स्टेट्स के प्रतिनिधियों ने मानने से साफ़ इन्कार कर दिया था और उनके विचार को ज़रा कम ज़ोर के साथ ब्रिटेन भी मानता था। वह हस्ताक्षरकर्त्ता देशों के सद्भाव पर भरोसा करने का पक्षपाती था। इसके अलावा, फ्रेंच लोग, जो विशिष्ट तर्क के साथ पर व्यावहारिक कठिनाइयों को नज़रन्दाज कर रहे थे 'युद्ध सामर्थ्य' (war-pontential) के प्रश्न पर, इसके सब पहलुओं से, विचार करने के इच्छुक थे। ऐसी प्रस्थापना से, वही चट्टान फौरन सामने आ गई जिस पर शस्त्रास्त्रों को सीमित करने के सुझाव पहले सदा ध्वस्त होते रहे। शस्त्रास्त्र की क्या परिभाषा है? किसी देश की सैनिक दक्षता पर उसकी तोपों की या उसकी नियमित बटालियनों की संख्या से बिल्कुल दूर की ऐसी बातों से भी प्रभाव पड़ता है, जैसे कुछ कच्चे सामान का होना, किसी रेल-पथ का निर्माण और मार्ग, या इसकी प्रजननदर (birth rate) का उतार या चढ़ाव।

उदाहरण के लिए, यह प्रदर्शित किया गया है कि पनामा नहर के नियन्त्रण ने यूनाइटेड स्टेट्स की शक्ति को लगभग दुगना कर दिया है। इस प्रकार, दो देशों के सैनिक बलों और सामग्री के गणितीय समीकरण से, बहुत सम्भव है कि एक की दूसरे पर असंदिग्ध प्रधानता सिद्ध हो जाये।

पर, ऐसी दलीलों के अकाट्य बल के बावजूद, आयोग के प्रभावशाली अंश विशेषकर युनाइटेड स्टेट्स और ब्रिटेन, ने यह अनुभव किया कि यह रास्ता प्रगति के लिए घातक है। इसमें बहुत-सी ऐसी बातों पर विचार करना आवश्यक होगा जिन पर कोई निरस्त्रीकरण सम्मेलन नियंत्रण लागू करने की आशा नहीं कर सकता, उदाहरण के लिए जन्मसंख्या की ह्रास-वृद्धि। इस कारण व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक था कि उस सर्वेक्षण को यथासम्भव शस्त्रास्त्र के प्रचलित अर्थ में इस तक ही सीमित रखा जाय।

दूसरी ओर, एक बात पर प्रतिस्पर्धी पक्ष अपनी बात से हटते प्रतीत होते थे। ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल ने प्रशिक्षित सुरक्षित सेना की गुप्त शक्ति को एक

विचारणीय विषय के रूप में संप्रस्तुत किया और फ्रांस तथा अन्य लामबन्दी वाले (conscriptionist) देशों ने जोर-शोर से यह कहा कि परिसीमा सिर्फ वास्तविक सैनिकों पर लागू की जानी चाहिए। इस बात पर ब्रिटिश लोगों ने, अन्त में इस शर्त पर झुकना स्वीकार कर लिया कि अफसरों और गैरकमीशनयाफ्ता अफसरों का अनुपात इस प्रकार परिसीमित करने का उपबन्ध हो कि आकस्मिक सेना-विस्तार की सम्भावना न रहे, पर यह सवाल खटाई में ही पड़ा रहा, और जर्मनी अब दृढ़तापूर्वक प्रारम्भिक ब्रिटिश दृष्टिकोण पर कायम रहा। तीव्र विवाद का एक और प्रश्न नौसैनिक निरस्त्रीकरण के सिलसिले में पैदा हुआ, जिसमें एक ओर कुल टनेज सीमित करने के पक्षपाती थे, और दूसरी ओर श्रेणियों द्वारा परिसीमा के प्रतिपादक थे। पर इस प्रश्न पर आगे पुनः प्रसंग आने पर विचार करना अधिक सुविधाजनक होगा।

इसलिए, यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि स्वयं निरस्त्रीकरण सम्मेलन के शीघ्र हो सकने की जो शुरू में आशाएँ लगाई गई थीं, वे अनुचित रूप से आशावादी थीं। मार्च १९२७ में, ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल ने एक प्रारूप अभिसमय (draft convention) प्रस्तुत करके मामले को आगे बढ़ाने का यत्न किया, पर फ्रांस ने इसके मुकाबले में एक और प्रारूप पेश कर दिया। दोनों की तुलना से बहुत से तथा प्रतीयमानतः असाध्य मतभेदों की मौजूदगी अधिक स्पष्ट हो गई। अप्रैल में एक ऐसा प्रतिवेदन प्रकाशित करने के निश्चय से, जिसमें मुकाबले की प्रस्थापनाएँ आमने-सामने रखी गई हों, और उन खंडों के बारे में जिन पर पर्याप्त मतैक्य प्रतीत होता था, प्रस्तुत मतभेद भी साथ रखे गये हों, उन मतभेदों को और बल मिला। १९२७ के अन्त तक आरम्भिक आयोग के परिश्रम को गतिरोध का खतरा प्रतीत होने लगा था।

त्रिदेशीय नौसैनिक सम्मेलन
(The Three-Power Naval Conference)

वाशिंगटन समझौते (६ फरवरी १९२२) से अपवर्जित श्रेणियों के नौसैनिक शस्त्रास्त्रों की परिसीमा के विषय मे समझौता करके १९२१-२ के काम को पूरा करने के यूनाइटेड स्टेट्स के प्रयत्नों में भी ऐसी असफलता हुई। अमेरिकन लोकमत कई महत्त्वपूर्ण बातों में योरोपीय विचारधारा से भिन्न था और यह प्रभेद यूनाइटेड स्टेट्स के विदेश मन्त्री श्री कैलोग द्वारा ११ जनवरी १९२७ को एक अमेरिकन सम्वाददाता को लिखे गये पत्र में स्पष्ट रूप से निरूपित किया गया था। अमेरिका अब भी निरस्त्रीकरण की समस्या को सुरक्षा के प्रश्न से अलग करके सीधे हल करने का पक्षपाती था; उसने योरोप वालों के इस कथन का खंडन किया कि सब शस्त्र परस्पराश्रित है और युद्धसामर्थ्य पर, इसके सब पहलुओं से, विचार करने की आवश्यकता है। उसका खयाल था कि नौसैनिक निरस्त्रीकरण प्रादेशिक आधार पर थोड़े से नौसैनिक देशों के बीच समझौते के द्वारा बहुत आसानी से हल किया जा सकता था। यह रुख यूनाइटेड स्टेट्स और जापान के सम्बन्धों पर विचार करते हुए शायद उचित था, जहाँ शक्य संघर्ष का क्षेत्र सचमुच प्रतिबन्धित था, और प्रश्न सुनिश्चित रूप से समुद्री शक्तियों में प्रतियोगिता तक सीमित था। पर यह बात फ्रांस और

इटली को स्वीकार नहीं थी। वे पहले यह उपपत्ति रख चुके थे कि इस समस्या के सब पहलू अन्योन्याश्रित हैं और वे अकेले एक पहलू पर, विशेष रूप से उस समय जब यह प्रश्न राष्ट्रसंघीय आयोग की कार्यसूची में भी था, जो उसी समय इस प्रश्न पर विचार कर रहा था, विचार करने को अनिच्छुक थे। इसलिए इन दोनों शक्तियों ने यूनाइटेड स्टेट्स के राष्ट्रपति द्वारा जून १९२७ में नौसैनिक निरस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए होने वाले सम्मेलन के लिए दिये गये निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया।

ब्रिटेन की स्थिति पहले की तरह मध्यवर्ती थी। जैसा कि श्री रैम्जे मेकडौनल्ड ने बाद में एक और सम्मेलन के सिलसिले में कहा था[१], नौसैनिक मामलों में मुख्य रूप से सम्बन्धित पाँच राष्ट्र तीन-तीन के दो समूहों में बंट जाते हैं, जिनमें ब्रिटेन दोनों में रहता है। इसलिए उसके लिए इस समस्या को शुद्ध प्रादेशिक भावना से देखना असम्भव था क्योंकि यूनाइटेड स्टेट्स और जापान से जो भी बात तय होती, उसे अनुपस्थित योरोपीय शक्तियों के प्रसंग में सोचना पड़ता। तो भी, ब्रिटेन फ्रांस और इटली की अनुपस्थिति में भी; प्रस्थापित सम्मेलन में भाग लेने को तैयार था।

पर आधारभूत जानकारी काफी संग्रहीत नहीं की गई थी और अमेरिकन तथा ब्रिटिश प्रतिनिधि २० जून को जिनीवा पहुँचे तब वे अपनी-अपनी स्वतन्त्र योजनाएं लिये हुए थे, जिनमें एकसूत्रता करने का कोई आरम्भिक प्रयत्न नहीं किया गया था। यूनाइटेड स्टेट्स इस मामले को शुद्ध सापेक्षता का मामला समझना चाहता था। उसने जहाजों की अवशिष्ट श्रेणियों पर, जिनमें कुछ गौण अपवाद भी थे, ठीक वही अनुपात लागू करने की प्रस्थापना रखी जो वाशिंगटन सम्मेलन में बड़े युद्धपोतों के बारे में तय हुआ था। दूसरी ओर, ब्रिटेन की अपनी विशेष परिस्थितियों में, सारे संसार के देशों से आने वाले माल के संरक्षण पर निर्भर अपनी निरपेक्ष यानी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की चिन्ता थी। उसने यह प्रस्थापना रखी कि जहाजों के आकार तथा उनकी तोपों के व्यास में आम कमी कर दी जाय और प्रत्येक श्रेणी के जहाज के स्वीकृत जीवन को बढ़ा दिया जाय। यह पिछला उपबन्ध उन कैपिटल जहाजों या महायुद्धपोतों (सबसे मज़बूत और विशाल युद्धपोतों) पर भी लागू करने की प्रस्थापना रखी गई—इस प्रस्थापना से, पहले हुए समझौते पर पुनर्विचार करना आवश्यक था। ब्रिटेन दस हजार टन वाले आठ-इंची तोपों से युक्त क्रूजरों के बारे में भी प्रस्तुत अनुपात स्वीकार करने को तैयार था। छोटे क्रूज़रों के बारे में यह कहा गया कि उसकी विशेष परिस्थितियों में उसे उनकी बहुत अधिक संख्या की आवश्यकता है; न्यूनतम संख्या ७० सुझाई गई।[२] अमेरिकन प्रस्थापना के अनुसार, क्रूज़र श्रेणी के सब जहाज़ों के लिए ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स दोनों के लिए सब जहाज़ों की टनेज सीमा चार लाख टन होती; यूनाइटेड स्टेट्स ने दस हज़ार टन वाले पच्चीस क्रूज़र रखने का इरादा घोषित किया जिससे छोटी श्रेणी के जहाज़ों के लिए सिर्फ़ १,५०,००० टन या ७५०० टन के बीस क्रूज़र रह गये। ब्रिटेन ने आकार की यही परिसीमा प्रस्थापित की थी। क्योंकि अधिकतम आकार स्टैंडर्ड होने लगता है इसलिए यह अनुभव किया गया कि यूनाइटेड

१. जर्नल आफ द रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफ़ेअर्स, जिल्द ९, पृष्ठ ४३०।
२. अध्याय के अन्त में टिप्पणी देखिए।

स्टेट्स की समता में निर्माण करना आवश्यक होगा और परिणाम यह होगा कि ब्रिटेन के पास व्यापार संरक्षण के लिए परमावश्यक समझे गये क्रूज़रों की संख्या में बहुत गम्भीर कमी हो जायेगी। संक्षेप में, यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा प्रतिपादित गणितीय समता और नियत अनुपात के सिद्धान्त तथा ब्रिटेन द्वारा अभीप्सित, आवश्यकता के निरपेक्ष स्टैण्डर्ड के बीच पूर्ण मतभेद था। सम्भाव्यतः यह मतभेद दोनों पक्षों की वास्तविक आवश्यकताओं के अनुसार था। यूनाइटेड स्टेट्स बड़े आकार के क्रूज़रों की अपेक्षया थोड़ी संख्या चाहता था। ब्रिटेन को बहुत से क्रूज़रों की आवश्यकता थी और इसके लिए वह ऐसी आकार परिसीमा चाहता था जो उसके कार्यों की पूर्ति के साथ संगत होते हुए छोटी से छोटी हो। पर महत्त्वपूर्ण मतभेद इस तथ्य से पैदा हुआ कि एक पक्ष बलों के संख्यात्मक साम्य के रूप में ही सोचता था, जबकि दूसरा पक्ष विरोधी बल को समस्या का एक अंश मानते हुए भी सुरक्षा सम्बन्धी अन्य कारकों को विचार कोटि में रखता था, और अर्थतः यह मानता था कि एक बड़े क्षेत्र में आरक्षण कार्य के लिए सिपाहियों की कुछ न्यूनतम संख्या तो चाहिए ही, चाहे उस क्षेत्र में उपद्रवी तत्त्व कितने भी थोड़े हों।

इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि सम्मेलन के अधिवेशनों के दिनों में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में एक ऐसी विचारधारा प्रबल हो रही थी जो गणितीय समता के सिद्धान्त को किसी भी अंश में मानने की मूलतः विरोधी थी। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने का अर्थ व्यावहारिक रूप से अमेरिका की प्रधानता स्वीकार कर लेना समझा जाता था। १९ जुलाई को ब्रिटिश प्रतिनिधियों को परामर्श के लिए लन्दन बुलाया गया और उनके वापस आने पर श्री ब्रिजमैन का रुख निश्चित रूप से अधिक समझौता विरोधी था, जबकि उनके सहयोगी लार्ड सेसिल ने वार्ता की विफलता के बाद मन्त्रिमण्डल से इस्तीफा दे दिया था—वे वार्ता की विफलता का कारण लन्दन में दी गई हिदायतों को समझते थे। राजनयिक तैयारी के अभाव ने शायद अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। निःसन्देह यह कुछ ऐसी गलतफहमियों का कारण बना जिनसे सर्वथा बचा जा सकता था, यद्यपि कार्यवाही के समय वे सन्तोषजनक रूप से दूर हो गई प्रतीत होती हैं। पर सापेक्षता के और निरपेक्ष आवश्यकताओं के मध्य आधारभूत मतभेद के कारण सम्भाव्यतः यह अनावश्यक हो जाता है कि सम्मेलन के भंग होने के, जो ४ अगस्त को हुआ, कोई और कारण तलाश किये जायें।[1]

नौसैनिक निर्माण विधेयक
(The Naval Construction Bill)

यद्यपि इस अवसर पर अमेरिकन राजनयिक असफलता का प्रभाव कैलोग पैक्ट (Kellogg Pact) द्वारा प्रायः अविलम्ब ही प्रतितुलित कर दिया गया था—और कैलोग पैक्ट सुरक्षा और निरस्त्रीकरण की युग्म समस्याओं को हल करने में अब तक किया गया शायद सबसे अधिक उल्लेखनीय योगदान था—तो भी वार्ताभंग के अविलम्ब बाद जो घटना हुई, वह यह थी कि नौसैनिक निर्माण में वृद्धि के लिए, नवम्बर

१. अध्याय के अन्त में टिप्पणी देखिये।

१९२७ में, कांग्रेस मे एक विधेयक पेश किया गया। पर इसके कार्यक्रम ने यूनाइटेड स्टेट्स की जनता की विरोधी भावनाओं की अज्ञात गहराइयों को आलोड़ित कर दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि फरवरी १९२९ में विधेयक के अन्तिम रूप से पास होने से पहले, उसमें बहुत बड़ी कटौतियां कर दी गई थीं। उस बीच, बहुत सी घटनाओं क कारण स्थिति बदल चुकी थी।

कैलोग पैक्ट
(The Kellogg Pact)

यूनाइटेड स्टेट्स के गैरसरकारी हलकों में कुछ समय से 'युद्ध के अवंधीकरण' (Outlawry of War) के लिए आन्दोलन चल रहा था। जैसा कि नवम्बर १९२८ में रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेअर्स के समक्ष एक भाषण में बताया गया था,[1] यथार्थतः, यह शब्द एक अपप्रयोग है, पर इस विचारधारा के अनुयायियों का बुनियादी विचार यह था कि युद्ध समाप्त करने की दिशा में तब तक कोई प्रगति नहीं हो सकती जब तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटाने के एक उपाय के रूप में बलप्रयोग का सर्वथा प्रत्याख्यान न किया जाय। यूनाइटेड स्टेट्स से बाहर का लोकमत इस बीच इसी दिशा में कुछ आगे बढ़ चुका था। २४ सितम्बर १९२७ को राष्ट्रसंघ का असेम्बली ने पोलिश प्रतिनिधिमंडल द्वारा प्रस्थापित एक संकल्प सर्वसम्मति से अंगीकार किया जो समस्त आक्रमण-युद्धों का प्रतिषेध करता था, और यह घोपित करता था कि सब अवस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को निपटाने के लिए शान्तिपूर्ण साधन ही अपनाये जायें। फरवरी १९२८ में हुए छठे अखिल अमेरिकन सम्मेलन में मैक्सिकन प्रतिनिधि की प्रस्थापना पर एक ऐसा ही संकल्प स्वीकार किया गया।

पर इससे पहले भी युद्ध के प्रत्याख्यान के लिए संधि करने के उद्देश्य से वार्ता आरम्भ की गई थी। अप्रैल १९२७ में श्री ब्रिएन्ड ने अमेरिकन जनता के नाम एक निजी सन्देश भेजा था, जिसमें उन्होंने यह सुझाव रखा था कि यूनाइटेड स्टेट्स के युद्ध में प्रवेश का दसवां वार्षिक उत्सव फ्रांस और यूनाइटेड स्टेट्स में नीति के साधन के रूप में युद्ध का प्रत्याख्यान करने का पारस्परिक समझौता करके मनाना उपयुक्त होगा। उन्होंने यूनाइटेड स्टेट्स के विदेशमन्त्री श्री कैलोग को जून में इस विचार को सन्निविष्ट करने वाली प्रारूप संधि भेज कर इस सुझाव का अनुवर्तन किया। इस प्रकार, यद्यपि पहल फ्रांस ने की प्रतीत होती है, पर यूनाइटेड स्टेट्स को उतना श्रेय प्राप्त करने का अधिकार वास्तव में है जो उन्हें शान्ति सन्धि के लोकप्रिय नाम के कारण तब से मिलता रहा है, क्योंकि श्री ब्रिएन्ड को निःसन्देह यह प्रेरणा पिछले मार्च में एक अमेरिकन नागरिक प्रोफेसर शोटवैल से हुई बातचीत में मिली थी।

श्री कैलोग ने इस प्रस्थापना का उत्तर देने में कुछ शिथिलता दिखाई, पर २८ दिसम्बर को उन्होंने, श्री ब्रिएन्ड को दो पत्र भेजे, जिनमें से दूसरे में यह सुझाव रखा गया कि प्रस्थापित संधि बहुपक्षीय होनी चाहिए। यह सुझाव फ्रैंच मन्त्री को फौरन

१. श्री फिलिप केर (जो बाद में मार्क्विस आफ लोथियन बने) जर्नल, १९२८, जिल्द ७, पृ. ३६१।

स्वीकार नहीं हुआ। एक ऐसे राष्ट्र के साथ, जिसके साथ फ्राँस का कोई ऐसा विवाद होने की अत्यल्प सभावना थी जिससे युद्ध हो सकता हो, युद्ध का प्रत्याख्यान करने का सांकेतिक कार्य एक बात थी, और राष्ट्रसंघ के एक सदस्य तथा कई ऐसी संधियों के हस्ताक्षरकर्ता के लिए जिनमें अन्ततः युद्ध का सहारा लेने का उपबन्ध था, पूर्ण विचार-विमर्श के बिना, इसमें अन्तर्ग्रस्त सिद्धान्त का अप्रतिबन्धित विस्तार दूसरी बात थी। पर अप्रैल में श्री ब्रिएन्ड ने फ्रैंको-अमेरिकन पत्र-व्यवहार जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और जापान की सरकारों के समक्ष प्रस्तुत करना स्वीकार कर लिया, और १३ अप्रैल १९२८ को श्री कैलोग द्वारा इन शक्तियों को भेजे गये एक परिपत्र द्वारा, जिसमें एक बहुपक्षीय संधि का मसविदा था, यह कार्य किया गया। इस मसविदे में दो स्वतन्त्र अनुच्छेद वे ही थे, जो श्री ब्रिएन्ड के आरम्भिक सुझाव में थे; अन्तर सिर्फ इतना था कि उनको बहुपक्षीय रूप दे दिया गया था। फ्रेंच सरकार द्वारा २० अप्रैल को जारी किये गये एक वैकल्पिक प्रारूप के उत्तर में श्री कैलोग ने नौ दिन बाद अमेरिकन अन्तर्राष्ट्रीय विधि संघ के समक्ष एक भाषण दिया जिसमें आपने बहुत से सन्देहजनक नुक्तों का अर्थ स्पष्ट किया जिससे विभिन्न क्षेत्रों मे विद्यमान बाध्यताओं और आत्मरक्षा के अधिकार पर संधि के प्रभाव के बारे में उत्पन्न गलतफहमी दूर हो सके। इन स्पष्टीकरणों की उन्होंने २३ जून को २४ सरकारों को भेजे गये पत्र में पुनः पुष्टि की। इन सरकारों में शुरू में सम्बोधित चार महाशक्तियों के अलावा बैल्जियम, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, भारत और ब्रिटिश कामनवैल्थ के स्वशासी डोमीनियन भी शामिल थे।

लोकमत ने इस प्रस्थापना का बड़ी प्रबल अनुकूलता से स्वागत किया, पर सरकारें, स्वभावतः और ठीक ही, अधिक सतर्क थी। ब्रिटेन ने 'संसार के कुछ प्रदेशों के बारे में, जिनका कल्याण और अखण्डता हमारी शान्ति और सुरक्षा के लिए विशेष और संघातिक महत्ता रखती है' निर्बन्ध लगाया। आम तौर पर यह निर्देश मुख्यतः मिश्र के बारे में समझा जाता था। फ्राँस ने अपने पुराने संधि-बंधनों की शर्त रखी और आत्मरक्षा के अधिकार पर जोर दिया, जो श्री कैलोग ने स्वीकार किया था। उसने यह भी कहा कि यदि एक देश प्रतिज्ञा भंग करे तो सब के सब उस प्रतिज्ञा से स्वतः मुक्त हो जाएँगे। इन तथा ऐसी अन्य शर्तों के साथ शुरू में संविदा करने वाले १५ देशों के प्रतिनिधियों ने २७ अगस्त १९२८ को इस पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये और तुरन्त यह घोषणा कर दी गई कि पैक्ट अन्य राज्यों के शामिल होने के लिए खुला है। अपेक्षया थोड़े ही समय में प्रायः सबने इसे मान लिया। एकमात्र स्वशासी राज्य जिन्हें इसमें शामिल होने के लिए नहीं कहा गया, अरब के नजद्-हेजाज और यमन राज्य थे। १९३० तक कुछ महत्त्व रखने वाले एकमात्र बहिर्भूत राज्य अर्जेंटाइना, ब्राजील और बोलीविया थे। यूनाइटेड स्टेट्स ने संधि का अनुसमर्थन १७ जनवरी १९२९ को किया और उस वर्ष के पूर्वार्ध में इसे प्रायः अन्य सब हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने अंतिम रूप से स्वीकार कर लिया था। कुछ आश्चर्य की बात यह थी कि सोवियत सरकार ने, जिसने शुरू में इस संधि को पूंजी-

बाद की उपज बताया था, इसके आम अनुसमर्थन की पेशबन्दी करने के लिए, अपने पड़ौसियों को इस संधि की शर्तें स्थानीय रूप से लागू करने के हेतु एक स्वतन्त्र प्रोटोकोल में शामिल करके तत्काल कदम उठाये। यह प्रोटोकोल, जो लिटविनोव प्रोटोकोल (Litvinov Protocol) कहलाता था, दिसम्बर १९२८ में पोलैंड और लिथुआनिया के सामने पेश किया गया। पोलिश सरकार शुरू में कुछ निश्चय नहीं कर सकी और इसका मुख्य कारण यह था कि उसके रूमानिया के साथ संधि-संबध थे और रूस का बैस्सरेबिया के प्रश्न पर रूमानिया के साथ अब भी विवाद मौजूद था। पर श्री लिटविनोव ने अपने प्रोटोकोल में, जो बाल्टिक सीमा राज्यों के शामिल होने के लिए भी खुला था, रूमानिया को शामिल करने में रजामन्दी जाहिर की। इन परिस्थितियों में इस लिखत पर सोवियत संघ, पोलैंड, रूमानिया, लैटविया और एस्टोरिया ने फ़रवरी १९२९ में और लिथुआनिया ने थोड़े दिन बाद हस्ताक्षर कर दिए। पर इस समय तक यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा पैक्ट का समर्थन किया जा चुका था और इसलिए श्री लिटविनोव की स्वतन्त्र कार्यवाही का प्रत्यक्ष कारण दूर हो चुका था।

एक ऐतिहासिक घटना के रूप में, युद्ध का नीति के साधन के तौर से यह प्राय: सार्वजनिक प्रत्याख्यान अभूतपूर्व महत्त्व रखता प्रतीत होता है। युद्ध के प्रति एक नये नैतिक रुख के संकेत के रूप में यह नि:संदेह प्रभावोत्पादक था। इसका विशेष महत्त्व यह भी था कि इसने एक ऐसा आधार बना दिया जिस पर राष्ट्रसंघ से बहिर्गत महान् राष्ट्र, यूनाइटेड स्टेट्स और रूस, शान्ति के सामूहिक संगठन में सीधी दिलचस्पी रख सकते थे। तो भी, जैसा कि श्री व्हीलर बैनेट ने बताया था[1] 'सिर्फ आक्रमण-युद्ध को अवैध किया गया था, और इसलिए इस से युद्ध का अवैधीकरण वास्तव में वहाँ से आगे नहीं गया जहां सितम्बर १९२७ में लीग असेम्बली द्वारा अंगीकृत पोलिश प्रस्ताव से पहुँचा था। एटलांटिक पार पैदा हुए एक संलेख से जैसी आशा करनी ही चाहिए थी, इसने संसार के शान्तिवादी रुख का उस समय शानदार प्रचार कर दिया और इसे अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा के मार्ग पर एक बड़ा अग्रगामी कदम समझा जा सकता था परन्तु इस सारे घटनाक्रम का एकमात्र आधार हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों का सद्भाव ही था और वह उन राष्ट्रों पर कोई अनुशास्तियाँ नहीं लागू करता था जो इसमें की गई प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन करें। उस जमाने में, जो असुविधाजनक बाध्यताओं को भुलाने में निपुण था, इससे उतना अधिक विश्वास स्थापित न हो सकता था जिससे राष्ट्रों को निरस्त्रीकरण की प्रेरणा मिले।[2] संभाव्यत: प्रत्येक यह सोचता था कि युद्ध मेरी अपनी नीति का साधन नहीं है पर प्रत्येक अपने

---

१. डिसआमीमैंट एण्ड सिक्योरिटी सिंस लोकार्नो, लण्डन, ऐलन एण्ड अनविन, १९३२, पृ० २४८।

२. जिन्हें इस अध्याय की पाण्डुलिपि दिखाई गई थी, उनमें से एक सज्जन ने यह बात कही, 'मेरी राय में पैक्ट का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम उल्लेखनीय है, अर्थात् उन हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने जो इसका अतिक्रमण करना चाहते थे, बिना घोषणा युद्ध शुरू कर देने का सरल उपाय अपनाया और इस तरह हम पुन: उस प्रस्तर युग में आ गए हैं जब ''सभ्य'' युद्ध प्रथा का अस्तित्व नहीं था।'

पड़ोसी की ईमानदारी पर अविश्वास करता था . पैक्ट पर हस्ताक्षर होने के समय ही ऐसी घटना हुई जिसने इन सन्देहों के अस्तित्व को बहुत स्पष्ट रूप से चमका दिया।

एंग्लो–फ्रेंच समझौता
(The Anglo-French Compromise)

मार्च १६२७ में प्रारम्भिक आयोग (Preparatory Commission) के स्थगित होने पर इसके अध्यक्ष जान केयर लाउडन (Jonkhoer Loudon) ने संबंधित शक्तियों में फ्रेंच और ब्रिटिश प्रारूप अभिसमयों से प्रकट हुए प्रतिरोध को दूर करने के उद्देश्य से बाह्य बातचीत का महत्त्व सुझाया था। इस प्रशंसनीय उद्देश्य से फ्रांस और ब्रिटेन ने तदनुसार बातचीत शुरू की। मतभेद की दो मुख्य बातें स्थलीय और समुद्री बलों के बारे में दोनो राष्ट्रों के अलग-अलग दृष्टिकोण थे। स्थल सेना की गणना में ब्रिटेन प्रशिक्षित रिजर्व सेना को शामिल करना चाहता था, जिसका फ्रांस प्रबल विरोधी था और नौसैनिक परिसीमा (naval limitation) के बारे में फ्रांसीसी कुल टनेज की परिसीमा के पक्ष में थे, जबकि ब्रिटेन, जैसा कि उसने अपनी निष्फल वार्ता में प्रदर्शित कर दिया था, पृथक् श्रेणियों द्वारा परिसीमा का पक्षपाती था। इन दो मामलों में ये दोनों सरकारें एक समझौता करने में सफल हो गईं। इसका सारांश यह था कि प्रशिक्षित रिज़र्व सेना के बारे में ब्रिटेन फ्रांसीसी दृष्टिकोण का विरोध न करेगा और उसके बदले में फ्रांस श्रेणियों द्वारा ऐसी नौसैनिक परिसीमा स्वीकार करने को तैयार हो गया, जिसमें से दस हज़ार टन और इससे कम के जलपोत, यदि वे छह इंच व्यास से अधिक वाली तोपों से सज्जित न हों तो सर्वथा उन्मुक्त होंगे। कठिनाई यह थी कि समझौते के दोनों विषय ऐसे थे जिनमें वार्ताकर्ताओं के अतिरिक्त अन्य देशों की भी गहरी दिलचस्पी थी। जर्मनी प्रशिक्षित रिजर्व सेना के प्रश्न पर ब्रिटेन के पहले विचार पर कायम रहा, और यूनाइटेड स्टेट्स ने, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, क्रूज़र क्लास (Cruiser Class) को और विभाजित करने की प्रस्थापना को निश्चित रूप से अस्वीकार कर दिया था और वह अपने सब क्रूज़रों को आठ इंची तोपों से सज्जित करने की स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व देता था—अब प्रस्थापित अवस्थाओं में उन्हें निर्बन्धित श्रेणी मे रखा जा सकता।

इसलिए यह विचित्र मालूम देता है कि इन दोनों राष्ट्रों को कभी यह विश्वास था कि उनकी निजी वार्ता का परिणाम आम तौर पर स्वीकार्य होगा। तो भी, समझौते की वास्तविक शर्तों से उतनी उथल-पुथल नहीं मची जितनी उस तरीके से मची, जिससे उन्हें उद्घाटित किया गया। ३० जुलाई १६२८ को सर आस्टन चैम्बरलेन ने ब्रिटिश लोकसभा (House of Commons) में समझौते के तथ्य का ऐलान किया पर इसकी शर्तें नहीं प्रकट कीं। उन्होंने इस समझौते का पूरा विवरण इससे सम्बद्ध प्रशिक्षित रिजर्व सेना के मामले का जिक्र किये बिना एक साथ अमेरिकन, जापानी और इटालियन सरकारों को तार द्वारा भेज दिया पर जिस समय समझौते के स्वरूप के बारे में जनता का कौतूहल शान्त नहीं हुआ था और वह अफवाहों पर ही आश्रित था, उस समय फ्रेंच अखबारों ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट करनी शुरू कर दी।

इसने जो समझौता हुआ था उसके महत्त्व के बारे में अत्यधिक अतिरंजित प्रभाव पैदा कर दिया। इस प्रश्न का स्थल सेनाओं सम्बन्धी पहलू जर्मनी की पूछताछ से सामने आया, यद्यपि ब्रिटिश सरकार इस बात से इन्कार करती रही कि समझौते की बात-चीत का यह एक परमावश्यक भाग है, क्योंकि समझौते का लेख्य, वस्तुतः तैयार होने से पहले फ्रेंच सरकार के साथ यह बात तय हो गई थी। दोनों सरकारों में गुप्त समझौतों और दूरगामी स्वरूप वाले राजनैतिक निश्चयों के अस्तित्व के बारे में अटकल-बाजी शुरू हो गई। 'योरोप में सब जगह इसे इस बात का प्रमाण माना गया कि ब्रिटेन ने योरोप में फ्रेंच सैनिक प्रधानता के पक्षपोषण का निश्चय किया और लोकार्नो की नीति समाप्त हो गई'।[1] एक और बुरी बात यह हुई कि समझौते का पाठ अधिकृत रूप से प्रकाशित होने से पहले एक अमेरिकन अखबार ने समझौते के बारे में एक गोपनीय आदेश-पत्र छाप दिया जो तीन अगस्त को विभिन्न राजनयिक आवासों को भेजा गया था। इस प्रकार, ऐसी परिस्थितियां इकट्ठी हो गयीं, जिनसे सारे मामले का गलत रूप सामने आया और इसके साथ गुप्तता और षड्यंत्र का ऐसा वातावरण पैदा हो गया, जो इस कारण से और बढ़ गया कि इसकी तथा कैलोग पैक्ट (Kellogg Pact) पर हस्ताक्षर की तारीख एक ही थी—वस्तुतः, सर आस्टन चैम्बरलेन ने इस समझौते और उस पैक्ट का ब्रिटिश लोक सभा की उसी बैठक में ३० जुलाई को जिक्र किया। इस प्रकार पुरानी और नई राजनय की विधियां लोकमानस में, विशेषकर अमेरिका में, बड़े प्रबल और घृणित वैषम्य पैदा कर गईं। जब अमेरिकन और इटालियन सरकारी उत्तर इस समझौते की बाकायदा निन्दा कर चुके, तब यह घटना चारों ओर क्षमा याचनाओं, प्रतिवादों और आलोचनाओं के दौर में समाप्त हो गई।

प्रारम्भिक आयोग की प्रगति
(Progress of the Preparatory Commission)

जब तीस नवम्बर १९२७ को प्रारम्भिक आयोग ने फिर अपना कार्य आरम्भ किया तब असेम्बली के दो प्रस्तावों के कारण यह और भी अधिक दृढ़ स्थिति में था। इनमें से पहला पोलिश प्रस्ताव था जिसमें आक्रमण-युद्धों की निन्दा की गई थी। इसका पहले उल्लेख हो चुका है; दूसरे (२६ सितम्बर) में शान्ति कायम रखने के लिए सुरक्षा की पर्याप्त गारन्टी और सामूहिक कार्यवाही के प्राथमिक महत्त्व पर पुनः बल दिया गया था और आयोग की एक ऐसी समिति का निर्माण करने का सुझाव रखा गया था जिसे विषय के इस पहलू पर विचार करने का अधिकार हो। इस अवसर पर सोवियत रूस के प्रतिनिधि मंडल की उपस्थिति से एक और परिवर्तन हो गया था। (तुर्की का भी पहली बार प्रतिनिधित्व हुआ था)। रूसी प्रतिनिधि श्री लिटविनोव (M.Litvinov) ने अपने प्रथम भाषण में स्थल सेनाओं, नौ सेनाओं और वायु सेनाओं की पूर्ण और अविलम्ब समाप्ति तथा सब युद्ध पोतों, युद्ध सामग्री और शस्त्र फैक्टरियों को खत्म करने के लिए एक व्यापक प्रस्थापना रखी। इस सुझाव को गम्भीरता से नहीं लिया

---

१. देखिए, फिलिप केर : जर्नल ऑफ दि रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशनल अफ़ेयर्स, १९२८, पृ० ३७०।

गया और सम्भाव्यत: यह सचमुच उस रूप में अभिप्रेत भी नहीं था। इसका वास्तविक उद्देश्य सम्भाव्यत: निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में की गई मन्द और ढिलमिल प्रगति की ओर ध्यान खीचकर राष्ट्र संघ (League of Nations) और पूँजीवादी शक्तियों को बदनाम करना था। पर यह सच है कि सोवियत सरकार को, जिसका शस्त्र राज्य-विरोधी प्रचार था, इस प्रकार का प्रस्ताव स्वीकार हो जाने से नुक्सान कुछ न होता और लाभ बहुत हो जाता।

इसी बीच जर्मन प्रतिनिधि काउण्ट बर्नस्टोर्फ (Count Bernstorff) ने फौरन आयाग पर यह जोर डाला कि हमारे देश को आम निरस्त्रीकरण की अधिक द्रुत प्रगति की आशा करने का अधिकार है। लेकिन उन्हें इससे ज्यादा लाभ नहीं हुआ। उन्होंने यह संशय पैदा कर दिया कि वे इसलिए जल्दी कराना चाहते हैं ताकि सम्मेलन निश्चित रूप से भंग हो जाये, जिससे जर्मनी के पुनःशस्त्रीकरण का मार्ग साफ़ हो जाये। श्री लिटविनोव पर विध्वंसक उद्देश्यों का सन्देह भी किया गया और रूस तथा जर्मनी में बढ़ते हुए मेलमिलाप को, जो आयोग के पुन: सम्मेलन से पहले बर्लिन में काउंट बर्न स्टोर्फ और श्री लिटविनोव के बीच एक भेंट से सूचित होता था, कुछ बेचैनी के साथ देखा गया। यह कह देना भी उचित होगा कि अत्यन्त शस्त्र-सज्जित शक्तियों पर जो चाल चलने का आरोप लगाया गया था, उससे उनके विरोधियों में हार्दिक आलोचना और भ्रम पैदा हुआ। आयोग १६२८ में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं कर सका।

जनरल एक्ट या व्यापक अधिनियम
(The General Act)

सुरक्षा सम्बन्धी समिति का कार्य अधिक सफल रहा। श्री वेनेश के सभापतित्व में प्राग में किये गये आरम्भिक कार्य के आधार पर इसने कम से कम दस प्रारूप संधियों के नमूने तैयार किये जिनमें परिवर्तन पंच-निर्णय (arbitration), संराधन (conciliation), अनाक्रमण और पारस्परिक सहायता के विविध उपायों पर आधारित रक्खे गये थे। इनमें से तीन संधियां बहुपक्षीय और शेष द्विपक्षीय थीं। इन तीनों बहुपक्षीय संधियों को सितम्बर १६२८ में राष्ट्रसंघ की नौवीं असेम्बली में मिलाकर 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए एक व्यापक अधिनियम' (General Act for the Pacific Settlement of International Disputes) का रूप दे दिया गया। इसे सब राज्यों की व्यापक स्वीकृति के लिए खुला रखा गया था।

व्यापक अधिनियम का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए ऐसी व्यवस्था करके, जो सब मामलों पर लागू की जा सके, कैलोग पैक्ट (Kellogg Poct) को कार्यान्वित करना था। पहले अध्याय में संराधन की प्रक्रिया का दूसरे में अन्वीक्षणीय (justiciable) विवादों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पंच-न्यायाधिकरण (Arbitration Tribunals) को सौंपने का उपबन्ध था, और तीसरे में पंचनिर्णय के उपाय को उन विवादों पर भी लागू किया गया था जिनके लिए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Premanent Court of International Justice) की

व्यवस्था बहुत उपयुक्त नहीं थी। अन्तिम अध्याय में, जिसमें साधारण उपबन्धों का उल्लेख था, इस अधिनियम को पूर्ण या आंशिक रूप में मानने की छूट दी गई थी। राज्यों को यह स्वतन्त्रता थी कि वे या तो सिर्फ संराधन प्रक्रिया को स्वीकार करें या संराधन और न्यायिक निपटारे को स्वीकार करें और सब मामलों में अनिवार्य पंच-निर्णय के सिद्धान्त से वचनबद्ध न हों। अध्याय चार में निर्बन्धों (reservations) की छूट भी दी गई थी और यह उपबन्ध था कि यदि किसी विवाद में एक पक्ष कुछ निर्बन्ध कर चुका है तो अन्य पक्ष इसके लाभ का दावा कर सकते है। इसलिए अन्य राष्ट्रों के रुख की प्रमीक्षा करने में स्पष्ट लाभ था और इसमें कोई आश्चर्य नही कि १९२८ के अन्त तक एक भी स्वीकृति की सूचना नहीं मिली।

तो भी मई १९२९ में स्वीडन ने व्यापक अधिनियम के अध्याय एक और दो तथा इनसे सम्बन्धित साधारण उपबन्ध स्वीकार कर लिये और कुछ दिन बाद बेल्जियम ने सिर्फ उन विवादों को निर्बन्धित करते हुए जो पहले की घटनाओं से पैदा हों, अपनी व्यापक स्वीकृति की सूचना दी। क्योंकि यह अधिनियम द्वितीय स्वीकृति से ९० दिन बाद प्रवर्तित होना था (अनुच्छेद ४४), इसलिए यह १६ अगस्त को प्रवर्तित हुआ। सितम्बर १९३० तक डेनमार्क, नारवे और फिनलैंड ने उसे पूरी तरह स्वीकृत कर लिया था और हालैण्ड ने न्यायिक निपटारे और संराधन से सम्बन्धित अध्याय स्वीकार कर लिये थे। इन देशों के उदाहरण का लग्जेम्बर्ग और स्पेन ने भी शीघ्र अनुसरण किया, पर हस्ताक्षरकर्ताओं में १९३० के अन्त तक कोई प्रथम श्रेणी के महत्त्व की शक्ति नहीं थी।

वित्तीय सहायता के बारे में अभिसमय
(The Convention on Financial Assistance)

राष्ट्रसंघ ने सितम्बर १९३० में अपने ग्यारहवें अधिवेशन में एक महत्त्वपूर्ण निश्चय किया—इसने आक्रमण से या आक्रमण के खतरे से ग्रस्त हुए राज्यों को वित्तीय सहायता की व्यवस्था के लिए एक अभिसमय हस्ताक्षरों के लिए प्रस्तुत किया। पर इस अभिसमय के प्रवर्तित होने की शर्त यह थी कि आगामी सम्मेलन में एक निरस्त्रीकरण अभिसमय हो जाये। यह योजना शुरू में फिनलैंड के प्रतिनिधि ने १९२६ में आयोग के आगे रखी थी, और १९३० में इसके अस्थायी रूप से स्वीकार होने से पहले लम्बा विवाद चला था। 'युद्ध को वित्तपोषित करके शान्ति को आगे बढ़ाने' की धारणा की कुछ आलोचना हुई और इस बारे में काफी मतभेद था कि इस उपाय को युद्ध के छिड़ जाने से पूर्व की अवस्था में लागू किया जाय, या इसका प्रयोग निरस्त्रीकरण सम्मेलन सफल होने पर ही किया जाय। अन्त में यह तय हुआ कि अभिसमय सिर्फ वास्तविक युद्ध जैसी परिस्थितियों में उस अवस्था में लागू किया जाय जब परिषद् ने'''युद्ध की सम्भावना पैदा करने वाले किसी अन्तर्राष्ट्रीय विवाद में शान्ति की रक्षा के लिए कोई ऐसी कार्यवाही की हो' जिसका एक पक्ष ने उल्लंघन किया हो और 'परिषद् यह समझती हो कि और किसी तरह शान्ति की रक्षा नहीं की जा सकती।' दूसरा विवादग्रस्त प्रश्न, जैसा कि पहले कह चुके हैं, अभिसमय की सशर्त स्वीकृति के पक्ष में निर्णीत हुआ था।

नौसैनिक सम्मेलन, १९३०
(The Naval Conference 1930)

मई १९२९ के ब्रिटिश साधारण निर्वाचन के परिणामस्वरूप श्री रैमजे मैक्डौनल्ड के पदारूढ़ हो जाने से तत्कालीन भावना में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन, अच्छा या बुरा हो गया। निरस्त्रीकरण के बारे में अनुदारदलीय और मजदूरदलीय सरकारों की नीति में निःसन्देह उतनी अधिक भिन्नता नहीं थी जितनी उनके कुछ समर्थकों के विचारों मे थी। अगर कोई आदमी 'इस निरस्त्रीकरण की बेहूदगी' (this disarmament nonsense) के खिलाफ़ ज़हर उगल रहा हो और सशस्त्र सेना में बहुत अधिक वृद्धि के पक्ष में बोल रहा हो तो वह अनुदारदलीय सरकार के विचार को तो निरूपित नही करता, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका वोट जब पड़ेगा तो अनुदार दल को पड़ेगा। दूसरी ओर, चरम शान्तिवादी, जो विचारहीन एकपक्षीय निरस्त्रीकरण का प्रतिपादन करते थे, उतने ही निश्चय के साथ मजदूर दल के पक्षपाती माने जा सकते थे, यद्यपि लार्ड पौन्सन बाई के संभव अपवाद को छोड़कर, वे अपने विचारों का कोई अधिकृत समर्थन होने की बात नहीं कह सकते थे। इस प्रकार के चरम विचारों के सम्बन्ध से यह पता चलता है कि प्रत्येक दल के जिम्मेदार राजनीतिज्ञ निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर अधिक सूक्ष्म प्रभेद से विचार करते हैं। यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक है पर प्रेरक भाव और अवधारण में भेद है। अनुदारवादी जिनका आदर्श नमूना लार्ड कुशेंडन था और जो जिनीवा में उनका प्रनिनिधि था, शस्त्रास्त्रों पर व्यय की परिसीमा से होने वाली बचतों पर तथा राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में सन्निविष्ट निरस्त्रीकरण के कर्तव्य पर मुख्य बल देते थे, यह युद्ध के निवारक के रूप में निरस्त्रीकरण की फलप्रदता पर खुले आम संदेह प्रकट करते थे।[1] उनका विचार था कि ब्रिटिश सेनाओं में पहले ही इतनी कमी की जा चुकी थी कि वे सुरक्षा की परिसीमा पर आ गई थीं, और वे समय से पहले इस मामले से विरत हो जाने पर तो अफसोस करते थे और इससे अधिक त्याग करने को तैयार न थे। वे ब्रिटिश हितों को विदेशियों के न्यायनिर्णयन (adjudication) के लिए प्रस्तुत करने का आम वचनबन्ध देने के विरोधी थे जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के 'विकल्प वाले खण्ड' (optional clause) पर हस्ताक्षर करने या व्यापक अधिनियम को मानने में देना आवश्यक था। दूसरी ओर, मजदूर दल की सम्मति में, देश की सशस्त्र सेना द्वारा राष्ट्रीय हितों की जो रक्षा हो सकती थी, इससे अधिक अच्छी रक्षा आम निरस्त्रीकरण काफी मात्रा में कर लेने पर हो सकती थी, और इसलिए वे अधिक रियायतें करने को तैयार थे। मैक्डौनल्ड की सरकार विकल्प वाले खण्ड पर हस्ताक्षर करने पर वचनबद्ध होकर सत्तारूढ़ हुई और सितम्बर १९२९ में, घरेलू और अन्तःसाम्राज्यिक प्रश्नों को छोड़कर अन्य मामलों में यह प्रतिज्ञा स्वीकार कर ली गई। स्वशासी डोमीनियनों और भारत

---

१. देखिये लार्ड कुशेंडन का भाषण, जर्नल आफ द रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफैयर्स, जिल्द ७, १९२८, पृष्ठ ७७।

ने ब्रिटेन के उदाहरण का अनुसरण किया।[1] १९३० में सरकार ने व्यापक अधिनियम (General Act) की स्वीकृति की दिशा में कदम उठाये और इम्पीरियल कान्फ्रेंस में, जो उसी साल हुई थी डोमीनियनों के साथ परामर्श करने के बाद दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर कामनवैल्थ के और सब सदस्यों ने १९३१ की गर्मियों में स्वीकृति की लिखतें जमा कर दीं। एक और शान्तिवादी कार्य के रूप में सरकार ने सिंगापुर नौसैनिक अड्डे पर हो रहे कार्य को भी निलम्बित कर दिया, पर अधिक तात्कालिक महत्त्व उन समझौता वार्ताओं को पुनः प्रारम्भ करने का था, जिनका उद्देश्य नौसैनिक निरस्त्रीकरण की समस्याओं को संतोषजनक रूप से हल करना था। इसमें १९२९ के बसंत में अमेरिका की कुछ उत्साहवर्धक घोषणाओं से सुविधा हो गई थी, और शेष वर्ष मुख्यतः एंग्लो-अमेरिकन वार्ता में लगा जिसके परिणामस्वरूप अक्तूबर में यूनाइटेड स्टेट्स, फ्रांस, इटली और जापान को लन्दन में जनवरी १९३० में होने वाले सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमन्त्रण दिया गया।

लन्दन में नौसैनिक संधि
(The Naval Treaty in London)

१९२७ के सम्मेलन के असदृश, इस सम्मेलन के लिए बहुत अच्छी तरह आधार बनाया गया था। एक लाभ यह भी था कि फ्रांस और इटली ने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, क्योंकि यद्यपि इससे समस्या का समाधान और भी जटिल हो गया, पर शुरू में ही सारी की सारी समस्या सामने आ गई। ब्रिटिश वार्त्ताकर्त्ताओं के हाथ इसलिए और भी खुल गये क्योंकि नौसेना मन्त्रालय ने क्रूज़रों के मामले में ब्रिटेन की 'निरपेक्ष आवश्यकताओं' (absolute needs) का तखमीना कुछ कम कर दिया। न्यूनतम आवश्यकता ७० से घटा कर ५० कर दी गई। इस कमी को करने का आधार यह बताया गया कि केलौग पेक्ट (Kellogg Poct) स्वीकार होने के बाद संसार के राजनैतिक सम्बन्धों में सुधार हो गया है, पर प्रतीत होता है कि यह बात अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे में अनुचित रूप से आशावादी दृष्टिकोण पर निर्भर थी। नौसेना मन्त्री ने यह भी कहा कि ये सख्याएँ सम्मेलन के और संशोधन की अगली तारीख तक के लिए,—दूसरे शब्दों में, १९३५ से पहले तक के लिए ही मान्य थीं। प्रधान मन्त्री इससे भी अधिक आशावादी थे। श्री मैकडौनल्ड ने सम्मेलन में कहा 'कि वर्तमान परिस्थिति को ब्रिटिश सरकार जिस दृष्टिकोण से देखती है, उसमें युद्ध की जोखिम प्रायः शून्य है, पर उन्होंने इसी भाषण में यह स्वीकार किया कि यदि इस धारणा से विचार किया जाय कि अपेक्षया थोड़े समय के अन्दर युद्ध[2] की तैयारी करनी है तो ब्रिटिश कार्यक्रम सर्वथा अपर्याप्त है।

यह भी कहा गया था कि यह कार्यक्रम तभी स्वीकृत माना जायेगा जब

---

१. आयरिश फ्री स्टेट ने अन्तः साम्राज्य विवादों को निर्बन्धित नहीं किया पर क्योंकि वह अकेला था इसलिए इस अन्तर का व्यावहारिक महत्त्व नहीं है।

२. ई. एल. वुडवर्ड और आर. बटलर (सम्पादक) डौक्यूमैन्ट्स आन ब्रिटिश फौरेन पालिसी, १९१९—१९३९, दूसरी सीरीज, जिल्द १, लन्दन, एच. एम. एस. ओ, १९४६, पृष्ठ २१५।

अन्य शक्तियाँ भी पर्याप्त परिसीमा पर सहमत हों।

'निरपेक्ष आवश्यकताओं' (absolute needs) के अंकों में विशेषज्ञों से यह कमी करवा लेने पर नई सरकार ने इस समस्या पर अमेरिका के शुद्ध सापेक्षता के दृष्टिकोण का सब विरोध छोड दिया। अब यह काम फ्रांस पर आ पड़ा, जिसके प्रतिनिधि एक योग्य व्यक्ति श्री तारदू (M. Tardieu) थे, कि वे गणितीय अनुपातों के हेत्वाभास (fallacy) की आलोचना जारी रखें। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि फ्रांस की नौसैनिक आवश्यकता उसकी तट-पंक्ति तीन समुद्रों पर होने और उसके समुद्र पार के संचार साधनों के विस्तार आदि के विचारों से निर्धारित होनी है। एक और मौके पर यही युक्तियाँ इटली के समता के दावे का विरोध करते हुए दी गई थीं। फ्रेन्च प्रतिनिधि इस दावे को मानने के लिए सिर्फ तब तैयार था जब सुरक्षा की पर्याप्त गारन्टी दी जाय, जो अन्य वार्त्ताकताओं में से कोई भी देने को तैयार न था। फ्रेंच प्रतिनिधि ने कहा कि इटली के साथ सब तरह की समता का अर्थ तथ्यत: यह है कि फ्रांस भूमध्यसागर में हीन स्थिति में आ जाय। श्री ब्रिएन्ड ने जर्मनी द्वारा हाल मे बनाये गये 'पौकट बैटलशिप' (pocket battleship) का उल्लेख करके श्री तारदू की दलीलों को और पुष्ट कर दिया।[1]

पर इटालियन प्रतिनिधि-मंडल ने एक ओर तो कोई ऐसी संख्या, चाहे वह कितनी भी छोटी हो, स्वीकार करने का विरोध किया जो किसी अन्य महाद्वीप शक्ति (continental power) की संख्या से कम हो. और दूसरा ओर समता पर आग्रह जारी रखा और इस प्रश्न पर पांचों शक्तियों में पूर्ण मतैक्य कराने का प्रयत्न अन्त में विफल हो गया।

और दृष्टियों से कठिनाइयाँ अधिक आसान सिद्ध हुईं। फ्रांस ने कुल या 'सार्वभौम' (global) टनेज की मात्रा की परिसीमा का जो प्रस्ताव रखा था, और ब्रिटेन अलग-अलग श्रेणियों द्वारा जो निर्बन्ध चाहता था, इन दोनों के बीच में फ्रांस द्वारा १९२७ में प्रस्तुत तथाकथित 'लेन-देन प्रस्थापना' (transactional proposal) के रूप में समझौते का आधार मिल गया। इसमें 'सार्वभौम' पद्धति को मिश्रित कर दिया गया था और कुल टनेज को विभिन्न श्रेणियों में बाँट दिया गया था—इस बंटवारे में अन्य संबन्धित शक्तियों को उचित सूचना देकर कुल टनेज एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में कुछ अंश तक स्थानान्तरित किया जा सकता था। इस व्यवस्था पर अधिकतर मतैक्य हो जाने पर सबसे अधिक दुर्लंघ्य बाधाओं में से एक पार हो गई। यद्यपि ब्रिटेन ने यह आग्रह किया कि स्थानान्तरित करने का अधिकार कुछ श्रेणी तक सीमित रहे पर शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गई कि स्थानान्तरित करने योग्य अनुपात तब तक निश्चित नहीं किया जा सकता जब तक विभिन्न शक्तियों के बीच टनेज का अनुपात तय न हो जाय।

इस दृष्टि से मुख्य बाधाएँ ये थीं कि फ्रांस अपनी निरपक्ष आवश्यकताओं का बहुत ऊँचा हिसाब लगाता था और जापान आठ इंची तोप वाले क्रूजरों की श्रेणी में यूनाइटेड स्टेट्स के साथ ७० प्रतिशत अनुपात की माँग करता था। तो भी, सम्मेलन कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर शुरू में ही काफी मतैक्य पर पहुँच गया था। पनडुब्बियों को

१. वही, पृष्ठ २१६—१७।

पूर्ण तथा समाप्त करने की एंग्लो अमेरिकी प्रस्थापनाएँ तो रद्द कर दी गई पर पनडुब्बी युद्ध की अवस्थाओं के विनियमन के बारे में सब पक्ष समझौता करने को तैयार थे। सब पक्ष महायुद्धपोतों या कैपीटल जहाजों का निर्माण पाँच वर्ष तक बन्द करने की बात को स्वीकार करने को तैयार थे। बड़े क्रूजरों के बारे में जापान के दावे सेनेटर रीड (Senator Reed) और श्री मत्सुदेरा (Mr. Matsudaira) के बीच वार्ताओं द्वारा तय किये गये जिसके परिणामस्वरूप यह समझौता हुआ कि जापान को इस श्रेणी में अमेरिकन संख्या का ६० प्रतिशत दिया जाय, पर शर्त यह थी कि उसे निर्माण के बारे में यह समझौता करना होगा कि वह १९३६ तक सिर्फ ७२ प्रतिशत निर्माण करेगा। टनेज के मुकाबले में संख्याओं की दृष्टि से जापान की स्थिति अधिक अच्छी थी, क्योंकि आठ इंची तोप वाली श्रेणी में उसके चार क्रूजर अमेरिकन क्रूजरों से कम टनेज के थे। अन्य क्रूजरों और विध्वंसकों (destroyers) में ७० प्रतिशत अनुपात तथा पनडुब्बियों में पूर्ण समता मान ली गई। इस प्रकार सन्धि होने के लिए भी मैदान साफ हो गया और २२ अप्रैल १९३० को संधि पर हस्ताक्षर हो गए। फ्रांस और इटली से पूर्ण समझौता न हो सकने के कारण इसे दो भागों में बांटने की आवश्यकता हुई जिनमें से एक को सिर्फ तीन शक्तियों, यूनाइटेड स्टेट्स, ब्रिटिश साम्राज्य और जापान, ने स्वीकार किया। जो अंश सब ने स्वीकार किए उनमें कैपीटल जहाजों सम्बन्धी और पनडुब्बी युद्ध के विनियमन सम्बन्धी समझौते सन्निविष्ट थे। वे पनडुब्बियों की टनेज और तोपों के व्यास भी परिसीमित करते थे और उनमें १९२२ की वाशिंगटन संधि द्वारा विहित विमान वाहकों की परिसीमाओं का क्षेत्र-विस्तार करने के उपबन्ध भी थे। ब्रिटिश साम्राज्य, यूनाइटेड स्टेट्स और जापान ने १९३६ तक के बजाय, जैसा कि वाशिंगटन सन्धि मे उपबन्धित था, १९३३ तक क्रमशः पांच, तीन और एक युद्धपोत तोड़ देना स्वीकार किया। अन्य श्रेणियों में टनेज तीनों शक्तियों के बीच निम्नलिखित सारिणी के अनुसार बांटी गई।

	ब्रिटिश साम्राज्य	यूनाइटेड स्टेट्स	जापान
(क) ८ इंची तोप वाले क्रूजर	१,४६,८००	१,८०,०००	१,०८,४००
(ख) ६ इंची तोप वाले क्रूजर	१,९२,२००	१,४३,५००	१,००,४५०
(ग) विध्वंसक	१,५०,०००	१,५०,०००	१,०५,५००
(घ) पनडुब्बी	५२,७००	५२,७००	५२,७००
कुल योग	५,४१,७००	५,२६,२००	३,६७,०५०

(क) श्रेणी में संख्याएँ इस प्रकार थीं : यूनाइटेड स्टेट्स के लिए १८, ब्रिटिश साम्राज्य के लिए १५, जापान के लिए १२। एक खण्ड में, जिसमें ब्रिटेन की बहुत आलोचना हुई, संधि के अन्तर्गत काल में, ब्रिटिश साम्राज्य के लिए क्रूजरों की प्रतिस्थापन (replacement) टनेज ९१,००० टन रखी गई थी, पर अन्य शक्तियों के लिए कोई ऐसा उपबन्ध नहीं किया गया था। दो योरोपीय शक्तियों की कार्यवाहियों के विषय में अनिश्चितता को देखते हुए एक चल या परिवर्तनशील खण्ड (escalator clause) समाविष्ट किया गया था, जिसके अनुसार यदि तीनों हस्ताक्षरकर्त्ताओं में से

किसी की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यकता हो तो समुचित सूचना देकर इन अंकों में वृद्धि की जा सकती थी।

तीनों शक्तियों के देशों में संधि के उपबन्धों की काफी आलोचना हुई। जापान में नौसैनिक जनरल स्टाफ के एक सदस्य ने आत्महत्या कर ली और समुद्री मन्त्री, जिसने संधि पर हस्ताक्षर किये थे, के लौटने पर उसे एक कटार भेंट की गई, जो इस बात का संकेत था कि वह भी यही मार्ग अपनाए। ब्रिटेन में यह आम विचार था कि हमारी नौसैनिक सुरक्षा खतरे में पड़ गई है। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में एडमिरल रिचमौण्ड ने ब्रिटिश आवश्यकताओं के तखमीने को भयंकर भूलयुक्त बताया था।[1] दूसरी ओर, सरकार काफी मितव्ययिता होने की बात पेश कर सकती थी और यह दावा कर सकती कि प्रारम्भिक आयोग के काम में बहुत सुविधा हो गई थी। यह सन्धि अनुसमर्थन (ratification) के बाद १ जनवरी १९३१ को लागू हुई।

प्रारूप निरस्त्रीकरण अभिसमय
(The Draft Disarmament Convention)

नौसैनिक सम्मेलन में हुए मतैक्य की मात्रा से प्रोत्साहित होकर प्रारम्भिक आयोग ने १९३० के अन्त तक एक प्रारूप निरस्त्रीकरण अभिसमय अंगीकार करके अपना काम समाप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली। इस प्रकार एक निरस्त्रीकरण सम्मेलन करने के लिए मार्ग साफ हो गया और राष्ट्रसंघ की परिषद् ने फरवरी १९३२ में यह सम्मेलन करने की व्यवस्था की। पर योरोपीय सम्बन्धों के इतिहास में एक अवस्था समाप्त हो चुकी थी और एक नया अध्याय शुरू हुआ था। प्रारम्भिक आयोग द्वारा अपने को सौंपे गए काम समाप्त कर लिये जाने से भी पहिले ३ अक्तूबर १९२९ को श्री स्ट्रैसमैन की मृत्यु हो गई। उनके जीवन-काल में उनका एक लक्ष्य—मित्रसेनाओं का राइनलैंड से निष्क्रमण—अंशतः पूरा हो गया। यद्यपि यह अगले वर्ष जून तक पूरा नहीं हुआ, पर इसकी प्रक्रिया पर अगस्त १९२९ में समझौता हो गया और इस जर्मन राजनीतिज्ञ की मृत्यु से कई सप्ताह पहले निष्क्रमण वास्तव में शुरू हो चुका था। स्ट्रैसमैन के साथ 'पालन की नीति' (policy of fulfilment) भी, जिसका वह प्रबल समर्थक था, समाप्त हो गई।

सितम्बर १९३० में हुए जर्मन आम चुनावों के परिणामों से परिस्थिति में परिवर्तन का स्पष्ट संकेत मिल गया। नाजी दल का उल्लेखनीय अभ्युदय ऐसे महत्त्व का विषय है कि इस पर अन्यत्र विचार करने की आवश्यकता है, पर जब उस पार्टी को, जिसके पास पहली विधान सभा (Reichstag) में कुल १२ स्थान थे, १०७ स्थान प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हो गई, तब घटनाचक्र की दिशा स्पष्ट प्रकट हो गई। अब जर्मनी वर्साई में अपने पर लादी गई शर्तों को मानकर तब तक सन्तुष्ट होने को तैयार नहीं था जब तक शेष दुनिया भी उस ही मात्रा तक निरस्त्रीकरण न करे।

इस तिथि से पहिले भी योरोप की मुख्य शक्तियों में दो ऐसे गुट बनाने की

---

१. एडमिरल सर एन रिचमौण्ड, वार एट सी टुडे, १९४२, पृ० २५। (विश्व मामलों पर ऑक्सफोर्ड पैम्फलेट्स, सं० ६०)।

अशुभ प्रवृत्ति आरम्भ हो चुकी थी जो संधि में संशोधन करने के प्रश्न पर बिल्कुल भिन्न विचार रखते थे। यह प्रवृत्ति उन उत्तरों से स्पष्ट प्रकट होती है जो श्री ब्रिएण्ड के १७ मई १९३० को प्रसारित किये गए एक अखिल योरोपियन संघ (देखिए आगे अध्याय २०) की प्रस्थापना पर आए थे। प्रारम्भिक आयोग की बाद की बैठकों में इटली, जर्मनी और सोवियत संघ में फ्राँस के दृष्टिकोण के विरुद्ध मेल-मिलाप बढ़ने के चिन्ह दिखाई देते थे। आयोग को सर्वसम्मत निष्कर्ष की आशा त्याग देनी पड़ी, और उसके सामने यह विकल्प था कि या तो वह जर्मनी को अस्वीकार्य बहुमत के निश्चय को स्वीकार करे, अथवा अपने को सौंपे गये काम में पूर्णतया असफल सिद्ध हो। ब्रिटिश प्रतिनिधि के अप्रत्याशित रुख का कारण यह परिस्थिति ही थी। स्पष्टतः लार्ड सैसिल को ऐसा अभिसमय हो जाने की अधिक चिंता थी जिसमें यथासम्भव अधिकतम मतैक्य हो, और वह उन विचारों पर ज़ोर देने या समर्थन करने के लिए आकुल नहीं थे जिनसे पहले उनकी सहानुभूति प्रतीत होती थी। इस प्रकार, जब जर्मनी ने प्रशिक्षित रिजर्व सेना को समाविष्ट करने का प्रश्न फिर उठाया, तब वह तटस्थ रहे और जब स्थल युद्ध सामग्री पर सीधी परिसीमा लगाने का प्रस्ताव हुआ तब उन्होंने न केवल वही मार्ग अपनाया जिसका प्रभाव निर्णायक रहा क्योंकि जर्मन प्रस्ताव पर मतदान दोनों ओर बराबर रहा और बहुमत न होने के कारण ही अस्वीकार कर दिया गया बल्कि वास्तव में इस प्रस्ताव के विरुद्ध और बजटीय परिसीमा के पक्ष में भाषण भी दिया गया। कुछ क्षेत्रों में इस नीति का यह गलत अर्थ लगाया गया कि इससे फ्राँस और ब्रिटेन का मेल-मिलाप सूचित होता है, पर वास्तव में यह नीति इस बात पर आधारित थी कि सिद्धान्ततः वांछनीय की अपेक्षा उसे पसन्द किया जाए जो व्यवहारतः साध्य प्रतीत होता था।

इस प्रकार जो अभिसमय बहुमत से स्वीकृत हुआ, उस पर जर्मनी के प्रतिनिधियों ने खुलकर अपनी अस्वीकृति प्रकट की। स्वीडिश प्रतिनिधि ने भी प्राप्त परिणामों पर अपनी निराशा की घोषणा की और यूनाइटेड स्टेट्स के श्री गिब्सन ने भी कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। पर एक ऐसे स्थूल आधार की दृष्टि से देखें, जिस पर निरस्त्रीकरण सम्मेलन काम कर सकता था, तो इसे पर्याप्त मतैक्य प्राप्त हुआ था।

जो सिद्धान्त अपनाये गये, उनकी मुख्य विशेषताएं ही संक्षेप में दी जा सकती हैं। सेवक वर्ग (personnel) परिसीमित होना था, और जहाँ सम्भव हो वहाँ प्रशिक्षित रिजर्व सेना के आकार का विचार किये बिना सैनिक आधार पर संगठित सब संगठनों में कार्य कर रहे सैनिकों की सख्या में कमी की जानी थी। अनिवार्य भर्ती के सैनिकों का सेवाकाल परिसीमित किया जाना था, स्थल युद्ध-सामग्री को बजटीय परिसीमा में रखा गया था और नौसैनिक सामग्री को लन्दन सम्मेलन के निश्चयों के अनुसार ही परिसीमित किया जाना था। बजटीय परिसीमा विशेष रूप से वायु सामग्री पर लागू नहीं की गई। इसे संख्याओं तथा हार्स पावर (horse power) द्वारा निर्बन्धित किया गया, पर स्थल सेना नौसेना और वायुसेना के कुल व्ययों पर बजटीय परिसीमा रखी गई। रासायनिक और जीवाणु युद्ध प्रतिषिद्ध कर दिये गये। अन्य अनुच्छेदों में जानकारी के विनिमय और एक स्थायी निरस्त्रीकरण आयोग बनाने का उपबन्ध था।

एक खण्ड में, जो जर्मनी को विशेष रूप से नापसन्द था, पहले की संधियों द्वारा प्राप्त अधिकारों और बाध्यताओं को सुरक्षित किया गया था। मुख्यतः ब्रिटेन और अमेरिका का अभिप्राय लन्दन और वाशिंगटन संधियों पर इसके लागू होने से था। पर फ्रांस और अन्य शक्तियों ने इसका यह अर्थ लगाया कि वर्साई की सन्धि के सैनिक खण्डों को पूरी तरह लागू किया जायेगा। इस प्रकार इसने फ्रेंच और जर्मन दृष्टि-कोणों को एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध रूप में प्रकट किया। फ्रांस की दृष्टि में जर्मनी के पूर्ण निरस्त्रीकरण के कारण अन्य शक्तियों पर कोई बाध्यता नहीं आती थी। यह उस सुरक्षा का एक अंश मात्र था, जिस पर उसकी अपने शस्त्रास्त्र कम करने की रज़ामन्दी निर्भर थी। जर्मनी की दृष्टि में वर्साई सन्धि ने एक अर्द्धसंविदीय (quasi-contractual) अधिकार पैदा कर दिया था कि अन्य राष्ट्रों से यह मांग की जा सके कि वे भी उसके स्तर तक निरस्त्रीकरण करें। दूसरी ओर, अभिसमय के अनुच्छेद से यह प्रतीत होता था कि जर्मनी पर, बिना विचार किये कि उसके पड़ौसी क्या कार्य करें, उसकी मौजूदा हीन स्थिति की निरन्तरता लादी गई थी। इसे अब वह मानने के लिए तैयार न था।

तथ्यतः, प्रारम्भिक आयोग द्वारा किये गये कार्य की सार्थकता पर उस कार्य में लगायी गयी देरी का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। एक नया युग शुरू हो रहा था और जो चीज़ १९२५ से १९२९ के योरोप के लिए काफी होती वह १९३२ के योरोप पर अप्रयोज्य सिद्ध हो सकती थी।

टिप्पणी :—

क्रूज़रों की निरपेक्ष आवश्यकता का ब्रिटिश दावा

(The British Claim of absolute need in Cruisers)

इस प्रश्न के सम्बन्ध में, उस तर्क पर शायद ध्यान देने की आवश्यकता है जो प्रभावशाली राजनीतिक क्षेत्रों में दिया जाता है। इस तर्क के अनुसार, ७० की संख्या जो नौसेना-मंत्रालय ने शुरू में तय की थी, असल में इतनी अपर्याप्त होती कि न होने के बराबर थी, क्योंकि युद्ध के समय ब्रिटिश क्रूज़रों की इससे बहुत बड़ी संख्या, लगभग १२०, होने पर भी चार या पांच जर्मन छापामारों (raiders) विमानों ने उसे नुकसान पहुँचा दिया। यह तर्क त्रैराशिक के नियम पर आगे बढ़ता, यदि चार या पाँच छापामारों के मुकाबले के लिए लगभग १२० क्रूज़रों की आवश्यकता हो तो इससे बहुत बड़ी संख्या के, जो आम तौर से सैकड़ों में बताई जाती थी, और जो घेराबन्दी में आसानी से न आने वाला शत्रु आसानी से ला सकता था, मुकाबले के लिए कितने क्रूज़रों की आवश्यकता होगी। उस तर्क के अनुसार, इसका उत्तर स्पष्टतः ७० से बहुत अधिक था और इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता था कि अमेरिकन प्रस्ताव का प्रति-रोध भूलयुक्त था।

इसके जवाब में नौसैनिक विशेषज्ञों के पास कई बातें थीं :

१. जिस सुरक्षा को लक्ष्य बनाया गया है वह निरपेक्ष नहीं : थोड़े से छापामार

अब भी हानि पहुँचा सकते हैं। उद्देश्य तो परमावश्यक संभरणों (supplies) की पर्याप्त परिरक्षा है।

२. प्रथम विश्वयुद्ध में छापामारों से इस प्रकार निर्दिष्ट सुरक्षा को कभी खतरा पैदा नहीं हुआ।

३. गणितीय तर्क हेत्वाभास-युक्त (fallacious) है। उतने ही क्रूजर छापामारों की और बड़ी संख्या से भी सुरक्षा प्रदान कर सकते थे, बशर्ते कि वे होते। छापामारों के तौर पर काम में आने वाले जहाज़ सामान्यतः अकेले-अकेले कार्य करते हैं क्योंकि

(क) अलग-अलग होने पर वे अधिक क्षति पहुँचाते हैं;

(ख) इकट्ठे होने पर उन्हें संभरण पहुँचाना अधिक कठिन होता है;

(ग) समुचित रूप से शस्त्र-सज्जित एक क्रूजर का दो या तीन इकट्ठे छापामार भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते क्योंकि वह अपनी तेज़ चाल द्वारा यथेच्छ दूरी से मार कर सकता है, इत्यादि।

इसलिए छापामारों की संख्या से क्रूजरों की आवश्यकता में आनुपातिक वृद्धि नहीं होती। यदि कोई रक्षणीय जहाज (convoy) समुद्र पार कर रहा हो और आसपास एक छापामार हो तो मार्ग-रक्षक को सारे रास्ते जहाज के साथ रहना चाहिए, क्योंकि छापामार का अता-पता अज्ञात है। इस प्रकार कार्य करता हुआ वही मार्ग-रक्षक अकेला ही उपकाल्पनिक (hypothetical) 'सैकड़ों' से बचाव कर सकता है जैसा कि हमारे क्रूजरों ने नैपोलियन वाले युद्धों में सैकड़ों प्राइवेटीयर जहाजों की रक्षा की थी।

४. ७० की संख्या की पूर्ण पर्याप्तता के बारे में मतभेद हो सकता है, पर यह संख्या वैज्ञानिक गणना के आधार पर थी, जो ऐसे मामलों में सर्वदा लागू की जाती है। यह इन बातों पर निर्भर होती है

(क) देश की संभरण-पूर्ति के लिए आवश्यक जहाज़ों की संख्या।

(ख) निश्चित गश्त वाले क्षेत्रों की, जहां, उदाहरण के लिए यातायात इकट्ठा होने के कारण आक्रमण का खतरा समझा जाता है, संख्या।

(ग) शत्रु का संघबद्ध क्रूजर नियुक्त करने का सामर्थ्य, जो मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि संचार मार्गों के आसपास उसके अड्डे हैं या नहीं। यह विभिन्न शत्रुओं का अलग-अलग होता है, पर विभिन्न परिस्थितियों में इसके मुकाबले के लिए आवश्यक सन्निकट संख्या निकाली जा सकती है।

यह सारांश निःसन्देह पूर्ण नहीं है, पर किसी संख्या की इसी कारण उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता नहीं प्रतीत होती कि इसके निकालने का कारण ज्ञात नहीं है।

: १२ :

अमेरिका और राष्ट्रसंघ

(America And The League of Nations)

राष्ट्रसंघ और मनरो सिद्धान्त

(The League and The Monroe Doctrine)

यूनाइटेड स्टेट्स के, विश्व संगठन से, जिसका उसने शान्ति-सम्मेलन के समय निर्माण करने में हिस्सा लिया था, निकल जाने के कारण, उत्पन्न कुछ कठिनाइयों का इस पुस्तक में अन्यत्र उल्लेख किया गया है पर स्वयं अमेरिकन महाद्वीप ने इस हरजाने का नुकसान राष्ट्रसंघ के नुकसान की अपेक्षा, जिसको, उसके कितने ही प्रसिद्ध और प्रभावशाली होने पर भी सिर्फ एक सदस्य की हानि हुई थी, बहुत दूर तक हुआ। इसने कई राज्यों को, जिन्होंने भिन्न मार्ग ग्रहण किया था, सदस्यता के बहुत से लाभ से वंचित कर दिया, और पश्चिमी गोलार्द्ध के अधिकांश को राष्ट्रसंघ के राजनैतिक प्रभाव के क्षेत्र से प्रायः बिल्कुल बाहर कर दिया। यूनाइटेड स्टेट्स की भावनाओं को संतुष्ट करने के निष्फल प्रयत्न में, प्रसंविदा में अनुच्छेद २१ डाला गया था, जो उन्हें यह आश्वासन देता था कि 'शान्ति बनाये रखने के लिए' मनरो सिद्धान्त जैसे प्रादेशिक समझौतों, की मान्यता अप्रभावित रहेगी। इस अनुच्छेद की पदावली यथार्थतः परिशुद्ध नहीं है, क्योंकि मनरो सिद्धान्त कोई 'प्रादेशिक समझौता' नहीं है, बल्कि नीति की एकपक्षीय घोषणा है, और वह भी प्रत्यक्षतः 'शान्ति बनाये रखने के' लक्ष्य से नहीं है। राष्ट्रपति मनरो की अधिघोषणा, जिसे ब्रिटेन का अनुमोदन और सारभूत समर्थन प्राप्त था, अमेरिका के दुर्बल शिशु गणराज्यों को किसी महाशक्ति के, जो उस समय सिर्फ योरोप में थीं, दखल या दोहन से संरक्षित रखने के अभिप्राय से थी। इस प्रयोजन को इसने प्रशंसनीय ढंग से पूरा किया : पर भाग्य-चक्र ने अब स्वयं यूनाइटेड स्टेट्स को एक महाशक्ति बना दिया था, जो इस सिद्धान्त को अब लैटिन अमेरिकन गणराज्यों के रक्षा-कर्त्ता के रूप में मानने के बजाय अपने को शोषण और नियंत्रण का एकाधिकार देने वाला मानना चाहता था। जिस समय की बात हम कह रहे हैं उस समय मनरो सिद्धान्त आर्थिक साम्राज्यवाद का बहाना बनता जा रहा था। सच तो यह है कि दक्षिण अमेरिका के बड़े गणराज्यों के साथ व्यवहार में इस निर्वचन पर अमल करना सम्भव सिद्ध नहीं हुआ, पर मध्य अमेरिकन स्थल-संयोजक (Isthmus) के अपेक्षया दुर्बल राज्यों पर प्रभावी प्रधानता का न केवल दावा किया गया बल्कि उसका प्रयोग भी किया गया। युद्ध के बाद ब्राजील और अर्जेंटाइना जैसे बड़े-बड़े दक्षिण अमेरिकन गणराज्य भी यूनाइटेड स्टेट्स के प्रभुत्वकारी प्रभाव में वृद्धि से सकारण डरते थे ! उस समय से पहले उनके मुख्य वाणिज्यिक सम्बन्ध ब्रिटेन और जर्मनी से थे। उनके विकास के लिए आवश्यक पूंजी मुख्यतः ब्रिटिश नियोजन से प्राप्त हुई थी। इस प्रकार जहाँ यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा प्रस्तुत राजनैतिक प्रधानता उन्हें योरोप पर आर्थिक निर्भरता के खतरों से बचाती थी वहाँ इसका विलोम भी सत्य था।

पर युद्ध का प्रभाव यह हुआ कि आर्थिक और राजनैतिक लगाम एक ही हाथों में आ गई। योरोप के नष्ट-धन राष्ट्र, चाहे विजेता हों या विजित, अब न तो पर्याप्त बाज़ार प्रस्तुत करते थे और न पूंजी सम्भरण। उनका स्थान यूनाइटेड स्टेट्स ने ले लिया था और उसका लटिन अमेरिका के साथ सम्बन्ध अतिशय बढ़ गया था।

राजनैतिक और आर्थिक प्रधानता के इस मेल के मुकाबले में बहुत से लैटिन अमेरिकन देश राष्ट्रसंघ के सदस्य बन कर एक प्रभावी सन्तुलन स्थापित करने की ताक में थे। एकमात्र महत्त्वपूर्ण देश मेक्सिको था जिसे उसमें शामिल होने के लिए निमंत्रित नहीं किया गया था (क्योंकि उसकी सरकार उस समय सर्वतः अभिज्ञात नहीं थी) पर उनकी आशाओं पर तुषारपात होना था। १९२० में राष्ट्रसंघ की प्रथम असेम्बली में अर्जेन्टाइना के प्रतिनिधिमण्डल ने एक प्रस्थापना प्रस्तुत की, जिसका लक्ष्य नये संगठन के सार्वभौम स्वरूप और उसके सदस्यों की समानता पर बल देना था। पर यह स्वीकार नहीं की गई और अर्जेन्टाइना अपना चन्दा देते हुए भी राष्ट्रसंघ के काम में सक्रिय हिस्सा लेने से निराश होकर पीछे हट गया।

कुछ ही समय बाद अनुच्छेद २१ की अस्पष्ट पदावली से लेटिन अमेरिका के मन में जो भय पैदा हुए थे, वह पुष्ट होने लगे। यूनाइटेड स्टेट्स ने मौका मिलते ही अमेरिकन महाद्वीप के मामलों में जिनीवा से कोई हस्तक्षेप होने पर अपनी आशंका संकेतित कर दी। जब १९२० में चिली, पेरू और बोलीविया के बीच टाकना और एरिका के बारे में त्रिपक्षीय विवाद आरम्भ हुआ, तब पिछले दो पक्षों ने राष्ट्रसंघ में मामला उठाया, पर पेरू पर यूनाइटेड स्टेट्स ने फौरन दबाव डाला, जिसके फलस्वरूप उसने प्रार्थनापत्र वापस ले लिया। चिली शुरू से ही असेम्बली की क्षमता से इंकार कर रहा था, और बोलीविया की प्रार्थना को जो एक मौजूदा संधि में अनुच्छेद १९ के अधीन परिवर्तन के लिए थी विधि-वेत्ताओं की समिति ने जिसे राष्ट्रसंघ ने यह मामला सौंपा था, अस्वीकार कर दिया। पुन: १९२१ में पनामा गणराज्य ने कोस्टारिका के प्रथमाक्रमण का अभिकथित मामला जिनीवा में उठाया। पर इस कार्यवाही से प्रेरित होकर यूनाइटेड स्टेट्स ने अपना अनन्य अधिकार कायम रखने के लिए ज़ोर-शोर से कार्यवाही की जिसके परिणामस्वरूप पनामा को एक औपचारिक विरोध दर्ज कराने के बाद दबने के लिए बाधित होना पड़ा। इन दोनों मामलों से यह पता चलता था कि एक ओर तो राष्ट्रसंघ यूनाइटेड स्टेट्स की भावनाओं को चोट पहुँचा सकने वाले किसी भा काम से सतर्क रहेगा, और दूसरी ओर, यह और भी निश्चित था कि यूनाइटेड स्टेट्स ऐसे हस्तक्षेप पर उसे अनुच्छेद २१ का अतिलंघन बता कर आपत्ति उठायेगा। कोस्टारिका ने दिसम्बर १९२४ में में राष्ट्रसंघ से हटने की सूचना दी, क्योंकि राष्ट्रसंघ की सदस्यता के कारण उसे यूनाइटेड स्टेट्स के प्रभुत्व के विरुद्ध जो संरक्षण मिलता था, उसकी मात्रा से उसे निराशा हुई। इस प्रकार नये विश्व-संगठन में लैटिन अमेरिका की आस्था शीघ्र ही हिल गई। यद्यपि जिनीवा ने अपने अमेरिकन प्रतिनिधियों की बात मानने के लिए यथाशक्ति पूरा प्रयत्न किया पर युद्ध के बाद निपटारे की समस्याओं ने अनिवार्यत: उसे योरोपियन मामलों में व्यस्त रखा जिसके कारण यह भावना बढ़नी ही थी कि राष्ट्रसंघ एक प्रादेशिक संस्था है जिसमें पश्चिमी गोलार्द्ध

प्रत्यक्ष दिलचस्पी नहीं रखता। अर्जेन्टाइना के उदाहरणों का अनुसरण करते हुए पेरू और बोलीविया भी १९२१ में सक्रिय हिस्सेदारी से विरक्त हो गये, और इस प्रकार, यद्यपि राष्ट्रसंघ के सदस्यों में लैटिन अमेरिकन राज्यों की संख्या जबर्दस्त रही, पर उनमें अधिकतर छोटे-छोटे कैरीबियन गणराज्य और क्यूबा तथा हैटी के द्वीप थे, जिन पर यूनाइटेड स्टेट्स का नियन्त्रण दृढ़ और प्रभावी था, तथा दक्षिण अमेरिका के बड़े और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र का उसमें प्राय: कोई प्रतिनिधान नहीं था।

परिषद् में जर्मनी के स्थान का प्रश्न : ब्राजील का राष्ट्रसंघ से हटना

(Question of Germany's seat on the Council: Withdrawal of Brazil from the League)

राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा (covenant) के अनुच्छेद ४ के अनुसार, परिषद् मूलत: जिस रूप में गठित थी, उस रूप में उसमें मुख्य मित्र तथा सहचारी शक्तियों (फ्राँस, ब्रिटेन, इटली, जापान और यूनाइटेड स्टेट्स) के प्रतिनिधि स्थायी सदस्यों के रूप में और अन्य राज्यों के चार अस्थायी सदस्य होने थे—इन स्थानों पर शुरू में बेल्जियम, ब्राजील, स्पेन और ग्रीस के प्रतिनिधि थे। महाशक्तियों के पक्ष में सोचा गया बहुमत यूनाइटेड स्टेट्स के हट जाने से निस्संदेह नष्ट हो गया। पर अनुच्छेद के दूसरे खड ने परिषद् के और स्थायी सदस्य नियुक्त करने की शक्ति दे दी थी। शर्त यह थी कि असेम्बली का बहुमत उसका अनुमोदन कर दे। यह खंड निस्सन्देह बाद में जर्मनी (और सम्भवत: रूस) के समावेश की व्यवस्था करने के अभिप्राय से ही था, और लोकार्नो समझौते के एक हिस्से और राष्ट्रसंघ में जर्मनी के प्रवेश की एक शर्त के रूप में यह तय हो गया था कि उसे परिषद् में स्थायी स्थान दिया जाय। मार्च १९२६ में इन व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करने के लिए असेम्बली का एक विशेप अधिवेशन बुलाया गया।

अब जो कठिनाइयाँ पैदा हुईं, उन्हें समझने के लिए यह अनुभव करना आवश्यक है कि अपने वर्तमान रूप में परिषद् राष्ट्रसंघ के लोकतंत्रीय सिद्धान्त के और महाशक्तियों की एक संविधा (concert) के—जिनके अनुमोदन के बिना नई व्यवस्था के कार्यकर होने की आशा नहीं की जा सकती थी—व्यवहारत: बने रहने के बीच निश्चित रूप से एक समझौता था, यद्यपि स्थायी और अस्थायी सदस्य परिषद में सैद्धाँतिक समानता के आधार पर बैठते थे, पर इस व्यवस्था के अन्तर्गत अंतर्राष्ट्रीय संगठन में वर्ग-भेद का अस्तित्व ध्वनित था। इसके अलावा यह भी साफ था कि स्थायी सदस्य उन सदस्यों की अपेक्षा अंतराष्ट्रीय लोकमत पर कम निर्भर थे जिनका पुर्ननिर्वाचन असेम्बली के मतदान पर निर्भर करता था। द्वितीय असेम्बली में अस्थायी स्थानों पर नियुक्ति के लिए चक्रानुक्रम (rotation) की पद्धति स्वीकार की गई थी, पर अनुच्छेद ४ के एक संशोधन का अनुसमर्थन न होने तक, जो असेम्बली के दो-तिहाई बहुमत से यह नियम लागू करने का अधिकार दे देता, इसका अंगीकरण स्थगित रहा। पर तीसरी असेम्बली के एक निश्चय द्वारा अस्थायी सदस्यों की संख्या चार से बढ़ाकर छह कर दी गई।

इन छः में से तीन स्थानों पर मूल सदस्य बेल्जियम, स्पेन और ब्राजील लगातार बने रहे थे और वे चक्रानुक्रम (rotation) की पद्धति के अंगीकरण में हुए विलम्ब के कारण इस प्रकार अर्द्धस्थायी हो गये थे। इसके अलावा, राज्यों की सोपानिका (hierarchy) में एक बार वर्गों का अस्तित्व मान लेने पर यह स्पष्ट हो गया कि उन वर्गों की संख्या दो तक सीमित नहीं रखी जा सकती बल्कि, उदाहरण के लिए, पोलैण्ड और हेटी में जितना भेद था उससे भी अधिक भेद पौलैंड और उन शक्तियों के मध्य था जिन्हें स्थायी स्थान दिया गया था। इस प्रकार जर्मनी के सम्बन्ध में प्रस्थापना से एक नये स्थायी स्थान का प्रश्न पैदा होते ही बहुत काफी ईर्ष्या-प्रदर्शन का अवसर पैदा हो गया। स्पेन, ब्राजील और पोलैंड तथा—अस्थायी रूप से—चीन ने अन्य स्थायी स्थानों पर दावे पेश किए और क्योंकि इनमें पहले दो, मौजूदा परिषद् के सदस्य थे, इसलिए वे अपना दावा स्वीकार न होने की अवस्था में जर्मनी की नियुक्ति मे रुकावट डाल सकते थे। पोलैंड के बारे में यह कह देना उचित होगा कि उसका दावा सिर्फ आत्म-गौरव के प्रश्न पर आधारित नहीं था। उसे यह भय था कि यदि परिषद् में हमारा प्रतिनिधित्व न हुआ तो संधियों में संशोधन के सवाल पर परिषद् में जर्मनी का प्रभाव बढ़ जायगा। पर इस प्रकार एक गतिरोध पैदा हो गया, जिसने असेम्बली की विशेष बैठक को निष्फल कर दिया और जर्मनी का चुनाव विलम्बित करना पड़ा। इस पर परिषद् के संघटन का प्रश्न एक समिति को सौंप दिया गया जिसने अंत में लार्ड सेसिल द्वारा सुझाया गया एक मध्य मार्ग अपनाया, जिसके अनुसार अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ा कर नौ कर दी गई जिनमें से एक-तिहाई सदस्य असेम्बली के दो-तिहाई बहुमत के निश्चय पर पुनः निर्वाचन के पात्र थे और इस प्रकार अर्द्धस्थायी सदस्यों का एक मध्यवर्ती वर्ग बना दिया गया जिससे, आशा की जाती थी कि अधिक ऊँचे स्थानों के दावेदारों की भावनाएँ सन्तुष्ट हो जाएंगी। जून १९२६ में फ्रांस और स्पेन द्वारा अनुच्छेद ४ के संशोधन का अनुसमर्थन हो जाने पर असेम्बली के लिए प्रक्रिया को दो-तिहाई बहुमत से अपनाना सम्भव हो गया। पोलैंड ने इस स्थिति को स्वीकार कर लिया और उसे एक अर्द्धस्थायी स्थान देकर इसके बाद पुरस्कृत कर दिया गया। पर स्पेन और ब्राजील ने अपना हठ जारी रखा और यद्यपि उन्होंने अन्य सदस्य राज्यों की इच्छाओं का विरोध नहीं किया पर उन्होंने राष्ट्रसंघ से अपने हट जाने की अधिसूचना देकर अपना असंतोष व्यक्त किया। बाद में, स्पेन को इस निश्चय पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरित किया गया, पर ब्राजील अपने हठ पर अड़ा रहा और इसका त्यागपत्र दो वर्षों की निर्धारित अवधि के बाद अमल में आ गया। इस पर नौ स्थायी सदस्यों के चुनाव से सम्बन्धित प्रस्थापित विनियम अगली असेम्बली में स्वीकार कर लिये गये और जर्मनी को सदस्य बना कर उसे परिषद् में स्थायी स्थान दे दिया गया।

यूनाइटेड स्टेट्स और स्थायी न्यायालय
(The United States and the Permanent Court)

यद्यपि यूनाइटेड स्टेट्स ने राष्ट्रसंघ में अपने को शामिल करने के विचार का विरोध कभी बंद नहीं किया, पर कुछ समय से अमेरिकन लोकमत स्थायी अंतर्राष्ट्रीय

न्यायालय के प्रति जिसे राष्ट्रसंघ ने अनुच्छेद १४ के अनुसार स्थापित किया था, अनुषक्त रहने की नीति के अधिकाधिक पक्ष में होता जा रहा था। १९२४ में यह अनुषक्ति दोनों महान् राजनैतिक दलों के प्रचार का मुख्य पहलू बन गई थी और २७ जनवरी १९२६ को सेनेट (Senate) ने कुछ निर्बन्धों (reservations) के साथ इस अनुषक्ति पर सम्मति प्रकट कर दी। इसलिए इस समय तक सम्भावनाएँ सामान्यतया आशापूर्ण थी।

राष्ट्रसंघ का सदस्य बने बिना न्यायालय में अनुपक्त होना हस्ताक्षरों के प्रोटोकोल के उस उपबन्ध के कारण सम्भव हो गया था जो प्रसंविदा के परिशिष्ट में उल्लिखित सब राज्यों के लिए जिसके अंतर्गत यूनाइटेड स्टेट्स और 'अधिमिलन के लिए निमंत्रित राज्य' थे, खुला हुआ था। दूसरी ओर अनुपक्ति के विरोधी, न्यायालय और राष्ट्रसघ के घनिष्ठ सम्बन्ध पर और विशेप रूप से न्यायालय के इस कर्तव्य पर कि वह राष्ट्रसंघ की परिषद् या असेम्बली द्वारा भेजे गये किसी भी प्रश्न पर मंत्रणात्मक राय दिया करे जिससे उनकी दृष्टि में उसे राष्ट्रसंघ के निजी एटार्नी का रूप मिल जाता था, भय प्रकट करते थे। इस कारण, सेनेट द्वारा प्रस्थापित निर्बन्धों में एक यह ठहराव भी था कि न्यायालय 'यूनाइटेड स्टेट्स की सम्मति बिना किसी ऐसे विवाद या प्रश्न पर मंत्रणात्मक राय देने की प्रार्थना स्वीकार नहीं करेगा जिसमें यूनाइटेड स्टेट्स का कोई स्वहित है *या जिसमें वह कोई स्वहित होने का दावा करता है*।' यह निर्बन्ध, जो पूर्वी करेलिया के मामले न्यायालय के ही निश्चय पर आधारित होने के लिए अभिप्रेत था, तथ्यतः इससे बहुत परे चला गया था, क्योंकि उस अवस्था में रूस न केवल राष्ट्रसंघ और न्यायालय से बाहर था बल्कि इसके क्षेत्राधिकार में आने से इंकार करता था, जबकि यूनाइटेड स्टेट्स यद्यपि राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था, तो भी यों कहा जा सकता है कि वह राष्ट्रों के उस साथी-मंडल में से था, जिसने अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों को हल करने की इस विधि को स्वीकार किया था। जो हो, ये शब्द कि '*या जिसमें वह कोई स्वहित होने क दावा करता है*, उस निश्चय से बहुत आगे जाते थे। यूनाइटेड स्टेट्स स्वहित के सर्वथा आधारहीन दावे के निश्चय कथन-मात्र से उन प्रश्नों पर अभिषेध या वीटो का प्रयोग करने की स्थिति में हो जाता जिन पर राष्ट्रसंघ और प्रत्यक्ष सम्बन्धित पक्ष राय लेने को उत्सुक थे।

मालूम होता है कि यूनाइटेड स्टेट्स ने पहले से यह नहीं सोचा था कि स्वयम् राष्ट्रसंघ उनके न्यायालय में अधिमिलन (accession) के प्रश्न पर हस्तक्षेप करेगा। वे न्यायालय और राष्ट्रसंघ को हर तरह से पृथक् और स्वतन्त्र मान कर चलना चाहते थे, और प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के साथ नय-पत्रों का सीधी अदला-बदली करके अपना अधिमिलन कराना चाहते थे। इसलिए जब परिषद् ने निर्बन्धों का प्रश्न प्रोटोकोल के हस्ताक्षरकर्ता राज्यों के एक सम्मेलन को सौंप कर इस मामले में अपने हित को उपोद्वलित (assert) किया तब यूनाइटेड स्टेट्स निराश और परेशान हुआ। उसने विरोध प्रदर्शित किया और कहा कि निर्बन्धों की भाषा 'साफ और असंदिग्ध हैं' और इसलिए प्रस्थापित सम्मेलन अनावश्यक है, पर इस आधार पर उसने शामिल होने से इंकार कर दिया। तो भी सम्मेलन जिनीवा में हुआ और उसमें

काफी देर निर्बन्धों पर विचार किया गया, जिससे स्वयं यह प्रतीत होता था कि उनका अर्थ वैसा स्पष्ट नहीं था जैसा उसके प्रणेता मानते थे। अन्त में सर्वसम्मति से यह निश्चय हुआ कि निर्बन्धों को उनके मौजूदा रूप में, स्वीकार नहीं किया जा सकता। यूनाइटेड स्टेट्स ने उनमें परिवर्त्तन करने से इंकार कर दिया और इसलिए न्यायालय से उनका अभीप्सित अधिमिलन नहीं हो सका। इस असफलता से बहुत कुछ आपसी प्रत्यारोप पैदा हुए पर अंततोगत्वा इसका कारण दृष्टिकोणों में यह असाध्य अन्तर था कि 'एक पक्ष स्थायी न्यायालय को राष्ट्रसंघ का, जो संसार के सब राष्ट्रों का प्रतिनिधि था, एक महत्त्वपूर्ण अंग मानता था : दूसरा पक्ष इसे राष्ट्रसंघ से, जिसे वह एक सीमित क्षेत्र और सम्भवतः अस्थायी स्वरूप वाला प्रादेशिक सगठन समझता था, प्रसंगतः और ऊपर से सम्बन्धित मानता था'।[1] पर यूनाइटेड स्टेट्स ने स्वयं राष्ट्रसंघ को वह प्रादेशिक रूप देने का कार्य किया था जो वह अब इस पर आरोपित करता था और यह कार्य उसने अपनी अनुपस्थिति द्वारा तथा उस निर्वचन द्वारा किया था जो वह अमेरिकन महाद्वीप के मामलों में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप के सिलसिले में मनरो-सिद्धान्त (Monroe Doctrine) का करता था। इतनी बात और है कि इन घटनाओं से स्थायी न्यायालय से अमेरिकन अनुषक्ति की परियोजना अंतिम रूप से निपट नहीं गई। वह बाद में पुनर्जीवित होनी थी।

---

१. सव आफ इन्टरनेशनल अफेअर्स, १९२६, पृष्ठ ९५।

अमेरिकन महाद्वीप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(International Relations on the American Continent)

अमेरिकन सम्मेलन
(American Conferences)

यह बात कम-से-कम तर्कणीय तो है कि संसार का प्रादेशिक उपविभाजन राष्ट्रसंघ के सार्वभौम अवधारणा में निहित व्यवस्था की अपेक्षा अधिक अच्छी और नियन्त्रण-योग्य व्यवस्था है। मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) के प्रचलित निर्वचन पर दक्षिण अमेरिकन गणराज्यों को जो आपत्ति थी, वह यह थी कि इसके प्रभावस्वरूप उस घोषणा का मूल आशय पलट जाता था, क्योंकि उन्हें एक महाशक्ति के नेतृत्व के अधीन होना पड़ता था। यदि यह, जैसा कि राष्ट्रसंघ की प्रसविदा में सुझाया गया था, एक 'प्रादेशिक समझौता' होता तो लैटिन अमेरिकन राज्य सम्भाव्यत: योरोप का मुँह देखने के बजाय अपने मामलों को इसके अनुसार विनियमित करना पसंद करते। उन्होंने यूनाइटेड स्टेट्स के बढ़ते हुए प्रभुत्व को प्रतितुलित करने के लिए ही यह मार्ग अपनाया था।

अमेरिका में पहले ही एक ऐसी प्रादेशिक व्यवस्था मौजूद थी जो उनकी हार्दिक इच्छा के अनुसार निर्मित होने के कारण, सब अमेरिकन गणराज्य राष्ट्रसंघ के विकल्प के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार थे। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का साधन शिथिल संगठन वाले अखिल अमेरिकन सम्मेलनों के रूप में था, जो १८८९ से आमतौर पर प्रति पांचवें वर्ष हुआ करते थे। इस प्रकार अखिल-अमेरिकनत्व अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष पर वर्साई में शुरू की गई विश्वव्यापी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक पुरानी और अधिक जमी हुई रोक थी।

युद्ध के बाद इस प्रकार का पहला सम्मेलन १९२३ में हुआ पर बहुत ऊँचे-ऊँचे कार्यक्रम होते हुए भी कुल मिलाकर इसका परिणाम निराशाजनक रहा। इसकी मुख्य सफलता यह थी कि इसने उन विवादों को जो राजनैतिक मार्गों से हल नहीं हो सकते थे, एक स्वतन्त्र जांच आयोग को सौंपने का अभिसमय अपनाया, जिसके अनुसार, उस आयोग का प्रतिवेदन आने तक सब पक्षों ने लड़ाई शुरू न करने की प्रतिज्ञा की। सम्मेलन को जो विफलता हुई उसका आधारभूत कारण यह था कि अखिल-अमेरिकनत्व (Pan-Americanism) के बारे में यूनाइटेड स्टेट्स तथा लैटिन अमेरिका के गणराज्य एक-दूसरे से मेल नहीं खाते थे। लैटिन अमेरिकन गणराज्य इस आन्दोलन को वह रूप देना चाहते थे जिससे उन्हें समानता और स्वतन्त्रता प्राप्त हो और यूनाइटेड स्टेट्स अपना निर्णायक नियंत्रण कायम रखने पर आमादा था। सम्मेलन के समाप्त होने के तुरन्त बाद मनरो सिद्धान्त के नये निर्वचन के सम्बन्ध में अधिक जोर-शोर से संदेह प्रकट किया जाने लगा।

एक अधिक ठोस परिणाम मध्य अमेरिका सम्बन्धी एक सम्मेलन (Conference on Central American Affairs) से निकला जो वाशिंगटन में दिसम्बर १९२२ में हुआ। मध्य-अमेरिका के पाँच गणराज्यों का जो वास्तव में ऐक्य की संधि (Treaty of Union) तक पहुँच चुके थे, प्रयत्नसाधित संघ (federation) जनवरी और फरवरी मे भंग हो गया था और इस सम्मेलन में, जो यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा स्थिति पर विचार करने के लिए बुलाया गया था, कई बातों पर समझौता हो गया, जो उन बारह अभिसमयों में सन्निविष्ट थीं जिन पर इसमें भाग लेने वाले गणराज्यों ने हस्ताक्षर किये थे। इनमें से सब से महत्वपूर्ण, शस्त्रास्त्रों की परिसीमा के लिए एक करार तथा शान्ति और मित्रता की एक साधारण संधि थी जिसके द्वारा हस्ताक्षर-कर्ताओं ने अपने मतभेद एक मध्य अमेरिकन न्यायाधिकरण या एक जाँच आयोग को सौंपने का वचन दिया था। इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण निर्बन्धों द्वारा उन विवादों को इससे मुक्त रखा गया था जो उनके सर्वोच्चता सम्पन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व या उनके सम्मान तथा उनके महत्त्वपूर्ण हितों को प्रभावित करते थे। ये निर्बन्ध इतने दूरगामी थे कि उस संलेख का व्यावहारिक परिणाम बहुत सीमित रह गया। मध्य अमेरिका में प्रायः विद्यमान परिस्थितियों में अधिक तात्कालिक महत्व इस समझौते का था, कि उस क्रान्तिकारी सरकार को अभिज्ञात न किया जाय जो संविधानतः अधिकृत या निर्वाचित न हो, पड़ौसी राज्यों के गृहयुद्धों या भीतरी मामलों में दखल न दिया जाय और एक हस्ताक्षरकर्ता राज्य के क्षेत्र को दूसरे हस्ताक्षरकर्ता राज्य की सरकार के विरुद्ध किये जाने वाले कार्यों का अड्डा न बनने दिया जाय।

छठा अखिल अमेरिकन सम्मेलन (Pan-American Conference) हवाना में १९२८ में निकारा गुआ में हुई उन घटनाओं की छाया में हुआ, जिनका वृत्तान्त इस अध्याय में आगे दिया गया है। इसलिए यह स्वाभाविक था कि इसकी कार्य सूची की कुछ विशेष बातों से यह प्रतीत हो कि लैटिन अमेरिका के मामले में यूनाइटेड स्टेट्स का प्रभाव कम करने का यत्न किया गया। जिस सम्मेलन में अखिल अमेरिकन संघ (Pan-American Union) के संविधान को स्थायी रूप दिया गया था, उसमें सदस्य राज्यों की कानूनी समानता पर बल दिया गया था और एक राष्ट्र द्वारा दूसरे के भीतरी-मामलों में दखल की निन्दा के प्रस्ताव का बहुत समर्थन हुआ था तो भी यूनाइटेड स्टेट्स का प्रतिनिधिमंडल इस मोर्चे से विजेता बनकर निकला और यह सम्मेलन मैक्सिकन प्रतिनिधि द्वारा प्रस्तुत और सर्व-सम्मति से स्वीकृत उन संकल्पों के कारण वस्तुतः स्मरणीय है जिनके द्वारा आक्रमणात्मक युद्ध का प्रतिषेध किया गया था। भविष्य में पैदा होने वाले सब विवादों को हल करने के लिए शान्तिपूर्ण तरीके लागू करने का आशय प्रकट किया गया था। इन संकल्पों को उसी वर्ष दिसम्बर में बुलाये गये एक विशेष सम्मेलन में तीन संलेखों द्वारा जिनमें संराधन (Conciliation) और पंच-निर्णय (arbitration) द्वारा विवादों के शान्तिपूर्ण निबटारे के लिए पूर्ण व्यवस्था की गई थी, कार्यान्वित किया गया। इसलिए अखिल अमेरिकन संघ (Pan-American Union) को केलौग पेक्ट से कुछ मास पहले यह सब कार्य करने का श्रेय प्राप्त रहा। पर यह कह देना आवश्यक है कि ५ जनवरी १९२९ को

पंच-निर्णय अभिसमय (arbitration convention) पर हस्ताक्षर के साथ ऐसी मर्यादाएँ लगा दी गई, जिन्होंने उन सब प्रादेशिक विवादों को प्रभावी रूप से अपवर्जित कर दिया जिनमें हस्ताक्षरकर्ता ग्रस्त थे, या हो सकते थे।

लैटिन अमेरिका में सीमा विवाद : टाकना-एरिका
(Boundary Disputes in Latin America : Tacna-Arica)

यह और अधिक दुर्भाग्य की बात थी कि योरोपीय युद्ध के बाद के वर्षों में दक्षिण और मध्य अमेरिका में सीमा-सम्बन्धी विवादों की बीमारी फैल गई, जिसके साथ बहुधा थोड़े बहुत गम्भीर ढंग के झगड़े भी होते रहते थे। हाल की वाणिज्यिक उन्नति ने उन प्रदेशों को भी कुछ मूल्य प्रदान कर दिया था जिनमें अब तक किसी देश ने सजीव दिलचस्पी नहीं ली थी और इनमें से बहुत से प्रश्न बहुत समय से लटक रहे थे। पर उन्होंने व्यावहारिक महत्त्व अब ही ग्रहण किया। इनमें से बहुत से मामले आसानी से प्रेम के साथ हल हो गये पर कुछ मामले अधिक कठिन सिद्ध हुए।

इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण मामलों में से एक चिली, बोलीविया और पेरू के मध्य टाकना-एरिका विवाद था। पिछले दो देशों की राष्ट्रसंघ से की गई निष्फल अपील का गत अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है। बोलीविया का प्रार्थनापत्र रद्द होने पर, जिसके लिए संधि में संशोधन करना आवश्यक था, उस देश ने इस विवाद में सीधा हिस्सा लेना बन्द कर दिया। पेरू और चिली के विवाद में तथ्य संक्षप में ये थे। एनकोन की संधि १८८३, (Treaty of Ancon, 1883) द्वारा यह ठहराव हुआ था कि टाकना और एरिका प्रान्त, जो पहले पेरू के क्षेत्र में थे, दस वर्ष तक चिली के आधिपत्य में रहें और उसके बाद जनमत-संग्रह द्वारा उनके भाग्य का निर्णय किया जाय। जीतने वाला पक्ष हारने वाले को आर्थिक सम्पूर्ति दे। परिस्थितिवश जनमत-संग्रह (plebiscite) लगातार टलता गया और इसी बीच चिली ने उपनिवेशन (colonization) और उद्विवासन (deportation) द्वारा अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। परिणामतः चिली जितना अधिक यह चाहने लगा कि जनमत, संग्रह (plebiscite) हो, पेरू उतना ही उससे भागने लगा। दिसम्बर १९२१ में चिली ने पेरू को मतसंग्रह करने के लिए निमन्त्रित किया और पेरू ने इससे इंकार करते हुए यूनाइटेड स्टेट्स की छत्रछाया में पंच-निर्णय का सुझाव रखा। चिली ने कुछ विलम्ब के बाद इस प्रस्थापना को मान लिया। जनवरी १९२२ में एक समझौते पर हस्ताक्षर करके विवादग्रस्त मामले जिनमें यह प्रश्न भी था कि मतसंग्रह किया जाय या नहीं पंच-निर्णय के लिए यूनाइटेड स्टेट्स को सौंप दिये गये। मार्च १९१५ में पंच निर्णायक ने अपना पंचाट (award) दे दिया, जिसमें मतसंग्रह के पक्ष में फैसला किया गया। पेरू में इस निश्चय से संत्रास पैदा हो गया। पर विचित्र बात यह थी कि इस निश्चय की पूर्त्ति में पेरूवियन मतदाताओं को डराकर और जबर्दस्ती निर्वासित करके चिली की सरकार ने बाधा डाली। परिणामतः मत-संग्रह का विचार छोड़ दिया गया और यूनाइटेड स्टेट्स की ओर से अन्य आधारों पर समझौता कराने के और प्रयत्न किये जाने के बाद, दोनों पक्षों को, अक्तूबर १९२८ से, सीधी बातचीत

जारी रखने के लिए छोड़ दिया गया। अन्त मे यह तय हुआ कि विवादग्रस्त प्रदेश को बाँट लिया जाय और जुलाई १९२९ में इस समाधान को सन्निविष्ट करने वाली संधि हो गई।

बोलीविया-पैरागुआ

(Bolivia-Paraguay)

इससे भी अधिक गम्भीर विवाद, यद्यपि वह बाद मे उग्र हुआ, बोलीविया और पैरागुआ के बीच था। इस मामले मे विवाद-ग्रस्त प्रदेश चाको बोरिअल प्रदेश था—यह पैरागुआ और पिल्कोमायो नदियों के सगम से वने हुए कोण में छेनी की शक्ल का १,१६,००० वर्गमील का विस्तृत राज्य-क्षेत्र था। यह सारा प्रदेश चरकास के स्पेनिश न्यायक्षेत्र में समाविष्ट था और चरकास के साथ बोलीविया गणराज्य क्षेत्रीय अभिन्नता का दावा करता था, परन्तु १७७६ और १७८३ में हुए प्रशासनीय परिवर्तनों के कारण उस स्वत्व के बारे में कुछ विभ्रम था, जिसके आधार पर पैरागुआ नदी के पश्चिम के प्रदेश पर दावा करता था, पर और जगह की तरह यहाँ भी, मुख्य कठिनाई इस तथ्य से पैदा होती थी कि कुछ ही समय पहले तक यह भूखण्ड महत्त्वहीन माना जाता था और जो कुछ प्रवेश वहाँ हुआ था, वह पैरागुआ की ही तरफ से हुआ था। पर कुछ समय मे तेल की अफवाहें थीं और अन्य अधिक प्रमाणीकृत प्राकृतिक सम्पदा विदेशी पूंजी नियोक्ताओं की दिलचस्पी का विषय बन गई थी जिनमें स कुछ को पैरागुअन सरकार ने परिमोक क्षेत्र (concession) दे दिये थे। १९२८ के संकट के समय इस क्षेत्र पर अभी मुख्यतः इण्डियन ही रहते थे।

परन्तु सीमा-विवाद पुराना चला आता था और १८७९ के बाद अनेक अननु-समर्थित करार सीमान्त के बारे में अपने अलग-अलग रूपों के कारण मामले को और उलझाते ही रहे थे। दोनों पक्षों ने विवादग्रस्त क्षेत्र में आमने-सामने कई छोटे-छोटे किले बना लिये थे। इस प्रकार, उस समय स्थिति विस्फोटक सम्भावनाओं से युक्त थी जब १९२७ में अर्जेन्टाइना ने समझौता कराने के उद्देश्य से अपनी सेवाएं प्रस्तुत कीं पर बातचीत भंग हो गई। परन्तु, ५ दिसम्बर १९२८ को बोलीविया के किले बैनगार्डिया पर पेरागुअन हमले से दुनिया स्तब्ध रह गई। प्रसंगतः, यह कह देना उचित होगा कि यह किला उन बहुत से किलों से बहुत उत्तर में था जो पिछली वार्ताओं के परिणाम-स्वरूप अस्थायी रूप से पेरागुआ को दे दिये गये थे। पेरागुअन सरकार ने जल्दी से अपने सैनिकों की कार्यवाही का प्रत्याख्यान किया और शान्तिपूर्ण समझौते की व्यवस्था लागू करने का सुझाव रखा। बोलीविया ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, राजनयिक सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिये और १६ दिसम्बर को एक पेरागुअन चौकी फोर्टबोकरान पर आधिपत्य करके बदला लिया। ये घटनाएं उस समय हुई थीं जिस समय राष्ट्रसंघ की परिषद् और संराधन तथा पंच-निर्णय के बारे में अखिल अमेरिकन सम्मेलन का एक ही समय अधिवेशन हो रहा था। इन दोनों निकायों ने तत्परतापूर्वक फोर्ट बोकरान की घटना की तिथि से भी पहले हस्तक्षेप किया। तात्कालिक प्रभाव संतोषजनक था, क्योंकि १८ दिसम्बर को यह समाचार दिया गया था कि दोनों पक्षों ने अखिल अमे-

रिकन सम्मेलन (Pan American Conference) की सेवाएं स्वीकार कर ली हैं। फिलहाल राष्ट्रसंघ ने चैन की सांस ली और धन्यवादपूर्वक इस मामले का नियंत्रण अमेरिकन हाथो में सौंप दिया ।

वाशिंगटन में ३ जनवरी १९२९ को हस्ताक्षरित एक प्रोटोकोल की शर्तों के अनुसार पृच्छा और संराधन आयोग (Commission of Inquiry and Conciliation) बनाया गया जिसमे दोनों पक्षों के प्रतिनिधि और पांच तटस्थ अमेरिकन राज्यों के प्रतिनिधि थे। आयोग की बैठक मार्च में हुई और सितम्बर में उसने यथापूर्व स्थिति (status quo ante) के आधार पर पारस्परिक क्षमा का एक संकल्प अंगीकार करके तात्कालिक विवाद निबटा दिया, पर सीमान्त का प्रश्न विवादग्रस्त बना रहा और जनवरी १९३० मे पुनः झगड़ा हो गया। पर दोनों पक्ष अब भी अपने इरादे शांतिवादी बताते थे और झगड़ते हुए पकड़े गये स्कूली बच्चों के प्रचलित बहाने—'पहले इसने मारा था'—बनाने लगे। उस समय तो शांति स्थापित हो गई, पर जुलाई १९३१ में राजनयिक सम्बन्ध फिर टूट गये और एक वर्ष बाद राष्ट्रसंघ का ध्यान एक बार फिर इस लड़ाई की विद्यमानता की ओर खीचा गया जो इसके बाद बीच-बीच में उसमें होती रही। १० मई १९३३ को पैराग्वा ने औपचारिक रूप से बोलीविया के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी, जिससे स्थिति के सच्चे रूप पर से अंतिम पर्दा हट गया। जुलाई में राष्ट्रसंघ ने विवाद की जांच के लिए एक आयोग बैठाया और बाद में युद्धरत पक्षों की प्रार्थना पर जांच का काम अर्जेन्टाइना, ब्राजील, चिली और पेरू की सरकारों को सौंप दिया। फरवरी १९३४ में इस आयोग ने दोनों पक्षों के सामने शान्ति और पंच-निर्णय की संधि का प्रारूप प्रस्तुत किया, पर उसे दोनों ने अस्वीकार कर दिया। २४ मई को बोलीविया ने बहुत बड़ी विजय का दावा किया और कहा कि हमने १००० व्यक्ति कैदी बनाने के अलावा शत्रु के १८००० व्यक्ति हताहत कर दिये। एक सप्ताह पहले श्री ईडन ने ब्रिटिश सरकार की ओर से यह प्रस्थापना रखी थी कि दोनों युद्धरत पक्षों को शस्त्र देने पर पाबन्दी लगा दी जाय और सितम्बर के अंत तक २८ देशों ने राष्ट्र-संघ के सचिवालय को सूचित किया कि हमने इस प्रस्थापना के अनुसार कार्यवाही शुरू कर दी है। राष्ट्रसंघ की असेम्बली द्वारा २४ नवम्बर का अंगीकृत एक प्रतिवेदन बोलीविया ने स्वीकार कर लिया, पर उसके विरोधी ने उसे अस्वीकार कर दिया। इसके परिणामस्वरूप, जनवरी १९३५ में मंत्रणा समिति ने यह सिफारिश की कि बोलीविया के लिए पाबन्दी हटा दी जाय और पैराग्वा के विरुद्ध और कठोर कर दी जाय। चाहे इस कारण हो या युद्ध की परिस्थितियों के कारण हो, मई के मध्य तक पैराग्वा-वासियों को बोलीवियन क्षेत्र से खदेड़ दिया गया और १४ जून १९३५ को लड़ाई रुक गई।

पेरू और कोलम्बिया
(Peru and Colombia)

एक और सीमान्त विवाद, जिसमें राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप की आवश्यकता हुई, पेरू और कोलम्बिया के बीच था। इस मामले में पक्षों के विधिगत अधिकारों के बारे में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। १९२२ में हस्ताक्षरित एक संधि द्वारा

कोलम्बिया को, पुटोमायो नदी के उत्तर में पेरू के दावों के परस्परापेक्ष अभिज्ञान के बदले में ब्राजीलियन सीमान्त से लगे हुए क्षेत्र की एक पट्टी पर अधिकार मिल गया था, जो एक प्रकार का कोलम्बियन गलियारा था, जिससे वह अमेजन नदी की जल-धारा तक पहुँच सकता था। इस संधि का, बहुत से उतार-चढ़ावों के बाद, कोलम्बिया ने १९२५ में और पेरू ने १९२८ में अनुसमर्थन कर दिया था, और यह २९ मई १९२८ को राष्ट्रसंघ के सचिवालय में रजिस्टर करा दी गई थी। इस आधार पर अंतिम परिसीमन अगस्त १९३० में पूरा हुआ था।

नये कोलम्बियन सीमान्त के भीतर उस जगह, जहाँ ब्राजील की और कोल-म्बिया की सीमाएँ मिलती हैं, ३० या ४० झौंपड़ियों का एक खेडा था, जिसे आदर के लिए लेटीसिया नगर कह दिया जाता था। पाठक को यह बस्ती १९३२ से पहले बनाये गये किसी नकशे में मुश्किल से ही मिलेगी। उसी वर्ष १ सितम्बर की रात को कुछ पेरूवियन दस्युओं ने उस नगर पर अधिकार कर के और आधिपत्य बनाये रखकर इतिहास निर्माण कर दिया। पेरूवियन सरकार ने उनके कार्य का फौरन प्रत्याख्यान और निन्दा की। पर पेरू के लोरेटो विभाग (Peruvian department of Loreto) के अधिकारियों ने न केवल सरकारी रवैये से अपने को पृथक् किया, बल्कि हमलावरों का समर्थन और सहायता की। कोलम्बिया ने उन्हें निकालने के उपाय किये पर उस प्रदेश के अगम्य होने के कारण उसे पनामा नहर से अमेज़न नदी के ऊपर की ओर बढ़ना पड़ा और इस टेढ़ी यात्रा में कई महीने का विलम्ब हुआ।

इस बीच पेरूवियन सरकार ने लोकमत के दबाव से अपना रुख बदल दिया और वह संधि में संशोधन तथा आत्म-निर्णय के अधिकार की बात करने लगी। नवम्बर तक युद्ध की सन्निकट संभावना देख कर इक्वेडोर ने राष्ट्रसंघ को अधिसूचित किया, पर उसने जनवरी १९३३ तक, जब कि कोलम्बिया ने भी एक पत्र द्वारा उस आवेदन को पुष्ट किया, कोई कार्यवाही नहीं की। १४ जनवरी को परिषद् के अध्यक्ष ने दोनों पक्षों को एक तार भेज कर प्रसंविदा के हस्तक्षारकर्त्ताओं के रूप में उनके कर्तव्य का स्मरण कराया। लम्बा विवाद चला, जिसके दौरान में पेरूवियन विभागों ने कोलम्बिया के जहाजी बेड़े पर बमबारी की, पर यह जहाजी बेड़ा टारापाका नगर पर, जिस पर पेरूवियन सेनाओं ने भी आधिपत्य कर लिया था, पुनः कब्जा करने में सफल हो गया (फरवरी १९३३)। पेरू के राष्ट्रपति ने लेटीसिया स्थित फौज को एक संदेश भेजा जिसमें यह घोषणा की गई थी कि पेरू कितना भी विरोध होते उस नगर पर अपना अधिकार कायम रखेगा। इस पर कोलम्बिया ने राष्ट्रसंघ से अनुच्छेद १५ के अधीन परिषद् की बैठक बुलाने की अपील की और तदनुसार परिषद् की बैठक २१ फरवरी को हुई। १८ मार्च को परिषद् ने एक प्रतिवेदन अंगीकृत किया. जिसमें पेरू के कार्य की निन्दा की गई थी और उससे कोलम्बिया क्षेत्र से तुरंत हट जाने को कहा गया था। इसका प्रभाव यह हुआ कि पेरूविय प्रतिनिधि निष्प्रभाव विरोध प्रदर्शन करने के बाद परिषद्-भवन छोड़ कर चला गया। इधर लड़ाई चलती रही।

पर ३० अप्रैल को पेरूवियन राष्ट्रपति की हत्या से वातावरण में कुछ सुधार हुआ और २५ मई को तत्काल लड़ाई बन्द करने के करार पर हस्तक्षार हुए जिसके अनुसार एक वर्ष से अनधिक अवधि तक विवादग्रस्त क्षेत्र का प्रशासन एक राष्ट्र-संघीय आयोग द्वारा कोलम्बियन सरकार के व्यय पर कोलम्बियन सेना की सहायता से करना तय हुआ। आयोग ने जून १९३३ में कार्यभार संभाला, पर दोनों पक्षों में समझौते की बातचीत अप्रैल १९३४ में टूट गई और उन्होंने फिर सैनिक तैयारियां आरम्भ कर दीं। २४ मई १९३४ को पक्षों ने एक करार पर हस्ताक्षर किये, जो कुछ टिकाऊ समझौता मालूम होता था। इसमें मैत्री और सहयोग का एक प्रोटोकोल तथा पेरू द्वारा अपने आचरण से उत्पन्न विकृत सम्बन्धों के लिए खेद-प्रकाशन भी समाविष्ट था। दोनों देशों के भविष्य के अधिकार मार्च १९२२ की संधि पर आधारित थे। और यह तय हुआ कि उसकी शर्तें पारस्परिक सम्मति या अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के विनिश्चय द्वारा ही परिवर्तित होनी चाहिएं।

मैक्सिको और यूनाइटेड स्टेट्स के सम्बन्ध
(Relations between Mexico and the United States)

लेटीसिया विवाद के इतिहास से यह प्रकट होता है कि बाद के वर्षों में यूनाइटेड स्टेट्स ने उन आपत्तियों मे कुछ परिवर्तन कर लिया था जो इसने अमेरिका में राष्ट्रसंघ की दखलंदाजी के बारे में कुछ समय पहले प्रकट की थी। सम्भाव्यत: इस तरह के मामले इतने दुस्साध्य सिद्ध हुए थे कि उन्हें निबटाने का भार लेने को अब कोई उत्सुक न था। पर दक्षिण अमेरिका की अपेक्षा मध्य अमेरिका में यूनाइटेड स्टेट्स ईर्ष्यापूर्ण और अनन्य नियंत्रण का प्रयोग करता था। मध्य अमेरिका के अधिकतर राज्यों को यह एक संरक्षित देश जैसा मानने लगा था। पर मैक्सिको अपनी स्वाधीनता बनाये रहा और इसलिए वह एक महत्त्वपूर्ण अपवाद था।

पोरफिरियो डायज (Porfirio Diaz) की अधिनायकता, जिसने अमेरिका और योरोप, दोनों से विदेशी पूँजी के आगमन को प्रोत्साहित किया था, १९११ में एक अत्यधिक पूँजीवाद विरोधी प्रवृत्ति की क्रान्ति द्वारा समाप्त कर दी गई। १९-१७ के नये संविधान में, जो भूमि और अधोभूमि (subsoil) राष्ट्र में निहित करता था, मैक्सिकन सरकार का विदेशी परिभोक-ग्राहियों (concessionnaires) और भूपतियों से सीधा संघर्ष करा दिया। सरकार ने सम्पूर्ण रेलमार्ग पर जिसमें लाइनें भी थीं, जो विदेशी सम्पत्ति थीं, अधिकार कर लिया और फिलहाल अपना विदेशी ऋण चुकाना बन्द कर दिया। तेल उद्योग बन्द हो गया और यूनाइटेड स्टेट्स में सशस्त्र हस्तक्षेप के पक्ष में आन्दोलन होने लगा। समझौते की बातचीत, जिससे केरेन्जा (Carranza) के राष्ट्रपतित्व काल में कुछ सफलता हुई थी, उसकी हत्या के बाद उसके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति ओब्रेगोन (Obregon) के साथ दुबारा शुरू की गई। यद्यपि राष्ट्रपति ओब्रेगोन ने अंतर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने में अप्रत्याशित अनुकूलता प्रदर्शित की, और १९२२ में विदेशी ऋणों पर व्याज और बकाया की अदायगी के लिए और रेलें उनके स्वामियों को वापस करने के लिए संतोषजनक समझौते हो गये, परिभोक-ग्राहियों और भूस्वामियों के हितों का पर्याप्त रक्षण

कुछ समय तक न हुआ पर १९२३ में मुख्य विधि सम्बन्धी कठिनाइयां संतोषजनक रूप से निपट गईं और यूनाइटेड स्टेट्स ने मैक्सिकन सरकार को औपचारिक रूप से अभिज्ञात कर लिया।

पर यह समझौता हो जाने पर भी विदेशी हितों के प्रश्न पर दोनों सरकारों में बहुत वर्षों तक तीव्र विवाद बना रहा। सच तो यह है कि क्रान्तिकारी मैक्सिको और यूनाइटेड स्टेट्श जैसे सारतः पूंजीवादी देश के सम्बन्धों में बोलशेविक रूस और पश्चिमी योरोप की तत्कालीन स्थिति से उल्लेखनीय साम्य दिखाई देता रहा। एक और समस्या यूनाइटेड स्टेट्स में मैक्सिकन उत्प्रवास बढ़ जाने से पैदा हुई। यह समस्या १९२१ और १९२४ के अधिनियमों द्वारा समुद्र-पार से अंतःप्रवास पर लगाये गये निर्बन्धनों के बाद उठ खड़ी हुई थी। जैसा कि फ्रांस और फ़ासिस्ट इटली के ऐसे मामले में था, यह अन्तःप्रवास पूर्णतया औद्योगिक नहीं था, बल्कि कुछ दूर तक इसमें राजनैतिक उत्प्रवासी भी थे जिनके क्रांति-विरोधी कार्यों से दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ने का खतरा पैदा हो गया था। पर कुछ सीमा तक इस क्रांति-विरोधी आन्दोलन की विद्यमानता यूनाइटेड स्टेट्स के लिए हितकर थी, क्योंकि मौजूदा शासन राष्ट्रपति कूलिज द्वारा मक्सिको की अभिज्ञात सरकार के अलावा और किसी को शस्त्रों का निर्यात करने पर लगाये गये प्रतिबंध के द्वारा ही संरक्षित था। पाबन्दी हटा कर या अपवाद को समाप्त कर के यूनाइटेड स्टेट्स की सरकार प्रायः किसी भी समय में मैक्सिकन प्रशासन के जीवन को खतरा पहुँचाने की स्थिति में थी। इस तथ्य ने उसको वार्ताओं को एक बहुमूल्य सहारा दिया। तो भी संघर्ष के उतने कारणों के बने रहने से और दोनों देशों के राजनैतिक और आर्थिक आदर्शों की मौलिक असंगति से उनके सम्बन्धों में काफी तनाव की स्थिति बनी रही।

निकारागुआ की घटनाएँ
(Events in Nicaragua)

दोनों शक्तियों का विरोध १९२६ में उन घटनाओं के द्वारा सामने आगया जो निकारागुआ की धरती पर हुईं। निकारागुआ एक ऐसा आदर्श कैरबियन गणराज्य था जिसमें लोकतंत्रात्मक सरकार के नाम से अधिनायकवाद और क्रांति का अनुक्रम चलता रहता था। १९१० से पहले तक निकारागुआ इन राजनैतिक संस्थाओं का बिना बाधा के उपभोग करता रहा। पर उस समय के आसपास दुर्भाग्य से वह दो मुख्य कारणों से यूनाइटेड स्टेट्स की विशेष दिलचस्पी का विषय बन गया। पहला कारण, जो सारे केरीबियन क्षेत्र पर लागू होता था, उष्ण कटिबन्धीय कच्चे सामान की बढ़ती हुई माँग था। दूसरा कारण विशेष था और उस देश की स्थानीय विशेषताओं की वजह से था। पूर्व से पश्चिम की ओर गणराज्य की प्रायः सारी चौड़ाई के आरपार एक प्राकृतिक जलमार्ग था जो विशाल झील निकारागुआ और केरीबियन में इसके निकास मार्ग का बना हुआ था, इसलिए यह एक दूसरी अंतः महासागरीय नहर का एक सम्भव मार्ग बनाता था, जो पनामा नहर के मार्ग का विकल्प या अनुपूरक होती। इस प्रकार की नहर पर विचार किया जा रहा था और यह बात यूनाइटेड स्टेट्स की

नीति का मूल सिद्धान्त थी कि यदि यह बनाई जाय तो यूनाइटेड स्टेट्स के नियंत्रण में होनी चाहिए। इन कारणों से सम्भवतः इस तथ्य का कुछ सम्बन्ध होगा कि १९०९ में एक अमेरिकन तेल कम्पनी के एक क्लर्क ने जिसका नाम डायज था, वहाँ क्रांति भड़काई ! डायज् ने क्रान्ति निधि में अपने वेतन से ६०० गुनी राशि दी और उसे यह संतोष हुआ कि जिस पक्ष का उसने समर्थन किया उसे यूनाइटेड स्टेट्स के नौसैनिक बलों की प्रचुर सहायता से सफल होता हुआ उसने अपनी आँखों से देख लिया। १९१० में डायज़ उस गणराज्य का उपराष्ट्रपति हो गया और कुछ ही समय बाद वह राष्ट्रपति बन गया। पर उसके प्रशासन को १९१२ मे एक और क्रान्ति का खतरा पैदा हो गया जिसे यूनाइटेड स्टेट्स की सेना ने दबाया और इसके कुछ सैनिक उस समय से लेकर १९२५ से पहले तक वहाँ बने रहे जो कहने के लिए अमेरिकन जीवनों और सम्पत्ति की रक्षा के लिए थे।

१९१४ मे यूनाइटेड स्टेट्स और निकारागुआ में एक संधि हुई, जिसके द्वारा यूनाइटेड स्टेट्स को निकारागुअन क्षेत्र के आरपार नहर बनाने का अनन्य अधिकार शाश्वत रूप से मिला और फोन्सेका की खाडी के निकट प्रशान्त महासागर मे एक नौसैनिक अड्डे के लिए ९९ वर्ष के पट्टे पर एक स्थान मिल गया (इस पट्टे के पुनर्नवन का अधिकार भी यूनाइटेड स्टेट्स को था)। उसी समय यह भी तय हुआ कि यूनाइटेड स्टेट्स का कोई अनुमोदित नागरिक निकारागुअन सीमा-शुल्कों का महासग्राहक (collector-general) नियुक्त किया जाय। उसे परराष्ट्रीय ऋण की सेवा अर्थात् व्याज और निक्षेप निधि (sinking fund) की राशि के लिए उत्तरदायी बना दिया जाय और उसे यह शक्ति दे दी जाय कि यदि उपयुक्त राशि एक निश्चित संख्या से कम रहे तो वह भीतरी राजस्व जमा कर सके।

अक्तूबर १९२४ में राष्ट्रपति के चुनाव के परिणामस्वरूप एक अनुदारवादी राष्ट्रपति बन गया और एक उदारवादी श्री सकासा (Senor Sacasa) उपराष्ट्रपति बने। अगस्त १९२५ में यूनाइटेड स्टेट्स के सैनिकों के जाने के प्रायः तुरन्त बाद अनुदारवादी जनरल चमोरो (General Chamorro) ने राज्य पर अधिकार कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप उदारवादी उपराष्ट्रपति देश से भाग गया, और राष्ट्रपति ने १९२६ में चमोरो के पक्ष में इस्तीफा दे दिया। पर यह कार्य यूनाइटेड स्टेटस या निकटवर्ती केरीबियन गणराज्य द्वारा १९२३ की साधारण संधि के अनुसार ही अभिज्ञात नहीं किया गया। कुछ ही महीनों बाद एक उदारपक्षीय क्रान्ति ने निकारागुआ की राजनैतिक स्थिति पर अपना सुपरिचित प्रभाव डाल दिया।

इस समय जनरल चमोरो ने २७ अगस्त को राष्ट्रसंघ से यह शिकायत की कि मेक्सिकन सरकार उदारवादी क्रान्तिकारियों की सहायता कर रही है पर तीन दिन पहले वाशिंगटन में विदेश मंत्री ने 'अमेरिकन और विदेशी जीवनों और सम्पत्ति की रक्षा के लिए' निकारागुआ के बन्दरगाहों पर एक स्क्वेड्रन (squadron) भेज देने की प्रार्थना की थी। प्रार्थित सेना पहुँच गई और उसने ऐन वक्त पर ब्लूफील्ड्स में २०० आदमी उतार दिये और उस प्रकार न तो चमोरो की ओर से राष्ट्रसंघ का हस्तक्षेप होने दिया और न मेक्सिकन समर्थन से प्राप्त उदार पक्ष की विजय

होने दी जो इतनी ही अरुचिकर थी। उसी समय यूनाइटेड स्टेसट् के विदेश मन्त्रालय द्वारा जनरल चमोरो को भेजे गये एक पत्र में उन पर इस्तीफा देने के लिए दबाव डाला गया।

नवम्बर में, यूनाइटेड स्टेट्स के प्रभारी दूत (Charge de' Affaires) की मध्यस्थता के परिणामस्वरूप चमोरो के हट जाने, और कांग्रेस द्वारा, जो अपने पक्ष के आदमियों से भर दी गई प्रतीत होती थी, श्री डायज़ (Senor Diaz) को पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित करके अनुदारवादी प्रशासन को विनियमित कर दिये जाने से एक उचित वैधानिक प्रश्न पैदा हो गया क्योंकि इस प्रकार का आपात्कालिक उम्मीदवार तब ही इस पद पर चुना जाने का पात्र था जब उपराष्ट्रपति न हो, अन्यथा उपराष्ट्रपति स्वतः राष्ट्रपति के रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकता था। १९२५ के उपराष्ट्रपति सकासा ने कभी अपना पद-त्याग नहीं किया था। उसे दैवी आपत् (force majeure) ने अस्थायी रूप से बाहर कर दिया था। वह डायज अपने निर्वाचन के एक महीने के भीतर १ दिसम्बर को वापस आ गया और अपने उदारवादी समर्थकों द्वारा राष्ट्रपति उद्घोषित कर दिया गया, तथा मैक्सिको ने उसके दावे को सरकारी तौर से अभिज्ञात कर लिया।

प्रतिद्वन्द्वी दावों के कानूनी विवेचन में जाने की हमें आवश्यकता नहीं क्योंकि स्पष्ट तथ्य यह था कि इस समय डायज़ और सकासा यूनाइटेड स्टेट्स और मैक्सिको द्वारा निकारागुआ की धरती पर खेले जा रहे खेल के मुहरे बन गए थे। १९१० की मैक्सिकन क्रांति सारता आर्थिक साम्राज्यवाद की ठीक एक वैसी ही नीति के विरुद्ध थी जैसी यूनाइटेड स्टेट्स मध्य अमरीका में चला रहा था। जैसा कि पहले प्रकट हो चुका है, मैक्सिको इतना शक्तिशाली नहीं था कि यूनाइटेड स्टेट्स के पूंजीपतियों की ओर से यूनाइटेड स्टेट्स के द्वारा मैक्सिकन प्रदेश पर किए जा रहे दावों का स्थायी रूप से प्रतिरोध कर सके। पर निकारागुआ में प्रतिस्पर्धी पक्षों के अस्तित्व से उसे एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव-क्षेत्र में यूनाइटेड स्टेट्स के नेतृत्व में बाधा डालने का अनुकूल अवसर मिलता प्रतीत होता था। कम से कम मैक्सिको ने जो मार्ग अपनाया, उसके आम तौर पर यही प्रेरक कारण बताए जाते थे।

दोनों पक्षों के समर्थकों की नीति कुछ दूर तक तो परिकल्पन (speculation) का ही विषय है, क्योंकि यूनाइटेड स्टेट्स के सैनिकों के हस्तक्षेप का, जिसने इससे आगे सकासा की पार्टी के प्रयत्नों में अधिकाधिक बाधा डाली, सरकारी तौर से, सिवाय उस पुराने घिसे घिसाए 'अमरीकन जीवनों और सम्पत्ति की रक्षा' के प्रयोजन के अन्य कोई प्रयोजन स्वीकार नहीं किया गया। यह सच है कि रक्षा के लिए न केवल अमरीका ने बल्कि अन्य विदेशी शक्तियों के प्रतिनिधियों ने भी अपील की थी। उदारवादी सेना ने १९२६ के अन्तिम दिनों में जो प्रगति की, उसके परिणामस्वरूप १९२७ के पहले तीन महीनों में यूनाइटेड स्टेट्स के सैनिकों में उल्लेखनीय वृद्धि कर दी गई।

इधर यूनाइटेड स्टेट्स में इन घटनाओं की अधिकाधिक आलोचना होने लगी और मार्च के अन्त में राष्ट्रपति कूलिज ने समझौता कराने का प्रयत्न करने के लिए श्री

स्टिम्सन को निकारागुआ भेजा। उन्होंने इस आधार पर मई के मध्य तक समझौता कर लिया कि १९२८ में राष्ट्रपति डायज़ की पदावधि समाप्त होने पर यूनाइटेड स्टेट्स के पर्यवेक्षण और नियन्त्रण में स्वतन्त्र और न्यायसंगत चुनाव हों। इस समझौते के आधार पर उदारवादी विद्रोहियों के अधिकांश ने हथियार डाल दिये पर यूनाइटेड स्टेट्स के नियन्त्रण के उपबन्धों की निकारागुआ और वाशिंगटन दोनों में अवैधानिक कह कर आलोचना की गई। अन्त में निकारागुअन कांग्रेस ने निर्वाचन सम्बन्धी संस्था के अनुसमर्थन के बिना ही काम चला लिया और मामले को राष्ट्रपति की आज्ञप्ति द्वारा विनियमित कर दिया गया जिसकी वैधता संदिग्ध थी। मई १९२७ में चार शेष कैरीबियन गणराज्यों के एक सम्मेलन ने श्री स्टिम्सन की शर्तों को १९२३ की शांति और सौहार्द की साधारण सधि मे असगत बताया और इस आधार पर श्री डायज़ को अभिज्ञात न किया: यद्यपि इस कार्य का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं था, पर यह यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा अपनायी गई नीति के विरुद्ध प्रबल विरोध प्रदर्शन था।

इसी बीच यूनाइटेड स्टेट्स नये और अधिक गम्भीर झगड़े में उलझ गया। एक विद्रोही सेनापति जनरल सेन्डिनो ने समर्पण नहीं किया था और अब उसने यूनाइटेड स्टेट्स के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध शुरू कर दिया जिससे बहुत सी कुमुक पहुँचाना आवश्यक हो गया और यह संघर्ष लगभग दो वर्ष चलता रहा। सच तो यह है कि यद्यपि सेन्डिनो १९२९ के उत्तरार्ध में अस्थायी रूप से मैक्सिको चला गया था और उसी वर्ष यूनाइटेड स्टेट्स मेरीन एक्सपीडीशनरी फोर्स की संख्या में बहुत कमी कर दी गई थी पर अप्रैल १९३१ में फिर अव्यवस्था हो गई जिसने यूनाइटेड स्टेट्स के दो युद्धपोतों के हस्तक्षेप की आवश्यकता पैदा कर दी। पर १९२९ तक वाशिंगटन की नीति अपने को यथासम्भव अलग कर लेने और भीतरी व्यवस्था का नियन्त्रण निकारागुअन नेशनल गार्डों के हाथों में छोड़ने की थी।

इसी बीच १९२८ के चुनावों में उदारवादी दल को निश्चित बहुमत प्राप्त हो गया और नया राष्ट्रपति जनरल मोनकाडा (General Moncada) यूनाइटेड स्टेट्स सरकार के साथ वैयक्तिक रूप से अच्छे सम्बन्ध रखता हुआ भी वस्तुतः पिछले संघर्ष में श्री सकासा के मुख्य समर्थकों में था। जनवरी १९१९ में स्वयं श्री सकासा को वाशिंगटन में निकारागुआ की ओर से दूत नियुक्त किया गया—इस बात से उसकी पार्टी और यूनाइटेड स्टेट्स के बीच अधिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का निर्देश तो होता ही था, पर यह उस स्थिति पर एक जरा व्यंगपूर्ण टिप्पणी भी थी। यह घटना २ जनवरी १९३३ को, यूनाइटेड स्टेट्स के अन्तिम सैनिक की देश से रवानगी के साथ समाप्त हो गई।

पनामा संधि

(The Panama Treaty)

निकारागुआ के मामले से लैटिन अमेरिका में यूनाइटेड स्टेट्स के गौरव में वृद्धि नहीं हुई और सच तो यह है कि इससे वह असंतोष और बढ़ा जो उसके नेतृत्व

के दावे पर पहले से मौजूद था। इन प्रतिक्रियाओं का एक उल्लेखनीय उदाहरण स्वाधीनता का वह प्रदर्शन था जो पनामा ने १९२६ में यूनाइटेड स्टेट्स के साथ की गई संधि का अनुसमर्थन करने से इंकार करके किया। इस छोटे से गणराज्य को स्वतन्त्र सर्वोच्च सत्ता के सहज गुणों से शायद सब से अधिक पूरी तरह वंचित कर दिया गया था। नहरी क्षेत्र के बारे में यूनाइटेड स्टेट्स १९०३ की संधि के परिणाम-स्वरूप निरुपाधि सर्वोच्च अधिकारों का खुलेआम दावा करता था। इस संधि के द्वारा उसने इस क्षेत्र का उपयोग, आधिपत्य और नियन्त्रण प्राप्त कर लिया था। १९२६ की संधि में, जिसका उद्देश्य स्थिति को और अधिक स्पष्ट करना था, यहां तक बात तय हो गई थी कि पनामा उस युद्ध मे भाग लेगा जिसमें यूनाइटेड स्टेट्स ग्रस्त हो—यह उपबन्ध राष्ट्रसंघ के एक सदस्य के रूप में पनामा की स्थिति से संगत नहीं था और अन्य प्रकारों से यह संधि इस मध्य अमेरिकन गणराज्य पर यूनाइटेड स्टेट्स के अधिक कठोर नियंत्रण को सूचित करती थी। संधि पर जुलाई १९२६ में बाकायदा हस्तांक्षर हो गये। लेकिन ऐसे समय जब यूनाइटेड स्टेटस की केरीबियन नीति संदेह और असतोष का विषय बनी हुई थी, इसकी शर्तों के समय से पूर्व प्रकाशन का यह परिणाम हुआ कि पनामा ने इस संलेख के अनुसमर्थन से इंकार कर दिया और वार्ता का प्रस्ताव रखा गया। पनामा के वित्त मंत्री ने एक सार्वजनिक भाषण में नहरी क्षेत्र पर सर्वोच्चता का प्रश्न पंच-निर्णय को सौंपने का प्रस्ताव किया, पर यूनाइटेड स्टेट्स की सरकार इसे मानने को सर्वथा अनिच्छुक थी और फिलहाल सारा प्रश्न स्थगित रहा।

यूनाइटेड स्टेट्स और हैटी
(The United States and Haiti)

ऐसा प्रतीत होता था कि निकारागुआ के अनुभव के परिणामस्वरूप यूनाइटेड स्टेट्स ने अपनी नीति में कुछ परिवर्तन किया था। १९२७ में श्री ड्वाइट मोरो के अमेरिकन राजदूत बनकर मैक्सिको पहुँचने के बाद यूनाइटेड स्टेट्स की तेल कम्पनियों को यह चेतावनी दी गई कि मैक्सिकन अधिकारियों के साथ उनके मतभेदों को दोनों पक्षों की बातचीत से और राजनयिक दवाव की सहायता के बिना, मैक्सिकन न्यायालयों के निर्णय पर छोड़ दिये जाने की संभावना है। साधारणतया यूनाइटेड स्टेट्स के विदेश विभाग ने अमेरिका के अन्य भागों में अपने नागरिकों की तरफ से बोलने की पहले से कम उत्सुकता दिखाई और १९३१ में उसने उनसे यहाँ तक कह दिया कि सरकार निकारागुआ में इनकी रक्षा की और आगे जिम्मेवारी नहीं ले सकती। यह नीति परिवर्तन लगभग उस समय आरम्भ हुआ जब दिसम्बर १९२८ में विदेश मंत्री की प्रार्थना पर एक प्रमुख अमेरिकन अंतर्राष्ट्रीय विधि-शास्त्री श्री रूबन क्लार्क द्वारा मनरो सिद्धान्त के बारे में तैयार किया गया एक ज्ञापन प्रकाशित किया गया। इस निर्वचन में मनरो सिद्धान्त को 'योरोप और अमेरिका के मध्य में एक ढाल' के रूप में इसका पहला मूल अर्थ पुनः प्रदान करने का यत्न किया गया था और इसे अमेरिकन महाद्वीप के और गणराज्यों के मामलों में दखल देने के लिए बहाने के रूप

में इस्तेमाल करने के इरादे से इंकार किया गया था। इसमें कहा गया था कि 'यह सिद्धान्त यूनाइटेड स्टेट्स बनाम योरोप से सम्बन्ध रखता है न कि यूनाइटेड स्टेट्स बनाम लैटिन अमेरिका से।'

एक ऐसा प्रदेश, जो अब तक विशेष रूप से यूनाइटेड स्टेट्स के नियन्त्रण में था और जिसे इस नीति-परिवर्तन से एक नई स्वतन्त्रता प्राप्त होनी निश्चित थी, अश्वेत हैटी गणराज्य था। १९१५ से हैटी प्रायशः यूनाइटेड स्टेट्स का संरक्षित देश रहा था—यूनाइटेड स्टेट्स को उस समय हस्तक्षेप का एक बहाना मिल गया जब एक भीड़ ने, जिसने हैटी के एक भूतपूर्व राष्ट्रपति को उसके शरण-स्थान फ्रेंच लिगेशन से बाहर घसीट कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया था, फ्रेंच लिगेशन का अतिक्रमण किया। यह हस्तक्षेप मनरो सिद्धान्त के अनुसार उचित बताया गया क्योंकि फ्राँस द्वारा ऐसी ही कार्यवाही को रोकने के लिए यह आवश्यक था। यद्यपि प्रथम विश्व-युद्ध के मध्य में ऐसी कार्यवाही संभाव्य प्रतीत नहीं होती थी। १९१५ से द्वीपस्थ गणराज्य का शासन यूनाइटेड स्टेट्स का हाई कमिश्नर पांच अन्य अमेरिकन अफसरों की सहायता और नौसैनिकों की एक टुकड़ी के समर्थन से करता था पर १९२९ में यूनाइटेड स्टेट्स की नीति के कुछ पहलू नापसन्द होने, विशेषकर विदेशियों के भूमि खरीदने पर लगी, पाबन्दी हटाने और शिक्षा की रीतियों को अमेरिकन रूप देने के कारण उपद्रव हो गये, जिसके बाद फरवरी १९३० में यह जाँच करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया कि यूनाइटेड स्टेट्स हैटी से कब और कैसे हटे और इस बीच के काल में अपनी नीति क्या रक्खे। इस आयोग ने यह सिफ़ारिश की कि नौकरियों में हैटीवासियों की संख्या क्रम से बढ़ाई जाय, सरकारी विभागों को १९३६ में जिम्मेदारी संभालने योग्य बनाया जाय, हाई कमिश्नर का पद उड़ा दिया जाय, और उसके स्थान पर एक असैनिक दूत नियुक्त किया जाय जो हाई कमिश्नर तथा राजनयिक प्रतिनिधि दोनों के काम करे। नौसैनिकों को क्रमशः हटा लिया जाय और भविष्य में हैटी के भीतरी मामलों में कम हस्तक्षेप करने के समझौतों की बातचीत की जाय। शिक्षा-प्रणाली सम्बन्धी शिकायतों की एक और आयोग ने स्वतन्त्र रूप से जाँच की। इन जाँचों के बाद यूनाइटेड स्टेट्स के सैनिकों ने चुनावों का, जो अक्तूबर १९३० में हुए, पर्यवेक्षण नहीं किया और ये बिना किसी गम्भीर अव्यवस्था के निकल गये।

उसी वर्ष के नवम्बर में यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा नियुक्त एक दूत हैटी में पहुँचा और हाईकमिश्नर को वापस बुला लिया गया। इसके बाद सितम्बर १९३२ में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए पर उसे हैटी की असेम्बली ने कुछ कथित अस्पष्टताओं के आधार पर अस्वीकार कर दिया। ७ अगस्त १९३३ को एक नए करार पर हस्ताक्षर हुए जिसमें कुछ अवशिष्ट ऋणों का ब्याज आदि सुनिश्चित रूप से प्राप्त कर सकने के लिए पहले से स्थापित वित्तीय प्रशासन को जारी रखते हुए अमेरिकन सैनिकों की अक्तूबर १९३४ तक विशेष वापसी का उपबन्ध था।

फिलीपीन्स
(Philippines)

यूनाइटेड स्टेट्स के साम्राज्यवादी आदर्शों से परिवर्तित होने का सबसे अधिक

व्यंगपूर्ण उदाहरण फिलीपीन्स ने उपस्थित किया जिसके १६ वीं सदी के अन्त में अनुबन्धन (annexation) से श्री किपलिग को अपनी कविता The White Man's Burden (गोरे की चिन्ता) लिखने की प्रेरणा मिली थी। १६२६ के बाद दूसरों की हित रक्षा की नीति अमेरिकन औद्योगिक स्वार्थों को न जंची। उन्होंने देखा कि हमारे अपने सामान को फिलीपीन से होने वाले निर्यात से प्रतियोगिता करनी पड़ रही है। फिलीपीन को स्वाधीनता देने और उसके परिणामस्वरूप उसे तटकरों के अधीन करने के लिए १६२६ में जो विधेयक पुरःस्थापित किया गया था, वह अत्यल्प अंतर से ही अस्वीकृत हो गया और दिसम्बर १६३१ और फरवरी १६३२ के मध्य उसी उद्देश्य से १० विधेयक कांग्रेस में पुरःस्थापित किये गये, जिनमें से एक १६३२ में पारित हो गया परन्तु उसे जनवरी १६३३ में राष्ट्रपति हूवर ने इस आधार पर वीटो कर दिया कि फिलीपीन-वासियों के आर्थिक जीवन की दशाओं में ऐसा आकस्मिक परिवर्तन करना अन्याय होगा। यद्यपि अभिषेध या वीटो (veto) को दोनों सदनों में बड़े बहुमतों से रद्द कर दिया गया, पर वह विधेयक फिलीपिनो विधान-मंडल ने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार, शुरू में यूनाइटेड स्टेट्स और फिलीपीन लोगों द्वारा प्रतिपादित नीतियाँ उल्टी हो गईं। निस्संदेह दोनों पक्षों के रुख पर जापानी प्रसार के खतरे को देखते हुए प्रतिरक्षा-संबन्धी विचारों का भी प्रभाव पड़ा था। उसी समय फिलीपीन लोग एक शक्तिशाली संरक्षक का मूल्य और अमरीकन इतने दूरस्थ उत्तरदायित्व की हानियाँ अनुभव करने लगे। अंत में अमेरिकनों की इच्छा विजयी हुई। मार्च १६३४में कांग्रेस के एक अधिनियम के कारण से यह प्रश्न हल हो गया—यह अधिनियम उन सैनिक और नौसैनिक अधिकारों के परित्याग के अतिरिक्त, जो शुरू में यूनाइटेड स्टेट्स के लिए रक्षित थे, सारतः वही था, जो पहले अस्वीकार हुआ था। इसका फिलीपीन विधान-मंडल ने १ मई को जरा अनिच्छा के साथ अनुमोदन कर दिया और इस प्रकार नवम्बर १६३५ से एक संक्रमणकालिक अवधि आरम्भ हुई, जिसका उद्देश्य था दस वर्ष बाद पूर्ण स्वाधीनता के रूप में परिणत हो जाना।

क्यूबा और यूनाइटेड स्टेट्स
(Cuba and the United States)

यूनाइटेड स्टेट्स की, हस्तक्षेप की उस नीति के प्रति, जो वह पहले चलाता रहा था, पूर्ण अरुचि उन उपद्रवों के दिनों में रूजवेल्ट प्रशासन के रवैय्ये से स्पष्ट रूप से सामने आगई जो क्यूबा में १६३३ के साल में हो गये थे। क्यूबा उस तीव्र आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप, जो खास तौर से यूनाइटेड स्टेट्स के साथ उसके व्यापार में कमी से संबद्ध थी, बहुत दिनों से क्रान्ति की ओर बढ़ रहा था। क्यूबा के माल की अमेरिकन खरीद १६२६ में २०७० लाख डालर थी जो घट कर १६३२ में ५८३ लाख डालर रह गई। इससे मौजूदा प्रशासन के प्रति विमुखता पैदा हो गई और उसने जिन रीतियों से अपने को सत्तारूढ़ रखा उनसे भी उनकी लोकप्रियता नहीं बढ़ सकती थी। उस व्यवस्था द्वारा जो १६०१ का प्लैट संशोधन (Platt amendment) कहलाता है, यूनाइटेड स्टेटस को 'ऐसी सरकार बनाये रखने के लिए जो जीवन, सम्पत्ति और

व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए पर्याप्त हो' क्यूबा के मामलों में हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार था। तो भी, जब अमेरिका के सराधन (conciliation) के प्रयत्न विफल सिद्ध हुए और १९३३ में थोड़े-थोड़े दिनों बाद दो क्रान्तियां हो गईं, तब यूनाइटेड स्टेट्स की सरकार हस्तक्षेप करने के लिए बहुत अनिच्छुक दिखाई दी। दो अवसरों पर युद्धपोत भेजे गये, पर वे यथासम्भव शीघ्र वापस बुला लिये गये और लडाई में, जो द्वीप पर हुई, सक्रिय हस्तक्षेप से सावधानी के साथ बचा गया। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने दक्षिण अमेरिका के प्रमुख राज्यों और मैक्सिको के राजनयिक प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया और किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने में अपनी अत्यधिक अनिच्छा प्रकट की। अभिज्ञात किये जाने के योग्य किसी सरकार का अस्तित्व न होने से क्यूबा के साथ व्यापार समझौता करने में बडी बाधाएं आईं—इस समझौते से आर्थिक तनाव कम होने की सम्भावना थी—और बहुत से क्षेत्रों में यह अनुभव किया गया कि प्लैट संशोधन द्वारा प्रदत्त अधिकार बाधक अधिक और सहायक कम थे। १९३३ के अन्त में यह खबर थी कि राष्ट्रपति सम्बन्धों में सुधार लाने के लिए उस संशोधन के निराकरण पर विचार कर रहे है। ९ जून १९३४ को एक संधि का अनुसमर्थन किया गया जिसके द्वारा इस व्यवस्था का सुनिश्चित रीति से अन्त कर दिया गया। इस समय तक यूनाइटेड स्टेट्स को अपनी आंतरिक स्थिति संभालने को बहुत कुछ करना था, पर यह भी स्पष्ट हो गया था कि 'उनकी ओर से लैटिन अमेरिका के अन्य राज्यों या केरीबियन द्वीपों के मामलों में दबाव डालने के सुझाव से व्यापक रोष पैदा होने की सम्भावना है जिनसे उसका उद्देश्य ही विफल हो जायगा।

राष्ट्रवाद, ज़ियोनिज़्म और अरब

(Nationalism, Zionism and the Arab)

अखिल-अरब आकाँक्षाओं की वृद्धि

(Growth of Pan Arabian Aspirations)

जैसा कि उस महान् लेखक स्वर्गीय डाक्टर होगार्थ ने अपनी पुस्तक *हिस्ट्री आफ़ अरेबिया* में बताया है, 'एक प्रदेश के नाम के रूप में अरब शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। कुछ लोग इसे सिर्फ प्रायद्वीप के लिए प्रयुक्त करते हैं, कुछ लोग इसमें उस विस्तृत रेगिस्तान को, जो लम्बा होकर सीरिया और मेसोपोटामिया के बीच में तीसवीं अक्षांश रेखा से—जो मोटे तौर से इस प्रायद्वीपीय भूखण्ड की उत्तरी सीमा बनाती है—काफी उत्तर तक एक त्रिकोण की आकृति में फैला हुआ है, भी सम्मिलित करते हैं।' सीरिया और मेसोपोटामिया का यह अपवर्जन भी एक अर्थ में कृत्रिम है; अरबों की दृष्टि से 'जज़ीरे तुल-अरब' अर्थात अरबों का द्वीप या प्राय-द्वीप उस सारे प्रदेश को समाविष्ट करता है जो उत्तर में तुर्की के मौजूदा सीमान्त तक पहुँचता है और पूर्व में ईरान तथा पश्चिम में भूमध्य सागर उसकी सीमाएँ बनाते हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध से पहले यह सारा प्रदेश तथा मिश्र भी, जो अरब-भाषी जगत् की साँस्कृतिक एकता का अंग है और जहाँ से यह काहिरा में छपी हुई पुस्तकों और समाचार-पत्रों से अपनी प्रेरणा प्राप्त करता है, एक ही प्रभु-सत्ता—ओटोमन साम्राज्य—के राज्य-क्षेत्र के अधीन थे। तो भी, 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति के कारण, जिसे तुर्की शासन ने अपना रक्खा था, यह ऊपरी एकता इस तथ्य से प्रतितुलित हो जाती थी कि इस क्षेत्र में सम्मिलित अरब आबादी बहुत से परस्पर वैर रखने वाले कबीलों में खंडित थी, जिनमें से किसी के पास भी न तो अधिक प्रदेश था और न अधिक पर उसका दावा ही था। एक संयुक्त अरब साम्राज्य पहला बार उन दावों में सामने आया जो मक्का के शेरिफ ने युद्ध के आरम्भिक काल में ब्रिटेन के साथ हो रही बातचीत में रखे थे।

१९२५--६ में दिखाई देने वाली स्थिति में, ऊपरी और भीतरी स्थिति में, एक समान परस्पर-विरोध था। पर वैषम्य व्युत्क्रमित हो गया। एकमात्र प्रभु-सत्ता सीरियन अधिदेश के चार राज्यों बृहत लेबनान, अलावी, सीरिया खास और जबलएद्रूस में विभाजित हो गई थी, इनके दक्षिण में फिलस्तीन और ट्रांसजोर्डेनिया थे (वर्तमान जोर्डन) और पूर्व में ईरान था; उधर अरब प्रायद्वीप में नज्द हजाज और यमन, ये कम से कम दो स्वतंत्र सत्ताएँ थीं। ऊपर से देखने पर वहाँ अरब एकता का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था, पर तथ्यत: संचार साधनों के सुधार और शाँति समझौते के द्वारा प्रोत्साहित राष्ट्रवादी आदर्श के सम्मिलित प्रयत्नों ने ऐसी एकता के अवधारण

को एक ऐसी वास्तविकता प्रदान कर दी जैसी उसे पहले कभी प्राप्त नहीं हुई थी । यह पहला ही मौका था जब फिलस्तीन या सीरिया में होने वाले किसी अरब आन्दोलन से बगदाद तक तत्काल प्रतिक्रियाएँ पैदा होने लगीं ।

जिहाद का ख़तरा
(Risk of a 'Holy War')

साथ ही अरबों के परम्परागत झगड़े और युद्ध प्रवृत्तियाँ अधिक गम्भीर मार्ग पर अग्रसर हो गई थीं । अब तक यायावर कबीलों के निरंतर और आपसी हमले, जैसा कि प्रोफेसर टायन्बी ने प्रस्तुत किया है, कोई युद्ध नहीं थे, बल्कि शिकार की सुविधाओं के साथ किया गया शस्त्रास्त्रों का अपव्ययपूर्ण पुनर्वितरण, 'आर्थिक तनावों को हल्का करने की एक परम्परागत विधि' थे जिन्हें नई अवस्थाओं ने कम व्यवहार्य बना दिया था । आर्थिक तनाव बने रहे, पर अरब प्रायद्वीप का अधिक विस्तृत भाग एक छत्र के नीचे इकट्ठा हो जाने से इसके निवासी युद्ध-कला के अधिक बड़े और अधिक वैज्ञानिक अवधारणा से परिचित हो गये । उन्होंने पश्चिमी सैनिक कला का कुछ अनुभव प्राप्त किया और पश्चिमी शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति और अंगीकरण सिर्फ समय का सवाल मालूम होता था । अरब एकरूपता की बढ़ती हुई भावना से जिसे उस समय फैले हुए राष्ट्रवाद, संचार-साधनों के सुधार और कबायली युद्धों की कमी ने बढ़ावा दिया था, यह खतरा प्रतीत होता था कि भूतकाल के अपेक्षया निरापद हमलों का स्थान वह जिहाद ले लेगा जो बृहत्तर अरब के प्रदेश को टुकड़ों में विभाजित करने वाले विदेशीय नियंत्रण के विरुद्ध बोला जायेगा ।

नज्द हेजाज़ के साथ सम्बन्ध
(Relations with the Nejd-Hijaz)

यह कोई विचारात्मक शक्यतामात्र न थी, यह बात शीघ्र ही वहाबी राज्य के अधीन सरदारों में से कुछ के रवैये से स्पष्ट हो गया । इब्न सऊद के प्रजाजनों के शुद्धतावादी धार्मिक सिद्धान्तों और उनके लोभ तथा लड़ाकू प्रवृत्तियों ने मिलकर आर्थिक प्रेरक भावों के साथ धार्मिक प्रेरक भावों को मिला दिया । १६२६ के पतझड़ में वहाबी सेनापतियों में से सबसे अधिक दुर्धर्ष सेनापति फैजलउददविश और एक अन्य कबीले के सरदार ने इब्ना सउद से सब गैर-यहूदियों के विरुद्ध जिहाद बोलने की अनुज्ञा मांगी और अगले वर्ष अप्रैल में वह तीन हज़ार लड़ाकुओं के साथ फिर यही मांग करने को लौटा और इस अवसर पर उसने यहां तक कहा कि हमारा शाह 'दुनियावी स्वार्थों के प्रलोभन में पड़ कर अल्लाह के हितों की उपेक्षा कर रहा है ।'

सौभाग्य की बात थी कि इब्न सऊद ने ब्रिटेन के साथ अपनी मैत्री बनाये रखी । सर गिल्बर्ट क्लेटन के साथ जिद्दा में हुई वार्ता के परिणामस्वरूप मई १६२७ में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए जिसने १६१५ की उस संधि को रद्द कर दिया जो दोनों देशों के सम्बन्धों को तब तक शासित करती थी । इस संलेख में, जो वहाबी शासक की पूर्ण स्वाधीनता को अभिज्ञात करता था, और दोनों पक्षों में बराबरी के आभार पर परस्परापेक्षता के रूप में तैयार किया गया था, प्रत्येक क्षेत्र में दूसरे की शान्ति के विरुद्ध किये जाने वाले विधि-

'विरुद्ध कार्यों' को दबाने का उपबन्ध था, तथा ब्रिटिश संरक्षण वाले कुवैत और तटीय सरदारों के हितो की रक्षा की गई थी। फरवरी १९२७ में इब्न सऊद ने नज्द के उल्मा से प्राप्त की गई एक कानूनी राय से अपनी स्थिति को और दृढ़ बना लिया। नज्द के उल्मा ने उन गौण प्रश्नों पर जिन पर वहाबी शुद्धतावादिता और शिथिलाचारी मुसलमानों के आचरण में विरोध था, प्रतिक्रियावादी उत्तर दिया, पर जिहाद के प्रश्न को राजा के विवेक के अधीन बताकर कूटनीतिक चतुराई दिखाई। तदनुसार, इब्न सऊद अधिकार-पूर्वक अपने प्रजाजनों की जिहाद की मांग अस्वीकार कर सका, पर कुछ गौण धार्मिक मामलों पर किये गये कम संतोपजनक विनिश्चयों ने फिर मिश्र की सरकार से उसके सम्बन्ध कुछ तनाव-पूर्ण कर दिये।

पर फैजलउद्‌विश अब स्वतन्त्र कार्यवाही की ओर बढ़ा। १९२७ के पतझड़ में और १९२८ के आरम्भ में उसने ईराक और कुवैत में कई गम्भीर हमले किये जिन्होंने ब्रिटिश विमानों और बख्तरबन्द गाड़ियों का हस्तक्षेप आवश्यक कर दिया; ट्रांसजोर्डन में भी ऐसी ही कार्यवाहियों का खतरा पैदा हो गया और दोनों प्रदेशों में वहाबियों के घुस जाने के कारण कई कबीलों ने अपनी निष्ठा परिवर्तित कर दी। १९२८ के पिछले हिस्से में स्थिति कुछ सुधर गई, हालांकि इब्न सऊद के साथ उस समय जिद्दा और हैफा में जो दो सम्मेलन हुए थे, वे भंग हो गये। इनमें से दूसरा सिर्फ हेजाज़ रेलवे की स्थिति के सम्बन्ध में था जो फिलस्तीन और सीरिया के अधि-दिष्ट प्रदेशों और इब्न सऊद के राज्य, दोनों में से गुजरती थी। पर पहला सम्मेलन ईराक के सीमान्त के भीतर सैनिक चौकियाँ स्थापित करने के प्रश्न पर भंग हुआ। ये चौकियाँ वहाबी हमले के लिए एक बहाना बन गईं। इब्न सऊद इन चौकियों के निर्माण को अपने संधिगत अधिकारों का अतिलंघन समझता था, और ब्रिटिश तथा ईराकी प्रतिनिधि इस आधार पर यह बात मानने को तैयार न थे कि निकटतम चौकी सीमान्त से साठ मील भीतर की ओर थी। पर नवम्बर १९२८ में फैजलउद्‌विश ने इब्न सऊद के प्रति निष्ठा का नकाब उतार फेंका और सशस्त्र विद्रोह का मार्ग पकड़ा जो मार्च १९२९ में सबालाह में शाह की जीत से प्रतीयमानतः समाप्त हुआ। इस संघर्ष में फैजलउद्‌विश घायल हो गया। इस पर इब्न सऊद हज करने चला गया पर विद्रोह न केवल फिर पैदा हो गया बल्कि उसने अधिक गम्भीर रूप धारण कर लिया। पर नवम्बर में नज्द हेजाज के सैनिकों ने आगे बढ़ना शुरू किया और जनवरी १९३० में विद्रोहियों ने, जिनमें फैजलउद्‌विश भी शामिल था, बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया। इस सफलता ने इब्न सऊद की स्थिति को बहुत अधिक पुष्ट कर दिया और वह न केवल ईराक तथा कुवैत से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर सका, बल्कि कुछ ऐसे पश्चिमी आविष्कारों को अपनाने में भी जो अब तक प्रजाजनों की कट्टर-पंथी भावनाओं को चोट पहुँचाते थे, कुछ विवेकपूर्ण प्रगति कर सका। पर यह स्पष्ट था कि साधारण की स्थिति बहुत कुछ शासक के वैयक्तिक प्रभाव और कूटनीतिक बुद्धिमता के कारण वैसी थी और उसकी मृत्यु हो जाने या हट जाने पर पुनः गंभीर अव्यवस्था आसानी से पैदा हो सकती थी।

सीरिया में फ्रैंच लोग
(The French in Syria)

इसी बीच ऐसी गम्भीर अव्यवस्था फ्रेंच अधिदिष्ट क्षेत्र सीरिया में फैल गई। नवम्बर १९२४ में न्यायपरायण और लोकप्रिय जनरल वेंगा के वापस बुला लिये जाने पर एक संकटपूर्ण स्थिति परिवर्धित होने में बहुत समय नही लगा। उसके उत्तराधिकारी जनरल सरेल ने जो प्रचण्ड पादरी-विरोधी था, प्रायः तत्काल ही फ्रांस के परम्परागत समर्थकों, लेबानी ईसाइयों, की सहानुभूति खोने की तैयारी कर ली। ज्यों ही उसने ऐसा किया त्यों ही जबलइदद्रूम में एक विषम स्थिति पैदा हो गई। हौरान के उपजाऊ प्रदेश को हमद रेगिस्तान से पृथक् करने वाले ऊबड़-खाबड़ पहाड़ों के उस एकान्त क्षेत्र मे द्रूमो के सामन्तीय समुदाय का मुख्य दुर्ग था। सीरिया के प्रत्येक प्रशासन में ये द्रूस गोत्र अपवाद रूप से दुर्धर्ष और कठिनाई से नियन्त्रित होने वाले सिद्ध हुए थे। उनसे एक करार करके उन्हें फ्रेंच अधिदेश को अभिज्ञात करने के लिए प्रेरित किया गया था—इस करार पर, जिसमे उन्हें स्वयं उन द्वारा निर्वाचित एक स्वदेशी गवर्नर के अधीन, जिसके साथ एक फ्रेंच सलाहकार था, विस्तृत स्वतन्त्रता दी गई थी। मार्च १९२१ मे हस्ताक्षर हुए, पर १९२३ में गवर्नर सलीमपाशा की मृत्यु के बाद द्रूसों की निर्वाचक परिषद् ने सलाहकार कैप्टन कार्बेलेट को उसका अस्थायी उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया।

कैप्टन कार्बेलेट को निर्माण कार्यों के लिए बड़ा उत्साह था और उसने दो वर्ष से कम समयमें ही जो आधुनिक सुधार कर दिये, वे वस्तुतः आश्चर्यकारक थे। जबल की पहाड़ियों में मानो जादू के जोर से सड़कें, जलाशय, और नहरें आविर्भूत हो गईं, और इन भौतिक लाभों के साथ-साथ कई निश्चित रूप से उपयोगी प्रशासनीय सुधार भी किये गए। पर निर्माण कार्य बेगार द्वारा कराये गये, जैसा तुर्क शासन में कभी नहीं हुआ था, और प्रशासन सख्ती से किया गया जिससे सरदार और किसान दोनों नाराज हो गए। अप्रैल १९२५ में द्रूसों के शिष्टमण्डल ने इस अत्याचारी प्रशासन की शिकायतें जनरल सरेल के सामने रखीं और यह प्रार्थना की कि १९२१ के करार की वह शर्त, जिसमें यह उपबन्ध था कि गवर्नर स्वदेशी होगा अब पूरा किया जाय। हाई कमिश्नर ने कैप्टेन कार्बलेट में अपना पूर्ण विश्वास प्रकट किया, उस करार को 'शुद्ध ऐतिहासिक महत्त्व' का बताया और शिष्टमण्डल को उपेक्षा से विदा कर दिया। गवर्नर के छुट्टी जाने पर उसके स्थानापन्न अफसर से वहाँ की स्थिति के बारे में भयोत्पादक सूचनायें मिलने पर उसने न केवल उन पर अविश्वास किया बल्कि उसके सूचनादाता को तिरस्कृत करने का आदेश दिया। द्रूसों के और निवेदनों को भी इसी तरह लापरवाही से ठुकरा दिया गया। अन्त में, जनरल सरेल ने यह आदेश दिया कि प्रमुख सरदारों को दमिश्क में अपनी शिकायतें पेश करने के लिए आमन्त्रित किया जाय और वहां पहुँचने पर उन्हें कैद कर लिया जाय। दमिश्क-स्थित फ्रेंच प्रतिनिधि के विरोध के बावजूद यह वंचनापूर्ण योजना क्रियान्वित की गई और उन तीन द्रूस सरदारों को, जिन्होंने भलेमानस की तरह

निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था, पलमीरा में बाधित निवास (enforced residence) की स्थिति में पड़ना पड़ा। कुछ ही दिनों में शेष सरदारों में से एक, सुल्तान अलअतरश ने अपने अनुवर्तियों को इकट्ठा किया और एक बहुत गम्भीर विद्रोह आरम्भ हो गया।

मालूम होता है कि सैनिक अधिकारी इस घटना के लिए बिल्कुल तैयार न थे और इस सघर्ष के आरम्भ में फ्रेंच सैनिकों को बुरी तरह हारना पड़ा। उनके सैनिक भारी संख्या में हताहत हुए और दुश्मन ने उनकी तोपों और शस्त्रास्त्रों पर कब्जा कर लिया। पराजय के बाद पराजय हुई और अक्तूबर में विद्रोही खास दमिश्क में मोर्चा लगाये हुए थे। रक्षक सेना पीछे हटकर किले में चली गई और उसने नगर पर बमबारी की जिससे नागरिक जनता के जीवन की बहुत हानि तथा अत्यधिक भौतिक क्षति हुई। यद्यपि इस घटना से पैदा हुए रोष के परिणामस्वरूप जनरल सरेल को अविलंब वापस बुला लिया गया, पर विद्रोह फैलता गया और बहुत दिनों तक मामला संदेहास्पद बना रहा। फ्राँसीसी लोगों ने अल्पसंख्यक समुदायों में से अनियमित सैनिक भरती करने और उन्हें शस्त्र-सज्जित करने का संदिग्ध मार्ग अपनाया, और इस प्रकार आन्तरिक मतभेदों को तीव्र किया, जिन्हें कम करना अधिदेष्टा देश का कर्त्तव्य था। दमिश्क के चारों ओर का मरूद्यान या नखलिस्तान सैनिक कार्यवाहियों से बरबाद हो गया और नगर के चारों ओर घेरा पड़ा रहा।

नये हाई कमिश्नर द जूवेनेल (M. de Jouvenel) के पहुँचने से, जिसने अत्यधिक कठिनाइयों के होते हुए भी सुलह समझौते की नीति अपनाने का यत्न किया, लड़ाई अगस्त १९२६ में उसके त्यागपत्र से पहिले समाप्त न हुई।

पर १९२७ की गर्मियों तक शाँति सारतः पुनः स्थापित हो गई और १७ फरवरी १९२८ को उन सब विद्रोहियों को जो एक निश्चित अवधि के भीतर समर्पण कर देंगे—पर इसमें ३९ व्यक्ति अपवादरूप में गिनाये गए थे—आम माफ़ी की उद्घोषणा करके विद्रोह के अंत की सूचना दी गई।

जबलइदद्रूस की इन घटनाओं ने अधिदेश के एक कर्तव्य की उचित पूर्ति को असम्भव कर दिया था और वह यह था कि अधिदेश के शुरू होने से तीन वर्ष के भीतर सीरिया और लेबनान के लिए संविधान का निर्माण करना था। सच तो यह है कि लेबानी गणराज्य के लिए एक संविधान नियत अवधि के भीतर मई १९२६ में प्रख्यापित किया गया था पर शेष अधिदिष्ट प्रदेश में राष्ट्रसंघ की अनुमति से इसे विस्तृत करना था। जुलाई १९२७ में नये हाई कमिश्नर श्री पौनसौट (M. Ponsot) ने सीरियावासियों को स्वयं एक संविधान बनाने में समर्थ करने की दिशा में कार्यवाही की। एक प्रमुख सीरियन राष्ट्रवादी शेख तुजुद्दीन के राष्ट्रपतित्व में एक अस्थायी सरकार का निर्माण किया गया और अप्रैल १९२८ में चुनाव हुए। असेम्बली को आश्वासन दिया गया कि उसका काम पूरा हो जाने पर वह समय आ जाएगा जब

सीरिया और फ्रांस के सम्बन्ध ईराक और ब्रिटेन के सम्बन्धों की तरह एक संधि के आधार पर विनियमित किये जायेंगे।

इस प्रकार प्रोत्साहन पाकर असेम्बली ने समुचित रूप से एक संविधान का मसविदा तैयार किया और उसे सारे का सारा ७ अगस्त को अंगीकार किया, पर श्री पौनसौट को इसके बहुत से उपबन्ध अधिदेष्टा शक्ति के लिए अस्वीकार्य लगे। अनुच्छेद २ में यह घोपणा की गई थी आटोमन साम्राज्य से पृथक् हुए सीरियन राज्यक्षेत्र एक अविभाज्य राजनैतिक ऐक्य गठित करेंगे। यह बात अधिदिष्ट क्षेत्र के उस अनुविभाजन से ही असंगत न थी जो फ्रांस ने किया था बल्कि श्री पौनसौट की राय में, फिलस्तीन की परिस्थिति से भी असंगत थी। तदनुसार उसने इस पर तथा अन्य कुछ बातों पर, जिनके बारे में उन्होंने सुझाया कि वे असेम्बली के मसविदे पर विचार करने के समय उससे पृथक् कर देनी चाहिएँ, निर्बन्धों की घोषणा कर दी पर यह सुझाव ठुकरा दिया गया और इस पर कमिश्नर ने असेम्बली को स्थगित कर दिया। आगे बातचीत विफल रहने पर श्री पौनसौट ने मई १९३० मे अपने ही एकपक्षीय कार्य द्वारा सीरिया के लिए एक सविधान प्रस्थापित किया और चार अन्य उद्घोषणाएँ भी कीं जो अधिदेश के अन्य विभागों के प्रशासन को विनियमित करती थीं और उनके साझे हितों के बारे में एक सम्मेलन की व्यवस्था करती थीं। इन लेख्यों के प्रकाशन पर विरोध और प्रदर्शन हुए पर कोई विशेष अव्यवस्था नहीं हुई।

फिलस्तीन
(Palestine)

फिलस्तीन में अधिदेश जनित समस्याएं जैसा कि पहले भी समझ में आ गया होगा, असाधारण रूप से जटिल थी। सब जगह ज़माने की लहर ऐसे राष्ट्रीय राज्यों के सृजन को प्रोत्साहित कर रही थी, जिनका संघटन जातीय आधार पर हो। पर फिलस्तीन अधिदेश का घोषित उद्देश्य दो विसंवादी तत्वों (discordant elements) जिनमें से एक देशज था और दूसरा जानबूझ कर बाहर से लाया गया था, वाली आबादी को स्वशासन के लिए तय्यार करना था और साथ ही अरब निवासियों के अधिकारों का पूर्ण संरक्षण करते हुए यहूदियों के राष्ट्रीय आवास के दावों की पूर्ति करना था। प्रोफेसर टायनबी ने उस शक्ति-प्रदर्शन की, जिसका ब्रिटेन ने यत्न किया, तुलना किसी ऐसे छोटे लड़के के कार्य से की है जिसने पड़ोसी के बाग में बारूद का आकस्मिक विस्फोट देखा था और अपने बाग में आवश्यक उपादानों में से सिर्फ एक देखकर एक बोरी शोरा खरीद लिया है और इसे अच्छी तरह मिलाकर अब यह प्रतीक्षा कर रहा है कि पवन वहां चिनगारी पैदा कर दे।[1]

अगस्त १९२९ में एक आँशिक विस्फोट हुआ जो यह निर्दिष्ट करने के लिए काफी गम्भीर था कि बिना दक्ष और अनुभवी पर्यवेक्षण के विस्फोटक उपादान पड़े रहने देने के क्या संभाव्य परिणाम हो सकते हैं। अब तक दोनों जातियों का विरोध आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक सीमित रहा था। इस अवसर पर धार्मिक मतान्धता की आग पुनः भड़क उठने से घातक परिणाम हुआ। गर्मागर्मी एक प्राचीन

१. इण्टरनेशनल अफेअर्स, जनवरी १९३१, पृष्ठ ४८।

दीवार के बारे में, वाद-विवाद से पैदा हुई जो विभिन्न कारणों से प्रत्येक समुदाय द्वारा विशेष पवित्र समझी जाती थी।

जो चीज यहूदियों के लिए इस आधार पर 'शोक की दीवार' थी कि वह उनके मन्दिर का अंतिम अवशिष्ट चिह्न थी, वह मुसलमानों के लिए बूराक—वह पशु जिस पर चढ़ कर हजरत मुहम्मद 'शक्ति की रात' में बहिश्त गये थे—का अस्तबल थी। यहूदी प्रार्थनास्थल हरमेशरीफ़ की बची हुई दीवार का हिस्सा है—हरमेशरीफ़ मुसलमानों की निगाह में एक विशेष पवित्र बाड़ा है जो पैगम्बर की स्वर्ग-यात्रा का आरम्भ-बिन्दु है और जिसमें *शिला का गुम्बद* तथा *अक्सा की मसजिद* है। उस स्थिति की जो भयप्रद सम्भावनाएँ थीं, वे इस तथ्य से और बढ़ गई कि इस मंदिर के विनाश की स्मृति में होने वाला यहूदी व्रत का दिन वही था जिस दिन मुसलमान मुहम्मद का जन्म दिवस मना रहे थे। यद्यपि दीर्घ परम्परा से यहूदिया को 'शोक की दीवार' पर अपनी पूजा करने का अधिकार हासिल हो गया था, पर खुद वह दीवार और उसके नीचे का चबूतरा मुस्लिम सम्पत्ति थी। तुर्क शासन के दिनों में, जब यहूदी यह अनुभव करते थे कि वे दूसरों की कृपा से इस अधिकार का उपभोग कर रहे हैं, कोई गम्भीर अव्यवस्था नहीं हुई, पर यह स्वाभाविक था कि फिलस्तीन को राष्ट्रीय आवास मानने के लिए प्रोत्साहित किया गया समुदाय इस तथ्य को अधिकाधिक नापसंद करे कि उनका सबसे पवित्र भवन पराये हाथों में है। ब्रिटिश आधिपत्य के आरम्भिक दिनों में यहूदियों ने दीवार को छूने वाले चबूतरे को खरीदने के लिए निष्फल बातचीत की थी। पर पूर्व स्थिति में इस दखल ने अरबों को भयभीत कर दिया और वे परम्परा से स्थापित प्रक्रिया में जरा भी हेर-फेर को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। परिणामतः अधिदेष्टा अधिकारियों ने ऐसी किसी नवीनता को स्वीकार न किया और उस पर पाबन्दी लगा दी—उसने १६२५ में कुर्सी या बेंच उस जगह बनाने पर पाबन्दी लगा दी और १९२८ मे उस पर्दे को हटा दिया जो पुरुष और स्त्री पूजाकर्ताओं को पृथक् करने के लिए बनाया गया था। ऐसी घटनाओं ने दोनों ओर अधिकाधिक प्रचार को बढ़ावा दिया। यह कहा जा सकता है कि १२० वर्ग गज के छोटे से क्षेत्र में जो सिर्फ कुछ समय पहले तक मुस्लिम निवासियों के निकटवर्ती मकानों पर पहुँचने के लिए एकमात्र मार्ग था, यहूदी धर्म और इस्लाम की विश्व शक्तियों का संघर्ष इस उत्तेजक प्रतीक के चारों ओर केन्द्रित हो गया।

अगस्त १६२६ में दोनों पक्षों के प्रदर्शनों की परिणति एक अत्यधिक गम्भीर उपद्रव में हुई जिसके परिणामस्वरूप १३३ यहूदी और ११६ अरब मारे गये और इससे बहुत अधिक बड़ी संख्या घायल हुई। ये उपद्रव उस प्रदेश के अन्य भागों में भी फैल गये, जिससे सैनिक और पुलिस बलों में वृद्धि, अखबारों पर अधिक कठोर दृष्टि और फिलस्तीन में वैधानिक परिवर्तनों के विषय पर बातचीत का निलम्बन आवश्यक हो गया। मई १६३० में ब्रिटिश प्रतिनिधि की प्रार्थना पर राष्ट्रसंघ की परिषद ने उस दीवार से सम्बद्ध अधिकारों और दावों की जाँच के लिए एक तटस्थ आयोग

नियुक्त किया और उसी समय सर जॉन होपसम्पसन को यहूदी अन्तःप्रवास और भूमि बन्दोबस्त के विस्तृत प्रश्नों पर प्रतिवेदन के लिए फिलस्तीन भेजा गया और देश में यहूदियों के प्रवेश को शासित करने वाली श्रमिक अनुसूची को अस्थायी रूप से निलम्बित कर दिया गया।

अक्तूबर १९३० में सिम्पसन प्रतिवेदन के प्रकाशन के साथ एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया गया जिसका आशय अधिदेष्टा शक्ति की नीति निर्दिष्ट करना था। इस श्वेतपत्र पर ज़ियोनिस्ट हलकों में तूफान उठ खड़ा हुआ और इसे बालफोर घोषणा की प्रतिज्ञाओं से हटना, और स्वर तथा लहजे में यहूदी-विरोधी समझा गया। सिम्पसन प्रतिवेदन से, जिसमें ज़ियोनिस्ट बस्ती की सम्भावनाओं का सीमित तख़मीना लगाया गया था, बड़ी निराशा पैदा हुई, क्योंकि इसमें इस आशा को असम्भव सिद्ध किया गया था कि उस देश में अन्त में यहूदी बहुमत हो जायगा। इस तूफान को शान्त करने का प्रयत्न श्री रैम्जे मैकडोनल्ड ने ज़ियोनिस्ट संघटन के भूतपूर्व प्रधान डाक्टर वीज़मेन (Dr. Weizmann) को लिखे एक पत्र में किया, पर इससे उसी तरह अरबों में संदेह और असंतोष मात्र पैदा हुआ। अधिक अन्तःप्रवास (inmigration) के लिए सुविधा पैदा करने की दृष्टि से देश की उत्पादकता के विकास पर २५ लाख पौंड के आयोजित व्यय की घोषणा के बावजूद, स्थिति ऐसी बनी रही कि स्वशासन की ओर, जो अधिदेश के निर्देश-पदों (terms) में निहित था, बढ़ने की कोई आशा न दिखाई दी।

ईराक
(Iraq)

इधर ईराक में अधिदेष्टा शक्ति और उस देश के निवासियों के सम्बन्ध एक ऐसी संधि द्वारा विनियमित करने के प्रयत्नों से, जो स्वतंत्रता को अभिज्ञात करने का आशय रखते हुए भी पर्याप्त नियंत्रण अधिदेष्टा शक्ति के हाथों में कायम रखती थी, ईराकी राजनेताओं में कुछ असन्तोष पैदा हो रहा था। १९२६ की पहली संधि में यह कहा गया था कि १९२८ में ईराक को राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया जायगा, पर यह तिथि १९३२ के लिए विलम्बित कर दी गई, और इसके साथ देश के राजनैतिक विकास की निरंतर प्रगति की शर्त लगा दी गई। एक नई संधि, जिस पर १९२७ में हस्ताक्षर हुए, अनुसमर्थित न की गई और स्वतंत्रता को क्रियात्मक नियंत्रण द्वारा मर्यादित करने वाली अनेक और विलक्षण असंगतियों को ढकने के लिए एक नया शब्द बनाया गया जिसका अनुवाद करें, तो यह अर्थ होगा कि 'परेशान करने वाली अवस्था'।

नये हाईकमिश्नर सर गिल्बर्ट क्लेटन (Sir Gilbert Clayton) जिन्होंने मार्च १९२९ में पदग्रहण किया था और जो दुर्भाग्य से अगले सितम्बर में मर गये, की सलाह पर १९३२ में राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए ईराक की उम्मीदवारी का समर्थन करने का बिना शर्त वचन दिया गया और इसका तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि वायुमंडल साफ हो गया। जून १९३० में एक नई मैत्री संधि की गई (जिसका अनुसमर्थन २६ जनवरी १९३१ को किया गया) जो ईराक के राष्ट्रसंघ का सदस्य निर्वाचित होने पर अधिदेश की समाप्ति होने के समय लागू होनी थी। इस संलेख के

निर्बंधनों द्वारा ब्रिटेन की संधि लागू होने के बाद पांच साल तक हिनेदी (Hinaidi) में और मोसुल में भी और बाद में उन हवाई अड्डों पर जो बसरा के पड़ौस में उसे पट्टे पर दिये जाने थे; तथा फरात नदी के पश्चिम में एक चुनी हुई जगह पर सेना रखने का अधिकार था। दोनों पक्षों ने यह वचन दिया कि तृतीय पक्षों के साथ विवाद होने के समय परामर्श किया जायेगा और अन्त में सैनिक समर्थन दिया जायेगा। इस संधि की कई परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों से बडी आलोचना हुई। ईराक वालों की दृष्टि में इसमें उपबंधित स्वतंत्रता अब भी भ्रम-मात्र थी। फ्रेंच लोकमत इस बात से परेशान था कि इस अधिदेश की शीघ्र समाप्ति से सीरिया में ऐसी ही परिस्थिति के लिए आन्दोलन को उद्दीपन मिलेगा। ब्रिटेन के अनुदारवादी क्षेत्रों में यह कहा गया कि हमारे संचार साधनों के लिए सुरक्षा नाकाफी है और अन्य आलोचकों को यह भय था कि ब्रिटिश सेनाओं को भीतरी कानून-व्यवस्था बनाये रखने में प्रयुक्त किया जायेगा जिससे कि एक अरब नीति को, जिस पर से इसका नियंत्रण खत्म हो गया होता, अल्पसंख्यक समुदायों के विरुद्ध जबरदस्ती लागू किया जायेगा।

असीरियनों की गति

(The Fate of the Assyrians)

एक और दृष्टिकोण से स्वतंत्र ईराक में अल्पसंख्यकों को यह भय हो सकता था कि उनकी अवस्था चिंतायोग्य होगी, यद्यपि जिस बात से वे डरते थे वह यह थी कि ब्रिटिश प्रभाव हट जायेगा न कि यह संभावना कि ब्रिटिश बल अरब नीति का अनुचर होगा। अक्तूबर १९३८ में ईराक के राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाने से अधिदेश समाप्त हो जाने पर कुछ ही समय के भीतर ये भय बिल्कुल उचित सिद्ध हुए। इसकी शिकार असीरियन जाति हुई जो नेस्टोरियन ईसाइयों का एक समुदाय थी और मैसी-पोटामियन सीमान्त के उत्तर की ओर पर्वतों में शुरू से रहती थी। वे तुर्कों से पिटकर शरणार्थियों के रूप में ईराक में आये थे और उनका अस्तित्व ब्रिटेन के इस दावे का मुख्य कारण था कि अधिदिष्ट क्षेत्र का सीमान्त उत्तर में इतना काफी बढ़ा दिया जाय कि उनका जिला उनमें समाविष्ट हो जाय (देखिये अध्याय ८) पर राष्ट्रसंघ ने यह क्षेत्र तुर्की को दे दिया जिसने भगोड़ों की स्वदेश-वापसी को अस्वीकार कर दिया। १९२० के अरब विद्रोह के बाद उनमें से बहुत से ब्रिटेन की एक सेना में भर्ती हो गये थे जिसे काफी गौरव प्राप्त हुआ और जिसने ब्रिटिश अफसरों के अधीन उत्तम कार्य किया। पर इस नीति से उनकी अन्यदेशीय प्रस्थिति (alien status) को बल मिलता था और वह नई ईराकी सेना के साथ—जिसे ये सैनिक खुलेआम अवमान की दृष्टि से देखते थे—विद्वेषपूर्ण तुलना द्वारा ईर्ष्या पैदा करती थी।

असीरियनों को उनके अंगीकृत देश में बसाने की समस्या अलंघ्य कठिनाई से पूर्ण सिद्ध हुई। ऐसा कोई खाली स्थान नहीं था जिसमें उन्हें एक समांग समुदाय के रूप में पहुँचा दिया जाय। जून १९३२ में अधिदेश की समाप्ति की आसन्न संभावना से भयभीत होकर उनमें से बहुत से असीरियन राष्ट्रीय करार पर जिसमें अव्यवहार्य मांगें की गई थीं, दृढ़ रहे, जिसके समर्थन में इन स्थानीय सैनिकों (Levies) ने बगावत

कर दी और उन्हें बड़ी मुश्किल से अपने काम पर लौटने के लिए प्रेरित किया गया। उनका वंशपरंपरागत आध्यात्मिक और लौकिक नेता मारशिमून उनके दावे पेश करने जिनीवा गया पर सर्वथा असफल रहा। इसके अलावा, इस प्रयत्न ने ऐसे समय ईराक सरकार को और अधिक क्रुद्ध कर दिया जब शाह फैजल जिसकी नीति अधिक दयापूर्ण और समझौते की थी, दुर्भाग्य से इंगलैंड में था। जुलाई में कुछ गलतफहमी में पड़कर लगभग ८०० असीरियन सीरिया में बसने के उद्देश्य से देश छोड़कर चले गये, पर फ्रेंच अधिकारियों ने उन्हें वहां लेने से इन्कार कर दिया और दुर्भाग्य से बिना उनके शस्त्रास्त्र छीने उन्हें वापस लौटा दिया। ४ अगस्त को वे वापस लौटे और ईराकी सैनिकों के साथ उनकी टक्कर हुई—ईराकी सैनिकों को कुछ हानि उठानी पड़ी और उन्होंने बदला लेने के लिए सब अनियन्त्रित कैदियों को गोली से उड़ा दिया। इस लड़ाई की अतिरंजित खबरों से बगदाद के सरकारी हल्कों में आतंक फैल गया और उन्होंने ईराकी सेना को सख्त कार्यवाही के लिए बढ़ावा दिया। परिणाम यह हुआ कि असीरियन गांवों में निहत्थे निवासियों का कत्लेआम कर दिया गया—सबसे दर्दनाक घटना ११ अगस्त को सिम्मेल में हुई जहाँ पुरुष निवासियों को बाकायदा निर्मूल कर दिया गया और स्त्रियों और बच्चों को तीन दिन तक भूखा रखा गया। कुछ हत्या तथा लूटपाट कुर्दों और अरबों ने भी की, पर मुख्य जिम्मेवारी ईराकी सैनिकों की थी जिन्होंने प्राप्त आदेशों से बाहर जाकर काम किया होगा, यद्यपि उनके सेनापति बेकिरसिदकी का बगदाद लौटने पर सम्मान किया गया और वह प्रधानमन्त्री के साथ मोटर में बैठकर सड़क पर निकला तथा लोगों ने ताली बजाकर उसका स्वागत किया। ब्रिटिश लोगों ने सहायता कार्य संगठित करके और मोसल में एक शरणार्थी कैंप बनाकर, जो कुछ भी वे कर सकते थे, किया, पर उन्होंने इस भय के कारण कि कहीं और कत्लेआम न हो जाये, हस्तक्षेप न किया, और न राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप को बढ़ावा दिया। खुलेआम ये धमकियां दी जा रही थीं कि यदि हस्तक्षेप किया गया तो और कत्लेआम होगा। ब्रिटेन के गौरव को भारी धक्का पहुँचा और यह घटना किसी भी अरब अधिदेश के, समय से पूर्व परित्याग के खतरे के विरुद्ध गंभीर चेतावनी थी।

मिश्र
(Egypt)

इस काल में आंग्ल-मिश्री सम्बन्धों का इतिहास उस उपाय का प्रयोग करने के असफल प्रयत्नों की एक शृंखला का इतिहास है जिससे ईराक में कम से कम कुछ संतोषजनक परिणाम निकले थे। जब ब्रिटिश कूटनीति, जिसे सुलह समझौता हमेशा प्यारा है, स्वतन्त्रता का खोल देकर नियंत्रण का सार अपने हाथ में रखना चाहती है, तब वह संधि का मार्ग पकड़ा करती है। यह न केवल ईराक में अपनाया गया हल था, बल्कि आयरिश प्रश्न को निपटाने का प्रयत्न करने में भी इसका उपयोग किया गया था। कठिनाई यह है कि एक ऐसा सूत्र तलाश किया जाय जिसमें एक पक्ष की आवश्यकताएँ दूसरे पक्ष की राष्ट्रवादी भावनाओं से संगत हो जायें। फरवरी १६२२ में ब्रिटेन ने मिश्र से कह दिया था कि वह अब से स्वतन्त्र सर्वोच्च-सत्ता-संपन्न

राज्य है और उपयुक्त निर्बन्धों द्वारा उसने यह यत्न किया कि उसकी स्वतन्त्रता मर्यादित हो। इसे मिश्र के राष्ट्रवादी नेताओं ने स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और १९२७-२८ में तथा पुनः १९२९-३० में स्वतन्त्रता के रूप को अधिक विश्वासजनक बनाने का यत्न किया गया और इसके लिए एक ऐसी संधि के, जो प्रकाश्यतः समान स्थिति के दो पक्षों के बीच हुई हो, खण्डों में सारभूत निर्बंध—जो वास्तव में सारभूत थे समाविष्ट कर लिये गये। दोनों प्रयत्नों के इतिहास में कई बातों में उल्लेखनीय सादृश्य दिखाई देता है। दोनों उदाहरणों में, पहला पग मिश्री प्रधान मन्त्री ने ब्रिटिश विदेश मंत्री से हुई अनौपचारिक बातचीत के मध्य उठाया था। दोनों अवस्थाओं में, आरम्भिक वार्ता-कर्ताओं के मध्य समझौता हो गया प्रतीत होता था। दोनों अवस्थाओं में, अंत मे वार्ता इस कारण भंग हुई कि मिश्री प्रधान मंत्री को संसदीय बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं था, क्योंकि प्रबल बहुमत वाला पक्ष वफ्द या राष्ट्रवादी दल था, जिसका पहले अवसर पर नेता जगलुलपाशा था जो १९२४ में सर लीस्टैक की हत्या के बाद अपने त्यागपत्र के समय से पद ग्रहण करने से विरत रहा था। १९२७ में पहले प्रयत्न की सफलता पर उस वर्ष अगस्त में जगलुल की मृत्यु से और भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि वफ्द पार्टी में उसके नेतृत्व का उत्तराधिकारी नहस पाशा उन प्रस्थापनाओं पर अपनी पार्टी के सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार ही निर्णय कर सकता था और यह सोचने में असमर्थ था कि उन पर उसके पूर्ववर्ती की क्या प्रतिक्रियाएँ होतीं। पर जिस बात पर दोनों पक्षों के विचार एक होने असम्भव सिद्ध हुए वह प्रत्येक अवस्था में भिन्न थी।

जो मामले ब्रिटिश सरकार ने अपनी फरवरी १९२२ की घोषणा द्वारा अपने विवेकाधीन रख लिये थे, वे निम्नलिखित थे।

(१) ब्रिटिश साम्राज्य के संचार मार्गों की सुरक्षा।
(२) विदेशी आक्रमण या दखलंदाजी से मिश्र की प्रतिरक्षा।
(३) विदेशी तथा अन्य अल्पसंख्यक हितों की रक्षा।
(४) सूडान की प्रस्थिति।

इनमें से मतभेद की सबसे महत्त्वपूर्ण दो बातें (१) के कारण मिश्र की भूमि पर ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति और सूडान संबन्धी चौथी बात थी। चौथी बात, पहले अवसर पर छोड़ दी गई थी, और दूसरे मुख्य प्रश्न को आगे के लिए टालने का यत्न किया गया था। पर मिश्र में ब्रिटिश सेना की उपस्थिति के प्रश्न पर वफ्द नेता सर्वथा कट्टर सिद्ध हुआ और इस पर ही मार्च १९२८ में वार्ता भंग हो गई। १९३० के मसविदे में ब्रिटिश सेनाओं को ३२° पूर्वी देशान्तर रेखा के पूर्व के क्षेत्र तक प्रतिबन्धित किया गया था और इससे मिश्र की भावनाओं की संतुष्टि होनी प्रतीत होती थी पर अंतिम वार्ता के समय जो नहसपाशा ने दिसम्बर १९२९ के चुनावों में अपनी पार्टी वफ्द के अतिशय बहुमत द्वारा सत्तारूढ़ हो जाने के बाद की थी, सूडान असाध्य कठिनाई सिद्ध हुआ।

सूडान १८९६--८ में मिश्र और ब्रिटेन की संयुक्त सेनाओं द्वारा पुनः जीते जाने

के बाद १६ जनवरी १८६६ को हुए एक करार द्वारा एक आंग्ल-मिश्री शामलात (condominium) के शासन में रखा गया था। उसके बाद के विकास में दोनों राष्ट्रों ने हिस्सा लिया था, यद्यपि इसके प्रशासन में ब्रिटेन का बहुत अधिक हिस्सा था। युद्ध के बाद राष्ट्रवाद की वृद्धि के साथ-साथ सूडान को पूरी तरह मिश्र में सम्मिलित करने के लिए आन्दोलन होता रहा जिसकी तीव्रता बढ़ गई और थोड़े बहुत उपद्रव भी हुए। उस समय यह सवाल नहीं था कि कोई ब्रिटिश सरकार इस माँग को स्वीकार करे। इस नुक्ते पर लार्ड पारमूर के आश्वासन वैसे ही असंदिग्ध थे जैसे सर आस्टिन चेम्बरलेन के, पर ब्रिटेन शामलात (condominium) को जारी रहने देने और इसकी भविष्य की परिस्थिति के बारे में वार्ता करने को तैयार था। पर शर्त यह थी कि कोई भी पक्ष इस बीच पूर्व स्थिति में हेर-फेर न करे, लेकिन मिश्रियों ने इस तर्कसगंत प्रतिबन्ध का कभी पालन नहीं किया और सर ली स्टैक की हत्या के बाद ब्रिटिश सरकार ने सब मिश्री अफसरों और सेना के मिश्री दस्तों को वहाँ से हटा दिया और शेष सेना को एक सूडान प्रतिरक्षा सेना का रूप दे दिया, जो शुद्ध रूप से सूडान सरकार के प्रति निष्ठा रखे और वह गवर्नर-जनरल—जो ब्रिटिश सरकार की सिफारिश पर मिश्र की सरकार के शाह द्वारा नियुक्त एक अंग्रेज होता था—के आदेशों और नियंत्रण में हो गई। इस कार्य ने जिस पर एक ब्रिटिश दस्ते ने गम्भीर बगावत कर दी, राष्ट्रवादी असंतोष की आग पर तेल छिड़क दिया, और मिश्री लोकमत को इस प्रश्न पर अधिक कट्टर बना दिया। राष्ट्रवादी रुख का सबसे अधिक सारभूत आधार इस तथ्य में निहित था कि सूडान पर नियंत्रण का अर्थ है नील नदी के पानी पर नियंत्रण, पर नील नदी के पानी के बटवारे पर १९२५–६ में एक आयोग ने पृथक् रूप से जाँच की थी और यह प्रश्न आयोग के प्रतिवेदन के आधार पर मई १९२९ में हस्ताक्षरित एक करार द्वारा संतोषजनक रीति से तय हो गया था।

१९२९--३० में संधि की वार्ता वस्तुतः जिस बात पर टूटी वह सूडान का मुख्य प्रश्न नहीं था, जो भविष्य की बातचीत के लिए रख लिया गया था, बल्कि यह अपेक्षया गौण प्रश्न था कि मिश्री नागरिकों को इस क्षेत्र में अप्रतिबन्धित अन्तःप्रवास का अधिकार होगा। निष्कर्ष यही निकलता है कि समझौने में वास्तविक बाधा पारस्परिक अविश्वास था जो दोनों ओर अपने-अपने दृष्टिकोण से सम्भाव्यतः थोड़ा बहुत औचित्यपूर्ण था। ब्रिटेन यह अनुभव करता था कि इसके भौतिक स्वार्थ सिर्फ मिश्र की सद्भावना पर नहीं छोड़े जा सकते और मिश्री राष्ट्रवाद को यह संदेह था कि स्वाधीनता, जो उसका लक्ष्य था, ब्रिटेन दिखावे मात्र की देना चाहता है। यद्यपि किसी स्थायी और विश्वसनीय समझौते पर पहुँचने की यह कठिनाइयाँ कुछ समय तक देश की घरेलू राजनैतिक स्थिति के कारण, जहां वैधानिक संसदीय सरकार राजा के आदेश द्वारा बार-बार निलम्बित की गई थी, बढ़ गई, लेकिन अन्त में प्रत्येक बाधा दूर होनी ही थी। उस समय यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता था कि समझौता

इतनी दूर तक हो सका, यद्यपि हर मौके पर सफलता अधिक गम्भीर विवादास्पद बातों को बाद के लिए टाल कर ही प्राप्त की गई थी।

इस अध्याय में जिस क्षेत्र का पर्यवेक्षण किया गया है, उसमें मुख्य निष्कर्ष ये निकलते प्रतीत होते हैं कि यदि पश्चिमी शक्ति का नियंत्रण हट जाय तो शान्ति और व्यवस्थित सरकार को बहुत खतरा था, और आज के जमाने में, जो बल को निरुत्साहित और मूलवंशीय राष्ट्रवाद की आकांक्षाओं को प्रोत्साहित करता है, ऐसा नियंत्रण बनाये रखने में अधिकाधिक कठिनाई थी। अरब एकता की बढ़ती हुई भावना और अरब प्रायद्वीप में एक समुष्टित शक्ति के उदय के कारण भविष्य की सम्भावनाएँ काफी चिन्ता का कारण हो सकती हैं।

: १५ :

चीन (१९३० तक)

(China to 1930)

जनरल स्मटस् की उस भविष्यवाणी की सत्यता या असत्यता, जो अध्याय ९ में उद्धृत की गई हैं, अभी सिद्ध नहीं हुई थी, पर पेरिस के शान्ति-सम्मेलन की समाप्ति के बाद पहले चार या पाँच वर्षो में वहाँ अभिव्यक्त विचार के समर्थन में कोई उल्लेखनीय साक्ष्य बताना कठिन होता। निस्संदेह यूरोप ध्यान का केन्द्र और अन्तर्राष्ट्रीय संकटों का उद्गम स्थान था। प्रशान्त महासागर की वे समस्याएँ जो, खतरा प्रतीत होती थीं, १९२१--२ के वाशिंगटन सम्मेलन में शीघ्र और सतोषजनक रीति से हल हो गई मालूम होती थीं। १९२५ की गर्मियों से पहले तक घटना-चक्र में कोई परिवर्तन न हुआ पर हमारे इतिहास के दूसरे काल के साथ पूर्वी एशिया ने विश्व मामलों में स्थान लेना आरम्भ कर दिया जिससे दक्षिण अफ्रीकन राजनीतिज्ञ की भविष्यवाणी उचित सिद्ध होने के आसार दिखाई देने लगे।

इस स्थिति का केन्द्रीय कारक—चीन में मौजूद अराजकता—असल में तो पहले से विद्यमान थी, पर १९२० से १९२५ तक यह चीन की घरेलू राजनीति का प्रश्न मात्र था। हड़ताल और श्रमिक विवाद बहुत होते थे और इनमें आमतौर से आर्थिक बहानों के पीछे राजनैतिक प्रेरक भाव दिखाई देते थे। बोलशेविक प्रचार जो कपटपूर्ण था और लगातार जारी था, तब भी चीन में बढ़ते हुए राष्ट्रवाद को पश्चिमी पूँजीपतियों के प्रभुत्व के विरुद्ध भड़क रहा था। शाश्वत गृह-युद्ध वाणिज्यिक संबन्धों में रुकावट डालता था पर कोई इतना बड़ा अंतर्राष्ट्रीय संकट पैदा नहीं हुआ जो यूरोप की भयजनक समस्याओं से ध्यान हटा सकें। सच तो यह है कि कुल मिलाकर देखा जाय तो देश के व्यापार-सम्बन्धी आँकड़े असाधारण रूप से संतोषजनक रहे।

तो भी जिस समय अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताओं को आवश्यक बनाने वाले प्रश्न पैदा हुए, उस समय चीन की आंतरिक स्थिति एक भयंकर बाधा बन गई, पर अन्य देशों को उनका आशय चाहे जितना अनुग्रहकारी और समझौतापूर्ण हो, तब कोई स्थायी और संतोषजनक समझौता करना कठिन प्रतीत हुआ जब उन्हें ऐसी कोई सरकार न मिली, जो साधारणतया अभिज्ञात और सारे चीन की तरफ से बोलने में समर्थ हो। कुशासन, अराजकता और राष्ट्रवाद की भावना, जो चीन की आबादी के सब लोगों की व्यापक भावना थी, मिलकर शांति के लिए खतरा और समझौते के लिए बाधा बन गये। इसलिए देश की आंतरिक दशा की उपेक्षा नहीं की जा सकती यद्यपि घरेलू राजनीति यथासम्भव इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर रहनी चाहिए, पर पूर्वी एशिया के प्रश्नों पर विचार करते हुए इस पर कुछ ध्यान देना आवश्यक है।

लगभग २२०० वर्ष तक चीन का संविधान अपरिवर्तित रहा था। सम्राट

का शासन प्राविधिकतया निरंकुश था, पर व्यवहार में प्रान्तों पर उसका नियन्त्रण सिर्फ इतना था कि वह राज्य का शासक नियुक्त करता था और केन्द्रीय व्यय की पूर्ति के लिए धन प्राप्त करता था। इस प्रकार सारे साम्राज्य में स्थानीय स्वतन्त्रता बड़ी मात्रा में थी और सम्राट् स्वयं एकत्व की वास्तविक गांठ था।

१९११ की क्रांति द्वारा सरकार की सहस्त्रों वर्षों की परम्परा अकस्मात् और पूर्णतया परिवर्तित हो गई। एक इतने सुविस्तृत देश में, जिसकी ९९ प्रतिशत आबादी निरक्षर थी, पश्चिमी विचारों पर आधारित शासन की संसदीय प्रणाली वाला गण-राज्य रातोंरात कायम हो गया। यह दावा किया गया है कि और किसी पूर्वी देश की अपेक्षा चीन में संसदीय संस्थाओं को अपनाना कम मुश्किल था, क्योंकि अत्याचार-पूर्ण कराधान पर अपरिष्कृत लोक-नियन्त्रण, जातीय बहिष्कार के उपाय द्वारा बहुत समय से बीच-बीच में लागू किया जाता रहा था।[1] उक्त लेखक ने यह सुझाव रखा है कि: 'इस तरह कार्य करने में जनता अज्ञात रूप से संसदीय शासन का सारभूत कृत्य करती थी, अर्थात् इस सिद्धान्त को लागू करती थी कि कराधान जनता की सम्मति से ही किया जा सकता है' पर यह बात संदिग्ध है कि अत्याचार के विरुद्ध ऐसी अविकसित और सहज प्रतिक्रिया राजनैतिक क्षमता का पर्याप्त प्रमाण है।

क्रांति का तात्कालिक प्रभाव अराजकता और अपखण्डन (disintegration) था। जो कड़ी चीन के विस्तृत साम्राज्य को किसी तरह के एकत्व में बाँधे हुई थी, यह नष्ट हो गई। नया आन्दोलन अपनी प्रेरणा सुदूर दक्षिण के कैंटन क्षेत्र के पश्चिमी विचारों वाले बुद्धिजीवियों से प्राप्त करता था। इन बुद्धिजीवियों में सनयात सेनप्रमुख था। यह पेकिंग के शासन-केन्द्र से अत्यधिक दूर था और जो कुछ सम्बन्ध सम्भव था, वह क्रांति के शुरू में सनयात सेन के अध्यक्ष के पद से हट जाने से समाप्त हो गया—सनयात सेन ने पुराने विचारों के एक रूढ़िवादी राजनीतिज्ञ यूआन शिह-काई के पक्ष में, जिसने जब तक सम्भव हुआ तब तक क्रांति का प्रतिरोध किया और जिसका जनता के नियन्त्रण के आगे झुकने का कोई इरादा नहीं था, अध्यक्षपद जिस पर वह निर्वाचित हुए थे, छोड़ दिया। १९१३ में युआन शिह-काई ने कोमिताँग या राष्ट्रीय दल को विघटित और अवैध कर दिया और उसके बाद बिना संसद् के शासन किया। १९१५ में उसने सब दिखावा छोड़ दिया और अपने आप को सम्राट् घोषित कर दिया पर उसे संविधान में परिवर्तन उस समय न करने के लिए मजबूर किया गया और कुछ समय बाद वह मर गया (६ जून १९१६)। उसके बाद राष्ट्रपति बनने वाले ली युआन हुँग ने पुनः संसद् बुलाई पर अगले वर्ष उसे पुनः विघटित कर दिया और इसके बाद कैंटन में सनयात सेन के नेतृत्व में प्रतिद्वन्द्वी संसदीय सरकार बनने से उत्तर और दक्षिण की फूट खुले आम घोषित हो गई। पर तथ्य यह है कि यह राजनैतिक विभेद क्रांति के सारे समय मौजूद रहा था और सच तो यह है कि यह वहाँ की स्थिति में, जो भौगोलिक दृष्टि से यांग्त्से नदी

१. एल्फ्रेड हिपिस्ले का 'चीनी क्रान्ति' पर निबन्ध जो १९१२ में सेन्ट्रल एशियन सोसाइटी में पढ़ा गया था।

द्वारा चीन का पूर्व से पश्चिम की ओर समद्विभाजन करने से प्रकट होती थी, प्रायः एक स्थायी तत्त्व था।

उत्तरी गृहयुद्ध, पहला चरण
(The Northern Civil War, First Stage)

यूआन शिह-काई की मृत्यु के बाद वह सरकार, जो उसके प्रबल व्यक्तित्व के कारण बहुत सीमा तक संगठित रह सकी थी, तेजी से अपने घटक खण्डों में विघटित हो गई। १९२२ में उत्तरी चीन में गृहयुद्ध भड़क उठा और इसका इतिहास प्रतिद्वंद्वी तुचनों (चीनी सैनिक गवर्नरों) के मध्य लगातार बदलती हुई मैत्रियों का विस्मयकारक चित्र बन गया। इस समय इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण मंचूरिया का सैनिक नेता चाग त्सोलिन और वू पेई-फू थे, जिनके एक अधीन अधिकारी फेंग यू-हसियांग को, जो ईसाई सेनापति कहलाता था, शीघ्र ही स्वतन्त्र कुख्याति प्राप्त हुई। गृहयुद्ध के आरम्भिक रुख ने चागत्सो लिन और सनयात सेन को एक अस्वाभाविक मैत्री के लिए मजबूर कर दिया जिससे दोनों में से एक को भी लाभ न हुआ क्योंकि चाग को वू पेई-फू मडली ने पराजित कर दिया और सनयात सेन ने कैंटन लौटने पर यह देखा कि उसका पिछला समर्थक जनरल चेनचिउगंमिग कैंटन पर काबिज हो गया था, और सनयात सेन को अस्थायी रूप से शंघाई लौटने के लिए मजबूर होना पड़ा। वू की विजय का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि भूतपूर्व राष्ट्रपति ली युआन हुंग पुनः अपने पद पर आ गया और पेकिंग में संसद् समवेत हुई। पर उत्तर में वैधानिक सरकार का यह प्रतीयमान पुनःस्थापन अल्पजीवी रहा। नये राष्ट्रपति का लक्ष्य शान्तिपूर्ण मेल-मिलाप द्वारा चीन का एकीकरण था, पर जिन युद्ध-नेताओं ने उसे पुनः अधिष्ठित किया था वे बल में विश्वास रखते थे। इसलिए जून में ली यूआन हुंग के निष्कासन से, वू पेई फू के एक सैनिक साथी त्साओ कुन के राष्ट्रपति नियुक्त होने तक फिर राष्ट्रपति-शून्यता का समय पैदा हो गया। १९२४ में वू ने अपने बलात् एकीकरण के आदर्श का अनुसरण करते हुए हमला शुरू किया, पर फेंग के साथ छोड़ जाने के कारण, जो पेकिंग चला गया और राजधानी का सैनिक नियंत्रण करने लगा, उसे चांगत्सो लिग ने आसानी से हरा दिया और अस्थायी रूप से पीछे हट जाने के लिए मजबूर कर दिया।

कुओमितांग की प्रगति

इसी बीच सनयात सेन १९२३ के वसन्त में कैंटन लौटने में सफल हो गया। उसके साथ सोवियत रूस का सलाहकार माइकेल बोरोडिन था। यद्यपि बोलशेविज़्म के साथ यह गठबंधन दुधारी तलवार सिद्ध होना था, पर इस नीति में सन जैसे क्रांतिकारी को पसंद आने वाली बहुत सी बातें थीं, जो यह देख रहा था कि उसके साथियों का पहला जोश और उत्साह अब आदर की आकांक्षा का रूप ले रहा है। इसके अलावा रूस की ओर झुकना इसलिए भी स्वाभाविक था कि वह अन्य पश्चिमी शक्तियों से अधिक सहायता की आशा नहीं कर सकता था। अपनी वापसी के साल में उसका

कैंटन चुंगीघर पर, बचे हुए राजस्व का एक हिस्सा प्राप्त करने के लिए कब्जा करने के अनुचित प्रयत्न में उनके साथ संघर्ष होना था, और १९२४ में व्यापारी स्वयंसेवक दल द्वारा रचे गये एक षड्यन्त्र के बारे में उसकी सरकार ने जो कार्यवाही की, उस पर उसे ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने चेतावनी दी। पर रूस सनयातसेन की उपलब्ध सेनाओं को दृढ़ करने में बहुत सहायक हो सकता था और रूसी सलाह से और रूसी शिक्षकों के अधीन ही १९२४ में वाम्पोआ सैनिक संस्था शुरू की गई और बोरोडिन तथा उसके साथी कुओमिंतांग के पुनर्गठन में भी सफल हुए और उन्होंने सरकार के साथ इसका सम्बन्ध प्रायः उसी नमूने का कर दिया जिस नमूने का तीसरी इन्टरनेशनल (third international) और मास्को सरकार का सम्बन्ध था। सच तो यह है कि इस स्थिति में पहली बार कुओमिंतांग शब्द देखने वाला व्यक्ति यह आसानी से समझता कि यह 'कौमिंटन' का चीनी लिपि में रूपान्तर मात्र है। अन्तिम बात, पर वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह है कि रूसी कम्यूनिस्ट प्रचार में माहिर थे, और रूसी सरकार से मिलने वाली सहायता चीन तक ही सीमित न थी। मास्को में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया जहाँ सैकड़ों युवक चीनियों को बोलशेविक सिद्धान्तों की शिक्षा दी गई। इस सब सहायता से कुओमिंतांग शीघ्र ही एक उल्लेखनीय और प्रबल शक्ति बन गई।

राष्ट्रीय दल की प्रगति में अगला घटक (यद्यपि यह एक विरोधाभास है) उस के नेता की मृत्यु थी। मार्च १९२५ में सनयातसेन की मृत्यु हो गई। व्यावहारिक और कार्यक्षम नेता के रूप में उसमें बहुत सी त्रुटियाँ प्रकट हुई थीं। उसकी जो उत्कृष्ट चीज़ें थीं अर्थात् उसके राजनैतिक लेख और वे 'तीन सिद्धान्त' जिन पर उसने क्रान्ति को चलाया था, वे उसकी मृत्यु के बाद उसी तरह उपलब्ध थीं। रूसी सलाहकारों ने जो हाल में अपने देश में लेनिन-पूजा के परिणाम देख चुके थे, फौरन संभावनाओं को जाँच लिया। सनयातसेन के शव को औषधियों द्वारा संरक्षित किया गया। उसके आदर की भावना का परिश्रम के साथ प्रचार किया गया। उसके लेख हर जगह प्रसारित किये गये। एक स्थानीय और अनभिज्ञात सरकार के अध्यक्ष की संदिग्ध स्थिति से, वह राष्ट्रीत आकांक्षाओं के लिए, जो सारे साम्राज्य में चीनी लोकमत को संगठित करने वाली एक चीज़ थी, संगठन का प्रतीक बन गया।

शंघाई-कांड

(The Shanghai Incident)

चीन में कम्युनिस्ट प्रभाव शीघ्र ही दिखाई देने लगा। प्रकाश्यतः औद्योगिक विवाद, जिनमें बढ़ते हुए राष्ट्रवाद से उत्पन्न विदेशी-विरोधी आन्दोलन के रूप में राजनैतिक पृष्ठभूमि थी, बढ़ गये, क्योंकि संगठित सरकार के अभाव में राष्ट्रवाद के दावों को पूरा करना असम्भव था। शंघाई नगरपालिका के विवरण से प्रकट होता था कि १९२४ में हुई हड़तालों के परिणामस्वरूप २८६७३० दिनों की हानि हुई। इसी प्रकार अन्य बंदरगाह भी प्रभावित हुए। फरवरी १९५० में शंघाई की एक जापानी मिल में ४० कर्मचारियों की बर्खास्तगी के परिणामस्वरूप एक लम्बा विवाद

चला जिसके साथ हिंसक आन्दोलन, तोड़-फोड़ और हत्या भी हुई। १४ मई को हड़तालियों ने मिल में घुसने का जो जबर्दस्ती यत्न किया उसका मिल के अन्दर स्थित जापानियों ने प्रतिरोध किया और आत्मरक्षार्थ गोली चलाई, जिससे एक हड़ताली मारा गया। ३० मई को मृत हड़ताली की स्मृति में नगर में से जलूस निकाला गया, जो अंत में एक दंगे और पुलिस स्टेशन पर हमले के रूप में परिणत हो गया। इसमें पुलिस ने गोली चलाई जिससे १२ दंगाई मारे गये और १७ घायल हो गये।

इस घटना के प्रायः अविलम्ब बाद शमीन द्वीप पर, जो कैंटन का वह हिस्सा था जिसमें फ्रैंच और ब्रिटिश परिमोक (concessions) थे, एक ऐसी ही घटना हुई। २३ जून को विरोध प्रदर्शन करता हुआ एक विराट जुलूस परिमोक क्षेत्र में से गुजर रहा था कि जुलूस के एक आदमी ने, जो वाम्पोआ सैनिक विद्यालय से आया हुआ था, द्वीप पर गोलियां बरसायीं जिसका यूरोपियन बलों ने तुरन्त जवाब दिया और परिणामस्वरूप ३७ चीनी मारे गये और बहुत से घायल हो गये।

इन घटनाओं की प्रतिक्रिया प्रायः अविलम्ब सारे चीन में हुई। मुख्य रूप से ब्रिटिश लोगों का व्यापक बहिष्कार किया गया और चीनियों ने विदेशी प्राधिकार के उन्मूलन के लिए और अधिक अधैर्य और प्रबलता से मांग की। तथ्य यह है कि यह घटना चीनी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक उल्लेखनीय घटना है।

उत्तर में अराजकता

(Anarchy in the North)

तो भी, यद्यपि यह एक विरोधाभास है, शंघाई और शमीन की घटनाओं से उत्पन्न अंतर्राष्ट्रीय संकट संबद्ध विदेशी शक्तियों द्वारा दक्षिणी सरकार के अभिज्ञान की दिशा में पहला कदम था। कारण कि अब वह अवस्था आ गई थी जब राष्ट्रवादी दावों द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर कोई समझौता कर लेना आवश्यक था और कठिनाई यह नहीं थी कि पक्षों के दृष्टिकोणों के बीच कोई बड़ी भारी खाई है, बल्कि ऐसे जिम्मेवार प्राधिकरण को पाना असंभव था, जिससे वार्ता की जाय। उदाहरण के लिए, १९२२ के वाशिंगटन करारों के अनुपालन में, अक्तूबर १९२५ में चीनी सीमा के तटकरों की भावी स्थिति पर विचार करने के लिए जो सम्मेलन बुलाया गया था, वह इस कारण भंग नहीं हुआ कि उसमें भाग लेने वाले १२ राष्ट्र चीनियों की तटकर स्वायत्तता और मौजूदा संधि प्रतिबन्धों के निराकरण के लिए अनिच्छुक थे, बल्कि इस कारण भंग हुआ कि सम्मेलन की समाप्ति से पहले पेकिंग सरकार का अस्तित्व खत्म हो गया। इसी बाधा के कारण वाशिंगटन सम्मेलन में दिये गये वचनों के अनुसार ही वेइ-हाई-वेइ के समर्पण की अवस्थाएँ पूरी न हो सकीं, पर राज्य-क्षेत्रातीतता (Extra-teritoriality) वाले आयोग ने जो वाशिंगटन सम्मेलन का एक और परिणाम था, वर्ष के आठ महीने पेकिंग में अपना विमर्श जारी रखा।

पेकिंग में वास्तविक कठिनाई उत्तरी गृहयुद्ध के पुनः आरम्भ हो जाने के कारण थी जिसमें साथियों-सहयोगियों में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया था। फेंग यू-ह्सिआंग के साथ छोड़ जाने के कारण वू पेईफू की पराजय के बाद विजेता मंचूरियन

नेता चांग त्सो-लिन ने थोड़ा सा क्षेत्र देकर फेंग की मैत्रीपूर्ण तटस्थता खरीदने का यत्न किया, पर एक ही मास के भीतर उसे भी उसी धोखे का अनुभव मिल गया, जो उसके विरोधी वू को दिया गया था। दिसम्बर १९२५ में चांग के एक सेनापति के विद्रोह का लाभ उठाकर फेंग ने चांग के एक और अधीन सेनापति पर हमला कर दिया था, और उसे तीन्तसिन से खदेड़ दिया था। इसलिए वू पेई फू और चांगत्सो-लिन विश्वासघाती 'ईसाई सेनापति' को मजा चखाने के उद्देश्य से एक से रोष के कारण अस्थायी रूप से अस्वाभाविक मैत्री के लिए मजबूर हो गये। इस नये संयोजन को देख कर फेंग यू हसिआंग ने मास्को चले जाने के लिए यह मौका उपयुक्त समझा, पर अप्रैल १९२६ में इसके नेताहीन सैनिकों के पेकिंग से निकलने से पहले उन सैनिकों ने सरकार के प्रमुख तुआन ची-जुई को पदच्युत कर दिया, और उसके तीन्तसिन चले जाने से उसके पीछे पूर्ण राजशून्यता हो गई। युद्ध की एक आरम्भिक अवस्था में गृहयुद्ध के कारण विदेशियों के लिए उत्पन्न कठिनाइयों का एक उदाहरण ताकू किले की घटना से प्रस्तुत हुआ था, जब तीन्तसिन के निकट विदेशी जहाजों पर गोली चलाई गई थी और यह खबर भी मिली थी कि पोतगाह के प्रवेश द्वार पर सुरंगें डाली गई हैं। राजनयिक निकाय (diplomatic body) के विरोध प्रदर्शन पर सरकार ने बहुत नरम जवाब दिया, पर इस घटना से प्रकाश्य प्राधिकरण की निबलता और उससे वार्ता का यत्न करने की निष्फलता ही प्रकट होती थी।

दक्षिणी सरकार की प्रगति और अभिज्ञान

(Progress and Recognition of the Southern Government)

दूसरी ओर दक्षिण में, यद्यपि जिस स्थिति में विदेशी लोग हो गये थे वह कहीं अधिक गम्भीर थी और इसलिए उस पर अविलम्ब ध्यान देने की आवश्यकता थी, पर आन्दोलन की पीठ पर एक ठोस संगठन था, चाहे वह कितना ही नापसंद हो और उसकी नीति के पीछे एक समझ में आने वाला प्रयोजन था।

रूसी प्रतिनिधियों द्वारा निरूपित बोलशेविज्म के अंश ने निस्संदेह वार्ता की कठिनाई को बढ़ा दिया, क्योंकि वह सुनिश्चित रूप से चीन और पश्चिमी शक्तियों के आपसी सम्बन्ध बिगाड़ने पर तुला हुआ था, पर राष्ट्रवादियों के दावे समझौते के मार्ग में कोई अलंघ्य बाधाएँ नहीं प्रस्तुत करते थे और हर सूरत में बातचीत करने के लिए वहाँ एक ठोस प्राधिकरण था, छायामात्र नहीं।

दक्षिणी या राष्ट्रीय सरकार का सितारा चढ़ती पर था। च्यांगकाई शेक के नेतृत्व में, जो पहले वाम्पोआ सैनिक विद्यालय का अधिष्ठाता था, इसकी सेनाओं को उत्तरी युद्ध-नेताओं के विरुद्ध हमले में तीव्र प्रगति करने में सफलता हुई। अगस्त १९२६ में उन्हें फेंगयू हसिआंग के रूप में एक उल्लेखनीय साथी मिल गया, जिसकी मास्को यात्रा या उसकी लाक्षणिक अवसरवादिता उसे कोमिन्तांग का सदस्य बन जाने के लिए प्रेरित करती थी। वर्ष के अन्त तक वूपेईफू और उसके साथी सुन चुआन फांग स्थिति के गम्भीर घटकों के रूप में व्यवहारतः समाप्त किये जा चुके थे। दक्षिणी सेनाएँ यांगत्से के दोनों ओर हूपेह प्रान्त पर अधिकार कर चुकी थीं और १९२७ के

नव वर्ष दिवस (१ जनवरी) को राष्ट्रीय सरकार ने एक आदेश जारी करके अपनी राजधानी बृहत्तर हैंको (Greater Hanko) को स्थानान्तरित कर दी, और उसका नया नाम वूहान (Wuhan) रख दिया।

इन परिस्थितियों में राष्ट्रीय सरकार के साथ वार्ता की दशा में पहले पग दिसम्बर १९२६ में उठाए गए, जब ब्रिटिश दूत श्री लैंप्सन (Mr. Lampson) कोमितांग विदेश मन्त्री श्री यूजीन चेन (Eugene Chen) से मिले और उन्होंने हैंको में उनके साथ बातचीत की। राष्ट्रवादियों ने जून के आरम्भ से अपनी वार्ता करने की तत्परता प्रकट की थी, जब कैंटन में विदेशियों का बहिष्कार समाप्त करने के प्रयत्न किये गये थे, और वह बहिष्कार अंत में अक्तूबर में समाप्त हो गया था। दोनों पक्षों के संबन्धों में हुए इस सुधार पर नवम्बर में तीन्तसिन (Tientsin) में ब्रिटिश परिमोक क्षेत्र में हुई एक घटना से स्थायी बिगाड़ नहीं पैदा हुआ, जिसमें कोमिनतांग से संबद्ध १४ व्यक्ति राजद्रोहात्मक कार्यों के आरोप में गिरफ्तार किये गये और उत्तर के प्राधिकारियों को सौंप दिये गये थे। इस घटना पर राष्ट्रीय सरकार ने विरोध प्रदर्शन किया पर ब्रिटिश अधिकारियों का कार्य राजनयिक दृष्टि से सही था। हैंको में हुई बातचीत के अविलम्ब बाद वाशिंगटन संधि शक्तियों के पेकिंग स्थित प्रतिनिधियों को एक ब्रिटिश ज्ञापन भेजा गया जिसमें राष्ट्रवादी आन्दोलन का सहानुभूतिपूर्वक उल्लेख किया गया था और संधि के संशोधन तथा अन्य प्रमुख प्रश्नों पर वार्ता करने की इच्छा प्रकट की गई थी और जनवरी १९२७ में हैंको और पेकिंग, दोनों स्थानों पर चीनी विदेश मन्त्रियों को एक वक्तव्य भेजा गया, जिसमें संधि में किये जाने वाले उन परिवर्तनों का उल्लेख था जिन पर ब्रिटिश सरकार विचार करने को तैयार थी।

हैंको और क्यूकियांग में ब्रिटिश परिमोकों का अतिक्रमण

(Violation of British Concessions at Hankow and Kiukiang)

मेल-मिलाप के इन प्रमाणों के बावजूद राष्ट्रवादी दल को स्वभावतः विदेशियों के विरुद्ध किये गये बहुत काफी आन्दोलन के साथ ही सफलता मिली थी। अक्तूबर १९२६ में बृहत्तर हैंकों पर आधिपत्य के बाद अधिकतर मजदूर फौरन मज़दूर संघों में भर्ती किये गये। यह एक ऐसा कार्य था जिससे न केवल मजदूरियों में विनाशकारी वृद्धि हो गई, बल्कि इसके साथ हड़ताल पर हड़ताल होने लगी और इसकी परिणति एक व्यापक विदेशी बहिष्कार में हुई पर वह वास्तव में सिर्फ जापानियों के विरुद्ध लागू किया गया। दिसम्बर में श्री लैंप्सन के पहुँचने से घटनाचक्र दूसरी ओर मुड़ गया और विशेष रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध हो गया। बोरोडिन (Borodin) इस नीति-परिवर्तन का पक्षपाती था और इसमें रूस का हाथ स्पष्ट था। परिणामतः ३ जनवरी १९२७ को बोरोडिन द्वारा भड़कायी गई एक बड़ी भीड़ ने ब्रिटिश परिमोक (British Concession) में घुसने की कोशिश की और उसे ब्रिटिश नौसैनिकों का एक घेरा डालकर ही रोका जा सका—इन नौसैनिकों ने ईंटों और पत्थरों की लगातार वर्षा में बड़े धैर्य का परिचय दिया; एक भी गोली नहीं चलाई गई, एक भी चीनी नहीं मारा गया, तो

भी परिमोक की सफलतापूर्वक रक्षा की गई; पर दो दिन बाद बस्ती की प्रतिरक्षा चीनियों को सौंप दिये जाने पर भीड एक जगह से घुसने में सफल हो गई और उसी सायंकाल परिमोक की अधिकतर स्त्रियों और बच्चों को बाहर भेज दिया गया। क्यूकि-यांग में ४ जनवरी को ऐसा ही संकट पैदा हुआ था, यद्यपि इस घटना में स्त्रियों और बच्चों को भीड़ के हमले से पहले बाहर भेज दिय गया था, तो भी इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं थी कि इन घटनाओं का उत्तेजन और अनुमोदन कोमिंतांग के सिर्फ़ वाम पक्ष (Left Wing) ने किया था, जिसका नियंत्रणकारी प्रभाव पहले से ही घटने लगा था। श्री यूजेन चेन (Eugene Chen) विदेश मंत्री ने तत्काल ब्रिटिश परिमोकों और उनके निवासियों की रक्षा करने के लिए प्रबल कार्यवाही की और कुछ ही दिनों के भीतर हैंकों में श्री चेन और ब्रिटिश उपदूतावास के कौंसलर श्री ओ मैली (Mr. O' Malley) के बीच, जिन्हें उनके उच्च अधिकारी सर माइल्स लेम्पसन ने इसी प्रयोजन के लिए भेजा था, बातचीत शुरू हुई, पर बातचीत शुरू होने के शीघ्र बाद ब्रिटिश सरकार ने शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती की सुरक्षा के लिए सर जौन डंकन की कमान में सेना के तीन ब्रिगेड नगर में भेजने का आदेश दे दिया। राष्ट्रीय सरकार ने इस कार्य पर रोष प्रकट किया और इसे अपने विरुद्ध बल-प्रयोग का कार्य माना। इसलिए जब करार तैयार हो गया, उसके बाद श्री चेन ने उसपर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। पर कुछ समय बाद वार्ता फिर जारी हो गई और अन्त में श्री चेन तथा श्री ओ मैली ने एक करार पर हस्ताक्षर कर दिये और उसके अनुसार हैंको परिमोक एक नये चीनी प्रशासन को सौंप दिया गया और उसके विनियम (regulations) ब्रिटिश दूत को सूचित करना निश्चित हुआ। इस करार से अन्य परिमोकों और संधि वाले बंदरगाहों में रहने वाले विदेशी समाज में बहुत भय पैदा हुआ, पर इसे कोमिंतांग के उग्र पक्ष ने भी, जिसने बिना शर्त आत्म-समर्पण की आशा की थी, उतना ही नापसन्द किया।

कामिंगतांग में कम्युनिस्ट-विरोधी फूट
(Anti-Communist Split in the Kuomintang)

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, कुछ समय से कोमिंगतांग दल में आंतरिक मतभेद चल रहे थे। एक वर्ग रूसी अभिभावकता और कम्यूनिज्म का विरोधी था और दूसरा वर्ग वह वाम पक्ष था जिसे बोरोडिन और उसके साथियों ने सफलतापूर्वक बोलशेविक सिद्धान्तों का अनुयायी बना लिया था। कम्यूनिस्ट प्रभावों का सबसे प्रबल विरोधी सैनिक नेता च्यांग काई शेक था। मार्च १९२६ में ही बोरोडिन की कैंटन से अस्थायी अनुपस्थिति के दिनों में चीनी कम्यूनिस्टों और रूसी मंडल को नगर से बाहर निकालने का यत्न किया था, पर बोरोडीन ऐन वक्त पर लौट आया और उसने च्यांग के यत्न को विफल कर दिया, और उसे अपने साथियों का तख्ता पलटने के लिए सफलतापूर्वक प्रेरित किया और उसके बदले में आयोजित उत्तरी आक्रमण का समर्थन करने की प्रतिज्ञा की। १५ मई को एक दलीय सम्मेलन में च्यांग काई शेक की, कम्यूनिस्टों को केंद्रीय संगठन में विभागाध्यक्षों के रूप में सेवा के अयोग्य करार देने वाला संकल्प और अन्य प्रकार से चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी के क्रिया-कलापों को

नियंत्रित करने के संकल्प पास कराने में सफलता मिली, पर व्यवहारतः ये प्रस्ताव च्यांग की झेंप मिटाते थे और उनसे बोरोडिन को कोई खास रुकावट नहीं पड़ती थी—यह कहा जा सकता है कि प्रतियोगिता में पहला दौर बोरोडिन ने जीत लिया था। १९२७ के आरम्भिक भाग में कोमिंगताग के वाम पक्ष ने अपनी सफलताएँ जारी रखीं। हैंको और क्यूकियांग की घटनाओं का यह अर्थ लगाया गया है कि उनका मुख्य उद्देश्य च्यांगकाई शेक और उसके साथियों को एक महान् योरोपीय शक्ति के साथ संघर्ष में डालकर उन्हें हैरानी में डालना था। नानचांग में च्यांग के कार्यालय के बजाय हैंको में दस मार्च को एक बैठक में पार्टी के कम्यूनिस्ट वर्ग को एक और विजय प्राप्त हुई जिससे वे पार्टी के केन्द्र और दक्षिणपंथी सदस्यों (the Centre and the Right of the Party) द्वारा असेम्बली के बहिष्कार के कारण लाभ उठा सके—उन्होंने च्यांग-काई शेक को मुख्य सेनापति के पद से हटाने का एक संकल्प स्वीकार किया और सरकार ने १७ अप्रैल को औपचारिक रूप से इस विनिश्चय का अनुसमर्थन कर दिया। पर शंघाई में, जो इसी बीच उसके हाथों में आ गया था, जनरल च्याग ने बल से कम्यूनिस्टों को दबाने के लिए जोरदार कार्यवाही की, और १५ अप्रैल को नानकिंग में उसने एक प्रतिपक्षी कोमिंगतांग सरकार की शुरुआत की। हैंको सरकार ने उसे पार्टी से निकाल दिया और उसके स्थान पर फेंग यू हसियांग को मुख्य सेनाधिकारी नियुक्त कर दिया। तो भी नानकिंग सरकार को समुद्री किनारे के दक्षिणी प्रान्तों की निष्ठा प्राप्त करने में सफलता हुई और इसकी प्रतिद्वंद्वी सरकार की स्थिति तब डगमग प्रतीत होने लगी जब उसने अपनी नीति एकाएक परिवर्तित कर दी और रूसी मंडल तथा उसके अनुयायियों को निकालने के आंदोलन से अपने को संबंधित कर लिया। इस परिवर्तन का पहला संकेत जनरल फेंग द्वारा हैंको सरकार को भेजा गया एक तार था, जिसमें कम्यूनिस्टों को निकालने की माग की गई थी, और जो, जिनको वह प्रकाश्यतः भेजा गया था उनके साथ, कपटसंधि करके भेजा गया माना जाता है। पर इसका वास्तविक कारण सोवियत षड्यन्त्र का वह भंडाफोड, पेकिंग मे अप्रैल के महीने मे उत्तरी संयुक्त सरकार द्वारा पकड़े गये और प्रकाशित किये गये लेख्यों से हुआ, और बोरोडिन को मास्को से भेजे गये उन गुप्त आदेशों का जून में पता लग जाना, प्रतीत होता है, जिनमें उसे न केवल यह हिदायत दी गई थी कि वह हैको सरकार से बिना पूछे-ताछे, किसानों द्वारा जमीन पर जबर्दस्ती अधिकार को बढ़ावा दे, बल्कि यह भी कहा गया था कि वह ऐसे कार्य करे जिनसे कोमिंगतांग का स्थान, क्रमशः, चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी ले ले। इन उद्घाटनों ने हैंको सरकार और च्यांगकाई शेक के विचार एक कर दिये और जुलाई के मध्य में चीनी कम्यूनिस्ट बड़े पैमाने पर गिरफ्तार कर लिये गये तथा बोरोडिन और उसके साथी रूस वापस भेज दिये गये।

इस नीति परिवर्तन का एक अप्रत्याशित परिणाम, जिसने पार्टी का पुनः एकीकरण और राजधानी का नानकिंग को स्थानांतरण संभव कर दिया, च्यांगकाई शेक का अस्थायी विलोप हुआ, जिसे हटाने का हैंको के नेता आग्रह करते रहे; और अगस्त में वह अपने कार्य का स्पष्टीकरण करने वाली दो लम्बी उद्घोषणाए

(Proclamations) जारी करने के बाद जापान चला गया। पर नवम्बर में वह शंघाई लौट आया। एक दिसम्बर को उसने वित्त मंत्री श्री टी० बी० सुङ्ग की तथा श्रीमती सनयात सेन की बहन से विवाह किया, और १० दिसम्बर को वह मुख्य सेनापति के पद पर पुनः नियुक्त कर दिया गया।

वह पुनः सत्तारूढ़, सम्भाव्यतः कुछ सीमा तक, उन उपद्रवों के विरुद्ध व्यापक प्रतिक्रिया के कारण हुआ, जो इस बीच दक्षिण में हो रहे थे। कैंटन शुरू से च्यांग-काई शेक की कम्यूनिस्ट-विरोधी नीति के साथ रहा था और उसने अप्रैल में ही स्था-नीय आन्दोलन को प्रबलता से दबाया था पर हैंको सरकार की नीति का आकस्मिक परिवर्तन उस सरकार की सेवा में नियुक्त कुछ सेनापतियों के विचार के अनुकूल नहीं था और सितम्बर में उनमें से कुछ दक्षिण में आये और उन्होंने क्वांतुंग प्रान्त के एक हिस्से में कम्यूनिस्ट शासन स्थापित कर दिया जिससे उन्हें पूरी तरह न हटाया जा सका। दिसम्बर में एक 'लाल सेना' इन सेनापतियों में से एक के नेतृत्व में आगे बढ़ती हुई कैंटन नगर में प्रविष्ट होने में सफल हो गई, जहाँ इसने गम्भीर कम्यूनिस्ट विद्रोह आरम्भ कर दिया और कुछ समय के लिए आतंक का राज्य पैदा कर दिया। पर इसके बाद उपद्रव को निर्दयतापूर्वक दबा दिया गया, जिसमें अनुमानतः २००० से कम आदमी नहीं मरे। ऐसे उग्र रूप में खतरा देखकर सरकार का ध्यान स्वभावतः उस शक्तिशाली पुरुष की ओर गया जिसने इसे सबसे पहले दूर से देख लिया था, और च्यांगकाई शेक ने अपनी पुनः नियुक्ति पर रूसी प्रभाव और उसके समर्थकों को पूरी तरह समाप्त करने के लिए तुरन्त प्रबल कार्यवाही की।

चाँग त्सोलिन का अन्त

(The End of Chang Tso-Lin)

इसलिए १९२७ के अन्तिम दिनों में राष्ट्रीय सरकार फिर एक बार संयुक्त हो गई और उसने चांग त्सोलिन के साथ, जिसके मुख्य साथी इस समय तक समाप्त हो चुके थे, संघर्ष का अंतिम दौर शुरू करने की तैयारी कर ली। शंघाई पर राष्ट्रीय सेना ने मार्च में अधिकार कर लिया। सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती जिसकी रक्षा ब्रिटिश प्रति-रक्षा बल कर रहा था और जिसमें सौभाग्य से कोई गम्भीर टक्कर नहीं हुई, उसके आधिपत्य से बाहर रही। दूसरी ओर २३-२४ मार्च को नानकिंग पर आधिपत्य के समय विदेशियों पर भयंकर अत्याचार हुए जो संभाव्यतः च्याँगकाई शेक को परेशानी में डालने के विचार से जानबूझ कर कराये गये प्रतीत होते थे—च्यांगकाई शेक उस समय वहाँ नहीं पहुँचा था और उसने उन घटनाओं के लिए दुःख प्रकट किया। वर्ष के अन्त तक उत्तरी सेनाएँ प्रायः शान्तुंग और चिहली के प्रान्तों तक सीमित रह गई क्योंकि फेंग यू हसियांग होनान पर कब्जा किये हुए था, और राष्ट्रीय सेनाओं को बढ़ता देखकर शांसी के गवर्नर येन हसी शान ने, जिसे आमतौर से 'आदर्श तुचुन' (the Model Tuchun) कहा जाता था, तटस्थता त्याग देने और अपना भाग्य कोमिंतांग के साथ एक कर देने का निश्चय किया। अप्रैल १९२८ में व्यापक अभियान शुरू हुआ,

और नौ मई को चांग त्सोलिन ने अपने संघर्ष से पृथक् हो जाने का ऐलान कर दिया। जापानियों द्वारा दोनों पक्षों को १८ मई को भेजे गये एक पत्र के कारण जिसमें यह चेतावनी दी गई थी कि यदि उपद्रव पेकिंग और तींतसिन के और अधिक निकट पहुँचे तो व्यवस्था कायम रखने के लिए हमें हस्तक्षेप करना पड़ सकता है, उसे पेकिंग से जल्दी रवाना होना पड़ा। उन्होंने चांग त्सोलिन पर मंचूरिया की ओर हट जाने के लिए और दबाव डाला और साथ ही तींतसिन में अपनी फौजी टुकड़ी को कुमुक पहुँचा कर बहुत प्रबल कर दिया। तदनुसार चांग त्सोलिन ने २ जून को पेकिंग खाली कर दिया और वह मंचूरिया चला गया पर जापानियों ने दक्षिण मंचूरियन रेलवे लाइन के नीचे से पार जाते समय मुकदन के पास उसकी गाड़ी उड़ा दी और चांग स्वयं मारा गया। इस घटना का कारण ज्ञात नहीं है पर चीन में इसके लिए खुले आम जापानियों को जिम्मेवार ठहराया जाता था।

त्सीनानफू की घटना
(The Tsinanfu Incident)

पर च्यांग काई शेक को पेकिंग में सबसे पहले प्रवेश करने का गौरव न मिल सका। यह सम्मान ८ जून को येन को मिला। जैसा कि पिछले पैरे में संकेत किया जा चुका है, जापानी, कार्यवाही का स्थल उन प्रदेशों में आ जाने के कारण जिन्हें वे अपने विशेष स्वार्थ-क्षेत्र मानते थे, चिंतित हो गये थे और उनकी नीति अप्रैल १९२७ में बैरन शिदेहारा की सरकार के त्यागपत्र और उसके स्थान पर बैरन तनाका की सरकार के प्रतिष्ठित हो जाने पर निश्चित रूप से अधिक उग्र हो गई थी। मई १९२७ में शांतुंग में एक प्रतिरक्षा सेना भेजी गई थी, जिसने न केवल त्सिंगताओ के संधि वाले बन्दरगाह पर बल्कि त्सीनानफू पर भी आधिपत्य कर लिया, जो तींतसिन-पूको और त्सिंगताओ-त्सीनानफू रेल-मार्गों का—जो दोनों चीनी संपत्ति थे-जंकशन था। इस कार्यवाही पर चीन ने विरोध प्रदर्शन किया और १९२७ की गर्मियों में जापान-विरोधी बहिष्कार हुआ पर घटनास्थल पर कोई वास्तविक गड़बड़ी नहीं हुई और सितम्बर में जापानी सेनाएँ शांतुंग से हटा ली गईं। पर अप्रैल १६२८ में फिर कार्यवाही होने पर वे पुनः वहां लाई गईं और २-३ मई को च्यांगकाई शेक की सेनाएँ पहुँचने पर टक्कर हुई जिसकी जिम्मेवारी के बारे में जबर्दस्त विवाद हुआ। परिणामतः जापानी सेनापति ने जबर्दस्त आक्रमण शुरू कर दिया। उसने चीनी सेनाओं की मुख्य टुकड़ी को नगर से लगभग सात मील दूर खदेड़ दिया और शेष को नगर में बमबारी करके बाहर निकाल दिया, जिसमें नागरिक आबादी के बहुत से लोग हताहत हुए। इस घटना पर नानकिंग सरकार ने जापान से विरोध-प्रदर्शन किया और उन्होंने ११ मई को तार द्वारा राष्ट्र-संघ को भी सूचित किया, पर उन्होंने जापानी-विरोधी भावना के प्रकाशनों को रोक कर संयम से काम लिया।

गृह-युद्ध का अन्त
(End of the Civil War)

६ जुलाई १६२८ को तीनों राष्ट्रीय सेनापतियों ने पेकिंग के पास पश्चिमी

पर्वतों में सनयातसेन की आत्मा के समक्ष युद्ध की सफल समाप्ति की घोषणा करने के लिए किये गये एक उत्सव में भाग लिया। स्वर्गीय नेता ने लोकतंत्र की दिशा में राष्ट्र की प्रगति के लिए तीन अवस्थाएं निर्धारित की थीं; पहली या सैनिक संघर्ष की अवस्था अब समाप्त हो गई थीं; अभिभावकता की अवस्था अब शुरू होती थी और इसके बाद लोकप्रिय शासन की अंतिम अवस्था का उचित समय आता। इस भावना से कोमिंगतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने अक्तूबर १९२८ में एक संविधान प्रख्यापित करके च्यांगकाई शेक के राष्ट्रपतित्व में एक कार्यपालक यूआन या मंडल (board) तथा चार अन्य मंडल—विधायक, न्यायिक, लोकपरीक्षक (public examiners) और सेंसरशिप स्थापित किये। वित्तीय पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया गया और सशस्त्र बलों के सैन्य-विघटन की दिशा में कार्य शुरू किया गया।

मंचूरिया की स्थिति
(Status of Manchuria)

चीन के सारे प्रदेश पर अब एक एकीकृत शासन था, पर मंचूरिया को शामिल करने के सवाल पर जापानियों ने अविलम्ब विरोध किया। चाँगत्सोलिन का पुत्र और उत्तराधिकारी 'तरुण सेनापति' चांग सुएह-लिआंग पहले से राष्ट्रीय सरकार के साथ एकीकरण से सहानुभूति रखता था, पर १८ जुलाई १९२८ को उसे जापानियों ने चेतावनी दी कि मंचूरिया को चीन से मिला देने से हमारे हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है, पर ब्रिटिश लोक-सभा में सर आस्टिन चैम्बरलेन ने घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार मंचूरिया को चीन का हिस्सा मानती है और अगस्त में बैरन तनाका ने यह स्पष्ट कहा कि एकीकरण का विरोध करने का हमारा इरादा नहीं है, यद्यपि मैं इसका समर्थन नहीं कर सकता। इन परिस्थितियों में चाँग सुएह-लियांग अक्तूबर में १६ नये राज्य परिषदों (State Councillors) में से एक नियुक्त किया गया और दिसम्बर १९२८ के अन्त में मंचूरिया में कोमिंगतांग का झंडा फहरा दिया गया।

१९२९-३० के उपद्रव
Disturbauces of 1929-30

पर अब तक शान्ति स्थापित नहीं हुई थी। १९२९ के वसन्त में च्यांगकाई शेक और फेंग यु-हसियांग में जिसे कोमिंगतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने २३ मई को पार्टी से निकाल दिया था, झगड़ा हो गया। इस वर्ष वास्तविक युद्ध होते-होते रह गया। पर अप्रैल १९३० में च्यांगकाई शेक के दो पुराने साथियों, येन और फेंग, ने उसके विरुद्ध विद्रोह शुरू कर दिया, जिसे चाँग सुएह-लियांग की सहायता से वर्ष की समाप्ति से पहले परास्त कर दिया गया। दोनों वर्षों में दक्षिण में कुआँगसी गुट ने, जिसका नेता चांग फेई क्वेई था, गड़बड़ पैदा की, और गृह-युद्ध में प्रयुक्त सैनिकों के विघटन के कारण डकैती बहुत बढ़ गई। व्यापक अकाल ने सरकार की मुसीबतें और बढ़ा दीं और उसकी सारे देश को नियंत्रित करने की संभावनाएं १९३० के अन्त में बहुत आशाजनक नहीं प्रतीत होती थीं।

भाग ३
समवसाद का काल
१९३० से १९३९

१६३० में संसार की स्थिति

(The World in 1930)

इस पुस्तक के पहले संस्करण में १६३० से शुरू होने वाले अन्तिम भाग का शीर्षक सिर्फ 'संकट का काल था'। जब १९३८ में मैंने इसे फिर ठीक और अद्यावधिक (upto-date) करना आरम्भ किया तब चार और महत्त्वपूर्ण वर्षो के अनुभव से मैं स्वयं को इसे निश्चित रूप से 'समवसाद का काल' (The Period of Collapse) कहने के लिए मजबूर महसूस करने लगा। मैने आशा की थी कि शायद अब अच्छा समय आने वाला है, लेकिन मेरी आशा मृग-मरीचिका ही सिद्ध हुई। १९१४-१८ की लड़ाई के बाद जो समझौता हुआ और उसमें युद्ध को उन्मूलित करने के लिए जो तन्त्र बनाया गया, वह भग्न हो चुका था। उस काल को 'युद्धोत्तर-काल' कहना एक कटु व्यंग प्रतीत होता था। लड़ाई, पूर्व मे और पश्चिम मे, पहले ही भड़क चुकी थी और बहुत से राष्ट्र जो प्राविधिकतया अभी युद्धरत नहीं थे, उस आदमी की तरह युद्ध से बचे हुए थे जो अपने सिर पर डाकू का पिस्तौल होने के कारण अपनी सम्पत्ति समर्पित कर देता है। हॉब्स ने जिस अर्थ पर बल दिया है उस अर्थ में तो हम पहले ही युद्धरत थे।

> युद्ध सिर्फ लड़ाई या मारकाट को नहीं कहते, बल्कि उस समय को भी कहते हैं जिसमें युद्ध द्वारा अपने पक्ष को प्रतिपादित करने का संकल्प काफी तौर से विदित हो......जैसे बुरा मौसम वह ही नहीं है जिसमें वर्षा की एक-दो बौछार पडे, बल्कि वह भी है जिसमें लगातार कई दिन तक बौछार पड़ने की संभावना दिखाई दे। इसी प्रकार युद्ध वास्तविक मारकाट ही नहीं है, बल्कि उस सारे समय में युद्ध करने की ज्ञात प्रवृत्ति भी युद्ध है जब इससे विपरीत करने के लिए कोई आश्वासन नहीं है।[1]

तो भी जब निरस्त्रीकरण सम्मेलन के प्राथमिक आयोग (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) ने अपना कार्य समाप्त किया और दुनिया एक बार फिर साँस लेने के लिए खड़ी हुई, तब शुरू में यह प्रतीत होता था कि पूर्ववर्ती पंचाब्दी को यशस्वी बनाने वाला कोई प्रगति का संतोष-जनक कार्य किया जा सकेगा। योरोप में क्षतिपूर्ति की समस्या यंग योजना (Young Plan) के अंगीकार से अन्तिम रूप से तय हो गई मानी जाती थी (मई १६३० : देखो अध्याय १७)। जर्मनी के साथ सम्बन्धों में सुधार का एक और संकेत यह था कि विजेता शक्तियों के सैनिक बलों ने राइनलैंड पूरी तरह खाली कर दिया था। निरस्त्रीकरण के मामले में अभिसमय का एक मसविदा बनाया गया था—यद्यपि दुर्भाग्य से इस पर सर्व-सम्मति नहीं हुई थी—१६३२ में होने वाले सम्मेलन के लिए इसके एक उपयोगी आधार बनने की आशा थी, उसी समय अस्त्रों के परिसीमन की दिशा में संसार की तीन प्रमुख समुद्री शक्तियों ने लंदन में की गई नौसैनिक संधि में

१. लेवियाथन, अध्याय १३।

प्रचुर प्रगति की। केलौग संधि की व्यापक स्वीकृति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में से युद्ध के विलोपन के मार्ग में एक महत्त्वपूर्ण अवस्था की रचना प्रतीत होती थी तथा इस समस्या में एक और योगदान 'अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारों के लिए बनाये गये व्यापक अधिनियम' (General Act for the Pacific Settlement of International Disputes) औरों के प्रवेश के लिए खोल देने से और ऐसी प्रस्थापनाओं से हुआ, जैसे वित्तीय सहायता का अभिसमय (Convention for Financial Assistance)। रूस में १९२७-२८ में जिनोवीव और उसके साथियों के पतन और निष्कासन से यह मालूम होता था कि अन्य देशों के घरेलू मामलों में प्रचार द्वारा दखलंदाजी की नीति, जो थर्ड इंटरनेशनल अपनाये हुए था, निश्चित रूप से त्याग दी गई थी, और १९२८ से सोवियत सरकार देश के औद्योगिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजना में उठाये गये कार्यों में ही मुख्यतया व्यस्त थी। पूर्वी एशिया में उनके कार्यक्षेत्र में कम्युनिस्ट प्रचार रूसी एजेंटों के निष्कासन और उनके शिष्यों के बलपूर्वक दमन से एक साथ ही रुक गया था। अन्तिम बात यह है कि रूसियों ने १९२७ के अन्त से निरस्त्रीकरण आयोग में अपने प्रतिनिधियों की उपस्थिति द्वारा एक बार फिर यूरोप के सभामंच पर सहयोगितापूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया था।

अमेरिका की घटनाएँ भी ऐसी ही संतोषजनक प्रगति के चिह्न प्रदर्शित करती थीं। १९२८ के छठे अखिल अमेरिकन सम्मेलन (Pan American Conference) में मैक्सिको के प्रस्ताव द्वारा केलौग संधि (Kellogg Pact) की पेशबन्दी की गई थी और उसके बाद १९२९ में संराधन और विवाचन (Conciliation and Arbitration) के लिए हुए सम्मेलनों द्वारा उनकी पूर्ति की गई थी। टाकना-विवाद पर लम्बी और कठिन बातचीत १९२९ की संधि के रूप में समाप्त हुई। पेरू, कोलम्बिया सीमा अगस्त १९३० में परिसीमित कर दी गई और कुछ ही समय बाद उस प्रदेश में पैदा होने वाले उपद्रव अभी समय के गर्भ में थे। बोलीविया और पैराग्वा का संघर्ष कुछ समय के लिए शान्त हो गया था, और खुली लड़ाई की गम्भीर अवस्था आने में अभी कुछ समय था। निकारागुआ का झगड़ा तय हो गया और यूनाइटेड स्टेट्स ने आर्थिक साम्राज्यवाद की उस नीति का त्याग कर दिया जितने पंचाब्दी के शुरू के हिस्से में ग़लतफहमियाँ पैदा की थीं। १९२९ के पतझड़ तक यूनाइटेड स्टेट्स में प्रत्यक्षतः अनुपम समृद्धि रही थी जिसके कारण वह यथेष्ट और वांछित ऋण देकर योरोप की आर्थिक कठिनाइयों को कम कर सका था।

मध्यपूर्व में जनवरी १९३० में फैजल उद्दविश के समर्पण ने योरोपीय अधिदेष्टा शक्तियों के विरुद्ध जिहाद का खतरा समाप्त कर दिया था। सीरिया का झगड़ा समाप्त प्रतीत होता था और इस क्षेत्र के लिए एक संविधान के प्रख्यापन से स्पष्ट प्रगति का पता चलता था। ईराक में एक नई संधि उस राज्य की, अधिदेष्टा बन्धनों से स्वतन्त्रता और राष्ट्रसंघ की सदस्यता की अर्हता की दिशा में प्रगति की एक और तथा अन्तिम अवस्था को सूचित करती थी। मिस्र में संधि के लिए नई बातचीत अभी चल रही थी और उसका सन्तोषजनक परिणाम निकलने की बड़ी आशा

थी। फिलस्तीन में अभी हाल में बडी गड़बड़ी हुई थी, पर अब वह शान्त था।

अंततः, पूर्वी एशिया में आखिरकार एकीकृत चीन का अंकुर मौजूद था। इस प्रकार, सारी दुनिया में उस समय ऊपर से देखने पर सन्तोष के लिए ठोस आधार दिखाई पड़ता था।

इसलिए यह बात आश्चर्यजनक हो सकती है कि यह १९३० का वर्ष, जिस वर्ष ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने युद्ध का खतरा 'प्रायः शून्य' बताया था, वह वर्ष था जिसमें युद्ध की शक्य या संभाव्य पुनरावृत्ति की छाया पहली बार संसार पर छाने लगी। सारे योरोप में, जैसा कि उस काल के अंग्रेज पर्यटक बताते थे, युद्ध की सन्निकटता बातचीत का एक मुख्य विषय थी। यह निरी दायित्वहीन अफवाह न थी। ज़ूरिच के डा० सोमरी जैसे प्रसिद्ध वित्तशास्त्री आर्थिक लक्षणों पर विचार करके ऐसे ही गम्भीर निदान पर पहुँचे थे। दिसम्बर १९३० में चैथम हाऊस में दिये गये एक व्याख्यान में इस विद्वान ने यह बताया था कि बड़े से बड़ा जर्मन बैंक गारण्टी-युक्त प्रथम बंधक ऋण पत्रों (guaranteed first-mortgage bonds) पर बहुत ऊँची व्याज की दर प्रस्तुत कर रहा था, पर उसे तब भी सफलता नहीं हो रही थी और इस तथा ऐसी ही घटनाओं से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि राजनैतिक विश्वास की पुनः स्थापना के लिए प्रभावी पग न उठाये जाने पर 'वर्तमान संकट एक ऐसे अशुभ काल का पूर्वसूचक होगा, जिसे भविष्य के इतिहासकार "दो युद्धों के बीच में" शीर्षक देंगे।'[1] एक वर्ष बाद अमेरिकन पत्रकार श्री फ्रैंक साइमंडस ने अपनी पुस्तक इस भविष्यसूचक नाम से प्रकाशित की—*क्या यूरोप शान्ति कायम रख सकता है? (Can Europe keep the Peace?)*

इन अपशकुनों के क्या कारण थे? प्रथम तो कुछ वे बातें; जो स्थिति के शुभ पहलू की ओर रखी गई थीं, ऐसी निबंधित करनी होंगी कि उनका ऊपर से दीखने वाला मूल्य बहुत कम रह जायगा। त्रिशक्ति नौसैनिक संधि की सफलता पंच-शक्ति वार्ताओं की उतनी ही बड़ी असफलता थी, और 'चल या परिवर्तनशील खण्ड (Escalator Clause) के द्वारा व इसके उपबन्धों का वास्तविक मूल्य दो योरोपियन शक्तियों, फ्रांस और इटली, द्वारा, जो किसी समझौते पर नहीं पहुँच सके थे, की गई कार्यवाही पर ही निर्भर हो सकता था। नौसैनिक परिसीमा पर बाद में हुए फ्रांको-इटालियन वार्तालापों से, जो १९३०--३१ में हुए और जिनका अधिक विस्तार से वर्णन आगे किया जायगा, विभिन्न अवस्थाओं में खतरनाक गरमा-गरमी पैदा हुई। इस प्रकार १७ मई १९३० को फ्लोरेंस में इस प्रश्न ने श्री मुसोलिनी को अपना शायद सबसे अधिक लोमहर्षक भाषण देने के लिए प्रेरित किया।

बातें बड़ी बढ़िया चीज हैं; पर रायफलें, मशीन गनें, युद्ध पोत, हवाई जहाज और तोपें और भी बढ़िया चीजें हैं। ब्लेकशर्ट लोगो, वे इसलिए बढ़िया हैं कि ताकत से असमर्थित सत्य एक खोखला शब्द है। शक्तिशाली शस्त्र-सज्जित फासिस्ट इटली दो सीधे विकल्प पेश करता है: मूल्यवान मैत्री या कठोर संघर्ष।

१. इन्टरनेशनल अफैअर्स, मार्च १९३१, पृष्ठ १६९।

कुछ ऐसी ही बात मसविदा बनाने वाले निरस्त्रीकरण सम्मेलन की समाप्ति पर लागू होती है। इस तथ्य की ओर पहले ध्यान खींचा जा चुका है कि आरम्भिक आयोग (Preparatory Commission) की अन्तिम बैठकों में जर्मनी, इटली और रूस के मध्य मेल-मिलाप की खतरनाक प्रवृत्ति दिखाई देती थी, और यद्यपि इन तीन देशों के मत अभिसमय के बहुमत से अंगीकृत किये जाने को रोकने के लिए अपर्याप्त थे, पर तो भी इन तीन शक्तियों का संयुक्त अल्पमत निरस्त्रीकरण के मार्ग में, कम शक्तिशाली राज्यों के बहुत बड़े विरोध की अपेक्षा वास्तव में बहुत अधिक दुर्लंघ्य बाधा था।

इसके अतिरिक्त भी, यह तथ्य कि एक आयोग, जो पाँच साल पहले नियुक्त किया गया था, १९३० के अन्त तक परिसीमा के व्यापक सिद्धान्तों पर इतना थोड़ा और आंशिक ऐकमत्य करा सका, किसी भी व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से सशस्त्र बल का विलोपन करने की सम्भावनाओं से निराश करने के लिए काफी था। राष्ट्रों की अपने शस्त्रों में कमी करने की अनिच्छा यह सूचित करती थी कि वास्तव में कोई भी संधियों या प्रसम्विदाओं के पालन में बहुत विश्वास नहीं करता। पुनः हॉब्स का ही उद्धरण दिया जाये तो "जिसके बिना सब प्रसंविदाएँ व्यर्थ और खोखले शब्द मात्र है और सब आदमियों का सब वस्तुओं पर अधिकार रहते हुए भी *हम अब भी युद्ध की अवस्था में हैं...... ।"*

१९३० के वर्ष तक युद्धोत्तर प्रणाली के विनाश का भविष्य लेख लिखा जाने लगा था। और सच तो यह है कि वे ही शब्द उसी क्रम में गहरी दृष्टिवाला पाठक शायद फिर पढ़ सकता था, जिन्होंने बैलशाजार के मौज-बहार में बाधा डाली थी। "मीन (Mene)—गणित का बल जो आर्थिक संकट में दिखाई देता था : टेकेल (Tekel)—प्रायौगिक परख, जो सामूहिक सुरक्षा पद्धति की न्यूनताएँ प्रकट करती थी, और अन्त में, पेरेस (Peres)—एक नवोदित आक्रामक शक्ति के अभिकरण द्वारा राज्य-क्षेत्र के पुनर्वितरण की सम्भावना। पहले शब्द के चिह्न १९२९ में यूनाइ-टेड स्टेट्स में वित्तीय ध्वंस में दिखाई देने लगे। दूसरा मंचूरिया में जापानी आक्रमण रोकने की विफलता के साथ सितम्बर १९३१ में; और अन्तिम जनवरी १९३३ में एडोल्फ हिटलर के जर्मन राइख का प्रधान मन्त्री बनने के साथ दिखाई देने लगे थे। अगले पृष्ठों में इन्ही तीन प्रभावों और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर उनकी प्रतिक्रियाओं और अन्तःक्रियाओं का वर्णन करने का यत्न किया जाएगा।

: १७ :

आर्थिक संकट और क्षतिपूर्ति का अन्त

(The Economic Crisis And the End of Reparation)

यंग योजना

(The Young Plan)

पाठक को ध्यान होगा कि इस पुस्तक के पूर्वगामी भाग में क्षतिपूर्ति के विषय का उल्लेख नहीं है। तर्क की दृष्टि से, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विषय के इतिहास में डावेस और यंग योजनाओं के अंगीकरण के मध्य एक और मंजिल है। पर व्यवहारतः उल्लेखनीय कोई चीज़ नहीं थी। डावेस योजना के अधीन किये जाने वाले भुगतान समय पर, आसानी से और प्रतीयमान सरलता से किये गये थे, और क्योंकि यंग योजना ने उन्हें १७ मई १९३० से पहले रद्द नहीं किया, इसलिए समझौता-पूर्ति के उस सारे काल में जिसका वर्णन भाग दो में किया गया है, सुखद अवस्था बनी रही। क्षतिपूर्ति के सवाल पर सर्वत्र शान्ति रही।

तो भी एजेन्ट-जनरल श्री पार्कर गिलबर्ट लगातार यह कहते रहे थे कि डावेस योजना न तो आशय की दृष्टि से और न तथ्य की दृष्टि से ही समस्या का अन्तिम निपटारा थी। इसके प्रणेताओं ने इसे 'एक ऐसा निपटारा बताया था जो विश्वास स्थापित करने के लिए काफी समय तक लागू होना था' और जो 'क्षतिपूर्ति तथा सम्बद्ध समस्याओं के बारे में, जितनी जल्दी सम्भव हो, अन्तिम विस्तृत करार की सुविधा करने के लिए बनाया गया था'। इन सम्बद्ध समस्याओं में से एक निस्सन्देह राइनलैण्ड का आधिपत्य थी जिसे समाप्त करना श्री स्ट्रैसमैन की 'पालन की नीति' का मुख्य लक्ष्य था : जब तक यह कायम रहा तब तक जर्मनी और उसके पहले के विरोधियों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की पुनः स्थापना में प्रत्यक्षतः रुकावट पड़ी, और जैसे-जैसे समय गुजरता गया, वैसे-वैसे जर्मन जनता ने अच्छे आचरण के इस पुरस्कार को विलम्बित किये जाने पर अधिकाधिक अधैर्य प्रकट किया। जिस अप्रत्याशित सरलता से डावेस योजना की शर्तें पूरी की गईं प्रतीत होती थीं, उससे यह व्यापक प्रभाव भी पड़ा कि अब अन्तिम निर्णय का समय आ गया है।

तदनुसार सितम्बर १९२८ में राष्ट्रसंघ की असेम्बली के अधिवेशन के दिनों में सम्बन्धित शक्तियों के बीच अनौपचारिक वार्त्ता के परिणामस्वरूप राइनलैण्ड को शीघ्र खाली करने के बारे में सरकारी वार्त्ता शुरू करने के लिए और क्षतिपूर्ति समस्या का पूर्ण और अंतिम निपटारा सोचने के निमित्त वित्तीय विशेषज्ञों की एक समिति की नियुक्ति के लिए एक समझौते का ऐलान किया गया। जिस समिति ने डावेस रिपोर्ट तैयार की थी, उसके असदृश, इस समिति में स्वयं जर्मनी का पूरा प्रतिनिधित्व होना था। जनवरी १९२९ में उसके मतानुसार विशेषज्ञ नियुक्त कर दिये गये

और अगले महीने समिति की बैठक प्रमुख अमरीकन प्रतिनिधि श्री ओवन डी यंग के सभापतित्व में हुई।

क्योंकि वह निपटारा, जो निश्चित करने का भार इस पर डाला गया था अन्तिम निपटारा होना था, इसलिए समिति का कार्य 'सिर्फ जर्मनी द्वारा' शोध्य कुल-राशि का और जिस अवधि में वह चुकाई जाएगी उसका, निर्धारण करना, मात्र न था बल्कि उन विदेशी नियन्त्रणों को, जो तब तक लागू थे, हटाने की व्यवस्था करना भी था। डावेस योजना के अनुसार भुगतान विदेशी मुद्राओं के रूप में हस्तांतरित करने का उत्तरदायित्व उत्तमर्ण (creditor) देशों पर डाला गया था पर इसके अनिवार्य परिणाम के रूप में उन्हें नियन्त्रण की विस्तृत शक्तियाँ दी गई थीं। ऐसे उपबन्धों को अन्तिम व्यवस्था में समाविष्ट करने की अनुपयुक्तता पर एजेन्ट-जनरल ने अपनी कई रिपोर्टों, विशेषकर १६२७ की रिपोर्ट, में बहुत बल दिया था।

यंग रिपोर्ट ७ जून १९२६ को पूरी हो गई थी। इसकी और डावेस आयोग की प्रस्थापनाओं में मुख्य अंतर यह था कि इसने हस्तांतर का दायित्व प्राप्तिकर्त्ताओं के सर से हटा कर जर्मनी के सर पर डाल दिया था। लेकिन इस परिवर्त्तन ने उन राशियों के बारे मे, जो अधमर्ण (debtor) एक लम्बी अवधि में चुका सकेगा अनिश्चितता का अंश डाल दिया और एक इतनी काफी राशि पर जो उत्तमर्णों की माँगों की सन्तुष्टि कर सके, समझौता कराने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि इसे दो वर्गों में बाँट दिया जाए, जिनमें से सिर्फ एक बिना शर्त्त होगा।

बिना शर्त्त वार्षिकियाँ (annuities) डावेस योजना के अधीन जर्मन स्टेट रेलवे से लिये जाने वाले बन्धक-ब्याज (mortgage interest) की तत्स्थानी थीं। सशर्त्त वार्षिकियों के मामले में जर्मन सरकार को दो वर्ष से अनधिक काल के लिए विदेशी मुद्राओं में हस्तांतर विलम्बित करने का अधिकार था; तो भी शोध्य राशियाँ राइख मार्क (जर्मन सिक्का) के रूप में बैंक आफ इन्टरनेशनल सैटलमैन्ट्स (Bank of International Settlements) को, जो इस योजना के अविभाज्य अंग के रूप में, डावेस योजना के अधीन मौजूद अभिकरणों के वे वित्तीय कार्य करने के लिए नया बनाया गया था, जिन्हें जारी रखना आवश्यक हो। तथ्य तो यह है कि क्षतिपूर्त्ति के प्रश्न ने एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग संस्था, जो कुछ समय से बहुत से क्षेत्रों में एक आकांक्षा बनी हुई थी, स्थापित करने का अवसर प्रस्तुत किया। आपवादिक कठिनाई के समय सशर्त्त वार्षिकी की राशि के आधे का भुगतान—यदि हस्तांतर पहले ही एक वर्ष के लिए विलम्बित किया जा चुका हो तो—उसी प्रकार विलम्बित किया जा सकता था।

इन सुरक्षात्मक उपबन्धों के होते हुए भी, यंग समिति को इस बात में कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता था कि जर्मनी सारी वार्षिकियाँ देते रहने में समर्थ है जो वास्तव में प्रतिवर्ष उस राशि में ५० करोड़ राइख मार्क की औसत कमी को सूचित करती था, जो वह अब तक प्रतीयमान सरलता से देता रहा था। आज हमें समिति की आशावादिता विचित्र अदूरदर्शितापूर्ण प्रतीत हो सकती है, पर तो भी रिपोर्ट में वह आशावादिता [illegible] प्रकट की गई थी। परिणामतः सोने की कीमतों में गिरावट

के परिणामों, और उसके फलस्वरूप वास्तविक बोझ में होने वाली वृद्धि के परिणामों, के विरुद्ध डावेस योजना में जो परित्राण रखे गये थे, उन्हें पुनः रखना बहुत आवश्यक नहीं समझा गया। बाद की घटनाओं को देखते हुए उन्हें छोड़ देने का यह निश्चय महत्त्वपूर्ण था।

समिति की कार्यवाही के मध्य कुछ विवादास्पद बातें सामने आई थीं। पहली यह थी कि बैल्जियम ने, युद्ध के बाद बैल्जियम में छूटे हुए अवमूल्यित जर्मन मार्क की हानि की पूर्ति का दावा किया। यह दावा जिस पर १९१९ में पैरिस में विचार हुआ था और जो अस्वीकार कर दिया गया था, पृथक् और सीधी वार्त्ताओं द्वारा निपटाये जाने के लिए छोड़ दिया गया। दूसरी कठिनाई क्षतिपूर्ति के भुगतानों और मित्रराष्ट्रों के पारस्परिक ऋणों के सम्बन्धों पर पैदा हुई। यद्यपि तथ्यात्मक सम्बन्ध का, शोधित और स्वीकृत की जाने वाली धन-राशियों की गणना में महत्त्वपूर्ण भाग था पर यूनाइटेड स्टेट्स के रुख को देखते हुए इसे स्वयं रिपोर्ट में अभिज्ञात नहीं किया जा सकता। पर इसे एक समवर्त्ती ज्ञापन में, जिस पर अमेरिकन प्रतिनिधि को छोड़-कर, समिति के अन्य सब सदस्यों के हस्ताक्षर थे, अभिस्वीकार किया गया। इस ज्ञापन में यह उपबंधित किया गया था कि जर्मनी के उत्तमर्ण (creditors) यूनाइटेड स्टेट्स को किये जाने वाले भुगतानों में जो कमी करेंगे, वह जर्मनी तथा उसके उत्तमर्णों में किस तरह विभाजित की जायेगी। पर वितरण के प्रश्न पर भी विवाद पदा हो गया। १९२० में स्पा में तय हुई प्रतिशतकताएँ बिल्कुल बदल दी गईं जो ब्रिटेन के लिए बहुत हानिकर थी। खासकर बिना शर्त्त वार्षिकियों के बारे में व्यवस्था ब्रिटेन के लिए विशेष रूप से हानिकर थी। इनमे से मोटे तौर से पाँच बटा छः फ्रांस को दे दिया गया था, और ब्रिटेन को इस प्रकार, जैसा कि बाद में श्री स्नोडन ने कहा था 'शायद एक नातिसुस्थित कम्पनी के साधारण शेयर देकर मुख्यतः टाल दिया गया था', जब कि बिना शर्त भुगतान को प्रथम कोटि के ऋण-पत्र माना जा सकता था। न ब्रिटेन की प्राप्तव्य उस अवशिष्ट धन-राशि पर ही इस तथ्य के कारण उचित विचार किया गया कि उसने अपने मित्रराष्ट्रों से युद्ध-ऋणों के हिसाब में कुछ भी प्राप्त करने से पहले यूनाइटेड स्टेट्स को भुगतान शुरू कर दिया था।

हेग सम्मेलन

(The Hague Conferences)

अगस्त १९२९ के हेग सम्मेलन में, जो यंग रिपोर्ट द्वारा उठाये गये प्रश्न निप-टाने के लिए बुलाया गया था, फिलिप स्नोडन ने प्रस्थापनाओं पर अपना पूर्ण असंतोष शीघ्र ही व्यक्त कर दिया। उन्होंने जो दृढ़ रवैया अपनाया उसको प्रधान मंत्री के एक तार से और बल मिला, जिसमें यह कहा गया था कि बिना दलगत भेदभाव के सारा देश उनका समर्थक है। इन परिस्थितियों में उन्हें अन्ततोगत्वा अपने दावे का अधिकांश मिल गया। श्री स्नोडन ने १० वर्ष तक, घटती हुई मात्रा में, वस्तु के रूप में भुगतान की अनुज्ञा देने वाली प्रस्थापना पर और इस माल के पुनः निर्यात करने की अनुज्ञा

देने वाली प्रस्थापना पर भी आपत्ति उठाई थी। इस प्रश्न पर भी उन्हें कुछ सन्तोष प्राप्त करने में सफलता हुई।

पहले हेग सम्मेलन के बाद ३ जनवरी १९३० को उसी जगह एक दूसरा सम्मेलन हुआ जिसमें मुख्य रूप से इस बात पर विचार हुआ कि क्षतिपूर्ति आयोग समाप्त हो जाने पर जानबूझ कर अशोधन (default) का निर्धारण और ऐसी अवस्था में अनुशास्तियों (sanctions) का आरोपण कैसे किया जाए। ये प्रश्न इस समझौते द्वारा प्राविधिक दृष्टि से, हल हो गये कि अशोधन (default) का प्रश्न स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाए और उत्तमर्णों को, अपने पक्ष में फैसला होने पर, कार्यवाही करने की पूर्ण स्वतन्त्रता बनी रहेगी। सम्मेलन में अभिहस्तांकित राजस्वों के परिमाण और भुगतान की तिथियों की समस्याओं पर भी विचार किया गया। जर्मनेतर क्षतिपूर्ति के भुगतान से सम्बद्ध मुख्य प्रश्न भी उसी समय निपटाए गए।

इधर श्री ह्यूजनबर्ग के नेतृत्व में जर्मन राष्ट्रवादी दल द्वारा यंग योजना का विरोध राइखस्टैग में, और बाद में जनमतसंग्रह होने पर, प्रबल बहुमत से पराजित हो गया। दूसरे एक सम्मेलन के बाद, योजना का अनुसर्थन बिना रुकावट आगे बढ़ा और १७ मई को यह लागू हुआ। पर इस घटना का महत्त्व और हेग में श्री स्नोडन की विजयों का महत्त्व जर्मनी को शोधन की क्षमता के बारे में की गई कल्पना की शुद्धता पर निर्भर था। तथ्यतः, यद्यपि क्षतिपूर्ति समस्या की अंतिम मंज़िल अब दिखाई देने लगी थी, पर उसका अन्त अब तक ध्यान में आई किसी भी वस्तु से बहुत भिन्न रूप का होने वाला था।

कच्चे सामान की कीमतों में गिरावट
(Fall in Prices of Raw Materials)

विश्वव्यापी आर्थिक संकट के आने से पहले भी यह सूचना देने वाले चिन्हों की कमी नहीं थी कि यंग समिति की आशावादिता ठीक आधार पर नहीं थी। खाद्य पदार्थों और ऊन, कपास आदि अन्य प्राथमिक पदार्थों की कीमतों में अनर्थकारी गिरावट पहले ही शुरू हो चुकी थी। उस अनुपम समृद्धि के बावजूद, जो १९२९ में मौजूद प्रतीत होती थी, उस देश में भी गम्भीर कृषिगत मन्दी आ गई। इस घटना के कारणों पर बहुत विचार हुआ और इसके अनेक निदान प्रस्तुत किये गये। उनकी गहराइयों में जाना इस पुस्तक का कार्य नहीं है। निःसंदेह, कीमतें नीची करने में स्वर्ण के कुवितरण का भी हिस्सा था जिससे संसार के अधिकतर देशों में उसकी कमी हो गई। पर मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि प्रभावी मांग के मुकाबले में अति-उत्पादन हो गया था। प्रायः यह कहा जाता है कि किसी भी समय निरुपाधि अति-उत्पादन नहीं हुआ था, और इस घटना को प्रायः एक विरोधाभास के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि बड़ी विपत्ति अभूतपूर्व प्राचुर्य्य के अस्तित्व के साथ होती है पर वास्तव में यह कोई विरोधाभास नहीं। अधिकतर मनुष्यों के पास दैनिक भोजन के विनिमय में प्रस्तुत करने के लिए जो कुछ होता है, वह है उनके

मस्तिष्क और माँसपेशियों की सेवाएँ और प्रत्यक्षत: अधिक उत्पादन की अवस्था में ये वस्तुएँ अपेक्षया कम मूल्य की होती है। जब मौजूद माल उससे अधिक होता है, जितना तुरन्त यापित किया जा सकता है, तब बेरोज़गारी और उसके परिणाम-स्वरूप होने वाली विपत्ति तर्कसंगत रूप मे आ जाती है। अबाध व्यापार (Laissez-Faire) की अवस्थाओं में, अधिक उत्पादन बहुत सारे उत्पादकों के ध्वंस से स्वतः सही हो जाता है, पर कृषि संसार के अधिकतर देशों में, राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से, इतने अधिक महत्त्व का तत्त्व है, कि उसकी कृत्रिम रूप से सहायता होने लगती है। राष्ट्रीय कृषक को उत्पादन करते जाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, जब कि उसका बाजार उसके विदेशी प्रतिस्पर्धियों की प्रतियोगिता को समाप्त करने के उद्देश्य से तटकर लगाकर तथा अन्य कार्यवाहियाँ करके निर्बन्धित कर दिया जाता है। इस प्रकार अधिक उत्पादन जारी रहता है, और इसके साथ-साथ बाजार सिकुड़ते जाते है और शक्ति घटती जाती है। निर्माण-उद्योगों की अपेक्षा कृषि में, माँग के संतृप्ति-बिन्दु (saturation point) पर पहुँचना भी कहीं अधिक आसान है। कोई समृद्ध और धनी आदमी औद्योगिक उत्पादों (industrial prouc‍ts) की अपनी माँग प्रायः अनन्त मात्रा तक बढा सकता है, पर खाद्य के लिए उसका सामर्थ्य सीमित है—उसका यह सामर्थ्य गरीब आदमी के सामर्थ्य की अपेक्षा बहुत अधिक नही है। किसान मे अपना उत्पादन बुरे दिनों में बढ़ाने की प्रवृत्ति भी होती है। यदि एक सूअर भाड़ा या बंधक का ब्याज चुकाने के लिए काफी नहीं, तो वह दो बेच देता है। इसलिए अति का रोग दूर नहीं होता और संसार की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा अपनी क्रय शक्ति खो बैठता है, जिसकी प्रतिक्रियाएँ सारे समुदाय पर होती है। यह प्रक्रम १९२९ में ही शुरू हो चुका था पर इसके अनिवार्य परिणाम कुछ मात्रा तक छिपे रहे थे, क्योंकि तब तक प्रत्यय या उधार (credit) और ऋण आसानी से मिल जाते थे। इन कष्ट-निवारक उपलब्धियों का मुख्य दाता यूनाइटेड स्टेट्स था।

अमेरिका में मूल्यपात
(The Slump in America)

जिस समय यंग रिपोर्ट पर हस्ताक्षर हुए, उस समय यूनाइटेड स्टेट्स अनुपम समृद्धि का उपभोग कर रहा था। अमेरिकन लोग बड़ी जल्दी प्रभावित हो जाते हैं और यह वस्तु-स्थिति उनके दिमाग पर छा गई थी। जिन पाठकों ने सर वाल्टर बेसेंट और जेम्स राइस की *दी गोल्डन बटरफ्लाई* (*The Golden Butterfly*) पढ़ी है उन्हें उस भाग्यवान तेल अनुसन्धाता, श्री गिलिएड पी० बैंक, के उल्लेखनीय भूतत्त्वीय सिद्धान्तों का स्मरण होगा जो संसार को एक ऐसे विशाल कद्दू का टुकड़ा समझता था जिसकी ऊपरी परत में एक रस था जो सारा पैट्रोलियम था। उसने आगे लिखा था, "रौकौलियाविले (Rockoleaville) पर मैंने उस टुकड़े के ठीक बीच में और ठीक उस परत में से नल डाला है। उस मध्य नल के बारे में कोई गलती नहीं हुई है। अन्य

कुएँ चाहे खत्म हो जायें पर मेरा स्रोत सदा चलता रहेगा"। इसी भावना से यूनाइटेड स्टेट्स की जनता १९२९ के आरम्भिक भाग में यह समझा करती थी कि हमने एक अक्षय और अनन्त समृद्धि के स्रोत प्राप्त कर लिये हैं।

व्यापार चक्र में आने वाले सामान्य अवपात का कारण प्रायः निर्माताओं के असमन्वित आशावाद को बताया जाता है, जिनमें से प्रत्येक अपने बाजार के विस्तार और अवधि का अधिक अंदाजा लगाता है। जहाँ दस टोपों की माँग होती है, वहाँ दस टोप वालों में से प्रत्येक यह तखमीना लगाते हैं कि मैं दस टोप बेच लूंगा और इस तरह सौ टोप बन जाते हैं, और फिर वे नुकसान उठाकर बेचने पड़ते हैं। इस तरह की चीज अब अमेरिका में बहुत बड़े पैमाने पर हो रही थी। १९२९ में यूनाइटेड स्टेट्स ने ५३,५८,००० मोटरकार, ५॥ लाख टन इस्पात और आबादी के प्रत्येक व्यक्ति के लिए लगभग तीन जोड़ी बूट उत्पादित किये। इस अंतिम उदाहरण में, बूट-उत्पादक मशीनरी का सामर्थ्य इस मात्रा से तीन गुना था।[1] अन्य उत्पादन इसी अनुपात में था। स्वदेश की माँग स्पष्टतः अब लगभग उतनी भी नहीं थी। इस पैमाने के कार्यों की सफलता बाहर की दुनिया में क्रय शक्ति जारी रहने पर निर्भर थी। साथ ही एक ऐसे राष्ट्र की परम्परा के कारण जो हाल तक आत्म-निर्भर था, और जिसके पास विराट स्वदेशी संसाधन थे तथा मजदूरी का बहुत उच्च पैमाना था, यूनाइटेड स्टेट्स ने ऊँचे तटकरों द्वारा उन वस्तुओं को अपने से दूर रक्खा जो दुनिया विनिमय में प्रस्तुत कर सकती थी। इन परिस्थितियों में अब तक समृद्धि का भ्रम कैसे बनाए रक्खा गया था, इसका उत्तर श्री वाल्टर लिपमैन ने अपनी विशिष्ट स्पष्टता से दिया है।

वह कहता है कि समृद्धि के अंतिम पूर्ण वर्ष, १९२८, में

हमने विदेशों में जितनी वस्तुएँ खरीदीं, उनकी अपेक्षा ८५ करोड़ डालर अधिक की वस्तुएँ बेचीं। उस वर्ष हमें २० करोड़ डालर युद्ध ऋणों के खाते में और ६० करोड़ डालर अपने विदेशी विनियोगों की शुद्ध प्रत्यावर्तन (net return) के रूप में मिले थे। हमारे विदेशी उपभोक्ता और ऋणी हमें चुकाने के लिए ये १६५ करोड़ डालर कहाँ से पाते। उन्हें ६६ करोड़ डालर तो पर्यटकों से मिले। २२ करोड़ डालर उन्हें यहाँ के उन अन्तःप्रवासियों से मिले जिन्होंने अपने घर रुपया भेजा ··· ··· शेष राशि उन्हें कहाँ से मिली? वह उन्हें उस ९७ करोड़ डालर में से मिली जो हमने उस वर्ष उधार दिये थे।[2]

भुगतान का यह भ्रांतिमय स्रोत पहले ही सूख रहा था। इस समय सारी अमेरिकन आबादी एक भयंकर परिकल्पन में व्यस्त थी। पहले विदेशों में लगाया गया धन अब एक नई दिशा की ओर मुड़ गया। इसके अलावा, सट्टे के लिए धन की जो माँग हुई वह जिस ऊँचाई पर पहुँच गई, उसने योरप से, जहाँ उसकी आवश्यकता थी, उसे अमेरिका में, जहाँ उसकी आवश्यकता नहीं थी, खींच लिया। स्वयं इस बात का ही शेष जगत् के उद्योग पर हानिकारक प्रभाव पड़ा। क्योंकि अब ऋण उपलब्ध नहीं

---

१. देखिए एन० बी० बटलर का 'यूनाइटेड स्टेट्स में बेरोजगारी' पर भाषण, इण्टरनेशनल अफेअर्स, १९३१, पृष्ठ १८४।

२. डब्लू० लिपमैन, इण्टरप्रिटेशन्स, १९३१-२, लन्दन, ऐलन एंड अनविन, १९३३, पृष्ठ ४६।

थे, इसलिए योरोप के ऋण स्वर्ण के रूप में चुकाने आवश्यक थे और यह स्वर्ण ऐसे देश में पहुँच रहा था जिसमें इसका कोई उपयोग नहीं था, और इस तरह वास्तव में वह खान में लौट रहा था। जब स्वर्ण की कमी होती है, तब कीमतें गिर जाती हैं, क्योंकि थोड़े से सोने से बहुत-सी वस्तुएँ आती हैं; कीमतें, उसी के अनुसार, अमेरिकन अवपात के आने से पहले ही गिर गईं, जिससे अधमर्णों (debtors) की क्रय शक्ति और चुकाने का सामर्थ्य घट गया।

अक्तूबर १६२६ में अनिवार्य समवसाद (collapse) शुरू हुआ और न्यूयार्क स्टाक एक्सचेंज पर एक दिन में शेयरों का मूल्य पचास अरब डालर गिर गया। कुछ देर को स्थिति सम्भली, पर नवम्बर में फिर अत्यधिक गिरावट आई। स्तब्ध परिकल्पक (speculators) बेकार हो गये, उधार देना सर्वथा रुक गया, और सारा उपलब्ध धन वापिस माँग लिया गया। परिणामतः दुनिया धड़ाम से आसमान से धरती पर गिर पड़ी।

जर्मनी की स्थिति
(Situation in Germany)

डावेस योजना जिसके आधार पर यंग समिति ने अपने तखमीने निकाले थे, के सुगम वर्षों में अमेरिकन धन एक तरह का गोल चक्कर लगाता रहा था—वह पहले जर्मनी से क्षतिपूर्त्ति के दावेदारों को मिलाता था और इनसे युद्ध-ऋण के भुगतानों के रूप में फिर यूनाइटेड स्टेट्स को लौट जाता था। यह एक अर्थपूर्ण बात है कि जर्मनी ने १६२७ और १६२८ के वर्षों में विदेशों से क्षतिपूर्ति में शोध्य राशि का पाँच गुना धन उधार लिया था। राइख के प्रस्तुत वर्षों के बजट पर एक निगाह डालने से सचमुच राजस्व का प्रसार प्रकट होता है पर इसके साथ खर्च में समतुल्य से अधिक वृद्धि हो गई थी, जिससे पहले को छोड़कर और प्रत्येक वर्ष में काफी हीनार्थता (deficit) रही थी। जिस समय मन्दी आई उस समय यह संचित हीनार्थता १२० करोड़ राइख मार्क से अधिक थी। यह स्थिति जो अब तक अल्पकालिक ऋण के संदिग्ध उपाय द्वारा छिपी हुई थी, अब आगे इस सरल पर खतरनाक उपाय से नहीं सम्भाली जा सकती थी। इसका डाक्टर ब्रूनिन ने १६३० में प्रधान मंत्री बनने पर वीरतापूर्ण संकल्प के साथ सामना किया, पर अब बहुत देर हो चुकी थी, और उसे जो कठोर कार्य करने के लिए मजबूर होना पड़ा उनसे उसके अन्तिम पतन में ही सहायता मिली।

आस्ट्रियन क्रेडिट-एनस्टाल्ट का फेल होना
(The Failure of the Austrian Credit-Anstalt)

योरोप में इस संकट की सर्वप्रथम प्रतिक्रिया जर्मनी में नहीं हुई। ११ मई १६३१ को यह पता चला कि आस्ट्रियन क्रेडिट-एनस्टाल्ट, जो वियेना की एक निजी पर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण फर्म थी, और जो संसार के वित्तीय ढांचे का अविभाज्य अंग बन गई थी, के दिवालिया होने का खतरा पैदा हो गया था। इससे प्रत्यय (credit) को व्यापक धक्का लगा और मई का अन्त होने से पहले जर्मनी से, जहाँ राजनीतिक

अनिश्चितता की भावना ने आर्थिक स्थिति से सम्बद्ध सन्देहों को बढ़ा दिया था, विदेशी धन भयंकर रूप से वापस खींचा जाने लगा। जून के पहले सप्ताह में एक ओर तो रूहर में कम्यूनिस्ट दंगों से और दूसरी ओर, एक आपातकालिक आज्ञप्ति द्वारा करा-धान में अत्यधिक कटौतियाँ और वृद्धियाँ लागू किये जाने से भय और बढ़ गया। उस महीने के मध्य तक जर्मनी से खींचे गए विदेशी धन की राशि कुल १ अरब राइख मार्क तक पहुँच गई। इसी बीच मन्त्रिमण्डल के त्याग-पत्र और वित्तीय समर्थन के लिए पेरिस में हो रही वार्त्ता की विफलता, जो सम्भाव्यत: इस कारण विफल हुई कि जर्मनी के साथ सीमा-शुल्क-ऐक्य (customs union) के विषय में राजनैतिक दबाव डालने का यत्न किया जा रहा था के फलस्वरूप स्थिति और बिगड़ गई। १६ जून को बैंक आफ इंगलैंड ने आस्ट्रियन नेशनल बैंक को १५ करोड़ शिलिङ्ग उधार दे दिये जिससे इस क्षेत्र में अस्थायी रूप से स्थिति बिगड़ने से बच गई, पर इस समय तक संकट की विश्वव्यापी प्रकृति स्पष्ट होती जा रही थी। इस समय राष्ट्रपति हूवर सब अन्त:शासनीय ऋणों पर एक साल के विलम्ब-काल (moretorium) के लिए २० जून को प्रकाशित अपना प्रस्ताव लेकर नाटकीय देवता के समान सामने आये।

हूवर द्वारा प्रस्तुत विलम्ब-काल
(The Hoover Moratorium)

अमेरिकन राष्ट्रपति के इस प्रस्ताव की प्रभावकारिता इसके अविलम्बअंगी-करण पर निर्भर थी। सच तो यह है कि अधिकतर देश यह प्रस्ताव स्वीकार करने को तैयार थे, पर फ्रांस ने आपत्ति की और फ्रांस, अपने नागरिकों द्वारा विदेशी वित्तीय केन्द्रों में धारित प्रत्ययों की मात्रा के कारण, महत्त्वपूर्ण स्थिति में था। यद्यपि उसके आक्षेपों का ६ जुलाई को, जिस दिन श्री हूवर ने विलम्ब काल की सब महत्त्वपूर्ण उतमर्ण देशों द्वारा स्वीकृति का ऐलान किया था, समाधान हो गया था। पर इस बीच जर्मनी पर मांग जारी रही और इसके उत्तरोत्तर अधिक विनाशक परिणाम हुए। ऐलान के दिन भी राइख बैंक (Reich Bank) से दस करोड़ मार्क का विदेशी विनि-मय लिया गया, और अगले दिन इस संस्था ने अपनी अंतिम याप्य संचिति (last disposable reserve) निकाल ली। १३ जुलाई को राइख बैंक ने जर्मनी के निजी बैंकों को और अधिक सहायता देने की असमर्थता घोषित कर दी और उसी दिन डार्म स्टेटर एण्ड नेशनल बैंक ने, जो जर्मनी के तीन बड़े ज्वाइंट स्टाक बैंकों में से एक था, अपने द्वार बन्द कर दिये। अगले दिन सरकार ने राइख बैंक को छोड़कर जर्मनी के और सब बैंकों के लिए दो दिन का आपात घोषित कर दिया।

लन्दन सम्मेलन
(The London Conference)

२० जुलाई को जर्मनी के वित्तीय संकट की जाँच करने के लिए लन्दन में प्रभावशाली प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ पर फ्राँस के हठ के कारण यह भंग हो गया। फ्राँस ने कुछ ऐसी अस्वीकार्य राजनैतिक तथा वित्तीय गारन्टियों का आग्रह किया, जिन पर वह अपेक्षित सहायता देने को तैयार था, क्योंकि उस समय लंदन

लड़ने में असमर्थ था, और न्यूयार्क अकेला जोखिम उठाने को अनिच्छुक था। इसलिए फ्रेंच लोगों का पासा मजबूत था और परिणामत: सम्मेलन विफल सिद्ध हुआ। जो कुछ सफलता हुई वह सेंट्रल बैंकों और निजी वित्तीय कोठियों से की गई यह सिफारिश थी कि वे परिस्थिति की उग्रता को कम करने वाले उपाय करें जो कुछ मात्रा तक उन्होंने अपनी ओर से पहले ही कर दिये थे। १९ अगस्त को बेसल में अन्तर्राष्ट्रीय बैंकर समिति की रिपोर्ट (the Layton-Wiggin Report) प्रकाशित होने के बाद बैंकरों के प्रतिनिधियों ने एक यथापूर्व करार (standstill agreement) पर हस्ताक्षर किये जिसमें जर्मनी के सब बैंकिंग प्रत्ययों (banking credits) के लिए विदेशी मुद्राओं के रूप में ६ मास का समय और दिया गया था और विदेशी मुद्राएँ इसके द्वारा निश्चालित (frozen) हो गयी थीं।

ब्रिटेन में संकट

(The Crisis in Great Britain)

इसी बीच इंगलेंड में १३ जुलाई को वित्त और उद्योग पर मैकमिलन रिपोर्ट प्रकाशित होने के अविलंब बाद स्वर्ण की फ्रांस और बेलजियम को गंभीर वापसी होने लगी। २५ जुलाई को समाप्त होने वाले सप्ताह में २१० लाख पौंड मूल्य की सोने की सिल्लियाँ मुख्यत: फ्रांस को वापिस की गयीं। ३१ जुलाई को राष्ट्रीय व्यय के बारे में मे समिति(May Committee) की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिसमें लगभग १२ करोड़ पौंड का घाटा बजट में होने की भविष्य वाणी की गई थी। लोगों का रुपया निकालना जारी रहा और उसकी गति बढ़ती ही गई। १ अगस्त को यह ऐलान किया गया कि बक आफ फ्रांस तथा न्यूयार्क के फेडरल रिजर्व बैंक दोनों ने ढाई-ढाई करोड़ पौंड का प्रत्यय बैंक आफ इंगलैड को दिया पर धन निकालने का कार्य इतनी गम्भीर स्थिति में था कि इतने बड़े प्रत्यय का अस्सी प्रतिशत चार सप्ताह के भीतर समाप्त हो गया। १२ अगस्त को मंत्रिमंडल के सदस्य स्थिति का मुकाबला करने के लिए अपने अवकाशों से बुलाये गये पर ट्रेड्स यूनियन काउंसिल के दबाव पर कुछ मंत्रियों ने आवश्यक मितव्ययिताएँ स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। २३ अगस्त को ब्रिटिश सम्राट्, बालमोरल से लौटे और अगले दिन तीनों राजनैतिक दलों के सदस्यों से राष्ट्रीय सरकार का निर्माण शुरू किया गया।

९ सितम्बर को ७ करोड़ पौंड की मितव्ययिता करने के लिए संसद् में एक विधेयक पुन: पुरःस्थापित किया गया, और अगले दिन श्री स्नोडन ने आगामी तथा चालू वर्षों के बजटों को संतुलित करने की व्यवस्था करने वाला एक पूरक बजट पुरःस्थापित किया। इन उग्र उपायों से इनका प्रयोजन सफलतापूर्वक सिद्ध हो गया होता, पर १५ तारीख को इनवर गोर्डन में निचले दर्जे के कुछ नौसैनिकों के, जो प्रस्तावित कमी से असन्तुष्ट थे, गदर का समाचार प्रकाशित हुआ। विदेशों में इसे, गलती से, गंभीर महत्त्व का क्रांतिकारी आन्दोलन समझा गया और नई सरकार ने, जो पुन: विश्वास स्थापित करना शुरू किया था, वह एक ही झटके में विनष्ट हो गया।

२१ सितम्बर को यह देख कर दुनिया चकित रह गई कि ब्रिटेन को स्वर्ण प्रमाप (Gold Standard) छोड़ना पड़ा।

६ अक्तूबर को संसद् विघटित कर दी गई और एक स्मरणीय साधारण निर्वाचन हुआ जिसने बलपूर्वक ब्रिटिश निर्वाचक की आधारभूत समझदारी का सिक्का जमा दिया। एक ओर से, अर्थात् बचे-खुचे मजदूर दली लोगों की ओर से यह आपत्ति उठाई गई कि कोई संकट है ही नहीं, और उस समय की घटनाओं को बैंकरों की ठगी कह कर उड़ा दिया गया। परिणामतः, मितव्ययिता की आवश्यकता नहीं स्वीकार की गई, और उस पक्ष के उम्मीदवारों ने निर्वाचकों से प्रायः की जाने वाली अधिकतर प्रतिज्ञाएँ की। दूसरी ओर कोई कार्यक्रम नहीं था और इसलिए प्रतिज्ञाएँ नहीं हो सकतीं थीं। बड़ी गम्भीरतापूर्वक यह बताया गया कि सुरक्षा के लिए एकमात्र मार्ग यह है कि बलिदान किया जाय। परिणामतः राष्ट्रीय सरकार उन निर्वाचन क्षेत्रों में भी, जो अब तक समाजवाद के अभेद्य दुर्ग समझे जाते थे, विजयी हुई, जिससे इसके कई उम्मीदवारों को हैरानी हुई, और इसके विरोधी प्रायः उड़ गये। नई लोक सभा में सरकार के समर्थक ५५४ थे और मजदूर दल के सिर्फ ५२ सदस्य थे।

बाहर की दुनिया पर इसका अविलम्ब और दूरगामी प्रभाव हुआ। ब्रिटेन को खोया हुआ गौरव फिर हासिल हो गया और उसके, अब अरक्षित पौंड का मूल्य, उसके पहले वाले स्वर्ण मूल्य से मुश्किल से ७० प्रतिशत कम हुआ। सच तो यह है कि शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि अन्य शक्तियों का हित भी इसी में है कि वे ब्रिटिश उदाहरण का अनुसरण करें और स्वर्ण प्रमाप को छोड़कर स्टर्लिंग के उतार चढ़ाव के साथ चलें। इस बीच थोड़े अवमूल्यन (depreciation) ने निर्यात के लिए उपयोगी प्रेरक का काम किया। एक कार्य जिसके औचित्य पर अधिकतर पुराणपंथी अर्थशास्त्रियों को संदेह था, और जिसके कारण अंत में बहुत से उदारवादी सदस्य सरकार के समर्थन से हट गये, देश की परम्परागत मुक्त व्यापार नीति का परित्याग था। पर इसमें संशय हो सकता है कि क्या ब्रिटेन उस दुनिया में, जिसमें सर्वत्र तटकर लगे हुए थे, अकेला मुक्त बाजार रह सकता था। और जो भी हो, पर आपातकालीन निर्बन्धन एक अस्थायी आवश्यकता थे। जो नीति अपनाई गई, उसे इसके समर्थकों ने एक ऐसा सौदेबाजी का उपकरण बना कर, जिसके द्वारा आर्थिक राष्ट्रवाद की दूषित बुराइयों का मुकाबला किया जा सकता है, और ऐसे अंतःसाम्राज्य तथा अन्य विदेशों के साथ व्यापार समझौतों के आधार बनाकर जिनमें से चारों ओर फैले हुए प्रलय में एक विश्वास-योग्य बेड़ा बनाया जा सकता था, इसे और भी अधिक उचित सिद्ध कर दिया।

राष्ट्रीय सरकार की नीति परिणामों से निश्चित रूप से उचित सिद्ध हुई। संतुलित बजटों से, व्यापार में सुधार से, बेरोजगारी के आंकड़ों में बड़ी और स्थिर कमी से इसकी प्राप्ति की सूचना मिलती थी। देश की वित्तीय स्थायिता में पुनः विश्वास हो जाना अभूतपूर्व परिमाण पर हुए संपरिवर्तन कार्यों (conversion operations) से स्पष्ट प्रकट होता था।

लासेन सम्मेलन

(The Lausanne Conference)

इस संकट के परिणामस्वरूप, जर्मन सरकार ने नवम्बर १९३१ में ऐलान किया कि भविष्य मे क्षतिपूर्त्ति की वार्षिकियों के हस्तांतर से देश का आर्थिक जीवन खतरे में पड़ जायगा। तदनुसार बैंक ग्राफ इन्टरनेशनल सैटलमेंट्स ने इस स्थिति के बारे में मंत्रणा देने के लिए एक विशेष समिति की बैठक बुलाई। मंत्रणादायी समिति ने, जिसकी बैठक बैसल में ७ दिसम्बर को हुई, महीने के अन्तिम दिनों में यह रिपोर्ट दी कि जुलाई १९३२ में शुरू होने वाले साल की सशर्त वार्षिकी नही दी जा सकेगी।

रिपोर्ट के अन्त में सरकारों के मारे आपसी ऋणो के समायोजन की आवश्यकता पर बल दिया गया था। इस रिपोर्ट के परिणामस्वरूप एक सम्मेलन की व्यवस्था की गई, जो लासेन में जून १९३२ में हुआ। शुरू में जनवरी की तारीख रखी गई थी पर ब्रिटेन और फ्रांस के बीच, जिनके विचार क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर अत्यधिक भिन्न थे, चल रही वार्ता के कारण यह देर से रखनी पड़ी। यूनाइटेड स्टेट्स को सम्मेलन या प्रारम्भिक बातचीत में शामिल होने के रोक दिया गया क्योंकि काँग्रेस ने दिसम्बर में यह संकल्प स्वीकार किया था कि 'यह बात काँग्रेस की नीति के विरुद्ध है कि यूनाइटेड स्टेट्स के प्रति विदेशों की कोई भी ऋणग्रस्तता किसी भी प्रकार रद्द या कम की जाय।' ब्रिटेन ने यह प्रस्ताव रखा कि ६ माम का विलम्बकाल (moratorium) दिया जाय और उसके बाद पतझड़ में सम्मेलन हो। उस समय तक यह आशा थी कि अमेरिकन विचार परिवर्तित हो जायगा। यह प्रस्ताव फ्रांस को अस्वीकार्य था, क्योंकि वह समझता था कि इसका अर्थ है क्षतिपूर्त्ति की समाप्ति, और जर्मनी को इसलिए अस्वीकार्य था क्योंकि वह सोचता था कि इससे क्षतिपूर्त्ति का अन्त नहीं होगा, पर बातचीत जारी रही, और जून में जब सम्मेलन हुआ तब समझौते का एक आधार निकल आया। क्षतिपूर्त्ति खत्म कर दी गई, पर शर्त यह थी कि जर्मनी बैंक आफ़ इंटरनेशनल सेटलमेंट्स को ३ अरब राइख मार्क या १५ करोड़ पौंड की राशि तक के ५ प्रतिशत विमोच्य ऋण-पत्र, जिनके साथ १ प्रतिशत निक्षेप निधि हो, दे। बैंक को करार की निधि के तीन वर्ष बाद नब्बे प्रतिशत से अन्यून कीमत पर सार्वजनिक निर्गम द्वारा इन ऋणपत्रों को परिक्रमित करने का अधिकार होगा। यद्यपि यह कल्पना कभी नहीं की गई थी कि ये ऋण-पत्र पूरे के पूरे निर्गमित किये जायेंगे, पर उत्तमर्ण शक्तियों (creditor powers) द्वारा २ जुलाई को हस्ताक्षरित एक समकालिक करार के अनुसार इसका अनुसमर्थन उनके तथा उनके उत्तमर्णों, अर्थात् यूनाइटेड स्टेट्स के साथ सन्तोषजनक निपटारे पर निर्भर था। इस प्रकार क्षतिपूर्त्ति और युद्ध-ऋणों का प्रश्न फिर एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़ गया पर जहाँ तक क्षतिपूर्त्ति का प्रश्न था, इसके पुनर्जीवित किये जाने की सम्भावना प्रायः नगण्य समझी जाती थी।

युद्ध-ऋण वार्त्ता
(War-Debt Negotiations)

अब दिलचस्पी का केन्द्र यूनाइटेड स्टेटस पहुँच गया। राष्ट्रपति हूवर और फ्रेंच प्रधानमत्री श्री लावल मे अक्तूबर १६३१ में हुई बातचीत के बाद एक संयुक्त विज्ञप्ति निकाली गई थी जिसमे निम्नलिखित संदर्भ था :

जहाँ तक सरकारों के आपसी दायित्वों का सम्बन्ध है, हम स्वीकार करते हैं कि हूवर विलम्ब-काल का वर्ष बीत जाने से पहले उनके बारे मे व्यापारिक मंदी की अवधि के लिए ऐसे निर्बंधनों और शर्तों पर समझौता हो जाना चाहिए, जिनके बारे मे दोनों सरकारें सब प्रकार से स्वतन्त्र होंगी। इस मामले मे उन यूरोपियन शक्तियों को शीघ्र ही पहल करनी चाहिये जो इससे मुख्यतः संबद्ध है और यह कार्य १ जुलाई १६३१ से पहले मौजूद करारों के ढाँचे के भीतर ही होना चाहिये।

इस वक्तव्य का स्वभावत: यह अर्थ समझा जाता कि प्रथम तो युद्ध-ऋणों और क्षतिपूर्त्ति के मध्य सम्बन्ध अब अमेरिका में भी स्वीकार किया जाने लगा है, और दूसरे, यूरोप को वह कार्य करने के लिए सीधा निमंत्रण था, जो उन्होंने लासेन में किया भी था, पर घटनाओं से यह सिद्ध होता था कि जो बात जानकार प्रतिनिधियों को आर्थिक दृष्टि से वाँछनीय दिखाई देती थी, उसमें तथा जो बात यूनाइटेड स्टेट्स जैसे लोकतन्त्र शासित देश में राजनैतिक दृष्टि से संभव हो सकती थी, उसमें इतनी बड़ी खाई थी जिसे पाटा नहीं जा सका। एक खास कठिनाई इस तथ्य से पैदा हुई कि यह प्रश्न अमेरिकन राष्ट्रपति के चुनाव के ठीक पहले, जो नवम्बर १६३२ में होना था, अधिक विषम हो गया। सच तो यह है कि यूरोप की ओर से यह मौन समझौता हो गया था कि यह सवाल तब तक न उठाया जाय जब तक चुनाव न हो जाय। पर अमेरिकन चुनाव आन्दोलन में दोनों पक्षों ने ऋणों को रद्द करने का विरोध करने की प्रतिज्ञा की और दोनों उम्मीदवारों ने इस मामले में संयुक्त यूरोपियन मोर्चे का भय प्रकट किया।

और जगह की तरह यूनाइटेड स्टेट्स में भी जानकार लोगों का यह विश्वास था कि ऋण पूर्णतया रद्द कर देना शेष संसार और अमेरिका दोनों के हित में होगा।[1] क्योंकि स्वर्ण के रूप में अदायगी एक ऐसा उपाय था जिसे बहुत दूर तक नहीं अपनाया जा सकता था और वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में अदायगी अवरुद्ध हो गई थी, अतः इसका यह अर्थ था कि अमेरिका को युद्ध-ऋणों की अदायगी होने पर उसके निर्यात में कमी हो जाएगी। यूनाइटेड स्टेट्स को विश्व मंदी से जो हानि हुई थी वह युद्ध ऋणों के सम्बन्ध में प्राप्य कुल राशि की अपेक्षा बहुत अधिक थी। १६२८-२६ से यूनाइटेड स्टेट्स को ७० करोड़ पौंड मूल्य के निर्यात की हानि हो चुकी थी और इसके मुकाबले में उसके प्रति सारी दुनिया को जो ऋण अदा करना था वह ४ करोड़ से ५ करोड़ पौं० तक था। साथ ही यूनाइटेड स्टेट्स के मध्य-पश्चिमी प्रदेश के किसी गरीब किसान को, जो महाजनों से तंग था, यह दलील समझाना कठिन था कि विदेशी को दिया हुआ ऋण माफ कर देना लाभदायक है, और जो उस अवस्था में अमेरिकन

---

१. देखिए, एच० जी० मोल्टन और एल० पासवाल्की, वार डेट्स एंड वर्ल्ड प्रोस्पैरिटी। वाशिंगटन, डी. सी., ब्रुकिंग्स इंस्टीट्यूशन, १६३२।

करदाता को निपटाना होगा और उसे समझाने के लिए आवश्यक तर्क इतने खतरनाक समझे जाते थे कि उनके वोट पर निर्भर राजनीतिज्ञ उनका प्रयोग न कर सकता था।

राष्ट्रपति के चुनाव के अविलम्ब बाद, ब्रिटिश और फ्रेंच सरकारों ने प्रायः एक साथ नयपत्र उपस्थित किये जिनमे सारे प्रश्न पर विचार होने तक दिसम्बर में देय किश्तों की अदायगी विलम्बित करने के लिए कहा गया था। दोनों अपीलों की तारीख लगभग एक होने से सयुक्त मोर्चे का, जिसका कि भय था, कुछ दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव पड़ा और उनके उत्तर अनुकूल नही दिये गये। इस पर एक दिसम्बर को ब्रिटिश सरकार ने ऋण की छूट के बारे में अपना सारा पक्ष रखते हुए एक वक्तव्य दिया जो बहुत से क्षेत्रो में लाजवाब समझा जाता है और जिसका उन सब को विस्तार से अध्ययन करना चाहिये, जो इस विषय में वास्तविक दिलचस्पी रखते हैं। पर अमेरिकन सरकार टस से मस न हुई और उसने फ्रांस से या ब्रिटेन से प्राप्य किश्तों को विलम्बित करना स्वीकार न किया। इन परिस्थितियों मे ब्रिटिश सरकार ने सारी किश्त स्वर्ण के रूप में चुकाई पर उसके साथ उन्होंने यह शर्त लगा दी कि किसी अन्तिम निपटारे मे हम इसे पूँजी अदायगी (capital payment) के रूप में मानना चाहते हैं। पर फ्रेंच सरकार का ऐसा ही मार्ग अपनाने का प्रस्ताव चैम्बर (Chamber) में पराजित हो गया और तदनुसार फ्राँस ने यह अदायगी नहीं की। लासेन करार (Lausanne Agreement) पर पुनर्विचार या उसमें कोई हेर-फेर न करना पड़े, यह सोचकर ब्रिटेन ने अपने ऋणियों (debtors) से अदायगी के लिए कोई माँग नहीं की।

फिलहाल आगे बातचीत में कुछ बाधा पड़ गई, क्योंकि मार्च १९३३ में श्री रूजवेल्ट के नये राष्ट्रपति बनने से पहले कुछ समय व्यवहारतः राजशून्यता (interregnum) रही पर जनवरी तक उनमें और श्री हूवर में यह मौन समझौता हो गया कि निर्वाचित राष्ट्रपति आवश्यक नियन्त्रण ग्रहण कर ले। इससे विचारों का विनिमय, जो आगामी आर्थिक सम्मेलन को देखते हुए विशिष्टतया वांछनीय था, सम्भव हो गया। पर श्री नैविल चैम्बरलेन ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटेन सिर्फ इस शर्त पर युद्ध ऋणों (war debts) पर पुनर्विचार के लिए तैयार है कि निपटारा अन्तिम हो, और क्षतिपूर्त्ति के प्रश्न को फिर न उठाया जाए। उधर अमेरिका ने आगामी आर्थिक सम्मेलन में अपने उपस्थित होने की यह शर्त रखी कि युद्ध-ऋण की समस्या इसकी कार्य-सूची से हटा दी जाए इसलिए यह सवाल तय न हो सका और अगली किश्त की समस्या जो, १५ जून १९३३ को दी जानी थी, चाँदी के रूप में एक करोड़ डालर की सांकेतिक अदायगी करके हल की गई। शेष ऋणियों में से छह ने कोई अदायगी नहीं की, और पूरी अदायगी करने वाला देश फिनलैंड था जिसने १,४८,५९२ डालर की अपनी छोटी सी किश्त के बारे में भी यही किया पर जून १९३४ में यूनाइटेड स्टेट्स में पास हुए विधान ने अशोधन (default) से बचने के उपाय के रूप में सांकेतिक अदायगी को नियमबाह्य कर दिया। अब ब्रिटेन के सामने पूरी

अदायगी की समस्या आई, जिसे उसने सीधे संकट में पड़ने की नीति बताया और इस समय के बाद ब्रिटिश सरकार ने कुछ अदा नहीं किया।

विश्व आर्थिक सम्मेलन
(The World Economic Conference)

विश्व मुद्रा और आर्थिक सम्मेलन (The World Monetary and Economic Conferene) जो लन्दन में १२ जून १९३३ को हुआ, लासेन में सुझाई गई योजना की परिपूर्ति था, और परिणामतः इसे उस प्रश्न से पृथक् करना बहुत कठिन था जिस पर पूर्ववर्ती सम्मेलन के परिश्रम की सफलता निर्भर थी। तथ्य तो यह है कि युद्ध ऋणों का श्री रेमज़े मैकडानल्ड ने अपने आरम्भिक भाषण में उल्लेख किया था और अन्य कई प्रतिनिधियों ने इसे परमावश्यक आरम्भिक समस्या बताया था। इससे अमेरिका में कुछ रोष तो हुआ, पर सम्मेलन की सफलता-विफलता पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। सम्मेलन की सारी आशा जिस एक बात पर केन्द्रित थी, वह थी मुद्रा की स्थायिता (stabilisation of currency) का प्रश्न। इस प्रश्न के महत्त्व पर नये अमेरिकन राष्ट्रपति ने १६ मई को ही यह कह कर बल दिया था 'कि सम्मेलन को मुद्राओं की स्थायिता द्वारा वर्तमान अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए', और जिस समय यूनाइटेड स्टेट्स का प्रतिनिधि मण्डल इंगलैंड रवाना हुआ, उस समय वह इसी नीति पर नाममात्र को वचनबद्ध था। यही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न स्वर्ण प्रमाप (gold standard) वाले देशों को और अन्य देशों को, जिनके विचार और दृष्टियों से बहुत भिन्न थे, एक जगह जोड़े हुए था। इस घटना ने सिद्ध कर दिया कि सब का कार्य इस प्राथमिक प्रश्न के सन्तोषजनक निपटारे पर निर्भर था। क्योंकि वर्साई पर केन्द्रित राजनैतिक पुनर्निर्माण की आशाएँ १९२० में चूर-चूर हो गई थीं, इसलिए जो लोग लन्दन में हो रहे आर्थिक सम्मेलन पर भरोसा किये हुए थे, वे १९३३ में यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा अकस्मात् नीति पलट दिये जाने से अस्त-व्यस्त हो गये।

वह आर्थिक तुषार झंझा (blizzard) जिसका पहला झोंका १९२९ के पतझड़ में न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज (New York Stock Exchange) पर आया था, बड़ी तेजी से परिवर्तित हो कर घूर्ण वायु (tornado) की विध्वंसकारी शक्ति पकड़ गया था। ४ मार्च १९३३ को, जब राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने शपथ ग्रहण की, सारी राष्ट्रीय बैंकिंग प्रणाली भंग हो गई प्रतीत होती थी और लगभग डेढ़ लाख मजदूर बेरोजगार थे। पिछले ही दिन स्वर्ण के रूप में ११६० लाख डालर फैडरल रिज़र्व बैंक से निकाले गये थे। नये राष्ट्रपति ने पहला कार्य तो यह किया कि चार दिन का बैंक अवकाश उद्घोषित कर दिया, और अगला कार्य यह किया कि कांग्रेस से विस्तृत आपातकालीन शक्तियाँ (emergency powers) देने के लिए कहा। आलंकिल अमेरिकन एक ऐसे नेता को शक्तियां देने के लिए तैयार ही थे जो शाँतिपूर्वक और भरोसे के साथ नियन्त्रण अपने हाथ में लेने को उद्यत था। १९ अप्रैल को यूनाइटेड स्टेट्स ने स्वर्ण प्रमाप (gold standard) का परित्याग कर दिया।

डालर की कीमतों के चढ़ाव के रूप में इसका जो अविलम्ब प्रभाव हुआ,

उसने सरकार को एक ऐसा प्रलोभन सुझा दिया जिसने शीघ्र स्थायीकरण के लाभा के बारे में पहले से बनाए हुए विचारों को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया। अब डालर के मूल्यह्रास को पुनरुद्धार का परमावश्यक उपादान माना जाता था। २२ जून को यूनाइटेड स्टेट्स के प्रतिनिधि-मण्डल ने सम्मेलन में यह ऐलान किया कि 'वाशिंग-टन-स्थित अमेरिकन सरकार यह समझती है कि अस्थायी स्थायीकरण के उपाय अब असामयिक होंगे'। ३० जून को स्वर्ण गुट के ५ राष्ट्रों और ब्रिटेन तथा यूनाइटेड स्टेट्स ने मिलकर एक ऐसा सूत्र निकाला जिसका उद्देश्य स्थायिता की शीघ्र स्थापना में अपने विश्वास को, व्यापक रूप से स्वीकार्य रूप में, पुनः प्रतिपादित करना था। सोमवार, ३ जुलाई, को राष्ट्रपति रूज़वेल्ट का एक सन्देश आया, जिसमें इसका बलपूर्वक प्रत्याख्यान किया गया था। इस सन्देश ने वास्तव में सम्मेलन को प्राणहीन कर दिया, जो २७ जुलाई तक वर्धमान अवास्तविकता के वातावरण मे साँस लेता रहा, और फिर अपने महान् कार्य का प्रायः कुछ भी अंश बिना पूरा किये स्थगित हो गया। युद्धोत्तर इतिहास की यह एक मुख्य निराशा थी। यूनाइटेड स्टेट्स की बाहरी मामलों में दखल देने और अकेले रहने के बीच झूलने की नीति ने ही, जा अब उसकी आदत बन गई है, एक बार और निश्चित रूप से विनाशक कार्य किया।

नई व्यवस्था
(The New Deal)

यहां उपलब्ध सीमित स्थान में उन उपायों पर ऊपरी विचार ही किया जा सकता है जो राष्ट्रपति रूज़वेल्ट और उनके प्रशासन ने अमेरिकन पुनरुद्धार के लिए किए। यह सचमुच कहा जा सकता है कि ब्ल्यू० ईगल (Blue Eagle), एन० आर० ए० (N. R. A.) तथा अन्य आद्यक्षरों (initials) वाले और बहुप्रचारित संघ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के इतिहास के बजाय यूनाइटेड स्टेट्स के आंतरिक इतिहास का विषय हैं। पर इस संकट की कहानी से जो पाठ मजबूरन सीखना पड़ता है, वह यह है कि राजनैतिक मामलों की अपेक्षा भी आर्थिक मामलों में, सारे संसार पर, किसी भी महत्त्वपूर्ण शक्ति, खासकर यूनाइटेड स्टेट्स, के भाग्य और कार्य का असर अनिवार्यतः पड़ता है। इसलिए, अमेरिकन पुनरुद्धार की संभावनायें और मात्रा, इसे लाने के लिए अपनाये गये साधन इस पुस्तक के विचार-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

शुरू में ही यह समझ लेना चाहिये कि अमेरिकन राष्ट्रपति का लक्ष्य सिर्फ आर्थिक पुनरुद्धार न था। उसने जो पग उठाये उनमें उसके कम से कम तीन उद्देश्य थे : कष्ट निवारण (relief), पुनरुद्धार (recovery) और सुधार (reform)। जिन परिस्थितियों में यूनाइटेड स्टेट्स में उद्योगों का विकास हुआ था, उनके कारण यहाँ यह विश्वास गहरा जम गया था कि प्रथमतः जो मनुष्य बेरोजगार है वह इसी का पात्र है और दूसरे, योग्य और महत्त्वाकाँक्षापूर्ण मजदूर को मालिकों की श्रेणी में पहुँचने से रोकने वाली कोई अलंघ्य बाधा नहीं है। इनमें से पहले विश्वास के अनुसार बेरोज़गारों के कष्ट कम करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थीं, और दूसरी बात ने मज़दूरों के संगठन को बहुत विलम्बित कर दिया और यूनाइटेड

स्टेट्स सामाजिक सुधार के क्षेत्र में अन्य औद्योगीकृत देशों से बहुत पीछे रह गया। अब अमेरिका के पास उन व्यक्तियों की एक विशाल और भूखी सेना थी जो अपना कोई दोप न होते हुए अपनी रोजी कमाने में असमर्थ थे और यह एक ऐसी तीव्र आवश्यकता थी जिसे हल करना दान या स्थानीय संगठनों के सामर्थ्य से बाहर था। मजदूर संगठन और आधुनिकतम सामाजिक सुख-सुविधा के प्रश्न असल में कम तीव्र थे। पर इस संकट की स्थिति ने नए राष्ट्रपति को जो अभूतपूर्व शक्ति दे दी थी और निराश जनता का जो कुछ भी किया जाय उसे ही तुरन्त मान लेने का जो रुख उस समय मौजूद था, उससे इन विलम्बित सुधारों को करने के लिए उसे एक प्रायः अलभ्य अवसर मिल गया। इसलिए यदि कष्टनिवारण और सुधार के लिए किये गये कार्यों से, सब दृष्टियों से, पुनरुद्धार के कार्य में सुविधा नहीं हुई, तो हमें इस विषय की आलोचना में बह न जाना चाहिए।

कुछ और असंगति की व्याख्या इस तथ्य से की जा सकती है कि बहुत जल्दी करना परमावश्यक था। राष्ट्रपति की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है जो विमर्शित उद्देश्य के लिए समय न होने के कारण रायफिल के बजाय शोटगन इस आशा से उठा लेता है कि जल्दी से गोली चलाने में, अकेली गोली सम्भाव्यतः निशाने पर न बैठेगी पर एक या दो बार बहुत से छर्रे चलाने से अभीष्ट परिणाम निकल आयेगा। उसने एक साथ कई उपाय किये और निःसन्देह यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे सब के सब एक से सफल होंगे। पर दुर्भाग्य से इनमें से कुछ उपाय न केवल असंगत थे, बल्कि परस्पर विनाशक थे। इसलिए एक प्रेक्षक के शब्दों में, जो विरोधियों में नहीं था, अमेरिकन नीति को 'आर्थिक परीक्षणों की खिचड़ी' (a welter of economic experiments) कहा जा सकता है।[1]

नई व्यवस्था (New Deal) पर पुनरुद्धार के एक साधन के रूप में विचार करते हुए इसे औद्योगिक, कृषिक और वित्तीय नीति के तीन शीर्षकों में बाँटा जा सकता है। राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुद्धार अधिनियम (N.I.R A.) में जो पहले शीर्षक के बारे में था, कष्ट-निवारण और सुधार के लक्षण भी प्रमुख थे। इसका अभिप्राय बहुत से बेकारों को उत्पादक उद्योगों में खपा लेना था और इसने मजदूरों के लिए उचित अवस्थाएँ निर्धारित करने वाले नियम बना कर बच्चों के बहुत अधिक नौकर रखने, आदि, जैसी बुराइयाँ कम करने का और मालिक तथा मजदूर के बीच सामूहिक सौदेबाजी के सिद्धान्त पर काम देने का यत्न किया। अपने काम के इन भागों में यह अपेक्षया सफल रहा। यद्यपि संगठित मजदूर की शक्ति में ऐसी आकस्मिक वृद्धि से उस औद्योगिक शान्ति में मदद मिलनी मुश्किल थी जिस पर समृद्धि निर्भर होती है। इस अधिनियम के शुद्धतः आर्थिक पहलुओं के बारे में यह निश्चय करना कठिन है कि इसे जो सफलता मिली वह कहाँ तक नुस्खे के कारण थी और कहाँ तक डाक्टर की, रोगी से उत्साहजनक बातचीत के कारण थी। शुरू में श्री रूजवेल्ट के संक्रामक साहस और विश्वास ने निस्सन्देह रोगी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पैदा किया जो अत्यधिक मूल्यवान्

१. दि राउँड टेबिल, मार्च १९३४, पृष्ठ २७०।

था। जनता ने ब्ल्यू ईगल (Blue Eagle) को जो एन. आई. आर. ए. के सिद्धान्तों को अपनाने का चिह्न था—युद्धकाल जैसी उत्सुकता से प्रदर्शित किया। अमेरिका के इस नेता ने जो आशा पैदा कर दी थी, उससे अमेरिका के स्तब्ध आर्थिक जीवन में नयी प्राणशक्ति के कम से कम अस्थायी चिह्न दिखायी दिये। मुद्रात्मक सम्पत्ति, प्राकृतिक सम्पदा और राजनैतिक सुरक्षा से सम्पन्न यूनाइटेड स्टेट्स का देह ऐसा है जिसे अत्यधिक विषमय औषधि भी स्थायी रूप से विकृत नहीं कर सकती। इसका अंततः पुनरुद्धार हर सूरत में निश्चित था, और मन्दी आत्मविश्वास नष्ट हो जाने के कारण बहुत उग्र हो गई थी, जिसके लिए राष्ट्रपति का स्वभाव काफी उपचार था। अतर्ग्रस्त आर्थिक सिद्धान्तों की पुष्टता अधिक विचारणीय है। बुनियादी विचार यह प्रचलित विश्वास था कि समृद्धि ऊँची मजदूरियों द्वारा क्रय-शक्ति की वृद्धि करने से हो सकती थी। पर ऐसे उद्योग में, जिसका संचित धन हाल की मंदी से बहुत कम हो गया था, ऊँची मजदूरियाँ, खास कर काम के घंटों में कमी के साथ, तभी दी जा सकती थीं जब कीमतें इतनी ऊँची कर दी जायं कि उस ऊँचाई पर वे प्राप्य डालरों की वृद्धि के प्रभाव को शून्य कर दें। साथ ही, यूनाइटेड स्टेट्स की जनता, जिसकी क्रय-शक्ति का प्रश्न विचारणीय था, सिर्फ उन मजदूरी-पेशा लोगों तक ही सीमित न थी जिन्हें नये नियमों के अनुसार मजदूरी वृद्धि से लाभ होता था। एन. आई. आर. ए. की जो विशेषता मालिकों को विशेष रूप से अपील करती थी, वह थी उन ट्रस्ट-विरोधी कानूनों के उपबन्धों से उन्मुक्ति जिनके कारण प्रतियोगिता में मूल्य कम करने की बुराइयाँ पैदा हुई थीं, जिनसे उन्हें अब तक नुकसान उठाना पड़ा था। पर इन से छुटकारा मिल जाने पर कीमतों में क्रय-शक्ति की वृद्धि की अपेक्षा मूल्यों में अधिक शीघ्र गति से वृद्धि की आशा की जा सकती थी। बढ़ी हुई मजदूरियाँ उद्योग के लिए उद्दीपक का काम करें, इस दृष्टि से यह वांछनीय प्रतीत होगा कि कीमतें स्थिर रहें, पर उत्पादन की मात्रा बढ़ जाये। लेकिन जो उपाय अपनाये गये, उनका प्रभाव यह नहीं हुआ, यद्यपि उनका उद्देश्य यही था। एन. आई. आर. ए. के अंतिम आर्थिक परिणामों के बारे में अटकलबाजी ही की जा सकती है; क्योंकि मई १९३५ में उच्चतम न्यायालय के एक विनिश्चय द्वारा यह अधिनियम अवैध ठहरा दिया गया।

प्रशासन द्वारा किसान-वर्ग के लिए किये गये ऐसे ही दूसरे प्रयत्न की भी जनवरी १९३६ में यही गति हुई। कृषक समायोजन अधिनियम (Agricultural Adjustment Act or A.A.A.) का प्रयोजन अधिक निश्चित, पर अधिक उचित रूप से कृषिक पदार्थों की कीमतें, जो विनाशकारी स्तर तक गिर गई थीं, ऊँची करना था। यह परिणाम उत्पादन को कम करके पैदा किया गया। किसानों को अपनी फसलों का कुछ भाग अपने ही काम में लगा लेने के लिए और अन्य रीति से उत्पादन घटाने के लिए प्रेरित किया गया और इसके बदले में उन्हें उन लोगों पर लगाये गये करों के धन से क्षतिपूर्ति दी गई जो लोग कच्चे सामान पर पहले कार्य करते थे, जैसे कातने वाले, पीसने वाले, आदि, और यह बोझ अन्त में उपभोक्ता पर पड़ता था, या उस पर डालना उद्दिष्ट था। प्रकृति के अलाभकर प्राचुर्य को व्यर्थ करने के इस प्रयत्न में कई अचिन्तित कठिनाइयाँ आईं, इससे कुल मिलाकर अपेक्षित परिणाम पैदा हो गया,

यद्यपि किसान को जो लाभ हुआ, उसका अधिकाश उसकी खरीदने की प्रत्येक वस्तु की कीमत बढ़ जाने से प्रायः व्यर्थ हो गया।

उच्चतम न्यायालय ने इस परीक्षण को जो बहुत थोड़ा समय दिया, उसके कारण इसकी कार्यसाधकता के बारे में कोई अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता। न्यायिक विनिश्चय से राष्ट्रपति की योजनाओं में जो बाधा पड़ी उनके कारण उन्होंने नवम्बर १९३६ मे पुनः निर्वाचित होने के बाद कांग्रेस से न्यायालय में अतिरिक्त न्यायाधीश नियुक्त करने की शक्ति माँगी। इसका अभिप्राय यह था कि राष्ट्रपति ऐसे सदस्यों की कमी पूरी करते जो सत्तर वर्ष की आयु हो जाने के बाद भी पद पर बने रहते थे। चूँकि नौ में से छह न्यायाधीश इस आयु से अधिक के थे, इसलिए इस प्रस्ताव का व्यावहारिक परिणाम यह होता कि राष्ट्रपति को अपने साथ राजनैतिक सहानुभूति रखने वालों का बहुमत न्यायालय में भर देने की शक्ति मिल जाती।

कृषि समायोजन अधिनियम (Agricultural Adjustment Act) में, कुछ असंगत रूप से, एक उपबंध समाविष्ट कर दिया गया था जो मुद्रा-संबंधी स्फीति (monetary inflation) की विस्तृत शक्तियाँ राष्ट्रपति को प्रदान करता था। वित्तीय और मुद्रा के क्षेत्र में ही श्री रूजवेल्ट की नीति में सबसे प्रमुख असंगतियाँ दिखाई देती थीं। उनके पहले कार्य—उनकी बचत, छंटनी और संतुलित बजट—कठिन और संकरे मार्ग पर चलने का उनका इरादा सूचित करते थे। उन्होंने कांग्रेस सदस्यों और केन्द्रीय कर्मचारियों के वेतनों में कमी कर दी और वही प्रक्रम पुराने सैनिकों के बोनसों पर लागू करने का अनुपम साहस दिखाया। बैंकों से उनका जो व्यवहार रहा उससे भी इसी लक्ष्य—देश की वित्तीय सुस्थितता में विश्वास की पुनः स्थापना—की पूर्ति में मदद मिली। पर उनकी बचत, प्रायः उसी समय उनके कष्ट-निवारण संबंधी व्यय की अधिकता के, चाहे वह कितना ही अपरिहार्य रहा हो, बराबर हो गई और अप्रैल १९३३ में ही, जब उन्होंने स्वेच्छा से स्वर्ण प्रमाप (gold standard) को छोड़ा, तब अपना कदम मुद्रा-स्फीति के एकमात्र दूसरे मार्ग पर रखा। पर डालर के अवमूल्यन (depreciation) का लक्ष्य वैदेशिक व्यापार में लाभ प्राप्त करना नहीं था, बल्कि इसका आशय देश के भीतर कीमत के स्तर को उठाने के काम में मदद करना था। अक्तूबर १९३३ में राष्ट्रपति ने कृत्रिम रूप से ऊँची कीमतों पर स्वर्ण खरीद कर मुद्रा स्फीति के प्रक्रम को त्वरित करने की कोशिश की और अगले वर्ष की जनवरी में उन्होंने डालर का मनमाना अवमूल्यन करके इसका मूल्य इसके पहले के मूल्य से लगभग ५९ प्रतिशत कर दिया।

अमेरिकन नीति के इस पहलू ने निराशाजनक परिणाम पैदा किया और अन्य राष्ट्रों को भारी हानि पहुँचाई। जैसा सर आर्थर साल्टर, ने बताया है [१] श्री रूजवेल्ट अपने आन्तरिक कीमत-वृद्धि के आशयित प्रयोजन के लिए 'गलत दिशा में उस साधन का प्रयोग कर रहे थे; यदि आशयित प्रकार के परिणाम को न्यूनमात्रा तक रखना था तो बहुत बड़ा (और अनाशयित) वैदेशिक परिणाम पैदा करने की जरूरत थी। इस दृष्टि से, इससे भी बुरा मई १९३४ का चांदी क्रय अधिनियम (Silver Pur-

१. पोलीटिकल क्वार्टर्ली, अक्तूबर १९३७, पृष्ठ ४९८।

chase Act) था, जो यूनाइटेड स्टेट्स के कुछ महत्त्वपूर्ण हितों को सन्तुष्ट करने के लिए, संसार की सारी चांदी के वास्तेवही व्याकुलता पैदा करता था जो पहले संसार के सोने के लिए हुई थी, जिससे यूनाइटेड स्टेट्स के मुद्रा के स्टाक मे दोनों धातुओ में १ : ३ अनुपात स्थापित हो जाय। अमेरिकन नीति के इस उपमार्ग का परिणाम चीन के लिए जिसकी मुद्रा चाँदी पर आधारित थी, विशेष रूप से विनाशकारी हुआ। उसकी आर्थिक संचिति (monetary reserve) बहुत कम रह गई और उसकी मुद्रा विदेशी विनिमय बाजार मे एकदम बहुत चढ़ गई, जिसका उसके वैदेशिक व्यापार पर अत्यधिक हानिकारक प्रभाव हुआ। तथ्य तो यह है कि इस नीति के परिणाम-स्वरूप, जिसके विरुद्ध उसने व्यर्थ विरोध-प्रदर्शन किया था, चीन के सामने ऐसी आर्थिक कठिनाइयां आ गई जिनसे उन अन्य शक्तियों को गंभीरतम चिन्ता पैदा हो गई जिनके लिए उसकी स्थायिता महत्त्वपूर्ण थी, और अन्त में उसे नवम्बर १९३५ में चाँदी प्रमाप (Silver Standard) का मजबूरन परित्याग करना पड़ा, क्योंकि युद्धों के बीच की सारी अवधि में अमेरिकन राजनीतिज्ञों के कथनों और कार्यो से यह प्रमाणित होता है कि प्रशांत क्षेत्र मे शक्ति-सतुलन में उनका हित था और जापान का प्रसारवादी लक्ष्य इसके लिए एक प्रमुख खतरा बना हुआ था। इसलिए, वह नीति, जो इस प्रकार चीन के प्रभावी प्रतिरोध केसामर्थ्य के दुर्बल करने की प्रवृत्ति रखती थी, अत्यधिक अदूरदर्शिता पूर्ण प्रतीत होती है।

स्वर्ण गुट का अन्त
(The End of the Gold Bloc)

यद्यपि स्थायीकरण की परियोजना विश्व आर्थिक सम्मेलन में यूनाइटेड स्टेट्स के रवैये से ध्वस्त हो गई थी, पर उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ उपाय करना स्थायी अंतर्राष्ट्रीय पुनरुद्धार के लिए परमावश्यक बना रहा। ब्रिटेन के पौण्ड का स्वर्ण से सम्बन्ध-विच्छेद करने के उदाहरण का कई अन्य देशों ने, जिनके वाणिज्यिक और वित्तीय हित उसके साथ बंधे हुए थे, बहुत शीघ्र अनुसरण किया। पर कुछ योरोपीय राष्ट्रों ने निम्नमूल्यन (devaluation) की कठिनाई की, और किसी मुद्रा का आधार हट जाने पर आने वाली विपत्ति की सजीव स्मृतियों से प्रेरित होकर अपने स्वर्ण सममूल्यों (gold parities) से चिपके रहने के, लिए बड़े यत्न किये [1]। इस नीति का नेता फ्रांस था क्योंकि शुरू के युद्धोत्तर वर्षों में फ्रांक का मूल्य बहुत अधिक गिर गया था। उसके मुख्य साथी बेल्जियम, हालैंड, लुक्जेम्बर्ग और स्विटजरलैंड थे। इटली प्रकाश्यत: इस समूह का सदस्य तो था, पर उसने वास्तव में अपने लीरा (Lira) का मूल्य जर्मनी के जैसे उपायों से नियंत्रित किया। पोलैंड अप्रैल १९३६ से पहले तक स्वर्ण प्रमाप (gold standard) पर कायम रहा, पर इस महीने विनिमय की पाबंदियाँ लागू कर दी गई। चैकोस्लावेकिया ने अपनी मुद्रा (currency) का मूल्य १९३४ में १६ प्रतिशत कम कर दिया, पर बैल्जियम स्वर्ण

१. उनके इस नीति अपनाने के कुछ और भी कारण थे जिनको उचित कहा जा सकता है, यद्यपि यहाँ स्थान की कमी के कारण इस तर्क पर अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

गुट (Gold Bloc) के पूर्णतया अर्हता-प्राप्त सदस्यों में पहला था जिसने मार्च १९३५ में बैल्गा (Belga) का मूल्य घटाकर यह संघर्ष त्याग दिया ।

स्वर्ण सममूल्य (gold parities) कायम रखने के नुकसान १९३१ के बाद शीघ्र प्रकट होने लगे। स्टर्लिंग गुट वाले देशों में तो औद्योगिक उत्पादन के निर्देशांक (indices) लगातार ऊँचे होते गये, पर उस समूह के आंकड़ों में जो स्वर्ण पर जमा रहा, उल्लेखनीय कमी रह गई । बेरोजगारी की समस्या बहुत गभीर हो गई। पर्यटकों का आना स्विटजरलैंड में कम होने लगा और अपेक्षया अधिमूल्यित (overvalued) मुद्राओं की प्रतियोगितात्मक कठिनाई अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिकाधिक महसूस की जाने लगी। जब १९३६ की गर्मियों के शुरू में श्री ब्ल्यू के नेतृत्व में पापुलर फ्रंट (Popular Front) सरकार फ्रांस में सत्तारूढ हुई, तब इसने सामाजिक सुधार के कार्यक्रम से परिव्ययों में और भी अधिक वृद्धि की, जो वैदेशिक व्यापार के लिए हानिकारक थी। पूंजीपतियों की बेचैनी और घबराहट से, जो व्यापक औद्योगिक विवादों से और अधिक बढ़ गई थी, देश के मुद्रा-सम्बन्धी संसाधनों पर नया खिंचाव पड़ने लगा। निम्नमूल्यन (devaluation) के समर्थकों की आवाज अधिकाधिक प्रबल होती गई और एक प्रमुख अर्थशास्त्री श्री चार्ल्स रिस्ट ने विश्वासोत्पादक ढंग से यह बताया था कि :

> फ्रांक को किसी भी लागत पर उसी मूल्य पर बनाये रखने का अर्थ यह है कि सारी फ्रेंच अर्थ-व्यवस्था ऐसे समग्र नियन्त्रणों और प्रतिबंधों (controls and prohibitions) से अधिकाधिक जकड़ी रहे, जब इसे नये मार्ग ढूंढ़ने की और महान् एंग्लो-सैक्सन अर्थ-व्यवस्थाओं के, जो आजकल एकमात्र समृद्ध अर्थ-व्यवस्थाएं है, समूह के साथ सम्पर्क पुनः स्थापित करने की आवश्यकता है।

तो भी श्री ब्लम के लिए निम्नमूल्यन (devaluation) की नीति अपनाना कठिन था। वह निम्नमूल्यन-विरोधी कार्यक्रम के आधार पर ही सत्तारूढ़ हुए थे और उन्हें उन लोगों के वोट पर, जो शेयर आदि की स्थिर आमदनी पाते थे, इसके प्रभाव और अपने कम्यूनिस्ट समर्थकों की, जिन्हें इस कार्य में, इसके परिणामस्वरूप होने वाली निर्वाह व्यय की वृद्धि से, मजदूरवर्ग की लूट नजर आती थी, विरोध का भी खयाल रखना था, और साथ ही, अगर फ्रांस अकेला यह कार्य करता तो उसे यह निश्चय न था कि प्रतियोगी मुद्राओं का और अवमूल्यन हो जायेगा, या फ्राँक के मूल्य में अभिप्रेत सीमा से परे विश्वास नष्ट हो जाने के कारण अभिप्रेत सीमा से परे अनियंत्रित गिरावट आ जायेगी। अधिक व्यापक स्थायीकरण (stabilisation) की व्यापक गारन्टी परमावश्यक थी और यह अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, विशेषकर ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स के साथ, करने से ही प्राप्त हो सकती थी। यह कठिनाई २६ सितम्बर १९३६ को हल हुई जब बातचीत के बाद फ्राँस, ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स की सरकारों ने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शान्ति और व्यवस्था की पुनः स्थापना को अपना लक्ष्य बताते हुए उन्होंने अपनी मुद्राओं के बीच एक स्थायी संतुलन की स्थापना का प्रस्ताव रक्खा, और उसे न बिगाड़ने की उन्होंने अलग-अलग प्रतिज्ञा की । इसमें फ्रेंच मुद्रा का पुनः समायोजन

(readjustment) करना पड़ता था—फ्रांस ने उसी समय अपनी मुद्रा का मूल्य २५ और ३४ प्रतिशत के बीच कम कर दिया। तीनों पक्षों ने यथाशक्य स्थायिता (stability) बनाये रखने के लिए मिलकर काम करने का अपना इरादा घोषित किया ; इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक देश में विनिमय समकरण निधियां (Exchange Equalisation Funds) स्थापित की गईं। उन्होंने कोटों और विनिमय नियन्त्रणों को समाप्त करने की दृष्टि से उनकी मौजूदा प्रणाली को उत्तरोत्तर शिथिल करने के लिए अविलम्ब कार्यवाही करने के महत्त्व पर भी बल दिया और अन्य राष्ट्रों से सहयोग देने के लिए कहा।[1] यद्यपि आर्थिक सहयोग इच्छापूर्वक नहीं दिया गया, पर इस कार्य का प्राय: अविलंब यह परिणाम हुआ कि पहले का सारा स्वर्ण गुट (gold bloc) इसके साथ हो गया। सम्भवत: अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के इस उदाहरण की जो विशेषता सबसे अधिक स्थायी महत्त्व की थी, वह यह थी कि यह आत्म-निर्भरता की उस नीति के विरुद्ध एक शक्तिशाली संयोजन को प्रस्तुत करता था जिसके प्रमुख प्रतिपादक सर्वाधिकारवादी अधिनायक-तन्त्र और खास कर जर्मनी थे।

आर्थिक संकट के परिणाम
(Effects of the Economic Crisis)

इस अध्याय में वर्णित बातों का पूरा ऐतिहासिक महत्त्व पाठक को हृदयंगम कराने के लिए हम इस अध्याय का उपसंहार इस संकट की राजनैतिक प्रतिक्रियाओं का संक्षिप्त सारांश देकर करेंगे। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि इसने जर्मनी को एकाएक राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) का अनुयायी बना दिया। इस संकट से पहले श्री हिटलर और उनके दल की राजनैतिक शक्ति उपेक्षणीय थी। पर नाजियों ने यंग योजना में तय किये निपटारे का सदा विरोध किया था। उन्होंने इसके बोझ को अपने देश की सहनशक्ति से अधिक बताया था। अब ऐसा प्रतीत होता था कि वे सही सिद्ध हो गये थे। स्ट्रैसमैन शासन में जर्मनी को यह उद्बोधन दिया गया था कि वह समझौते के पालन की नीति पर, जो इस समृद्धि के मार्ग की एक मंजिल है, जो राष्ट्रों के मेल-मिलाप के बाद आयेगी, डटा रहे। वह इस सलाह पर चलता रहा और उसने अपने को तथा दुनिया को अभूतपूर्व विपत्ति में फँसा हुआ पाया। उसने सोचा कि यह मार्ग ठीक नहीं। इसके अलावा, इस संकट के परिणामस्वरूप वैधानिक सरकार के मार्ग में प्राय: अलंघ्य कठिनाइयाँ आ गईं। ब्रूनिंग को वह सब बदनामी झेलनी पड़ी, जो उग्र अर्थ-व्यवस्थाओं में हुआ करती है। उसने संसद् और जनता के विरोध के सामने अपने कर्तव्य का निर्वहन करने में अपने को असमर्थ पाया। वह राइख स्टैग की बिना आपात आज्ञप्तियों के द्वारा ही शासन करने लगा और उसने इस तरह अधिनायक तंत्र के लिए मार्ग तैयार कर दिया। वह

---

१. इस नीति का और स्पष्टीकरण बेल्जियम राजनीतिज्ञ श्री वान जीलैंड द्वारा फ्रेंच और ब्रिटिश सरकार की प्रार्थना पर तैयार की गई रिपोर्ट की, जो जनवरी १९३८ में प्रकाशित की गई थी, मुख्य सिफारिश पढ़ने से हो सकता है।

वीमर संविधान (Weimar Constitution) की रक्षा के लिए चला था, पर घटनाओं के दवाव ने उसे इसकी कमजोरियां प्रदर्शित करने के लिए मजबूर कर दिया। सच तो यह है कि सब जगह स्थिति की संक्रांति ने कुछ राजकीय नियंत्रण अनिवार्य कर दिया जो लोकतन्त्र की अपेक्षा अधिनायकतन्त्र के साथ अधिक सुसंगत था। सब जगह राष्ट्रीय सीमांतों के पीछे अपनी-अपनी जान वचाने की भावना भी थी और उस के साथ वह संघर्ष भी था, जो बाजार की तलाश में व्याकुल पड़ौसियों का व्यापार हाथ से निकल जाने से हुआ करता है। इसने प्रत्येक राष्ट्र को अपनी ही स्वतन्त्र मुक्ति के लिए प्रयत्न करने के लिए उन्मुख कर दिया और इस सब के ऊपर आंतरिक अव्यवस्था का, जो कठिनाई के समय आवश्यक रूप से पैदा हो जाती है, भय था। यह संसार की शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था।

वाद में, विनिमय-नियन्त्रण और स्थानीय व्यापार व्यवस्थाएँ करना आदि उपाय, जो बहुत से देशों में अनिच्छापूर्वक अपनाये गये थे, जर्मनी मे डाक्टर शाख्ट (Dr. Schacht) की प्रतिभा से राजनैतिक नियन्त्रण के एक विमर्शित साधन के रूप में परिवर्तित कर दिये गये थे। दक्षिण-पूर्वी योरोप के अधिकतर देशों को एक मात्र इच्छुक बाजार प्रस्तुत करके, बदले मे कम निर्यात करके, परिणामत: बचे हुए प्रत्ययों (credits) को अवरुद्ध करके और इस ऋण के बदले में जर्मनी के ऐसे निर्मित सामान, विशेषकर शस्त्रास्त्र, प्रस्तुत करके, जिन्हे देना उसके प्रयोजन को सिद्ध करता था, उसने योरोप के इस भाग को ऐसी स्थिति मे कर दिया कि वे न केवल आर्थिक दृष्टि से बल्कि राजनैतिक दृष्टि से भी जर्मनी पर निर्भर हों। विनिमय-नियंत्रण और राज्य-संचालित व्यापार के उन्हीं उपायों ने आत्म-निर्भरता की नीति को भी आगे बढ़ाया जो प्रतीत होता है कि नाज़ियों ने, आर्थिक पुनरुद्धार के लिए उतनी नहीं अपनाई थी, जितनी इसके लिए अपनाई थी कि देश युद्ध की संभावना का मुकाबला कर सके।

जर्मनी के अलावा, योरोप का वह भाग, जहाँ आर्थिक मंदी का सबसे महत्त्व-पूर्ण राजनैतिक प्रभाव हुआ, फ्राँस था। फ्राँस का योरोप के भाग्य-निर्माण मे प्रबल और निर्णयात्मक हिस्सा लेने के सामर्थ्य पर घरेलू उपद्रवों और सरकारों की अस्थि-रता का, जो इन प्रतिकूल परिस्थितियों में राजस्व प्राप्त करने के समय होनी आव-श्यक थी, प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उसकी कठिनाइयाँ, सितम्बर १९३६ की व्यवस्था के अधीन ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स के सहयोग के बावजूद बनी रहीं। फ्राँस की जनता में आर्थिक पुनरुद्धार के लिए वैयक्तिक बलिदान करने की अत्यधिक अरुचि है, वहाँ मन्त्रिमंडलीय संकट जारी रहे। पूँजी अब भी देश से भागती रही और अब भी फ्रांक का मूल्य मार्च १९३८ के अन्त में पुन: कम करना पड़ा। पर शान्ति की सम्भा-वनाओं पर मंदी का हानिकारक प्रभाव अकेले यूरोप में नहीं हुआ वल्कि सारे संसार में देखा जा सकता है, उदाहरण के लिए आर्थिक संकट ने १९३० में अपनी आर-म्भिक अवस्थाओं में दक्षिण अमेरिका में क्रान्तियों की महामारी अविलम्ब पैदा कर दी। पेरू और बोलीविया में भी क्राँतियाँ हुईं और इन दोनों में एकाएक सरकार का परिवर्तन हो गया। इन दोनों देशों में नयी सरकार शीघ्र ही एक पड़ोसी देश के

साथ लड़ाई मे पड गयी। लेटीसिया विवाद (Leticia dispute) में आरम्भिक उपद्रव पेरू सरकार ने नहीं कराए थे पर तो भी इसकी पूर्ववर्ती सरकार के साथ हुए करार पर प्रबल असंतोष इस मामले में न केवल एक महत्त्वपूर्ण कारक था, बल्कि सुनिश्चित रूप से उस सरकारी समर्थन और सहानुभूति का हेतु था, जो उपद्रवियों को बाद में मिली और जिसने एक उत्तरदायित्वहीन घटना को बढ़ाकर एक उपाख्यान का रूप दे दिया। बोलीविया में यद्यपि पैरागुआ के साथ चाको सम्बन्धी विवाद (Chaco dispute) क्रान्ति से पहले पुनः भड़का था, पर दोनों देशों के सम्बन्धों और व्यवहार मे द्रुत बिगाड़ इस घटना के समय से ही हुआ प्रतीत होता है।

और भी अधिक स्पष्ट रूप से, आर्थिक सकट ही उन विनाशकारी घटनाओं का कारण था जो पूर्वी एशिया मे शुरू होनी थी। यहाँ हम एक ऐसी घटना की चर्चा कर रहे हैं जो सम्भवत: विश्व की शान्ति भंग करने के लिए यूरोप की गड़बड़ स्थिति की अपेक्षा भी अधिक जिम्मेवार थी—अर्थात् जापान और उसकी जनता द्वारा सैनिकवाद (militarism) की नीति अपनाना। इसमे कोई संदेह नही कि प्रेरक भाव आर्थिक था, क्योंकि जापान के राजनैतिक दलो पर बड़े पूँजीपति अपनी अत्यधिक संकेन्द्रित शक्ति से निर्णायक नियंत्रण रखते थे। दो सबसे बडी कम्पनियाँ मित्सुई और मित्सुबिसी, जो मिलकर देश का आधे से अधिक निर्यात व्यापार करती थीं, जापानी संसद् पर पूरी तरह से छाई हुई थीं। पर इसके अलावा देश की विशाल और बढ़ती हुई आबादी को भोजन देने के लिए आर्थिक प्रसार की मार्गहीन आवश्यकता से यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि जब शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता के उपाय विफल हो गये तब क्यों दूसरा अधिक दूषित उपाय अपनाया गया।

> विश्व मंदी के लम्बे मार्ग में आर्थिक प्रतियोगिता की विफलता से परेशान होकर अन्त में जापानी लोगों ने जापानी सेना के नेतृत्व का अनुसरण किया और वाणिज्यिक प्रसार की नीति छोड़कर सैनिक विजय की नीति अपना ली······वे आर्थिक क्षेत्र में, जिसमें 'बुद्धियुक्त प्रबन्ध' मानव नियन्त्रण से ऊपर के अमानवीय बलों के कारण व्यर्थ हो गये प्रतीत होते थे, अपनी राष्ट्रीय जीविका कमाने का यत्न जारी रखने से निराश हो गये, और इस मनोवस्था में वे तलवार से जीविका कमाने का यत्न करने के आदिकालीन भद्दे उपाय पर लौट आये, जिसका एकमात्र कारण यह था कि तलवार चाहे कितना भी भद्दा और अपरिष्कृत उपकरण हो पर वह कम से कम एक ऐसा उपकरण तो थी जिसे मानवीय लक्ष्यों की शक्य प्राप्ति के लिए संभालने और चलाने में मानवीय हाथ समर्थ प्रतीत होता था।[1]

श्री टायन्बी (Mr. Toynbee) के इन शब्दों में न केवल जापान की स्थिति का, बल्कि आर्थिक मंदी का शान्ति के ऊपर खतरे के रूप में जो विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा, उसका सारांश आ जाता है। और बादल भी छा रहे थे, पर यह अकेला ही शान्ति और स्थायी सभ्यता में मनुष्यों की श्रद्धा और आशा भंग करने के लिए काफी था।

अन्त में, हमें आर्थिक राजनैतिक घटनाओं के परस्पर व्यवहार से जनित कठिनाइयों को समझना होगा। राजनैतिक भय उस आर्थिक सहयोग में रुकावट डालते

---

१. सर्वे आफ इण्टरनेशनल अफेअर्स, १९३१, पृष्ठ ४०३।

हैं, जो पुनरुद्धार के लिए परमावश्यक है, और उस विश्वास की पुनः स्थापना में रुकावट डालते हैं, जिसके बिना आर्थिक सहयोग नहीं हो सकता। पुन:शस्त्रीकरण (rearmament) के कारण उत्पन्न समृद्धि ने आधारभूत मन्दी की मौजूदगी पर पर्दा डाल दिया। दूसरी ओर, आर्थिक कठिनाइयों में अति व्यस्तता के कारण राज-नीतिज्ञों के मस्तिष्क उन राजनीतिक खतरों से दूर रहते रहे, जो उस समय मौजूद थे। परिणामत: राष्ट्र राष्ट्र के बीच ऐसी दीवारें खड़ी हो गईं जिनके फलस्वरूप ऐसा कोई संयुक्त प्रयास असंभव हो गया जो ससार को सुरक्षा प्रदान कर सकता था।

मध्य-पूर्व
(The Middle East)
अखिल-अरब भावना की वृद्धि
(Growth of Pan-Arab Sentiments)

मध्यपूर्व के सभी देशों में हाल के वर्षों में अपनी स्वतन्त्र शक्ति की चेतना में वृद्धि और योरोपियन नियंत्रण के प्रति बेचैनी दृष्टिगोचर हुई है। १९२७ से ईरान बहरीन पर सर्वोच्चता के जो बार-बार, पर निष्फल, दावे करता रहा है, और ईराकी तथा ईरानी सरकारों ने, क्रमशः १९३१ और १९३२-३३ में विदेशी तेल स्वार्थों के अधिकारों में अपने लिए लाभदायक परिवर्तन करने के जो कुछ अधिक सफल प्रयत्न किये, वे उसी चेतना और बेचैनी के उदाहरण हैं। यद्यपि एंग्लो-ईरानी तेल विवाद (Anglo-Persian Oil Dispute) इतना महत्त्वपूर्ण नहीं कि उस पर इस पुस्तक में अधिक विचार किया जाय पर उस समय यह इतना काफी गम्भीर था कि इसे जिनीवा भेजने की आवश्यकता पड़ी। पर अधिक स्थायी महत्त्व की वस्तु एकता की वह बढ़ती हुई भावना और पूर्ण स्वतन्त्रता का संकल्प था, जो अरब जगत् में लक्षित होता था। प्रतीत होता था कि मध्यपूर्व में राष्ट्रवाद, जो एक पश्चिमी आदर्श था, इस्लामी बंधुता की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण संगठन-कारण बन जाएगा, यद्यपि दिसम्बर १९३१ में जेरूसलम में इस्लामी कांग्रेस (Islamic Congress) बुला कर इस्लाम के आधार पर संगठन का प्रबल यत्न किया गया था, पर इस संस्था में नई हलचल के कोई चिह्न नहीं दिखाई दिये, और सच तो यह है कि मध्यपूर्व में जो मतमतांतर मौजूद हैं, वे मुस्लिम धर्म की एकता पैदा करने वाली शक्ति को बहुत न्यून कर देते हैं, यद्यपि शायद ये साम्प्रदायिक मत-भेद मूलवंशीय एकता (racial community) की बढ़ती हुई भावना से कम होते जा रहे हैं। दूसरी ओर, अरब जगत् के विभिन्न भागों में मूलवंशीय एकता की भावना बढ़ने की प्रवृत्ति रही है, जैसा कि जेरुसलम कांग्रेस में आये अरब प्रतिनिधियों द्वारा १३ दिसम्बर को की गई अपनी एक स्वतंत्र बैठक में निर्मित एक प्रसंम्विदा (covenant) से स्पष्ट है। इसमें अरब प्रदेशों को एक अविभाज्य भूखण्ड उद्घोषित किया गया था और यह प्रतिपादन किया गया था कि अरबों के सारे प्रयत्न पूर्ण तथा एकीकृत स्वतन्त्रता के लक्ष्य की दिशा में होने चाहिएं। अरब एकता तब भी प्रदर्शित हुई, जब १९३६ में फिलस्तीन में हुए उपद्रवों के अवसर पर तीनों पड़ोसी अरब क्षेत्रों के शासकों ने सक्रिय दिलचस्पी दिखाई और मध्यस्थता के प्रयत्न किये। अखिल अरब आन्दोलन (Pan-Arab movement) का एक सम्भव केन्द्र सऊदी अरब का शक्तिशाली राज्य था जिसके शासक को एक प्रेक्षक ने 'पैगम्बर के बाद महत्तम अरब'[1] (The Greatest Arab since the Prophet) बताया। जिस अवधि पर

१. कैप्टेन सी० सी० लेविश, इन्टरनेशनल अफेअर्स १९३३, पृष्ठ ५२९।

हम यहाँ विचार कर रहे हैं, उसमें इब्न सऊद ने अपने पड़ोसियों के साथ अपने सम्बन्धों में जो उल्लेखनीय कुशलता प्रदर्शित की, और विद्रोह तथा बाह्य आक्रमण, दोनों को जिस पराक्रम से दबाया, वे इस अति-रंजित मालूम होने वाली प्रशंसा को बहुत कुछ उचित सिद्ध करते है।

सऊदो अरब को प्रगति
(Progress of Saudi Arabia)

इब्न सऊद को जिस खतरे से सबसे पहले निपटना था, वह आन्तरिक विद्रोह का खतरा था। १९३२ में इद्रिसी सैयद के भड़काने पर असीरी कबायलियों का विद्रोह हुआ। यह अगले वर्ष फरवरी तक शान्त कर दिया गया और सऊदी सेना ने सब्या पर कब्जा कर लिया और इद्रिसी को भाग कर यमन में शरण लेनी पड़ी। यह विद्रोह अभी दबाया ही गया था कि उत्तर से एक निर्वासित अरब इब्न रिफादा के नेतृत्व में, जो ट्रांसजोर्डन में शरण लिये हुए था, आक्रमण हो गया। इस घटना में अमीर अब्दुल्ला का हाथ होने का जो सन्देह किया जाता है वह अयुक्तियुक्त नहीं। इस विद्रोह को पहले वाले विद्रोह की अपेक्षा अधिक तत्परता से दबा दिया गया। नेता मारा गया और उसके अनुयायी समाप्त कर दिये गए। पर इब्न सऊद को अविलम्ब एक अधिक कठिन विरोधी की ओर ध्यान देना पड़ा। कुछ समय से सऊदी अरब और उसके साथ लगे हुए प्रदेश, यमन, में अच्छे सम्बन्ध नहीं थे। सऊदी अरब के शाह ने यमन के शाह के साथ अब तक बड़े अनुग्रहकारी तरीके से व्यवहार किया था। यमन के इमाम ने अदन प्रोटैक्टोरेट में जो आक्रमण किये, और जिनके कारण १९२८ में ब्रिटिश विमानों की सहायता ली गई, उनसे पहले दक्षिणी सीमान्त पर तनातनी थी। पर फरवरी १९३४ में एक ऐंग्लो-यमनी संधि होने से यह तनाव दूर हो गया और इस चिन्ता से मुक्त होकर इमाम ने अपने अरब पड़ोसी के देश में आक्रमण कार्य आरम्भ कर दिये। तथ्यतः, ये सैनिक कार्य पिछले ही वर्ष शुरू हो गये थे, पर झगड़े को वार्ता द्वारा निपटाने के प्रयत्न फरवरी १९३४ के पहले तक अन्तिम रूप से भंग नहीं हुए थे। इसके बाद जो युद्ध हुआ वह छोटा और निर्णायक था। अप्रैल में इमाम शान्ति याचना कर रहा था और मई में एक शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए जिसकी नरम और समझौतापूर्ण शर्तों से उसका सरकारी शीर्षक—'इस्लामी मैत्री और अरब बन्धुता की सन्धि'—उचित ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार अपने शत्रुओं को, कम से कम उस समय के लिए, प्रभावी रूप से समाप्त करके इब्न सऊद ने उस शक्तिशाली केन्द्र पर, जो उसने पैदा किया था, अरब एकता की व्याप्त भावना को संचित करने का कार्य आरम्भ किया। इस नीति का आरम्भ जनवरी १९३६ में बहरीन के साथ एक व्यापार और पारनयन करार (Transit Agreement) करके किया गया और उसके अविलम्ब बाद उसने कुवैत की राजकीय यात्रा की जिसका उद्देश्य यह था कि इस प्रदेश के और उसके अपने प्रदेश के बीच में जो आर्थिक संघर्ष था—जिससे पहले दोनों देशों के मैत्री सम्बन्ध बिगड़े रहे थे—उसे समझौते की भावना से समाप्त कर दिया जाए। इस प्रकार अपना

प्रभाव ईरान की खाड़ी तक फैलाने के लिए आशापूर्ण आधार बनाकर उसने ईराक के साथ अविलम्ब वार्त्ता शुरू की जिसके परिणामस्वरूप, अप्रैल १९३६ में 'अरब बन्धुता और मैत्री की एक सन्धि' हुई जो अन्य स्वतन्त्र अरब राज्यों के मानने के लिए खुली रखी गई। यमन के इमाम ने अगले वर्ष इस अवसर का लाभ उठाया। इसी बीच ७ मई १९३६ को मिस्र के साथ मैत्री सन्धि हुई।

इस प्रकार इब्न सऊद ने अखिल-अरब भावना (Pan-Arab sentiment) का नियन्त्रक और केन्द्र-बिन्दु बनने की अपनी आकांक्षा की पूर्ति की दिशा में प्रचुर प्रगति की। इस दिशा में पूर्ण सफलता की एकमात्र बाधा वे धार्मिक मतभेद थे जो वहाबियों को शेष अरब जगत् से पृथक् करते है, और अधिक सीधे तौर से, ट्रांसजोर्डन के अमीर अब्दुल्ला की प्रतिस्पर्धा और सन्देह थे। स्वभावतः अब्दुल्ला, १९२५ मे हेजाज से अपने परिवार के निष्कासन को नही भूला था और उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह स्वेच्छया इब्न सऊद की आकांक्षाओं के लिए अनुकूल रुख ग्रहण कर लेगा, पर दोनों राज्यों के सम्बन्ध १९३३ मे मैत्री सन्धि होने से बहुत सुधर गये।

ब्रिटेन के लिए यह निश्चित रूप से लाभकर है कि अरब जगत् में ऐसी प्रधान स्थिति इब्न सऊद जैसे शासक को प्राप्त हो जो उसके प्रति इतना अच्छा रुख रखता है। इस तथ्य का ध्यान रखते हुए कि ब्रिटेन और एशिया के बीच समुद्र और आकाश के दोनों मुख्य मार्गों के किनारे-किनारे ब्रिटिश प्रदेश फैला हुआ है, यह परमावश्यक है कि वह प्रदेश मित्रतापूर्ण हाथों में रहे और किसी प्रतियोगी विदेशी प्रभाव के लिए खुला न हो। ऐसे प्रदेश में जिसमें अन्य किसी राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण स्वार्थ न हों, प्रतियोगी विदेशी प्रभाव का प्रयोग ब्रिटेन के लिए झगड़ा पैदा करने के उद्देश्य को छोड़कर और किसी उद्देश्य से नहीं किया जा सकता। इटली ने १९२६ से यमन के इमाम के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये, वे शुरू में तो सम्भवतः निर्दोष थे, पर १९३७ में, जब इटालो-यमनी सन्धि (Italo-Yemeni treaty) पुनर्नवित की गई और इमाम को विभिन्न प्रकार के कुछ शस्त्रास्त्र भेंट किये गये, तब वे स्पष्टतया संदिग्ध प्रकार के हो गये। इससे अधिक प्रत्यक्ष रूप से शत्रुतापूर्ण वह ब्रिटिश विरोधी प्रचार था जो इटली ने उसी समय अरबी भाषा में अपने बारी के रेडियो स्टेशन से करना शुरू किया। दक्षिण-पश्चिमी एशिया मे स्थिति को विनियमित करने का एक प्रयत्न १९३८ के एंग्लो-इटालियन समझौते के परिशिष्ट ३ और ४ में किया गया। इस समझौते द्वारा दोनों पक्षों ने सऊदी अरब या यमन में 'राजनीतिक ढंग के विशेषाधिकार की स्थिति' प्राप्त न करने का वचन दिया और उन्होंने इसे अपना साझा हित घोषित किया कि कोई अन्य शक्ति वैसा करने का यत्न न करे। उन्होंने इस प्रदेश में किसी आन्तरिक संघर्ष मे न पड़ने की और एक दूसरे के लिए हानिकारक प्रचार से बचने की प्रतिज्ञा की। यदि यह सोचा जाए कि इस प्रदेश में ब्रिटेन का वैध स्वार्थ कितना अधिक, और इटली का कितना कम था, तो यह पता चलेगा कि ब्रिटेन ने जितना पाया, उससे अधिक दिया; इस समझौते से तब तक हमारे हितों को लाभ होने की सम्भावना थी जब तक इसका सद्भावपूर्वक पालन किया जाए।

मिश्री सन्धि
(The Egyptian Treaty)

मई १९३० के बाद, एंग्लो-मिश्री सन्धि की वार्त्ता में जो गतिरोध आगया था (देखो अध्याय १४) वह कई वर्ष तक कायम रहा और यही अवस्था शायद अनिश्चित काल तक बनी रहती। पर एक प्रतीयमानत: आकस्मिक घटना—१९३५-३६ का इटैलो-एबिसीनियन युद्ध—हो गयी। मिश्र वालों की दृष्टि में, उनका देश आक्रान्ता के विरुद्ध अनुशास्तियों (sanctions) की नीति अपनाने के बाद जिस स्थिति में आ गया था, उसमें आंग्ल-मिश्री सम्बन्धों के प्रश्न को पुनः शुरू करने का खासतौर से उचित मौका था। सारे मिश्र में एबीसीनियन राष्ट्र के लिए जनता की जो सहानुभूति थी, उसके परिणामस्वरूप, जो देश राष्ट्रसघ के सदस्य नहीं थे, उनमें से अकेले उसने ही अनुशास्ति की कार्यवाही की और इस प्रकार अपने लिए इटली के आक्रमण का खतरा पैदा कर लिया। इन परिस्थितियों ने ब्रिटिश सैनिक परिरक्षण के जारी रहने से होने वाले वास्तविक लाभों पर नया प्रकाश डाला। दूसरी ओर, ब्रिटेन ने ब्रिटिश साम्राज्य-गत संचार साधनों की रक्षा और मिश्र की प्रतिरक्षा के लिए फरवरी १९२२ की घोषणा में जो अधिकार रक्षित किये थे उनके प्रयोग से मिश्र के आंग्ल-इटालियन युद्ध-क्षेत्र बनने की सम्भावना पैदा हो गई और वह शिकायत की भावना और बढ़ गई जो मिश्री लोग अपने देश पर ब्रिटिश सैनिक आधिपत्य के कारण निरन्तर रखते थे। मिश्र में ब्रिटिश सेना की शक्ति-वृद्धि और भूमध्य सागर के बेड़े को सिकन्दरिया (Alexandria) ले आना, आदि कार्य ऐसे थे जिन्हें, यद्यपि वे सामान्यतया जितने बुरे लगते उतने अब नहीं लगते थे, मिश्र की स्वतन्त्र सर्वोच्चता की धारणा से समन्वित करना कठिन था। इसलिए मिश्री दृष्टिकोण से, यह अवसर दोनों देशों के सम्बन्धों को दोनों के लिए अधिक सन्तोषजनक आधार पर लाने के लिए अनुकूल था।

पर ब्रिटिश सरकारी क्षेत्रों ने शुरू में इस पर दूसरी दृष्टि से विचार किया। मन्त्रिमंडल अन्य दिशाओं में जिन बातों में व्यस्त था, उनके कारण उसकी दृष्टि में एक गौण महत्त्व के मामले पर उसका ध्यान देना असमयोचित था; विशेषकर इस कारण कि मौजूदा अवस्था में इंगलैंड को जो अधिकार थे, वे उसे मुख्य स्थिति का सामना करने की खुली छूट देते थे। सच तो यह है कि ऐसे समय, जब वे प्रसंविदा (covenant) के और विश्व की व्यवस्था के सिद्धान्तों की रक्षा में व्यस्त थे, वे मिश्र की माँगों पर रुष्ट थे और उसे मिश्री राष्ट्रवाद के लाभ के लिए ब्रिटिश कठिनाइयों से फायदा उठाने का प्रयत्न समझते थे। पर यह दृष्टिकोण बनाने का अविलम्ब परिणाम यह हुआ कि मिश्र में सब दलों का एक संयुक्त मोर्चा बन गया, जिसने एकमत से आंग्ल-मिश्री सन्धि के लिए शीघ्र वार्त्ता की आवाज उठाई और उस पर लगातार आग्रह किया। क्योंकि ऐसी कार्यवाही करने में मुख्य बाधा यह थी कि मिश्री लोकमत का पूर्णतया प्रतिनिधान करने वाला ऐसा कोई दल नहीं था जिससे बातचीत की जाए, इसलिए यह अवस्था वस्तुतः अनुकूल थी। साथ ही, एक घटना से दोनों देशों के सम्बन्धों को नया रूप देने का आन्दोलन बहुत अधिक गहरा पहुँच गया और उसे स्पष्ट करने के लिए मिश्र की घरेलू स्थिति की रूप-रेखा देना आवश्यक है।

यदि हमारे विचारणीय विषय से असंगत बहुत सी जटिलताओं का छोड़ दिया जाए तो स्थिति यह थी कि मिश्र के सामने राजतन्त्र के रूप में अपने अस्तित्व के सारे समय अपने संविधान को ठीक तरह चलाने की कठिनाइयाँ आती रही थी। १६२३ के संविधान के अधीन, उसके कम से कम उस रूप में,जो अगले वर्ष जगलुल ने अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति की जगह प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति रखकर संशोधित किया था, संसदीय सरकार व्यवहारतः वफ्द दल को शक्ति का एकाधिकार देती थी, जिसे शाह ने 'प्रासाद सरकार' (Palace Government) बनाकर जो और भी अधिक तानाशाही थी, बड़ी मुश्किल से रोका। १६३० के संशोधित संविधान पर, जो कम उदार ढंग का था, संसदीय नियंत्रण और मंत्रिमण्डलीय जिम्मेवारी को प्रायः सर्वथा समाप्त कर देने का दोषारोपण किया गया। इन परिस्थितियों में मिश्री प्रधान मन्त्री नसीम पाशा ने शाह को नवम्बर १६३४ में नया संविधान वापस लेने के लिए प्रेरित किया। इस कार्य से यह आशा पैदा हो गई कि १६२३ का संविधान फिर स्थापित किया जाएगा जो, जब अगले अप्रैल में शाह फुआद का वह पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें पहले वाले सविधान को पसन्द किया गया था और वे परिवर्त्तन करने के लिए कहा गया था जो प्रतिनिधि कराना चाहें तब, मिश्री लोकमत के सब वर्गों ने इस समाधान का समर्थन करने मे वफ्द का साथ दिया। पर नसीम पाशा ने कोई कार्यवाही नहीं की, क्योंकि जैसा कि उन्होंने बाद में स्पष्ट किया, उन्हें ब्रिटिश रैजिडैन्सी से यह सलाह—जिसे उन्होंने समादेश के रूप में समझा—मिली थी कि पुराने संविधान को पुनः लागू न किया जाए। इस समय, जब मिश्री प्रधान मंत्री घरेलू मामलों में ब्रिटिश नियन्त्रण का वशवर्ती होने के आधार पर पहले ही आलोचना का पात्र बना हुआ था, सर सैमुअल होर ने लार्ड मेयर के दिवस (१६३५) पर गिल्ड हाल में दिये एक भाषण में मिश्र की स्थिति की निम्नलिखित प्रासंगिक चर्चा की।

लोग कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार मिश्र के हितों को हानि पहुंचाकर अपनी हितवृद्धि करने के लिए मौजूदा स्थिति का उपयोग करना चाहती है। यह बात सच नहीं…उतने ही असत्य ये आरोप हैं कि हम मिश्र में उसकी विशेष आवश्यकताओं के उपयुक्त वैधानिक शासन की स्थापना के विरोधी हैं। हमारी परम्पराओं को देखते हुए, हम ऐसा कोई काम न कर सकते हैं न करेंगे, पर हम से सलाह माँगी गई है तब हमने १६२३ और १६३० के संविधानों को पुनः लागू करने के विरुद्ध सलाह दी क्योंकि इनमें से पहला अनुपयोगी सिद्ध हुआ है और दूसरे को सब लोगों ने नापसन्द किया।

इस भाषण का, जिसमें उस संविधान की निश्चित रूप से निन्दा की गई थी जिसे पुनः लागू करने के लिए लोकमत बड़े अधैर्य से प्रतीक्षा और मांग कर रहा था, प्रकाशन मिश्र में, निरपेक्ष रूप से, वक्ता के विरुद्ध, जिस सरकार का वह सदस्य था उसके विरुद्ध हिंसापूर्ण उपद्रव शुरू होने का संकेत बन गया और ५ दिसम्बर को सर सैमुअल होर ने और अधिक स्पष्टीकरण द्वारा इस तूफान को शांत करने के प्रशंसनीय आशय से फिर इस विषय की चर्चा की पर वैधानिक प्रश्न पर ब्रिटिश रुख की चर्चा के बाद उन्होंने प्रस्तावित आंग्ल-मिश्री संधि के उतने ही ज्वलन्त विषय का जिक्र किया। इसके बारे में उन्होंने कहा :

ब्रिटिश सरकार का इस मामले को टालते जाने का कोई इरादा नहीं था पर यह उनके लिए प्रत्यक्षतः असम्भव है कि वह अबिसीनिया के युद्ध से जनित व्यस्तता के दौरान में, उसी समय ऐसे महत्वपूर्ण मामले पर वार्त्ता में लग सके।

यह बात, जो अंग्रेजों को धैर्य रखने की युक्तियुक्त तथा समझौतापूर्ण प्रार्थना मालूम होती थी, मिश्र में एक ऐसे मामले में ब्रिटिश टालमटोल का खास उदाहरण समझी गई, जिसे एबिसीनियन संकट ने एक विशेष सिलसिला और अविलम्बनीयता प्रदान कर दी थी। उपद्रव फिर अविलम्ब शुरू हो गये और मिश्री राजनीतिक दलों का संयुक्त मोर्चा और भी दृढ़ हो गया। इस भाषण के एक सप्ताह के भीतर दबाव इतना तीव्र हो गया कि नसीम पाशा ने मिश्र के संविधान सम्बन्धी सवाल पर ब्रिटिश रवैये के परिणामस्वरूप अपने त्यागपत्र का ऐलान कर दिया। उन्हें तुरन्त यह सूचित किया गया कि ब्रिटिश सरकार का मिश्र को यह बताने का कोई आशय नहीं है कि मिश्र अपने लिए कैसा संविधान रखे। इस प्रकार नसीम को अपना निश्चय वापिस लेने और शाह फुआद से १९२३ के संविधान को पुनः स्थापित करने का आदेश पुनः प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया गया। उसी समय संयुक्त मोर्चे के नेताओं ने ब्रिटिश हाईकमिश्नर को एक पत्र दिया जिसमें आंग्ल-मिश्री सन्धि के लिए अविलम्ब वार्त्ता पुनः आरम्भ करने की वांछनीयता पर बल दिया गया था, और २० जनवरी १९३६ को, होर-लावल प्रस्थापनाओं (Hoare-Laval proposals) पर पैदा हुए संकट के कारण आवश्यक थोड़े विलम्ब के बाद, ब्रिटिश सरकार ने तुरन्त वार्त्ता शुरू करने की इच्छा प्रकट की जिसे पिछले ही महीने सर सैमुअल होर ने 'प्रत्यक्षतः असम्भव' घोषित किया था।

अगले दिन नसीम मन्त्रिमण्डल ने इस उद्देश्य से त्यागपत्र दे दिया कि आगामी वार्त्ता करने के लिए सब दलों का संयुक्त मन्त्रिमंडल बन सके, पर वफ्द दल ने इस आशा के कारण कि आगामी चुनावों में उसे निश्चित विजय प्राप्त होगी, इन व्यवस्थाओं में शामिल होने से इंकार कर दिया। एक अस्थायी संकट चलता रहा जो ३० मई को अली पाशा महिर के नेतृत्व में एक निर्दली मन्त्रिमंडल के निर्माण से, और वफ्द नेता नहस पाशा की प्रधानता में सब दलों का एक मिश्री प्रतिनिधि मंडल समझौता वार्त्ता के लिए नियुक्त होने से, कुछ कम हुआ। इस तथ्य से एक और कठिनाई पैदा हो गई कि ब्रिटिश सरकार ने उन सैनिक प्रश्नों पर नये सिरे से बातचीत करने का आग्रह किया जिन पर १९३० में समझौता हो गया था—अफ्रीका में इटालियन हलचलों से सामरिक स्थिति में जो परिवर्त्तन हो गया था, उसके कारण यह आवश्यक प्रतीत होता था—पर मिश्र में २ मार्च को बातचीत आरम्भ हुई। बातचीत में २८ अप्रैल को शाह फुआद की मृत्यु से और मई में मिश्र के चुनावों से, जिनमें पूर्व-धारणा के अनुसार वफ्द की विजय हुई, विघ्न पडा। सैनिक प्रश्न से कुछ कठिनाइयाँ पैदा हुईं जिनके कारण हाई कमिश्नर सर माइल्स लैम्पसन को जून में लन्दन जाने की आवश्यकता हुई। पर अन्त में एक ऐसा हल निकल आया जिसमें ब्रिटिश सेना को वर्ष की अवधि तक सिकन्दरिया (Alexandria) के निकट रहने का अधिकार दिया गया था और उन्हें विशिष्टतः वायुसेना को प्रशिक्षण के लिए और युद्ध या आशंकित

अन्तर्राष्ट्रीय आपात की अवस्था में संचरण की पर्याप्त स्वतंत्रता दी गई थी। सूडान के सिलसिले में जिस बात पर १९३० में समझौता होने में बाधा पड़ी थी उसे इस उपबन्ध द्वारा हल किया गया कि सूडान में मिश्री अंत:प्रवास, सार्वजनिक व्यवस्था या स्वास्थ्य के कारण आवश्यक रोक को छोड़कर, बेरोक-टोक होना चाहिए। मुख्य कठिनाइयाँ इस प्रकार संतोषजनक रीति से दूर हो जाने पर २४ जुलाई को एक सम्मत मसविदे पर हस्ताक्षर हुए और संधि पर, जो आंग्ल-मिश्री मित्रता संधि थी, लन्दन में २६ अगस्त को हस्ताक्षर हुए।

फ्रांको-सीरियन संधियाँ

(The Franco-Syrian Treaties)

ईराक को स्वतन्त्र सर्वोच्चता देने और अक्तूबर १९३२ में राष्ट्रसंघ में उसके प्रवेश से सीरिया और लेबनान में, जहाँ के निवासी, कम से कम इतना को कहा ही जा सकता है कि स्वायत्त शासन के लिए उतने ही योग्य थे जितने ईराकी थे, अधिदेश जारी रखने के पक्ष का समर्थन करना बहुत कठिन हो गया। पर फ्रेंच अधिदेष्टा अधिकारियों ने विभिन्न घनी आवादी वाले अल्पसंख्यकों की ही रक्षा के लिए अनु-विभाजन की जो नीति अपनाई थी, उसने मामले को और उलझा दिया। सीरियन राष्ट्रवादी सीरियन अधिदेश के सारे प्रदेश को एक राज्य बनाने के इच्छुक थे, पर जबल एद द्रूस के द्रूसों और लटाकिया के अलावियों जैसे समुदायों के विरोध में और १९३२ में ईराक में एसीरियन अल्पसंख्यकों की जो भयंकर दुर्गति हुई थी उसके उदाहरण ने फ्रांसीसियों के लिए राष्ट्रवादी आकाँक्षाओं की सातोषप्रद पूर्ति करना कठिन बना दिया।

१९३३ में आँग्ल-ईराकी नमूने पर एक फ्रांको-सीरियन संधि करने के लिए वार्त्ता हुई, पर जब संलेख का मसविदा बनाया गया, तब दमिश्क में और सीरियन संसद् में राष्ट्रवादी नेताओं में ऐसा तूफान पैदा हुआ कि संसद् को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करना पड़ा और अधिदेश की स्थिति (mandatory status) का अंत करने का यह प्रयत्न अस्थायी रूप से त्याग दिया गया। पर राष्ट्रवादी अधिकाधिक अधीर हो गए और १९३६ के पहले दो महीनों में यह अधैर्य अत्यधिक गम्भीर उपद्रवों के रूप में प्रकट हुआ। यह दबाव पड़ने पर इस समस्या को फिर हाथ में लिया गया और मार्च के अन्तिम दिनों में एक सीरियन प्रतिनिधिमंडल संधि की बातचीत करने पैरिस पहुँचा।

शुरू में प्रगति मंद रही, पर २६ अप्रैल—३ मई के फ्रेंच साधारण निर्वाचनों (General Elections) के बाद श्री लियों ब्लूम के सत्तारूढ़ होने से त्वरित हो गई, और ९ सितम्बर १९३६ को अन्त में एक संधि पर हस्ताक्षर हो गये। एंग्लो-ईराकी संधि की तरह, जिसके ठीक नमूने पर वह बनाई गई थी, इस संलेख में एक मैत्री-संधि का उपबन्ध था, और यह सीरिया के राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने पर लागू होनी थी, और सीरिया को राष्ट्रसंघ की सदस्यता इस संधि के अनुसमर्थन के तीन वर्ष के भीतर प्राप्त कराई जानी थी। फ्रांस को ५ वर्ष और अर्थात् संधि पर हस्ताक्षर होने

से ८ वर्ष तक सीरियन प्रदेश में सैनिक रखने का अधिकार रहना था और जबल एद-द्रूस और लटाकिया मे अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा इस उपबन्ध द्वारा की गई कि उपर्युक्त सेनाएँ इन प्रदेशों में रखी जायेंगी और वहाँ रहने वाली अन्य सेनाएँ सिर्फ स्थानीय फ्रेंच नियन्त्रण के अधीन स्थायी रूप से भर्ती किये गये दस्ते होंगे। इन अल्पसंख्यकों को एक विशेष प्रशासनीय प्रबन्ध में रहने की सुविधा दी गई, यद्यपि सारे क्षेत्र की सर्वोच्चता अधिदेष्टा सरकार से सीरियन सरकार को हस्तांतरित कर दी गई।

लेबनान के साथ १३ नवम्बर १९३६ को ऐसी ही संधि की गई जिसमें मुख्य प्रभेद यह था कि उस प्रदेश में सैनिक रखने के फ्रांस के अधिकार को सीमित करने वाले उपबंध नहीं थे। अधिदेश को अन्तिम रूप से समाप्त करने के लिए सीमाशुल्क आदि लोक सेवाओं को, जो पहले दोनों अधिदेशों पर साझे प्रशासन में थी, चालू रखने की व्यवस्था करना आवश्यक था। इस प्रश्न पर समझौता करने का भार इन दोनों नये स्वतन्त्र देशों पर छोड़ दिया गया जिसे स्वीकार करने का फ्रांस ने वचन दिया।

एलेग्जैन्ड्रेटा की प्रस्थिति

(The Status of Alexandretta)

उस क्षेत्र में जिसकी सर्वोच्चता इस प्रकार सीरिया को हस्तांतरित की गई थी, एक और अल्पसंख्यक समुदाय था जिसका यह सौभाग्य था कि उसके अधिकारों की चिन्ता एक महत्वपूर्ण विदेशी शक्ति, तुर्की, को थी। एलैग्जैण्ड्रैटा के संजक में, जो प्रचुर सामरिक और वाणिज्यिक महत्त्व का प्रदेश था और जिसमें आपवादिक रूप से बढ़िया पोतगाह था, ऐसी आबादी रहती थी जो मुख्यतः तुर्की-भाषी थी और जिसमें तुर्क अंश बहुत था, यद्यपि वह तुर्कों के दावे के अनुसार, अर्थात् बहुमत में, नहीं था—तो भी वह कम से कम ४० प्रतिशत था। फ्रांको-सीरियन संधि होने से पहले संजक में १९२१ के फ्रेंकलिन बिलोन करार (Franklin-Bouillon Agreement) के कारण जो लासेन की संधि द्वारा पुष्ट किया गया था, एक विशेष प्रबन्ध था। इस के अनुसार, उसे बहुत कुछ वित्तीय स्वायत्तता और भाषा-सम्बन्धी तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता थी। फ्रांको-सीरियन संधि होने पर तुर्की को यह सन्तोष नहीं था कि एलेग्जैन्ड्रैटा के बारे में फ्रांस की जिम्मेवारियाँ, जो अब सीरिया को हस्तांतरित कर दी जानी थीं, नई व्यवस्था में पर्याप्त रूप से निभाई जायेंगी। तुर्कों का कहना था कि संजक सीरिया का अविभाज्य अंग नहीं है और उसे फ्रांस के साथ सीधी और पृथक् संधि करके स्वतन्त्र स्थिति दी जानी चाहिए थी। ऐसे समाधान को फ्रांस अपनी शक्ति से बाहर समझता था और दोनों दृष्टिकोणों का अन्तर एक समय फ्रांस और तुर्की के सम्बन्धों को खतरा पैदा करने वाला हो गया था। पर यह तय हो गया कि मामला राष्ट्रसंघ को भेजा जाए और तीन तटस्थ परीक्षकों द्वारा घटनास्थल पर स्थिति का अध्ययन कर लिये जाने के बाद जिनीवा में जनवरी १९३७ में वार्त्ता फिर शुरू की गई। श्री ईडन और स्वीडन के श्री सेंडलर की मध्यस्थता से अन्त में २७

तारीख को एक समझौता हो गया। इस व्यवस्था में संजक एक पृथक् राजनीतिक सत्ता बनाया गया, जिसका अपना पृथक् संविधान होगा, और जिसे पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता रहेगी, पर वह सीमाशुल्क और मुद्रा में सीरिया के साथ एक रहेगा और इसके वैदेशिक सम्बन्ध सीरियन सरकार के नियन्त्रण में रहेंगे। इसकी मुख्य राजभाषा तुर्की होनी थी और संजक की प्रादेशिक अखंडता की गारंटी फ्रांस और तुर्की को एक पृथक् संधि करके देनी थी। इस समझौते के होने पर जो सीरिया के लिए निराशाजनक था, फ्राँस और तुर्की ने पहले सन्तोष प्रकट किया। पर दिसम्बर में तुर्क सरकार ने संजक के लिए तैयार की गई निर्वाचन विधि में कुछ आपत्तियाँ उठाईं। बाद में जिनीवा में हुए वार्त्तालाप में समझौता हो गया प्रतीत होता था और पहले चुनाव जुलाई १९३८ के लिए तय किये गये, पर मई में तुर्कों ने स्थानीय विधान सभा पर कब्जा करने का संकल्पित प्रयत्न आरम्भ कर दिया और निर्वाचन आन्दोलन से उत्पन्न हुए राजनीतिक आवेश के परिणामस्वरूप बहुत गम्भीर दंगे हो गए और व्यवस्था कायम करने के लिए फ्राँस द्वारा किये गये प्रयत्नों पर अंगोरा में विश्वासघात और तुर्की-विरोधी प्रचार के आरोप लगाए गये। जून के आरम्भ में सीरियन हाई कमिश्नर द्वारा मार्शल ला (सेना-विधि) की उद्घोषणा के बाद फ्राँस और तुर्की के सम्बन्धों में गम्भीर तनाव पैदा हो गया, पर उस समय जो बातचीत हुई, उसके परिणामस्वरूप एक फ्रांको-तुर्की संधि पर ४ जुलाई को हस्ताक्षर होने से स्थिति साफ हो गई। राष्ट्र-संघीय आयोग को, जिसकी स्थिति को तुर्की ने अभिज्ञात करने से इन्कार कर दिया था, वापिस बुला लिया गया और चुनाव विलम्बित कर दिये गये। इस समझौते पर कि तुर्की उस क्षेत्र में प्रवेश सम्बन्धी कोई दावा नहीं करेगा, फ्राँस, तुर्क अंश के बहुमत के आधार पर नई स्थिति को मानने को तैयार हो गया। २५०० तुर्क सैनिक इतने ही फ्रैंच सैनिकों पर, १००० स्थानीय रूप से भर्ती किये गये सैनिकों के सहयोग से, व्यवस्था बनाये रखने के लिए संजक में लाये गये। संधि द्वारा फ्राँस और तुर्की ने एक दूसरे से सलाह करना स्वीकार किया और यह प्रतिज्ञा की कि उनमें से किसी के विरुद्ध आक्रमण के दोषी किसी राज्य की उनमें से कोई सहायता न करेगा। उन्होंने यह भी करार किया कि उनमें से कोई दूसरे पक्ष के विरुद्ध बनाए गए किसी राज-नीतिक या आर्थिक गुट में शामिल न होगा। इस करार पर आरमीनियन आबादी भयभीत हो गई और सीरिया के अरबों में गम्भीर असंतोष पैदा हो गया। इसकी यह आलोचना भी की गई कि इसने राष्ट्रसंघ के प्राधिकार को उपेक्षित या अधिक्रमित (supersede) किया है, पर प्रतीत होता है कि इसने फ्राँको-तुर्की सम्बन्धों के मुख्य प्रश्न को हल कर दिया।

फिलस्तीन
(Palestine)

१९२९ के उपद्रवों के एकदम बाद के वर्षों में, यद्यपि फिलस्तीन में हिंसात्मक गड़बड़ी कुछ समय बन्द रही, पर उस असन्तोष के आधारभूत कारणों में कोई कमी नहीं हुई, जो अरब राष्ट्रवादियों में भरा हुआ था। सच तो यह है कि कई विभिन्न

रीतियों से घटनाक्रम ने आबादी के गैरयहूदी भाग के भय और क्षोभ को बढ़ाने का ही काम किया। अधिदेश की आधारभूत धारणा यह थी कि एक 'फिलस्तीनी' राष्ट्रीय भावना पैदा करना सम्भव होगा, जिससे प्रेरित होकर अरब और यहूदी सहयोगिता-पूर्ण स्वशासन के लिए मिलकर तैयार हों जिससे ब्रिटिश अभिभावकत्व की आवश्य-कता न रहे। क्योंकि यह कल्पना मूर्त्त होने वाली नहीं प्रतीत होती थी, अतः अरबों ने बालफोर घोषणा (Balfour Declaration) और यहूदी 'राष्ट्रीय स्वदेश' (National Home) को अपनी उस स्वाधीनता की प्राप्ति में एक अलंध्य बाधा समझा जिस पर उनकी आकांक्षाएँ निरन्तर स्थिर रही थीं। उसी समय उनके चारों ओर उनके सम्बन्धी और सहधर्मी स्वतन्त्रता की स्थिति प्राप्त कर रहे थे, या द्रुत गति से और आशा के साथ उसकी ओर बढ रहे थे, जो फिलस्तीन को नहीं मिल पा रही थी। श्री चर्चिल ने १९२२ में ही ब्रिटिश सरकार की ओर से यह स्वीकार किया था कि फिलस्तीन की जनता असंदिग्ध रूप से अपने ईराकी और सीरियन पड़ौसियों की अपेक्षा कम उन्नत नहीं थी : ज़ियोनिस्टों से की गई प्रतिज्ञा की पूर्ति के ही कारण अधिदेशात्मक नियन्त्रण जारी रखना आवश्यक था, जिससे अन्य राष्ट्र जो स्वशासन के लिए अधिक योग्य नही थे, पहले ही मुक्त हो चुके थे, या शीघ्र मुक्त होने वाले थे।

तो भी फिलस्तीन-वासी अरब अपना स्वतन्त्र होने का दावा सिर्फ इस आधार पर पेश नही कर रहे थे, कि उन्हें भी आत्म-निर्णय का सहज अधिकार है, बल्कि एक स्पष्टतया की गई प्रतिज्ञा के आधार पर कर रहे थे। यद्यपि यह सत्य है, कि १९१६ में तुर्कों के विरुद्ध अरब विद्रोह एक संधि होने की प्रतीक्षा किये बिना शुरू कर दिया गया था, पर यह उन ब्रिटिश प्रतिज्ञाओं पर, जो हुसेन और सर हेनरी मैकमहोन के बीच हुए पत्रव्यवहार में और खास कर सर हेनरा द्वारा २४ अक्तूबर १९१५ को लिखे गये एक पत्र मे समाविष्ट थी, भरोसा कर के शुरू किया गया था। इस लेख्य में मक्का के शेरिफ द्वारा प्रस्तावित प्रादेशिक सीमाओं के भीतर—जिनमें निर्विवाद रूप से फिलस्तीन समाविष्ट था, अरबों की स्वतन्त्रता ब्रिटेन द्वारा अभिज्ञात की गई थी, पर 'मर्सीना और एलेग्जेण्ड्रेटा (इस्कन्दरोन), तथा सीरिया के वे भाग जो दमिश्क, होमस, हामा और एलैपो के जिलों के पश्चिम में थे,' और समाविष्ट प्रदेश के ऐसे कोई भाग जिनमें ब्रिटेन फ्रांस के हितों को हानि पहुँचाये बिना कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नहीं था, छोड़ दिये गये थे। यद्यपि श्री चर्चिल ने उपनिवेश मन्त्री (Secretary of State for the Colonies) के रूप में १९२२ में यह दावा किया था कि इनमें से पहली मर्यादा जोर्डन से पश्चिम में स्थित सारे फिलस्तीन को प्रतिज्ञा से अपवर्जित करती है, पर इस निर्वचन का भूगोल के तथ्यों से मेल बैठाना कठिन मालूम होता है और यह आश्चर्य की बात नहीं कि व्यवहार के [1] दूसरे पक्ष ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया।

---

१. परन्तु प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार का आशय यह था कि फ़िलस्तीन प्रस्तावित अरब राज्य से अलग रखा जाय और सर हेनरी मैकमहोन ने सार्वजनिक रूप से यह कहा है कि मेरे पत्र में जो प्रस्ताव था उसका आशय फिलस्तीन को उसमें समाविष्ट करने का नहीं था। आपने यह भी कहा है कि मेरे पास 'यह मानने के लिए उस समय पूरा आधार था कि यह तथ्य कि फिलस्तीन उसमें समाविष्ट नहीं था, शाह हुसैन ने अच्छी तरह समझ लिया था।'

यह सच है कि शान्ति-सम्मेलन में अमीर फ़ैजल ने जनवरी १६१६ में ज़ियोनिस्ट संगठन के साथ किये गये एक करार का पालन करते हुए बालफोर घोषणा की नीति को स्वीकार कर लिया था पर अरब लोग इस करार को इस मामले मे फ़ैजल के हस्तक्षेपाधिकार का अभिज्ञान समझते थे, और इसके साथ यह शर्त थी कि इसका पालन तभी किया जायेगा जब उन दावों में कोई परिवर्तन न किया जाय जो उसने शान्ति सम्मेलन मे पेश किये थे। दमिश्क से उसके निष्कासन के बाद 'फ़ैजल—वेजमैन करार प्रवर्तित नहीं हो सकता था क्योंकि इससे जुड़ी हुई शर्त पूरी नहीं की गई थी,'[1] इसलिए अरब दलीलों में 'मेकमहोन प्रतिज्ञा' का प्रमुख स्थान बना रहा और शिकायत की भावना दूर न हुई।

अस्तु, यद्यपि अधिदेश के बने रहने को स्वाधीनता में बाधा के रूप में नापसन्द किया जाता था, पर तो भी बहुत समय तक अरबों को कोई ऐसा गम्भीर भय नही था कि वे यहूदी अन्त:प्रवास (immigration) की बाढ मे विलीन हो जायेंगे। वार्षिक निष्क्रमण (annual flow), जो सरकार ने आर्थिक दृष्टि से देश के खपाने के सामर्थ्य तक निर्बंधित कर दिया था शुरू के वर्षों मे देशज आबादी (indigenous population) की अत्यधिक संख्यात्मक बहुलता के लिए खतरा नहीं था। इसके अलावा जियोनिस्ट परीक्षण (Zionist Experiment) की आर्थिक सफलता कुछ समय के लिए संदेहास्पद थी, और १६२६–२८ के वर्षों में अस्थायी गिरावट हो गई थी, जो अन्त:-प्रवास में कमी और निराश उत्प्रवासियो के प्रभाव से, जो बहुत दूर तक इसे प्रतितुलित कर देता था, परिलक्षित होती थी। १६२८ में पुन: समृद्धि होने के चिह्न दिखाई देने लगे पर उस साल से लेकर १९३२ से पहले तक वार्षिक अभिलिखित अन्त:प्रवास सिर्फ एक बार ५००० से जरा सा अधिक हुआ था। पर ऐसे समय जब 'राष्ट्रीय स्वदेश' में नियोजित यहूदी पूंजी स्थिर गति से बढ़ रही थी, संसारव्यापी आर्थिक मंदी आने से स्थिति परिवर्तित हो गई। १६३२ में प्राधिकृत अन्त:प्रवास का अंक एकदम बढ़ कर पिछले वर्ष की संख्या से लगभग ५५०० अधिक हो गया और नाजी जर्मनी एवं उसके अनुकर्त्ताओ कीसामी-विरोधी नीति के परिवर्धन के साथ १६३३ से फिलस्तीन पर वास्तव मे आबादी का दबाव बहुत अधिक बढ़ गया। १६३५ में ६१८५४ यहूदी अन्त:-प्रवासी सरकारी आँकड़ों के अनुसार थे, और इस अवधि में जिन्होंने चोरी से उस देश में प्रवेश किया उनकी संख्या बहुत ही अधिक थी। इसके अलावा, वहाँ एक नई स्थिति पैदा हो गई जहाँ खपाने के सीमित सामर्थ्य का नियंत्रण अब और आगे नहीं किया जा सकता था। उद्योगों की वृद्धि के साथ और नवनिर्माण की आवश्यकता के कारण अब यह हेतु नहीं प्रस्तुत किया जा सकता था, कि इतने अधिक लोगों को रोजगार नहीं दिया जा सकता। अरबों को यह दिखाई देने लगा था कि कुछ ही सालों की अवधि में यहूदियों का वास्तविक बहुमत हो जायेगा और स्वभावत: उन्हें वही चिन्ता होने लगी जो उनके देश के एक भूतपूर्व निवासी ने बहुत पहले ऐसी ही अवस्था में प्रकट की थी, अब

---

१. पैलेस्टाइन रायल कमीशन रिपोर्ट. Cmd. ५४६७, १६३७; पृष्ठ २८।

यह समूह हमारे आसपास की सब चीजों को वैसे ही निगल जायेगा जैसे बैल खेत की घास निगल जाता है[1]। पैलेस्टाइन रायल कमीशन की रिपोर्ट में इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है 'प्रायः बिल्कुल गणित के हिसाब से आर्थिक स्थिति के सुधरने का अर्थ था राजनैतिक स्थिति बिगड़ना'।

नवम्बर १६३५ में अरब दलों ने हाई कमिश्नर सर आर्थर वाकहोप के सामने लोकतंत्रीय सरकार की स्थापना अरब प्रदेशों के यहूदियों को हस्तांतर के प्रतिरोध और देश के सही खपाने के सामर्थ्य की ओर जांच होने तक यहूदी अंतः प्रवास पर अविलम्ब रोक के लिए मागें पेश कीं। अन्तिम दो बातों के उत्तर में हाई कमिश्नर ने यह अध्यादेश बनाने का प्रस्ताव किया कि यदि किसी जमीन का मालिक अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए काफी जमीन न बचाये तो वह जमीन न बेच सके और एक नये साँख्यिकीय विभाग (statistical bureau) द्वारा खपाने की सामर्थ्य की पुनः जांच की जाय। पहली माँग के उत्तर में उन्होंने यहूदी और अरब नेताओं के सामने विधान परिषद् के लिए एक सुनिर्दिष्ट योजना रखी, जिसमें ५ सरकारी और २३ गैर-सरकारी सदस्य हों, जिनमे से ग्यारह नामजद किये जायें और १२ निर्वाचित हों। इन गैर-सरकारी सदस्यों में से ११ मुसलमान, ७ यहूदी, ३ इसाई और शेष वाणिज्यिक प्रतिनिधियों की व्यवस्था थी। इस योजना पर अरब नेताओं ने अनिच्छा-पूर्वक कुछ मौन सम्मति दे दी पर जियोनिस्टों ने इसे बिल्कुल ठुकरा दिया।

ब्रिटिश संसदीय लोकमत ने, जो दोनों सदनों में प्रकट किया गया, इसे समाप्त कर दिया। यहूदी अखबारों ने इस परिणाम को 'एक महान् यहूदी विजय' बताते हुए असंयत हर्ष प्रकट किया। इस निर्वचन से अरबों पर यह निराधार प्रभाव पड़ा कि जियोनिस्टों से पक्षपात किया गया और उनके इन सन्देहों की पुष्टि हो गई कि ब्रिटेन में यहूदियों का प्रभाव प्रबल है। उसी समय अबिसीनियन युद्ध में घटनाओं की प्रगति ने यह प्रभाव डाला कि ब्रिटिश प्रभाव और शक्ति घट रहे हैं और इटालियन प्रचार ने इस बात को जोर-शोर से फैलाया। मिश्र और सीरिया में राष्ट्रवादी आन्दोलन को एक ही साथ जो सफलता मिल रही थी उसने फिलस्तीन के अरबों के दिमागों पर और असर डाला और प्रतिकूल परिस्थितियों के इस संयोजन ने वह बेचैनी की अवस्था पैदा कर दी जो अप्रैल १६३६ में आई। इस समय जो उपद्रव पैदा हुए, वे इक्की-दुक्की हत्या से शुरू हुए थे और बढ़ते-बढ़ते आम हड़ताल की उद्घोषणा तक पहुँचे और उन्होंने बड़ी तीव्र गति से गोरिल्ला-युद्ध का रूप ले लिया। बहुत सारी कुमुक जल्दी-जल्दी फिलस्तीन भेजी गई, सैनिक अफसरों को आपातकालीन शक्तियाँ दे दी गईं और इन उपायों ने व्यवस्था को इतना नियन्त्रित कर दिया कि अरब उच्च समिति (Arab High Committee) अक्तूबर में ईराक, ट्रांसजोर्डन और सऊदी अरब के शासकों द्वारा दी गई मध्यस्थ की सलाह मानने को तैयार हो गई। नवम्बर के शुरू तक पुनः इतनी शान्ति स्थापित हो गई कि समस्या की जाँच करने के लिए एक रॉयल कमीशन भेजा जा सका।

---

१. Numbers. xxii. 4 ओल्ड टैस्टामेंन्ट या पुराने अहदनामे की चौथी पुस्तक जिसमें जन-गणना का वृत्तान्त दिया है।

दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों की बात सुनने के बाद कमीशन ने इंगलैंड लौट कर जुलाई १९३७ में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इस लेख्य में कमीशन के सदस्यों ने मूल अधिदेश बनाए रखने से अन्ततोगत्वा सफलता मिलने की आशा छोड़कर विभाजन की एक योजना प्रस्तुत की जिससे यह आशा थी कि दोनों सम्बद्ध पक्षों की राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को काफी सन्तोष मिल सकेगा। रिपोर्ट के अनुसार एक यहूदी राज्य बनाया जाना था जिसमें मोटे तौर से मैगिडो तक सारा उत्तरी फिलस्तीन और रीहोवोट के लगभग १० मील दक्षिण तक का समुद्रवर्ती मैदान शामिल होना था पर जेरुसलम और बैथलहम, इन दो तीर्थ-स्थानों को समाविष्ट करने के उद्देश्य से बनाए गए एक भूखण्ड को, जिसे कमीशन के सदस्यों ने यह कहा था कि 'सभ्यता के पवित्र न्यास' (a sacred trust of civilization) के रूप में अधिदेष्टा के नियन्त्रण में रहना चाहिये, जाफा पर समुद्र के साथ मिलाने वाला एक गलियारा (corridor) इसमें शामिल नहीं किया जाना था। यह सुझाया गया कि नजरेथ और गैलिली के सागर को भी इस छोटा किये गए अधिदेश में शामिल किया जाए। शेष फिलस्तीन को ट्रांसजोर्डन के साथ मिलाकर एक अरब राज्य बना दिया जाये और सारी योजना को अधिदेष्टा शक्ति, ट्रांसजोर्डन, फिलस्तीन के अरबों और जियोनिस्ट संगठन के बीच मैत्री संधियों द्वारा पक्का कर दिया जाये। अधिदेष्टा शक्ति नये यहूदी और अरब राज्यों की ओर से राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए प्रस्तुत दावों का समर्थन करेगी।

यह प्रस्ताव मूलतः रॉयल कमीशन का नहीं था। इसी प्रकार का एक समाधान श्री एमरी ने लोक सभा में और इस समस्या में दिलचस्पी रखने वाले और लोगों ने अन्यत्र सुझाया था। ऐसा बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय चाहे वह कितना ही अच्छा और अनिवार्य हो, आलोचना का पात्र होने से नही बच सकता था। इसने यहूदियों को ऐसा ज़ियोनिज्म दिया था, जिसमें ज़ियोन-जेरुसलम का 'पवित्र पर्वत' —नहीं था और उनके औद्योगिक प्रयत्न की कुछ महत्त्वपूर्ण सृष्टियाँ जैसे जोर्डन नदी पर जल-विद्युत शक्ति स्टेशन और मृत सागर (Dead Sea) पर पोटाश का कारखाना समाविष्ट नहीं थे। उन्होंने हैफा और गैलिली के अन्य नगरों पर ब्रिटिश अधिदेश अनिश्चित काल तक बनाये रखने और उन्हें दिये गये तटवर्ती मैदान के क्षेत्र के संकरेपन पर भी आपत्ति की। अरबों ने गैलिली (Galilee) के अपने अन्य भाइयों से बिछुड़ जाने और भूमध्य सागर के बन्दरगाहों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने की शिकायत की। कोई भी पक्ष इस योजना को बिना महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किये मानने को तैयार न था। यद्यपि ट्रांसजोर्डन के अमीर ने इस प्रस्ताव पर सावधानी से विचार करने के लिए कहा पर ईराक सरकार ने इसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ में विरोधपत्र भेजा। ब्रिटिश संसद् में हुए विवाद में इसका अप्रत्याशित मात्रा में विरोध किया गया। ज़ूरिच में अगस्त १९३७ में हुई जियोनिस्ट कांग्रेस (Zionist Congress) में लोकमत स्पष्टतया दो भागों में बँटा हुआ था—एक भाग योजना के ब्योरे को तो अस्वीकार करता था, पर विभाजन के

सिद्धान्त का हामी था, लेकिन दूसरा बिल्कुल झुकने को तैयार न था। पर अंत में एक संकल्प (resolution) स्वीकार किया गया, जिसमें आगे बातचीत करने के लिए कहा गया था। राष्ट्रसंघ के स्थायी अधिदेश आयोग (The Permanent Mandates Commission of the League) का, जो विभाजन के विचार की और जाँच करने की आवश्यकता स्वीकार करता था, यह विचार था कि अधिदेष्टा (mandatory) की अभिभावकता की अवधि को बढाना परमावश्यक है। अपनी इस रिपोर्ट के अत में इसने अधिदेष्टा शक्ति के प्रयत्नों की सराहना की और यहूदियों का ध्यान उन लाभों की ओर खीचा जो उन्हें ब्रिटेन के कारण प्राप्त हुए थे तथा अरबों का ध्यान इस बात की ओर खीचा कि तुर्की के नियन्त्रण से उनकी मुक्ति कैसे शुरू हुई थी।

१९३७ के पिछले भाग में अरब आतंकवाद (Arab terrorism) पुनः गंभीर रूप में भड़क उठा, और उस से तथा यहूदी प्रतिशोधों से १९३८ में फिलस्तीन की शांति भंग होती रही। स्थायी अधिदेश आयोग को ९ जून को रिपोर्ट देते हुए सर जान शुकबर्ग ने अधिदेष्टा शक्ति की स्थिति ऐसी बताई थी जिसमें 'आतकवाद, कानून भंग और भयोत्पादन के विरुद्ध निरन्तर युद्ध करना पड़ता था' । सीमान्त के साथ-साथ काँटेदार तार लगाना आवश्यक हो गया जो सर चार्ल्स टेगार्ट के नाम पर, जिसने आतंकवाद के प्रश्न पर फिलस्तीन के सलाहकार के नाते यह उपाय अपनाने की सिफारिश की थी, टेगार्ट की दीवार कहलाता है। एक प्राविधिक आयोग (Technical Commission) जिसे तथ्यों का अभिनिश्चय करने और विभाजन की योजना की व्यावहारिक सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार करने का काम सौपा गया था, लन्दन से २७ अप्रैल को फिलस्तीन आया और उसने अगस्त से पहले तक अपना जांच-कार्य जारी रखा यद्यपि यहूदियों ने उसका उत्साहहीन और अरबों ने क्रुद्ध शत्रुता की भावना से स्वागत किया था।

यदि अरब जगत् की बढती हुई एकता को, ब्रिटेन के लिए एक ऐसे क्षेत्र में जो उसके साम्राज्योपयोगी संचार साधनों के लिए बहुत महत्त्व का था, सक्रिय रूप से विरोधी बल नहीं बना देना था, तो फिलस्तीन के प्रश्न का अन्तिम निपटारा परमावश्यक प्रतीत होता था। अरब, ट्रांसजोर्डन और ईराक के शासक स्वभावतः इंग्लैण्ड के प्रति अच्छा रुख रखते थे, पर बालफोर घोषणा (Balfour Declaration) की नीति और विदेशी नियन्त्रण से फिलस्तीन की मुक्ति को विलम्बित या वंचित करने में इसका प्रभाव सारे अरब जगत् की संगठित और दृढ़ शत्रुता पैदा करता था। निस्संदेह यह परमावश्यक था कि यहूदियों को दिये गए वचन की रक्षा की जाए परी यदि कोई स्वीकार्य समाधान जल्दी नहीं निकल आता तो भविष्य के लिए कोई तसल्ली देने वाली सम्भावना नहीं थी ।

: १६ :

सुदूर पूर्व

(The Far East)

राज्यक्षेत्रातीतता का प्रश्न

(The Question of Extra-territoriality)

एक ऐसी सरकार बनने पर जो कम से कम ऊपर से तो सारे चीन की ओर से बोलने का दावा कर ही सकती थी, राज्यक्षेत्रातीतता (extra-territoriality) की समस्या को स्वभावतः एक नई तात्कालिकता और महत्त्व प्राप्त हो गया। दिसम्बर १९२६ में ही एक ब्रिटिश ज्ञापन (memorandum) में इस तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर ऐसी चीन सरकार का अस्तित्व होते ही वार्त्ता करने की इच्छा प्रकट की गई थी जिसके साथ ऐसी वार्त्ता करना संभव हो। १९२८ के अन्त से पहले पाँच योरोपीय देश उसी समय राज्यक्षेत्रातीतता (extra-territoriality) छोड़ने को तैयार हो गये थे जब संधि करने वाली मुख्य शक्तियां उसके लिए वैसा करने को तैयार हों। इससे प्रोत्साहित होकर चीन की राष्ट्रीय सरकार ने यूनाइटेड स्टेट्स, ब्रिटेन और अन्य देशों को लिखे गये एक पत्र में यह प्रश्न फिर उठाया पर उसे पता चला कि ये देश अपने संधिगत अधिकारों को फौरन छोड़ने को अभी तैयार नही थे। १९२९ में राज्य की परिषद् (State Council) ने एक अधिदेश (mandate) जारी करके ऐसे विशेष अधिकारों को जनवरी १९३० से निराकृत कर दिया, पर तथ्यतः ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के साथ हो रही और बातचीत के परिणाम न निकलने तक मौजूदा स्थिति ही अभिज्ञात की जाती रही। १९३१ में सारा विवाद संधि वाले चार बन्दरगाहों--शंघाई, हैन्को, कैन्टन और तीन्तसिन—में संक्रमणकालिक स्थानीय प्रशासन के प्रश्न के रूप में रह गया था। इन में से शंघाई की समस्या सबसे महत्वपूर्ण और सबसे अधिक जटिल थी। कानूनी दृष्टि से इस अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के समर्पण का प्रश्न शंघाई नगरपालिका (Municipal Council) के अनन्य अधिकार में था और ब्रिटिश नीति से स्वतन्त्र था, पर व्यवहार में ब्रिटेन का रुख सबसे महत्त्वपूर्ण था। शंघाई में १९३० से नगरपालिका की ओर से ब्रिटिश उद्भव वाले एक प्रसिद्ध दक्षिण अफ्रीकन न्यायाधीश श्री जस्टिस फीथम (Mr. Justice Feetham) द्वारा एक जाँच की जा रही थी। उनकी रिपोर्ट दो भागों में अप्रैल और जुलाई १९३१ में पेश की गई। उसका यह तो विचार था कि बस्ती का अन्ततोगत्वा समर्पण न केवल उचित, बल्कि आवश्यक भी है, पर रिपोर्ट में यह माना गया था कि इस नीति को अविलम्ब स्वीकार करने जैसी बात पर बहुत आपत्तियाँ हैं, और अपेक्षित शर्तों की पूर्ति से पहले

यह 'अनिवार्य है कि अभी बीच में एक दीर्घ संक्रमण काल हो।' एक और संदर्भ में यह काल, 'वर्षों का नहीं बल्कि दशाब्दियों का' बनाया गया था।

इस बीच यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था कि चीन में जिस एकता का अस्तित्व प्रतीत होता था, उसके आधार टूट रहे थे और राजनीतिक अव्यवस्था का काल—जिसकी दीर्घता पहले से बताना असंभव था—आ गया था। इस कठिनाई को कुछ मात्रा तक चीनी वार्त्ता करने वाले भी स्वीकार करते थे। पर ५ मई १९३१ को एक राष्ट्रीय सम्मेलन होने वाला था और देश में समर्थन प्राप्त करने के एक प्रयत्न के रूप में पिछले दिन नानकिंग से एक नया अधिदेश जारी किया गया जिस में ऐलान किया था कि ब्रिटेन मे चल रही वार्त्ता भंग हो गई है, और १९२९ के उपबन्धों को, जो राज्यक्षेत्रातीत विशेषाधिकार समाप्त करते थे, १ जनवरी १९३२ से लागू करने के लिए विनियम पूर्ण हो गए हैं।

तो भी, वार्त्ता चलती रही और उसकी प्रगति के बारे में ब्रिटिश विदेश मंत्री श्री हैंडरसन द्वारा समय-समय पर दिये गये वक्तव्यों से यह प्रभाव पड़ा कि संधि लगभग होने ही वाली है। फीथम रिपोर्ट में प्रकट किये गये विचारों को देखते हुए कई हल्कों में बहुत चिन्ता अनुभव की जा रही थी और गर्मियों में थौर्बर्न नामक एक नौजवान अंग्रेज़ की, जिसे जून में चीनी सैनिकों ने गिरफ़्तार कर लिया था, और बाद में उनके सेनापति ने गोली से उड़ा दिया था[1], जो गति हुई उससे यह चिन्ता और बढ़ गई। इन परिस्थितियों में तब बड़ा चैन अनुभव किया गया जब दूसरे अधिदेश का परिवर्तन साल के अन्त में और विलम्बित कर दिया गया और जापान की कार्यवाही से उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के, जो इस अध्याय का मुख्य विचारणीय विषय है, परिणामस्वरूप ब्रिटेन से चल रही वार्त्ता को वहीं छोड़ दिया गया।

पुनः अराजकता का जन्म
(Recurrence of Anarchy)

सच तो यह है कि इस तिथि से पहले यह अधिकाधिक स्पष्ट हो गया था कि चीन का एकीकरण जो १९३० के अन्त तक पूर्ण होता प्रतीत हो रहा था, न तो पूर्ण था, और न स्थायी। सैकड़ों वर्ष की परम्परा ने चीनी जनता को, जैसा कि लिटन रिपोर्ट में बताया गया है 'राष्ट्र के रूप में सोचने के बजाय कुटुम्ब और बस्ती के रूप में सोचना सिखाया था और वे अपने देश और विदेशी शक्तियों के बीच तीव्र तनातनी के समय ही राष्ट्र के रूप में सोचते थे'।

देश के बहुत से भागों में अब भी कम्यूनिज्म चढ़ती पर था। कम्यूनिस्ट सरकारें जिनके अपने पृथक् कानून और सेना थी, कियांगसी और फूकियेन में मौजूद थीं। केन्द्रीय कार्यकारिणी में भी, उन लोगों में, जो सनयात सेन द्वारा बताये गये 'अभिभावकता के काल' (the period of tutelage) को लम्बा करना चाहते थे, और उन लोगों में, जो इसे, उतना इस कारण नहीं कि उन्हें लोकतन्त्र में कोई वास्तविक विश्वास था जितना इस कारण कि वे सैनिक नेताओं के लाभ के लिए राजनैतिक

१. इस अंग्रेज ने एक चीनी सैनिक पुलिसमैन को गोली से उड़ा दिया था।

नेताओं की मौजूदा शक्ति को नियन्त्रित करना चाहते थे, कम करने को उत्सुक थे, आधारभूत मतभेद पैदा हो गया। फरवरी १९३१ में पहले विचार के पक्षपाती हूहान मिन को जो विधान निर्मात्री सभा का सभापति था, चियांगकाई शेक ने गिरफ़्तार कर लिया और नजरबन्द कर दिया, और उसने अगली मई में राष्ट्रीय सम्मेलन (National Convention) द्वारा अंगीकृत संविधान में अपनी बात मनवा ली। पर इस फूट से दक्षिण में एक निश्चित अलगाव पैदा हो गया और वहाँ कैण्टन में प्रतिद्वंद्वी सरकार एक बार फिर स्थापित कर दी गई। कम्यूनिस्टों को सफलतापूर्वक दबाने के प्रयत्नों में, उसी समय उत्तर में हुए एक सैनिक विद्रोह से बाधा पड़ गई, और डकैती, बाढ़ और दुर्भिक्ष ने देश को पुन: अराजकना में डालने में मदद की। इस मौके पर अपखण्डन (disintegration) का प्रक्रम रुक गया और राष्ट्र एक बार फिर संगठित हो गया क्योंकि एक विदेशी शक्ति के साथ तीव्र तनातनी हो गई थी, जो लिटन रिपोर्ट के ऊपर उद्धृत संदर्भ के अनुसार एकता के लिए एक आवश्यक तत्त्व था।

जापान की आर्थिक आवश्यकताएँ
(Economic Needs of Japan)

लगभग ६० वर्षों की उस अवधि में जिस में जापान अकेलेपन और अप्रसिद्धि से निकलकर राजनैतिक और आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से प्रथम कोटि की विश्व शक्ति बन गया था, उसकी आबादी प्रायः दुगुनी हो गई थी, और अब भी लगभग ९ लाख प्रतिवर्ष की भीषण गति से बढ़ रही थी। जापानी आबादी की घनता (density) संसार के आँकड़ों की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है और कृषियोग्यक्षेत्र की दृष्टि से पहले स्थान पर है। वह देश अब सामान्यत: आत्म-निर्भर नहीं; और न वह उद्योग जिस पर लोगों का निर्वाह और रोजगार निर्भर है, बाह्य संभरणों (supplies) बिना चल सकता है। अधिकतर अपेक्षित महत्वपूर्ण कच्चा सामान बाहर से आयात करना पड़ता है। इसलिए विदेशी बाजार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जापान के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न है। उत्प्रवास (emigration) से समस्या हल नहीं होती और उन मुख्य देशों की निर्बन्धक अन्तःप्रवास नीति के कारण, जिनमें अन्यथा अतिरिक्त आबादी जा सकती थी, जनित शिकायत महसूस तो यथार्थत: की जाती है पर यह उतनी क्रियात्मक नहीं, जितनी भावुकतापूर्ण है।

जापानी निर्यात व्यापार सामान्यतया दो मुख्य दिशाओं में होता रहा। उसका कच्चा रेशम यूनाइटेड स्टेट्स गया है और उसकी मुख्य निर्मितियाँ मुख्यत: सूती वस्त्र एशिया, विशेषकर चीन जाती रही हैं। अमेरिका में हुई वित्तीय गिरावट, जो १९२९ के पतझड़ में शुरू हुई थी, का रेशम जैसी विलास-वस्तु के यापन (disposal) पर नि:संदेह घातक प्रभाव हुआ था। दूसरी ओर, जापान का चीनी व्यापार उत्तरोत्तर कठोर बहिष्कारों के कारण बार-बार रुकता रहा है और उस देश की अराजक अवस्थाओं द्वारा स्वभावतः प्रभावित होता रहा है। इस प्रकार चीन और जापान की आर्थिक परस्पर-निर्भरता में, जो प्रकृति ने नियत की प्रतीत होती है, राजनैतिक कारणों से बाधा पड़ती रही है।

येन [1] के अवमूल्यन से, जिससे जापान को कीमतें इतनी अधिक कम करके जिनमें कोई अन्य देश प्रतियोगिता करने की आशा नहीं कर सकता था, नये बाज़ारों में घुसने में मदद मिली, अस्थायी रूप से कुछ आराम मिला। पर यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की रीतियाँ सिर्फ़ अस्थायी उपाय है; जिनकी काट मुख्यत: प्रभावित होने वाले देशों में प्रतिरक्षात्मक निर्बन्धन (defensive restrictions) लगाकर कर दी जाती है। पर संसार को यह महत्वपूर्ण बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जापान की सफल प्रतियोगिता सिर्फ कम मजदूरी और अवमूल्यित विनिमय का परिणाम नहीं है। उसके कारीगरों की, और उसके उद्योगों के, जिनका नियंत्रण एक विशेष रीति से केन्द्रबद्ध है, नेताओं की दक्षता पर भी विचार करना होगा और जापान में प्रचलित कम मज़दूरियों को जीवन-निर्वाह का नीचा स्तर समझने के भ्रम में भी न पड़ना चाहिए। तो भी यह तथ्य तो है ही कि जापान को १९३१ तक यह प्रतीत होता था कि विदेशी व्यापार के सामान्य प्रक्रम द्वारा बढ़ती हुई आबादी के लिए भोजन, वस्त्र की व्यवस्था करने का प्रयत्न प्राय: अनिवार्य रूप से विफल होगा।

मंचूरिया—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
(Manchuria, the Historical Background)

इन परिस्थितियों में जापान के लिए यह स्वाभाविक था कि मंचूरिया के विस्तृत उपजाऊ प्रदेश में उसे जो विशेष नियंत्रण प्राप्त था, उसे वह बनाये रखने और विस्तृत करने को अधिकाधिक महत्त्व दे। यह प्रदेश, जो तीन राष्ट्रों—रूस, चीन और जापान—की 'परस्पर-विरोधी आवश्यकताओं और नीतिओं का संगम स्थल' [2] था पहले राजनैतिक और सामरिक कारणों से विवाद का विषय बना। पहली अवस्था १८९५ में थी, जब एक सफल युद्ध के परिणामस्वरूप जापान और चीन में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए थे, जिसमें कोरिया की स्वतन्त्रता अभिज्ञात की गई थी और जापान को पोर्ट आर्थर और लिआओतुंग प्रायद्वीप दे दिये गये थे। रूस, फ्रांस और जर्मनी के दबाव ने जापान को अपनी विजय के ये लाभ छोड़ने को मजबूर किया। १८९८ में रूस ने पोर्ट आर्थर पर कब्जा कर लिया और १९०१ में मंचूरिया पर प्रभावी नियंत्रण प्राप्त कर लिया और पोर्ट आर्थर से हारबिन तक, ट्रांस-साइबेरियन लाइन को मिलाने वाला एक रेल-मार्ग बनाने और उसका प्रशासन करने का अधिकार हासिल कर लिया। प्राय: यही समझा जायेगा कि इस घटना का अंत मंचूरिया और कोरिया को भी रूसी साम्राज्य में समाविष्ट करने में होता, पर १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध के कारण और पोर्ट्समाउथ की संधि (Treaty of Portsmouth) के कारण यह न हो सका, जिसकी शर्तों के अनुसार जापान को लिओतुंग प्रायद्वीप और उत्तर में चांगचुन तक दक्षिण मंचूरियन रेलवे पर रूसी पट्टेदारी अधिकार (leasehold rights) तथा प्रत्येक किलोमीटर पर १५ सैनिकों की सैनिक गारद या १५००० सैनिकों की कुल सेना रखने का अधिकार भी मिल गया। दिसम्बर १९०५ में पेकिंग में हुए चीन-जापान सम्मेलन

१. प्राय: दो शिलिंग के मूल्य का जापानी सिक्का।
२. राष्ट्रसंघ लिटन रिपोर्ट C. ६६३. M. ३२०, १९३२; पृष्ठ १३.

में चीन सरकार ने यह प्रतिज्ञा की थी कि यद्यपि यह किसी औपचारिक लेख्य में नहीं थी, कि वह दक्षिण मंचूरियन रेलवे 'के निकट और समानान्तर' कोई मुख्य लाइन या इसके हितो के प्रतिकूल कोई ब्रांच लाइन नहीं बनायेगी। १९१० में जापान ने कोरिया को अपने अधीन कर लिया।

अगली अवस्था १९१५ मे आई जब जापान ने चीन के सामने प्रसिद्ध '२१ मांगें' पेश की, जो इस प्रश्न पर इस प्रकार असर डालती है कि उनके बाद हुई एक सधि द्वारा पट्टे वाले क्षेत्र (leased territory) पर और रेलवे पर जापान के कब्जे की अवधि को बढाकर ९९ वर्ष तक कर दिया गया, और जापानी प्रजाजनों को, जिनमें जापान की दृष्टि में कोरियन भी शामिल थे, दक्षिण मंचूरिया मे जमीन पट्टे पर देने और वहाँ यात्रा, निवास और कारबार करने का अधिकार दे दिया गया। चीनी लोग इस संधि की मान्यता पर लगातार आपत्ति करते रहे हैं, पर वाशिंगटन सम्मेलन में इन २१ माँगो की जो आंशिक समाप्ति की गई थी, उसमें जापानियों ने उन अधिकारों का भी परित्याग नही किया था।

मंचूरिया में जापान के स्वार्थ

(Japanese Interests in Manchuria)

जापान के लिए मंचूरिया का, प्रतिरक्षा और आक्रमण की दृष्टि से सामरिक महत्त्व इसकी अवस्थिति के कारण है। यद्यपि कोमितांग दल अपनी प्रगति के बाद के दिनों मे अपने पहले के रूसी सलाहकारों के विरुद्ध हो गया था, पर 'उत्तर के कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों और दक्षिण के कोमितांग के जापानी-विरोधी प्रचार के कारण मैत्री सम्भावना' एक ऐसी शक्यता बनी हुई थी जिसने 'दोनों के बीच में, दोनों से स्वतन्त्र मंचूरिया रखने की इच्छा को जापान में अधिकाधिक अनुभव कराया'[1] आर्थिक दृष्टि से मंचूरिया जापान के लिए आज की दुनिया में, जिसमें अवसर न्यून होते जा रहे हैं, सीमित होते हुए भी सुरक्षित बाजार के रूप में और कुछ परमावश्यक कच्चे सामान, खासकर सोयाबीन, के संभरण के आधार के रूप में मुख्यतः मूल्यवान् है,। वह कोयला और लोहा आदि महत्त्वपूर्ण खनिजों और आयल शैल या तेल-पत्थर की, सम्भाव्यतः वहुत मात्रा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस देश में जापानी पूँजी की बहुत बड़ी मात्रा नियोजित की गई है—यह एक ऐसा तथ्य है जो व्यवस्था कायम रखने और प्रतियोगी रेलवे यातायात को रोकने को बड़े महत्त्व की वस्तु बना देता है। यहाँ उपनिवेशन (colonization) की गुंजाइश भी है, यद्यपि इस दृष्टि से जापान अब तक किसी खास सफलता का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि आबादी का मुख्य अंश चीनी है। पर इसमें कोरियनों की बहुत बड़ी संख्या शामिल थी और यदि इन जापानी प्रजाजनों का बसना बे-रोक-टोक होता रहे तो यह सुझाया गया है कि कोरिया में खाली हुए क्षेत्रों में जापानियों के जा बसने से परोक्षतः जापान में आबादी के दबाव में कमी होगी।

---

१. वहीं, पृष्ठ ३६-७.

संघर्ष के कारण
(Causes of Friction)

पर कोरियनों के बसने का सवाल चीनियों के साथ संघर्ष का एक अधिक गम्भीर कारण सिद्ध हुआ है। वे कोरियनों को 'जापानियों के घुसने और वहाँ खप जाने की भूमिका'[1] समझते थे। उनकी प्रस्थिति (status) और भूमि अवाप्त करने के अधिकारों पर आपत्ति की जाती थी। चीनी अधिकारी उन पर अत्याचार और उनसे भेदभाव करते थे और जापानी वाणिज्यिक पुलिस द्वारा उनकी रक्षा को नापसंद किया जाता था। १ जुलाई १९३१ को कोरियनों के एक समूह द्वारा सिंचाई की एक नाली, जो चीनी किसानों की जमीन में से जाती थी, खोदे जाने पर दंगा हो गया। जापानी वाणिज्यिक पुलिस ने राइफल की गोलियाँ छोड़कर दंगाइयों को तितर-बितर कर दिया और कोई व्यक्ति हताहत नहीं हुआ, पर इस घटना की अतिरंजित खबरों के परिणाम-स्वरूप कोरिया में चीनियों के विरुद्ध गम्भीर उपद्रव हो गये जिसमें १२७ चीनी मारे गये और ३९३ घायल हुए बताये जाते हैं।

जापानी आधिपत्य के इतिहास का अध्ययन करने से आपसी संघर्ष और रोष के कई अन्य कारण तुरन्त सामने आ जायेंगे। १९१५ की संधि की विवादास्पद मान्यता, यह तथ्य कि चीनियों ने समानान्तर प्रतियोगी रेलवे लाइन के निर्माण का प्रतिषेध केवल एक अनौपचारिक वचनबंध द्वारा किया था, और यदि वह बंधनकारी था तो उसका निश्चय ही गम्भीर अतिक्रमण किया गया। सशस्त्र रेलवे गारद की और वाणिज्यिक पुलिस की सत्ता और परिस्थिति—, इन सब ने मिलकर तनाव को बढ़ाने का काम किया था। जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय में बताया जा चुका है, मंचूरिया के प्रति चीन की राष्ट्रीय सेनाओं का रुख और उस प्रान्त का चीन में मिला लिया जाना, ऐसी बातें थी जिनसे जापान में फौरन भ्रम और विरोध पदा हो गया, और जापानियों ने इन्हें बड़ी अनिच्छा से ही माना। १९३१ की गर्मियों में कोरिया की घटना से पैदा हुए आवेश के अतिरिक्त, एक जापानी अफसर कैप्टेन नाकामूरा की चीनी सैनिकों द्वारा मंचूरिया के अन्तर्वर्ती भाग में हत्या कर दी गई। इस समय तक जापानी यह कहने लगे कि दोनों देशों के बीच अब तक न निपटायी गई ३०० घटनाएँ हैं और निपटारे के शान्तिपूर्ण तरीके उत्तरोत्तर समाप्त हो गये हैं।[2]

जापानी रुख के साथ न्याय करते हुए, यह समझ लेना चाहिये कि वे अपने जो अधिकार बताते थे, उनका तथ्यत: लगातार अतिलंघन किया गया था, और उनमें बाधा डाली गई थी पर दोनों पक्षों के मध्य वास्तविक प्रश्न उन वचनबंधों की मान्यता का था, जिन पर वे दावे आधारित बताये जाते थे। उदाहरण के लिए चीनी रेलवे का निर्माण जानबूझ कर दक्षिण मंचूरियन रेलवे से यातायात खींचने के उद्देश्य से किया गया था। निःसंदेह चीनियों का यह दावा था कि उन्होंने जैसा किया उन्हें करने का वैसा पूरा अधिकार था। पर यह बात हो या न हो, उनका कार्य जापान

१. वही, पृष्ठ ५५।

२. लिटन रिपोर्ट (पृष्ठ ६६) के अनुसार यह दावा प्रमाणित नहीं किया जा सका पर इसे दृढ़तापूर्वक कहा जाता था और बहुत लोग इसे सच मानते थे।

को बहुत कुपित करने वाला और जापानी हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला था। तथ्य तो यह है कि मंचूरियन संकट उन घटनाओं की अन्तिम परिणति था, जिन्हें घटना-स्थल पर विद्यमान प्रेक्षक वर्षों से देख रहे थे, यद्यपि उन्होंने कुछ समय पहले तक योरोप की सरकारों का शायद कोई विशेष ध्यान नहीं खींचा था। ब्रिटेन तथा अन्य शक्तियों ने, राष्ट्रवादियों की माँगें पूरी करने की तत्परता प्रकट की। इसके परिणामस्वरूप चीन को यह अनुभव करने के लिए प्रोत्साहन मिला था कि वह विदेशी राष्ट्रों के हितों से जैसा चाहे व्यवहार कर सकता है]। जापान इसे अधिकाधिक भय के साथ देख रहा था।

जापान में सैनिकवाद की वृद्धि
(Growth of Militarism in Japan)

इसी बीच जापान में राजनैतिक शक्ति टोकियो सरकार के हाथ से निकलकर जापानी स्थल-सेना और जल-सेना के उच्च नेताओं के हाथों में पहुँच गई, जिन्होंने असैनिक अधिकारियों (civil executive) पर अपनी इच्छा थोपनी शुरू की, और वे अपनी इच्छानुसार मंत्रिमंडल बनाते और हटाते रहे। वह आन्दोलन जिसके साथ १९३० में कई राजनैतिक हत्याएँ हुई थीं, और १९३२ में कई बार यह दौर चला था, आर्थिक मंदी के कारण निराश, और चीनी बहिष्कारों की पुनरावृत्ति तथा अन्य कोपजनक कारणों से अति प्रकुपित, लोकमत द्वारा समर्थित था। ऐसे कार्य जापान में तीव्र राजनैतिक उत्तेजना के समय प्रायः होते रहे हैं। चीनियों के विरुद्ध जबर्दस्ती के उपाय अपनाने को १९२९ में तब और प्रोत्साहन मिला, जब चीनी स्थानीय अधिकारियों द्वारा चीनी पूर्वी रेलवे पर कब्जा कर लिये जाने के बाद रूसी सोवियत सेनाओं ने हमला किया, जिसमें चीनी अपकीर्ति के साथ पराजित हो गये। जापान में १७ अगस्त को कैप्टन नाकामूरा की हत्या के ऐलान के बाद सैनिक विमानों से पर्चे बरसाये गये, जिनमें राष्ट्र से कहा गया था कि वह मंचूरिया में जापानी अधिकारों को उत्पन्न खतरे से सचेत रहे। इस समय अत्यधिक तनाव की स्थिति से चीनी अधिकारियों को चिन्ता हो रही थी। ६ सितम्बर को मार्शल चाँग सुहेयलयाँग का एक तार मुकडन की सेना को मिला जो इस प्रकार था :

> जापान के साथ हमारे सम्बन्ध बड़े नाजुक हो गये हैं। हमें उनके साथ व्यवहार में खास तौर से सावधान होना चाहिए, चाहे वे हमें कितनी भी चुनौती दें। हमें अत्यधिक धीरज रखना चाहिए और हर तरह के संघर्ष से बचने के लिए बल का उपयोग नहीं करना चाहिए। तुम्हें सब अफसरों को गुप्त रूप से आदेश जारी करके इस बात की ओर उनका ध्यान खींचना चाहिए।[1]

मुकडन की घटना
(The Mukden Incident)

१८ सितम्बर १९३१ की रात में मुकडन के निवासियों ने इस तथ्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया कि एक जोर का विस्फोट हुआ है जिसके बाद गोलियाँ चलाये जाने की आवाज़ आई। पिछले सप्ताह जापानी युद्ध का अभ्यास कर रहे थे, जिससे

१. लिटन रिपोर्ट, पृष्ठ ६९।

आसपास रायफल और मशीनगन की बहुत गोलियाँ चलाई गईं थीं, और सवेरे देखा गया कि नगर जापानी सैनिकों के कब्जे में था। इस कार्यवाही का कारण यह बताया गया कि जापानी सैनिकों के एक दस्ते से, जो सैनिक अभ्यास कर रहा था, लगभग २०० गज दूर रेलवे लाइन का एक टुकड़ा उड़ा दिया गया था। लाइन को नुकसान अवश्य हुआ था, पर इतना थोडा हुआ था कि चाँगचुन से दक्षिण की ओर जाने वाली ट्रेन मुकडन में इस पर से यथासमय और बिना किसी हानि के अपने गन्तव्य स्थान को चली गई। यह करतूत किन की थी यह निश्चय नहीं, यद्यपि जापानी गश्ती टुकड़ों का यह कहना था कि हम पर पहले एक छोटे दस्ते ने, और बाद मे एक बडी टुकड़ी ने गोली चलाई। पर स्पष्टतः इस अवस्था मे कोई हानि नहीं हुई। क्योंकि इस विवरण के अनुसार, यह घटना सर्वथा अप्रत्याशित थी, इसलिये जापानी सैनिक अधिकारियों की प्रतिभा निस्संदेह प्रभावोत्पादक थी। न केवल बैरकों पर जिन में लगभग १०००० सैनिक थे, बिना खास हानि उठाये अविलम्ब कब्जा कर लिया गया, बल्कि 'मंचूरिया की सारी सेना और कोरिया की कुछ सेना चाँगचुन से पोर्ट आर्थर तक दक्षिण मंचूरियन रेलवे क सारे क्षेत्र में १८ सितम्बर की रात को प्रायः एक साथ तैनात कर दी गई।'[1] पाठक के मन में दो और सवाल पैदा हो सकते है। यदि रेलवे पर हुए विस्फोट की जिम्मेदारी मुकडन वाली पलटन पर थी, जैसा कि आरोप किया गया, तो क्या यह अजीब बात नहीं कि उन्होंने यह कार्य ऐसी जगह किया जिसके बारे में यह पता था कि वहां जापानी सैनिक युद्धाभ्यास कर रहे है? दूसरे यदि यह कार्य उस पलटन ने किया था और जापानी गश्ती टुकड़ी पर गोली उसने चलाई थी तो यह क्या बात कि आक्रमण करने वाली सेना को इतने कम प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और दस हजार प्रतिरक्षक सैनिकों के हाथों, जो इस युक्ति के अनुसार, उनके हमले की आशा ही कर रहे होंगे, इतनी कम हानि उठानी पड़ी।

जापानी कार्यवाही योजनाबद्ध थी या नहीं पर उसकी पहली मंजिल में तीन दिन के भीतर, चीन के महत्त्वपूर्ण नगरों मुकडन, चांगचुन और किरिन पर, जिनमें से किरिन जापानी क्षेत्र से लगभग ६५ मील बाहर था, कब्जा होगया। इसके शीघ्र बाद आधिपत्य का क्षेत्र और बढ़ा लिया गया और उसे उचित ठहराने के लिए डकैती में वृद्धि के आरोप लगाये गये—जो संभवतः सच होंगे, पर यदि वे सच थे तो संभाव्यतः चीनी सत्ता के हट जाने के कारण ऐसा हुआ होगा—और यह निराधार बात दृढ़तापूर्वक कही गई कि चिनचाउ में चीनी सेना जमा हो रही है। अक्तूबर के शुरू में जापानी मुख्य सेनापति ने सार्वजनिक रूप से ऐलान किया कि मार्शल चांग सुएहलियांग की सरकार अब अभिज्ञात न की जायगी। टोकियो सरकार ने, जो निश्चित रूप से उसकी कार्यवाहियों में सम्मिलित नहीं थी, उसके कार्य का प्रत्याख्यान किया, पर जापानी सेना अपनी स्वतंत्र नीति पर चलती रही। ८ अक्तूबर को जापानी विमानों ने चिनचाउ पर बम गिराये और पर्चे फेंके जिनमें सेनापति की घोषणा दुहराई गई थी और २१ तारीख को चांग सुएहलियांग की वैयक्तिक उपयोग की वस्तुएँ तींतसिन भेज दी गईं जो इस बात का एक और संकेत था कि मंचूरिया में उसका शासन समाप्त कर दिया

१. लिटन रिपोर्ट, पृष्ठ ७१।

गया। नवम्बर में जापानी सेनाओं ने चीनी पूर्वी रेलवे लाइन, जो ब्लाडिवोस्टक को जाती थी, के पार स्थित त्सित्सिहर पर कब्जा कर लिया, जो जापानी रेलवे क्षेत्र के निकटतम बिन्दु से लगभग ३०० मील दूर था, और महीना खत्म होने से पहले चिन-चाउ पर चढ़ाई की तैयारी कर दी जो दक्षिण में था और मँचूरिया का एक मात्र ऐसा हिस्सा था जहाँ अब भी चीनी शासन मौजूद था। यह चढ़ाई जिनीवा और वाशिगटन से भेजे गये ज़ोरदार निवेदन-पत्रों के कारण अस्थायी रूप से विलम्बित कर दी गयी—टोकियो स्थित सरकार इन्हें टालने को तैयार थी—पर ११ दिसम्बर को लिबरल (मिन्सीतो) मंत्रिमंडल का पतन हो गया और उसके बाद एक अधिक कंजर-वेटिव या रूढ़ि-पंथी प्रशासन आया। इन परिस्थितियों में, मंचूरिया में जापानी सेना को कुमुक भेजने की मंजूरी दे दी गई और दिसम्बर के अंत में आशंकित चढाई शुरू हुई तथा चिनचाउ पर जिससे चीनी सेनाएँ पीछे हट गईं, ३ जनवरी १९३२ को कब्जा कर लिया गया। अगले दिन जापानी पेकिंग-मुकडन रेलवे और चीन की दीवार के संगम पर शानहाइक्वान में घुस गये और इस प्रकार उन्होंने दक्षिणी मंचूरिया पर अपना आधिपत्य पूरा कर लिया।

चीन में प्रतिक्रियाएं
(Reactions in China)

जापानी हस्तक्षेप का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि चीनी सरकार की एकता में पड़ी दरार भरने में सहायता मिली। सितम्बर खत्म होने से पहले नानकिंग और कैंटन प्रशासन के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। पारस्परिक ईर्ष्याओं के कारण सम-झौते में देर लगी, पर नवम्बर में छात्रों की एक बड़ी भीड़ के कारण, जिसमें चीन के सब भागों के छात्र शंघाई और नानकिंग में इकट्ठे हुए थे, घटनाओं की गति बढ़ गयी। दिसम्बर में च्यांगकाई शेक और उसके साथियों को अस्थायी रूप से अवकाश-ग्रहण के लिए मजबूर किया गया[1] और नियंत्रण कैंटन के नेताओं को सौंप दिया गया पर जनवरी १९३२ में शंघाई में जापानियों के हस्तक्षेप ने उन्हें बदनाम कर दिया, और च्यांगकाई शेक ने पुनः नियंत्रण संभाल लिया।

मंचूरिया की स्थिति का एक और परिणाम यह हुआ कि जापानी-विरोधी बहिष्कार बहुत और सब जगह बढ़ गया, और दंगे तथा हिंसाकार्य भी हुए। २१ सितम्बर १९३१ को ही नानकिंग, शंघाई, हैंको और अन्य स्थानों में जापानी-विरोधी राष्ट्रीय संघ (National Anti-Japanese Associations) स्थापित किये गये। जापा-नियों के साथ सम्बन्ध रखने वालों के विरुद्ध कठोरतम नियम बनाये गये, और बताया जाता था कि शंघाई के जापानी-विरोधी संघ के कहने पर बहुत सारे चीनी व्यापार-रियों को इन नियमों को भंग करने के कारण गिरफ्तार किया गया, अर्थ-दण्ड दिया गया, कैद किया गया और ३ मामलों में मौत की सजा दी गई। जापानियों से दुर्व्य-

१. अधिकारी व्यक्तियों की राय में, च्यांग और उसके साथियों ने जान-बूझ कर एक ऐसी स्थिति अपने विरोधियों को सौंप दी थी जिसके बारे में वह जानता था कि वे उसे नहीं संभाल सकते। जाने से पहले वित्त मंत्री ने खजाने को खाली कर देने की सावधानी बरती थी।

वहार और उनके अपमान की तथा जापानी कंपनियों के वेअरहाउसों के लूटे जाने की शिकायतें भी की गई थीं।[1] जापान के लिए इसके वित्तीय परिणाम निस्संदेह अत्यधिक गंभीर थे। टोकियो से 'टाइम्स' के संवाददाता ने १७ दिसम्बर १६३१ तक चीन को होने वाले निर्यात में आश्चर्यकारक कमी का समाचार दिया था।

शङ्घाई में कार्यवाही
(Operations at Shanghai)

इस प्रकार उत्पन्न संघर्ष और गड़बड़ी का नतीजा यह हुआ कि शंघाई में १८ जनवरी १६३२ को एक घटना हुई जिसमें ५ जापानियों पर चीनियों ने हमला किया। दो को गम्भीर चोटें आईं और एक जो बौद्ध भिक्षु था कुछ दिन बाद मर गया। इस पर जापानी महावाणिज्य दूत (Consul General) ने बृहत्तर शंघाई के चीनी नगराधीश (Mayor) को एक पत्र भेजा जिसमें ५ मांगें थीं। २१ तारीख को नौसैनिक कुमुक शंघाई पहुँच गई और २४ तारीख को महावाणिज्य दूत ने अपनी मांगों को २८ तारीख को खत्म होने वाले एक अल्टीमेटम का रूप दे दिया। २८ तारीख को सवेरे जापानी नौ सेना के सेनापति एडमिरल शियोज़ावा ने यह सूचित किया कि यदि कल सवेरे तक संतोषजनक उत्तर न मिला तो मैं कार्यवाही करूँगा। इस पर नगराधीश ने सब जापानी मांगें स्वीकार कर लीं। पर इसी बीच नगर परिषद् ने आपात की अवस्था की घोषणा कर दी थी और प्रतिरक्षा और नियन्त्रण के क्षेत्र विभिन्न टुकड़ियों को बाँट दिये थे। जापान को जो क्षेत्र दिया गया था, वह चापेई के चीनी क्षेत्र की संकरी गलियों के बहुत अधिक घनी आबादी वाले हिस्से की सीमा पर था, और सीमा स्पष्टतः निर्दिष्ट नहीं थी। यह अंशतः अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर था। प्रतीत होता है कि चीनियों को इस व्यवस्था की सूचना नहीं दी गई थी। जब जापानी सैनिकों ने अपने स्थान संभाले तो चीनी नियमित सैनिकों ने मुकाबिला किया और २९ तारीख के बड़े सवेरे जापानी जल विमानों ने चापेई पर दाहक बम गिराये जिन्होंने उस बस्ती को भस्मसात् कर दिया। तब अस्थायी संधि की व्यवस्था की गई और ब्रिटिश तथा अमेरिकन महावाणिज्य दूतों (Consuls-General) को बीच में डाला गया, पर इस संधि का कभी पूरी तरह पालन नहीं किया गया और २ फरवरी को यह निश्चित रूप से समाप्त हो गई। ३ फरवरी से वह अवस्था पैदा हो गई जिसे 'खुले युद्ध की अवस्था' कहा गया है; १८ तारीख को एक अल्टीमेटम दिया गया जो जापानी युद्ध कार्यालय से अधिकृत था, और जिसमें यह मांग की गई थी कि चीनी सेना अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती की सीमा से २० मील की दूरी तक पीछे हट जाए और २० तारीख के बड़े सवेरे जापानी सेना ने, जिसे इसी बीच भारी कुमुक प्राप्त हो चुकी थी, हमला शुरू कर दिया जो ३ मार्च तक जारी रहा। इस समय अप्रत्याशित रूप से कड़ा प्रतिरोध होने के बाद उनका उद्देश्य सिद्ध हो चुका था। उसी दिन चीन-जापान विवाद पर विचार करने के लिए राष्ट्र-संघ की असेम्बली का विशेष अधिवेशन हुआ। एक अन्तिम सैनिक सुलह के करार पर दोनों पक्षोंने सर माइल्स लैम्पसन की मध्यस्थता के परिणामस्वरूप ५ मई को

१. लीग आफ नेशन्स ऑफीशल जर्नल, दिसम्बर १६३१, पृ० २५१०-११।

हस्ताक्षर किये और उस महीने के अन्त में जापानी सैनिकों का अन्तिम दल शंघाई से चला गया।

मंचूकुओ
(Manchukuo)

इसी बीच मंचूरिया में जापानियों के एक चीनी पिछलग्गू सीसिया और किरिन तथा हेईलुंगच्यांग की प्रान्तीय सरकार की सेना में स्थानीय लड़ाई भडक उठने से हारबिन में स्थित जापानी और कोरियन बस्तियों को वास्तविक खतरा पैदा हो गया और परिणामत: एक जापानी टुकड़ी भेजी गई जो ५ फरवरी १९३२ को हारबिन पर कब्जा करने में सफल हो गई—हारबिन मंचूरिया में दूसरे नम्बर पर महत्त्वपूर्ण नगर और चीनी पूर्वी रेलवे का मुख्यालय था। इसके बाद जनरल माचान शान की कमान में लड़ने वाली प्रान्तीय सेना के खिलाफ कार्यवाही अगस्त से पहले तक जारी रही पर अगस्त मे चीनी सरकारी सेना को अस्थायी रूप से भंग कर दिया गया। इसके बाद साल के अन्त तक अनियमित सैनिकों और डकैतों का ही सामना करना पड़ा। इसी बीच जापानियों ने अपने नामजद चीनियों के अधीन प्रान्तीय सरकारें स्थापित करने की नीति अपना ली थी। ये सरकारें 'स्वशासन पथ-प्रदर्शक बोर्ड' (Self-Government Guiding Board) द्वारा आपस में जुड़ी हुई थी, और इस बोर्ड में अधिकतर जापानी अधिकारी थे। इस संगठन के द्वारा मुकडन में एक सम्मेलन कराया गया, जिसने १९ फरवरी १९३२ को निश्चय किया कि चीन के भूतपूर्व सम्राट् पूयी के राष्ट्रपातत्व में एक स्वतन्त्र गणराज्य स्थापित किया जाय और उसका नाम 'मंचूकुओ' रखा जाय। नया राज्य ९ मार्च को स्थापित किया गया और उसे १५ सितम्बर को जापान ने सरकारी तौर से अभिज्ञात कर लिया। जापान तथा उसकी कठपुतली में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। लिटन आयोग की जांच ने यह अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि तथ्यत: नया राज्य जापान का बनाया हुआ था और उसे 'किसी सच्चे और स्वयं-स्फूर्त स्वतन्त्रता आन्दोलन द्वारा जनित नहीं माना जा सकता'।[1]

खुले-आम अपने अधीन करने के बजाय जापान द्वारा अपनाई गई नीति के स्पष्ट लाभ थे। इस मामले को 'आत्म-निर्णय' के नाम का रंग देना व्यावहारिक दृष्टि से उचित था, क्योंकि इस सिद्धान्त के प्रयोग की सदाशयता पर अन्य शक्तियों ने इतनी बार आपत्ति उठाई थी। स्वाधीनता आन्दोलन की सदाशयता को प्रसिद्ध करने का भार बाहरी दुनिया पर डाल दिया गया था, जिसकी राय पर हमेशा आपत्ति उठाई जा सकती थी। जापान में स्थिति को और अच्छा तथा तर्कसंगत रूप दे दिया गया और अन्त में यह भी कहा गया है कि जापानियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें देश में सारा जापानी शासन संभालने के लिए योग्य जापानी अपेक्षित संख्या में नहीं मिल सकते।

---

१. लिटन रिपोर्ट पृष्ठ ९७।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाएँ
(International Reactions)

जापान के कार्यों ने शुरू मे दुनिया का ध्यान एक साथ अपनी ओर खींच लिया था। प्रतीत होता था कि वह न केवल प्रसंविदा के अधीन बल्कि कैलोग पैक्ट और नौशक्ति संधि के अधीन भी, जिसमें चीन की प्रादेशिक अखण्डता को सुरक्षित माना गया था और जिसमें उसने वाशिंगटन में १९२२ में हस्ताक्षर किये थे, अपने कर्त्तव्यों का अतिक्रमण कर रहा था। इसलिए न केवल राष्ट्रसंघ के सदस्य, बल्कि यूनाइटेड स्टेट्स भी इसमें दिलचस्पी रखते थे और सोवियत रूस का, यद्यपि उसने धैर्य और सहिष्णुता की नीति अपनाई, किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा शायद अधिक सीधा सम्बन्ध था। उसकी चिन्ता तब बढ़ गई जब जापान ने सोवियत सरकार के साथ अनाक्रमण संधि करने से इंकार कर दिया, जिसका प्रस्ताव सोवियत सरकार ने १९३१ के अन्तिम दिनों में रखा था। दूसरी ओर, सोवियत संघ ने १२ दिसम्बर १९३२ को चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित कर लिया जिससे जापान में संदेह और क्षोभ पैदा हुआ। २१ सितम्बर १९३१ को ही चीनी-जापानी विवाद प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अनुसार चीन की प्रार्थना पर राष्ट्रसंघ के समक्ष रक्खा गया था और १४ अक्तूबर को ही परिषद् ने इस प्रश्न पर विचार करते समय यूनाइटेड स्टेट्स के प्रतिनिधि को अपने साथ बैठने के लिए निमन्त्रित करने का इरादा प्रकट किया था। यह प्रस्थापना जापान की वैधानिक आपत्तियों के बावजूद क्रियान्वित की गई और १६ अक्तूबर को जिनीवा स्थित अमेरिकन वाणिज्य-दूत श्री गिलबर्ट ने, जिन्हें केलौग पैक्ट सम्बन्धी बातचीत में हिस्सा लेने की और अन्य बातों में निरे प्रेक्षक के रूप में कार्य करने की हिदायत दी गई थी, अपना स्थान सम्भाला। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, युद्ध बन्द करने के लिए भेजे गए पहले निवेदन-पत्रों के निष्फल होने पर परिषद् में स्थित जापानी प्रतिनिधि ने एक जाँच आयोग भेजने का प्रस्ताव रखा और १० दिसम्बर को यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकार हो गया। यह आयोग, जिसके सभापति लार्ड लिटन थे, फरवरी १९३२ में चीन रवाना हुआ।

इसी बीच २९ जनवरी को जब चीन ने अनुच्छेद ११ के अधीन अपनी पहली प्रार्थना के अतिरिक्त, अनुच्छेद १० और १५[1] का हवाला भी पेश किया, स्थिति परिवर्तित हो गई थी। १२ फरवरी को यह विवाद असेबली को भेजा गया और ३ मार्च को उसका विशेष अधिवेशन हुआ। इस प्रकार, मामला ऐसी जगह पहुँच गया था जहाँ यह सम्भावना थी कि इसे राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में शान्ति बनाये रखने की दृष्टि से स्थापित सामूहिक प्रणाली की साधकता की पक्की कसौटी के रूप में देखा

१. अनुच्छेद १०—सदस्यों की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा।

अनुच्छेद १५—विवाद रिपोर्ट के लिए परिषद् या असेम्बली के समक्ष रखना। अनुच्छेद १२ भी अन्तर्ग्रस्त होता है। ऐसी रिपोर्ट के बाद ३ मास तक युद्ध न किया जायगा और अनुच्छेद १२ या १५ का अतिक्रमण अनुच्छेद १६ (अनुशास्तियाँ) को भी लागू कर देता है।

जाएगा। पर यह ऐसा मामला था जिसमें अनुशास्तियाँ (sanctions) लागू करने की समस्या से ऐसी कठिनाइयाँ आती थीं कि महा शक्तियों की इतनी दूर जाने की अनिच्छा अधिकाधिक प्रकट होने लगी, और तदनुसार, जापानियों को प्रोत्साहन मिला। प्रशान्त-महासागर में मुख्य दिलचस्पी रखने वाले तीन राष्ट्रों में से रूस और यूनाइटेड स्टेट्स तो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे और यह प्रतीत होता था कि यदि कोई नौ सनिक कार्य-वाही करनी पड़ी तो उसका असली बोझ अकेले ब्रिटेन पर पड़ेगा। अमेरिका ने जो योगदान किया वह सिर्फ श्री स्टिमसन द्वारा अपने प्रसिद्ध 'अनभिज्ञान के सिद्धान्त' (Doctrine of Non-recognition) का प्रतिपादन था, जो ७ जनवरी १९३२ को प्रकाशित किया गया। इसके बारे में इतना कह देना काफी है कि इतिहास इस विचार का समर्थन नहीं करता कि किसी तथ्यात्मक स्थिति के अनभिज्ञान को स्थायी रूप से कायम रखा जा सकता है। पर अन्य राष्ट्र, जो सम्भाव्यत: प्रकटत: उनके सामने आ रहे थे, वे उसका एक सुरक्षित विकल्प पाने के लिए चिंतित थे। अत: उन्होंने इस सिद्धान्त को बड़ी उत्सुकता से अपनाया और इसका समर्थन किया। कुछ समय के लिए लिटन रिपोर्ट के प्रकाशन की प्रतीक्षा में कोई नयी घटनाएँ नहीं हुई। असेम्बली ने यह विवाद १९ व्यक्तियों की एक समिति को सौंप दिया जिसने अपनी रिपोर्ट के लिए समय बढ़ाने की मांग की और १ जुलाई को असेम्बली ने लिटन आयोग के निष्कर्षों की प्रतीक्षा करने का निश्चय किया।

लिटन आयोग की और असेम्बली की रिपोर्टें (The Reports of the Lytton Commission and of the Assembly)

२ अक्तूबर १९३२ को लिटन रिपोर्ट जिनीवा में प्रकाशित की गई। इसके तथ्यों सम्बन्धी निष्कर्ष साधारणतया जापान के लिए हानिकारक थे पर इसने ऐसे समझौते का प्रस्ताव रखा जो मंचूरिया में उस देश के अधिकारों और हितों को पूरी तरह अभिज्ञात करे और मंचूरिया को चीनी सर्वोच्चता के अधीन काफी स्वायत्तता दी जाय। आंतरिक व्यवस्था के लिए प्रभावी स्थानीय सशस्त्र पुलिस रखी जाय और सब सशस्त्र सैनिक हटा लिये जाएं। चीन और जापान के मध्य आर्थिक मेल-मिलाप के लिए और चीन के आन्तरिक पुनर्निर्माण में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा सहायता करने के लिए कहा गया था। आयोग ने पूर्व स्थिति का हल निकालने के प्रयत्न को निरुत्साहित किया।

रिपोर्ट मिलने पर राष्ट्रसंघ ने अगले कुछ महीने सुझाये गये आधारों पर समझौता कराने का प्रयत्न करने में लगाये थे, पर नव वर्ष के आरम्भ में वे सब आशाएँ विनष्ट हो गयीं जो तब भी की जा रही थीं, क्योंकि १ जनवरी १९३३ को जापानियों ने खुले आम चीन की दीवार के मुख्य द्वार शान हाई क्वान पर हमला कर दिया, और ३ जनवरी को नगर में वे प्रविष्ट हो गये। ११ जनवरी को उस उपसमिति ने, जिसे यह कार्य सौंपा गया था, अनुच्छेद १५ के अधीन राष्ट्र संघ की असेम्बली के सामने पेश करने के लिए एक रिपोर्ट का मसविदा तयार किया। १३ फरवरी को १९ सदस्यों की समिति ने इसका अनुमोदन किया और १७ फरवरी को

यह प्रकाशित किया गया । २१ को इस पर विचार करने के लिए असेम्बली की बैठक हुई और स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए यह ३ दिन के लिए स्थगित हो गयी। पुनः बठक होने पर इसने अकेले जापान के प्रतिकूल वोट के मुकावले में ४२ वोटों से रिपोर्ट स्वीकार। करली विवाद में एक पक्ष होने के कारण जापान के मत का विनिश्चय की मान्यता पर प्रभाव न पड़ सकता था।[1] जापानी प्रतिनिधि ने तुरन्त राष्ट्रसंघ से त्याग-पत्र देने की अपने की देश की इच्छा की सूचना दी।

यह रिपोर्ट साधारणतया लिटन आयोग के निष्कर्षो और सिफारिशों के अनुसार ही थी । इसमें कहा गया कि मंचूरिया पर चीन की सर्वोच्चता है, स्वतन्त्रता आन्दोलन को स्वय-स्फूर्त नहीं माना जा सकता, और जापान की सैनिक कार्यवाही को उचित नहीं ठहराया जा सकता। इसने जापानी सैनिकों को रेलवे क्षेत्र के भीतर तक हटा लिये जाने तक की सिफारिश की। निपटारे के लिए और सिफारिशें लिटन रिपोर्ट के अनुसार थीं।

जिहोल पर आक्रमण
(Invasion of Jehol)

राष्ट्रसंघ की असेम्बली के उस विषम मतदान के करीब-करीब साथ ही जापान चीन की सेना के साथ एक बड़े पैमाने की सैनिक कार्यवाही में पड़ गया था। तथ्य तो यह है कि इस घटना के आने का प्रभाव जिनीवा में हो रही वार्त्ताओं पर कुछ समय से पड़ रहा था। यह युद्ध जिस प्रदेश के बारे मे हो रहा था, वह जिहोल प्रान्त था, जो मंचूरिया को चीन की दीवार से पृथक् करने वाला छेनी की आकृति का पर्वतीय प्रदेश है, और शान हाई क्वान के उत्तर की संकरी तटीय पट्टी को छोड़ कर, जिसमें पेकिंग मुकडन रेलवे लाइन का मध्यवर्ती भाग है, सारा दक्षिणी भाग आ जाता है। जिहोल में जापान बहुत समय से एक विशेष स्वहित का दावा कर रहा था और उसने यह सूचित किया था कि वहाँ व्यवस्था बनाये रखना मंचूरियन सरकार की आंतरिक नीति का मामला है। यह दावा अब बढ़ कर इस सुनिश्चित कथन के रूप में आ गया था कि जिहोल मंचूकुओं का अविभाज्य अंग है। तथ्यतः स्थानीय गवर्नर तांग यूलिन मंचूरियन स्वाधीनता की मूल घोषणा के हस्ताक्षरकर्त्ताओं में था और नये राज्य की प्रिवी कौंसिल का उप-सभापति नियुक्त किया गया था। पर १९३२ के अन्त में उसने अपनी निष्ठा का प्रत्याख्यान कर दिया । १२ जनवरी १९३३ को टोकियो के युद्ध मंत्रालय ने एक वक्तव्य जारी करके मंचूकुओ की ओर से जिहोल पर दावा पेश किया और उस समय से युद्ध छिड़ना साधारणतया आसन्न समझा जाता था। फरवरी के मध्य में नानकिंग सरकार और मार्शल चाँग सुएह-लियांग को एक अल्टीमेटम दिया गया, जिसमें प्रान्त से चीनी सेनाओं को हटाने की मांग की गई थी, और २५ ता० को जापानी फौज ने यथार्थतः आगे वढ़ना शुरू कर दिया। यह अप्रत्याशित द्रुति से आगे बढ़ी और संख्या की बहुत अधिकता के बावजूद चीनी प्रतिरोध समाप्त होता चला गया। जिहोल नगर (या चेंगतेह) पर ४ मार्च को, तय किये हुए समय से पहले ही कब्जा हो गया। ५ तारीख को च्यांगकाई शेक ने मार्शल चाँग सुएह लियांग को हर सूरत में प्रतिरोध करने का आदेश दिया । पर

तीन दिन बाद अल्पवयस्क मार्शल ने अपने पद से त्याग-पत्र देकर उसका उत्तर दिया। एक पखवाड़े से कुछ अधिक समय में जापान और उसका आश्रित चीन की दीवार के सब दर्रों पर काबिज हो गये।

अप्रैल में इस युद्ध की अंतिम अवस्था आ गई जब जापानी सैनिकों ने कई स्थानों पर दीवार को पार कर लिया, और वे पाइपिंग (पेकिंग) के लिए शीघ्र ही खतरा बन गये। इन परिस्थितियों में तीन मई को तांगकू में एक सैनिक सुलह पर हस्ताक्षर हुए जिसमें चीन की दीवार के चीन वाली ओर ५,००० वर्ग मील के क्षेत्र को सैन्य-विहीन करने का उपबन्ध था। क्योंकि पिछले दिसम्बर में जापानियों ने उत्तरी मंचूरिया में बची हुई चीनी सेनाओं को रूसी सीमान्त पर ढकेल दिया था, जहाँ उन्हें निरस्त्र कर दिया गया था, इसलिए अब यह प्रतीत होता था कि जापान के वे सब उद्देश्य पूरे हो गये थे, जिन्हें पूरा करने का लक्ष्य बना कर उसने यह सैनिक उपक्रम आरम्भ किया था। सच तो यह है कि नानकिंग सरकार को ऐसा कठिन पाठ पढ़ा दिया गया था कि उसने उल्लेखनीय रूप से नरम रुख अपना लिया था और वह जापानी-विरोधी बहिष्कारों को इतनी तत्परता से दबा रही थी कि चीन और जापान में विशेष समझौते हो जाने की तथा 'एशियाई मनरो सिद्धांत' कायम रखने के लिए गुप्त संधि हो जाने की भी अफवाहें पैदा हो गईं।

विदेशी शक्तियों को जापान की चेतावनी
(Japanese Warning to Foreign Powers)

जापान ने अप्रैल १९३४ में जो दावे पेश किये, उनसे इन संदेहों का पैदा होना विशेष दिलचस्पी की बात हो जाता है। ये दावे उसके विदेश मंत्रालय के एक प्रवक्ता द्वारा दिये गये एक वक्तव्य में थे, जिसमें निम्नलिखित अवतरण समाविष्ट थे :

खास इस समय मंचूरिया और शंघाई की घटनाओं के बाद विदेशी शक्तियों द्वारा टैकनिकल या वित्तीय सहायता के नाम से भी की जाने वाली किसी संयुक्त कार्यवाही का राजनैतिक अर्थ अवश्य लगाया जायगा। यदि ऐसे कार्य अन्त तक किये गये तो इन से अवश्य ही उलझनें पैदा होंगी······इसलिए जापान को सिद्धान्ततः ऐसे कार्यों पर आपत्ति उठानी होगी··· चीन को लड़ाकू विमान देना, चीन में हवाई अड्डे बनाना, सैनिक शिक्षक या सैनिक सलाहकार चीन भेजना, या राजनैतिक उपयोग के लिए धन की व्यवस्था करने की दृष्टि से ऋण देना, स्पष्टतः जापान व चीन और अन्य देशों के मैत्री सम्बन्धों में तथा पूर्वी एशिया की शान्ति और व्यवस्था में बिगाड़ पैदा करने लगेंगे। जापान ऐसी परियोजनाओं का विरोध करेगा।

इस प्रकार जिन अधिकारों का दावा किया गया था, उनके बारे में यूनाइटेड स्टेट्स, फ्राँस और ब्रिटेन में तुरन्त पत्र-व्यवहार हुआ और कुछ निश्चित करने वाले वक्तव्य वहाँ से दिये गये। पर यह समझ रखना चाहिए कि जापान के पास श्री टी० वी० सुंग और अन्य लोगों के, चीन के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त करने के, प्रयत्नों से कुछ चिन्तित होने के लिए सचमुच कारण थे—इस वित्तीय सहायता से चीन का जापान से मुकाबले करने का सामर्थ्य बढ़ जाता : राष्ट्रसंघ के सलाहकार नियुक्त कर लेने से भी, जो स्पष्टतः जापान विरोधी राय रखने वाले बताये जाते थे, टोकियो में आशंकाएँ पैदा

हो गईं, जो अस्वाभाविक नहीं थीं। विदेशी आर्थिक सहायता या सलाह के इस प्रश्न पर जापान के रवैये की परख १६३५ में हुई, जब ब्रिटिश सरकार ने सर फ्रेडरिक लीथ रोस को आर्थिक अवस्थाओं की जाँच करने और उन पर रिपोर्ट देने के लिए चीन भेजा। यह कार्य भी ऐसे विषम समय में निस्संदेह चीन के लिए प्रचुर सहायता-कारक था, जापान में संदेह और विरोध की दृष्टि से देखा गया, क्योंकि वहां पर समझा गया कि यह चीन को एक बड़ा ऋण देने की भूमिका है। पर जापान के विरोधी विचारों के कारण टोकियो सरकार ने ब्रिटिश कार्य में बाधा डालने का कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किया।

जापानी कार्यवाही और सामूहिक पद्धति
(Japanese Action and the Collective System)

जापान के दृष्टिकोण से, चीन के विरुद्ध कार्यवाही 'सफलता द्वारा उचित' ठहराई जाती प्रतीत होती थी, यद्यपि कुछ ऐसे आर्थिक लाभ जो उसे मंचूरिया के नियंत्रण से प्राप्त होने की आशा थी, कुछ समय तक पूरी तरह नहीं प्राप्त किये जा सके। सैनिक कार्यवाही का खर्च निस्संदेह भारी था, पर जापान को येन के भारी अवमूल्यन से जो व्यापारिक लाभ हुआ—जिससे १९३३ में उसके निर्यात व्यापार को आश्चर्य-कारक उद्दीपन मिला—वह कुछ मात्रा तक प्रतितुलित हो गया। १९३१ में यह स्पष्ट था और उसके बाद और अधिक स्पष्ट होता गया था कि आर्थिक संकट और आर्थिक राष्ट्रवाद व्यापार को निर्बन्धित क्षेत्रों में ढकेल रहे हैं, जिससे वे देश औरों की अपेक्षा, लाभ में हैं जो विस्तृत प्रदेश के साथ जिस पर उन्हें विशेष नियंत्रण या प्रभाव प्राप्त है, व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। सामरिक दृष्टि से जापान के मंचूरिया पर नियन्त्रण से उसे चीन और सोवियत संघ के विरुद्ध आक्रमण या प्रतिरक्षण की कार्यवाहियों के लिए एक विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण अड्डा मिल गया था। बाहरी दुनिया की दृष्टि से भी, यदि इस घटना को युद्ध-पूर्व के मानदण्ड से जाँचा जा सकता तो परिणाम की दृष्टि से इसे संतोषजनक माना जा सकता था। चीनी राष्ट्रवाद अब नम्रता का पाठ पढ़ रहा था और उत्तर में व्यवस्था कायम रखने का कार्य अब संभाव्यत: अधिक दक्ष हाथों में था। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जापान को अत्यधिक उत्तेजन के अवसर दिये गये थे और बहुत से राष्ट्र अपने ही निकट अतीत की ऐसी घटनाएँ स्मरण कर सकते थे, जिनमें उनकी नीति इससे भिन्न न रही थी। इस सिलसिले में श्री लिपमैन का निम्नलिखित लाक्षणिक अमेरिकन दृष्टिकोण पढ़ना मनोरंजक है कि 'एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि जापानी सेना "युद्ध" नहीं कर रही, बल्कि "हस्तक्षेप" (intervention) कर रही है' और दुनिया को 'ऐसे निर्वचन के लिए जापान के हस्तक्षेप को युद्ध-परित्याग की घोषणा करने वाले केलोग-ब्रिएण्ड पैक्ट के क्षेत्र के भीतर लाने की कूद-फाँद मचाने की' न तो आवश्यकता थी और न मचानी चाहिए थी[1]।

---

१. लिपमैन, इन्टरप्रिटेशन्स, १९३१-३२, पृष्ठ १९६-९७।

दूसरी ओर, युद्धोत्तर मानदण्ड से देखा जाय तो स्थिति यह थी कि जापान ने न केवल केलोग पैंक्ट और नौ-शक्ति संधि के अधीन किये गये अपने वचनबन्धों को भंग किया था, बल्कि साधारण आदमी की समझ में आ सकने वाले एकमात्र अर्थ में, प्रसंविदा के अनुच्छेद १२ और १५ का अतिक्रमण करके युद्ध को अपनाया था और इसके द्वारा राष्ट्रसंघ के सदस्यों पर अनुच्छेद १६ की अनुशास्तियाँ (sanctions) स्वतः लागू करने का दायित्व डाल दिया था। तो भी ब्रिटेन द्वारा शस्त्रास्त्रों पर सीमित रोक लगाने के लिए अस्थायी और असफल प्रयत्न के अलावा कुछ भी नहीं किया गया था। हर कोई यह अनुभव करता था कि कार्यवाही न करना उचित तो ठहराया जा सकता है, पर इसमें आवश्यक रूप से प्रसंविदा द्वारा डाले गये दायित्वों की उपेक्षा होती है, क्योंकि यदि जापान की कार्यवाही युद्ध-कार्य नहीं थी, तो वह, इसकी परिभाषा न करने के एक खुले षड्यंत्र के कारण ही इस आरोप से बच सका। इसलिए, इस घटना ने सामूहिक सुरक्षा की सारी पद्धति को जो आघात पहुँचाया, वह बहुत बड़ा था, और जिस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है, वह सिर्फ यह है कि क्या इसकी सारी जिम्मेवारी जापान पर है, अथवा इसमें उन लोगों का भी हिस्सा होना चाहिए जिन्होंने एक ऐसी पद्धति बनाई जिसको अपनाने में दुनिया असमर्थ थी। सच-मुच ऐसे व्यक्ति हैं जो यह सोचते है कि अनुशास्तियाँ लागू करना व्यवहार्य था। पर कठिनाइयाँ इतनी बड़ी थी और संसार को युद्ध में डाल देने की संभावना इतनी पक्की थी, कि राष्ट्रसंघ के सदस्यों की अकर्मण्यता यदि पूरी तरह उचित नहीं तो क्षमायोग्य तो समझी ही जानी चाहिए। पर यह तर्क किया जा सकता है कि इन परिस्थितियों में राष्ट्रसंघ का हस्तक्षेप और इसका बलहीन निरनुमोदन (disapproval) करना बिल्कुल बेकार था, क्योंकि इससे जापान में सैनिकवादी आक्रान्ताओं के समर्थन में लोकमत संगठित होता। विदेशों की प्रतिकूल सम्मति की 'नैतिक अनुशास्ति' से साधारणतया यह परिणाम पैदा हो जाता है।

रूस-जापान संबन्ध

(Russo-Japanese Relations)

इस प्रश्न का वह पहलू, जिससे व्यापक शान्ति को अत्यधिक तात्कालिक खतरा पैदा हो गया था, जापान और सोवियत संघ में उत्पन्न संघर्ष था। मंचूरिया पर जापानी नियंत्रण ने पूर्वी साइबेरिया के रूसी प्रदेश को, जिसमें ब्लाडिवास्टक भी समाविष्ट था, एक ऐसे दुर्ग (salient) में परिवर्तित कर दिया था, जो चारों ओर जापान और उसके प्रभावी क्षेत्र से खतरनाक ढंग से घिरा हुआ था। इस प्रभावी क्षेत्र में जिहोल के मिल जाने से मध्य एशिया में एक ऐसा मार्ग खुल गया जिससे रूस के सुविजेय साइबेरियन सीमान्त के और लम्बे भाग पर सैनिक कार्यवाहियों के लिए अड्डा बन सकता था। सोवियत सरकार अपने इन एशियाई प्रदेशों की उपेक्षा नहीं कर सकती थी, क्योंकि पूर्वी साइबेरिया औद्योगिक विकास की रूसी योजनाओं में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। पहली पंचवर्षीय योजना में इस प्रदेश में जितना रुपया लगाया गया था, उतना ज़ारशाही ने अपने सारे जीवन-काल में इस पर नहीं लगाया था और

दूसरी पंचवर्षीय योजना में इस क्षेत्र के लिए औद्योगिक विकास का एक विस्तृत कार्य-क्रम रखा गया था। इस प्रदेश में बसने वालों को आकृष्ट करने के उद्देश्य से इसकी आबादी को बहुत सी रियायतें दी गई थीं और इस नीति को जापान की प्रगति और सैनिकवादी रुख से उत्पन्न भय के परिणाम-स्वरूप विफलता का खतरा पैदा हो गया था।

उस समय मौजूद चिन्तापूर्ण वातावरण में कुछ घटनाओं को जो अलग-अलग बिल्कुल नगण्य थीं, और जो १९३३ में हुईं, अत्यधिक महत्त्व दे दिया गया। जापानी सेनाओं द्वारा रूसी प्रदेश के अतिक्रमण के आरोप कई बार लगाये गये और दूसरी ओर, जून में रूसी तटरक्षकों द्वारा कुछ जापनी मछियारों को गोली से उड़ा दिये जाने के कारण, संघर्ष बढ़ गया और जुलाई में जापानी अधिकारियों ने क्यूराइल्स में जापानी समुद्र में प्रविष्ट होने के आरोप में एक रूसी जहाज पकड़ लिया। पर तनातनी का मुख्य कारण चीनी पूर्वी रेलवे संबन्धी स्थिति थी।

इस रेलवे प्रणाली पर, जिसमें पोर्ट आर्थर तक जाने वाली दक्षिण की ब्रांच भी शामिल थी, १९०४--५ के रूस-जापान युद्ध से पहले रूस प्रायः पूर्ण नियंत्रण रखता था। इस ब्रांच का चांगचुन से दक्षिण का हिस्सा पोर्टसमाउथ की संधि द्वारा जापान को मिल गया था, पर शेष अंश १९२४ में हुए एक करार के बाद से, मंचूरिया में चीनी सत्ता समाप्त होने से पहले तक रूस और चीन के संयुक्त नियंत्रण में रहा। इस व्यवस्था में कार्य करने वाले रूसी प्रबन्धकों और अधिकारियों को अब अपने जापानी या मंचूरियन सहयोगियों के साथ, जो चीनियों के स्थान पर आ गये थे, कार्य करना पहले की अपेक्षा बहुत अधिक कठिन लगा, यद्यपि चीनियों के साथ उनके सम्बन्ध हमेशा सौहार्दपूर्ण नहीं रहे थे। सोवियत संघ द्वारा रोलिंग स्टाक या मालगाड़ी के डिब्बे रख लिये जाने के बारे में भी विवाद पैदा हो गया और अप्रैल में मंचूरियन अधिकारियों ने सीमान्त स्टेशन पर सीधा यातायात रोककर इसका बदला लिया। सच तो यह है कि प्रतिस्पर्द्धी रेलवे लाइन का निर्माण हो जाने के कारण रूस के लिए इसका अधिक-तर मूल्य नष्ट हो गया था, और मई १९३३ में सोवियत सरकार ने चीनी पूर्वी रेलवे को जापान या उसके आश्रित मंचूरिया को बेचने का प्रस्ताव करके इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया। स्वामित्व के प्रश्नों से मामला जटिल हो गया क्योंकि मंचूरियन सरकार का तो यह कहना था कि वे सब अधिकार, जो पहले चीन में निहित थे, अब उसे प्राप्त हो गए हैं; और सोवियत सरकार का यह आग्रह था कि चीन के दावे समाप्त हो गये हैं। चीन ने स्वयं विरोध प्रदर्शन किया और कहा कि प्रस्तावित बिक्री १९२४ के करार का अतिक्रमण है। फ्रेंच हितों ने, जिन्होंने रेलवे के निर्माण में लगाई गई पूँजी का अधिकांश दिया था और आपत्तियां उठाईं, पर असल में वार्ता कीमत के सवाल पर टूटी—जापान ने मंचूकुओ की ओर से जो कीमत पेश की वह रूस द्वारा मांगी जा रही कीमत का सिर्फ़ दसवाँ हिस्सा थी। सोवियत सरकार का रुख अपने यूरो-पीय पड़ोसी के साथ सफलतापूर्वक अनाक्रमण संधियाँ हो जाने के परिणामस्वरूप जिनसे इनके पश्चिमी सीमान्त सुरक्षित हो गये थे, कड़ा हो गया। दूसरी ओर जापान

और मंचूकुओं उतना ही अधिक हठ पकड़ते गए—सम्भाव्यत: उनका विचार यह था कि रूस की दृष्टि में रेलवे का मूल्य घटा दिया जाय और इस प्रकार उसे खरीदने के लिए अधिक अनुकूल शर्तें प्राप्त की जा सकें। सितम्बर १९३३ में रूसी रेलवे कर्मचारीवर्ग के छः प्रमुख सदस्यों की गिरफ्तारी से सम्बन्ध और बिगड़ गए। सोवियत सरकार का कहना था कि ये गिरफ्तारियाँ रूसी नियंत्रण जबर्दस्ती समाप्त करने की विमर्शित योजना के अनुसार की गई थीं। इस आरोप के समर्थन करने वाले लेख्य प्रकाशित किये गये जिन्हें जापान ने जाली बताया। अक्तूबर में रूसी कर्मचारियों की और गिरफ्तारियाँ हुईं और यह शिकायतें की गईं कि मंचूरियन रेलवे अधिकारी अपने रूसी सहयोगियों द्वारा दिये गये सब आदेशों के मुकाबिले में अध्यादेश जारी करके सारे प्रशासन को गड़बड़ी में डाल रहे थे। इस प्रकार आपसी झगड़े की अवस्था पैदा हो गई, जिससे दोनों देशों में और बाहरी दुनियाँ मे भी यह व्यापक भय फैल गया कि दो राष्ट्रों में युद्ध अनिवार्य है। पर २३ मार्च १९३५ को तनातनी चीनी पूर्वी रेलवे मंचूकुओ सरकार को अन्तिम रूप से बेच दिये जाने से कुछ देर के लिए कम हो गई।

१९३४ में शांति
(Interlude in 1934)

मई १९३३ में तांगकू विराम संधि होने के बाद कुछ समय शान्ति रही। १९३४ में कोई गम्भीर युद्ध नहीं हुआ, और शानहाइक्वान तथा काऊपेईकाऊ के सीमावर्ती नगर १९३४ के शुरू में पुन: चीन को दे दिये गए। चीनी अधिकारियों ने भी उस समय रियायतें करने में हठधर्मी नहीं प्रदर्शित की। तथ्य यह था कि कोई भी पक्ष पुन: शक्ति-परीक्षा करने को तैयार नहीं था। पहले जापान की रूस के साथ टक्कर के उन खतरों से चिन्ता थी जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और १९३४ के बाद से, जब वह वाशिंगटन की नौसैनिक संधि को रद्द कर चुका था, वह दिसम्बर १९३५ के नौसैनिक सम्मेलन से पहले हुई बातचीत में व्यस्त था। पर जब यह सम्मेलन हुआ तब जापान ने बहुत जल्दी ही इसमें भाग लेना छोड़ दिया—वह १५ जनवरी १९३६ को ही इससे निकल आया था। जुलाई १९३४ में जापानी सरकार एक आन्तरिक कलंक-कार्य के कारण पलट गई थी, और उसके बाद एक उदारदलीय प्रशासन कायम हुआ था और इस पर ही व्यापक आर्थिक मंदी का काम सम्भालने की जिम्मेवारी मुख्यतया पड़ी थी। चीन में भी आंतरिक अव्यवस्था चल रही थी। अगस्त १९३४ के अमेरिकन चाँदी खरीद अधिनियम (American Silver Purchase Act) से उसकी आर्थिक स्थिति पर अत्यधिक गम्भीर प्रभाव पड़ा था और उसका जापानी दबाव का प्रतिरोध करने का सामर्थ्य इस तथ्य के कारण कम हो गया था कि च्यांगकाई शेक की सेनाएँ क्यांगसी के कम्युनिस्ट केन्द्र का विनाश करने के सफल प्रयत्न में लग गयी थीं। इस सैनिक कार्यवाही के परिणामस्वरूप 'लाल' सेनाओं को ६००० मील से अधिक दूर तक पीछे हटना पड़ा और पश्चिम की ओर शेंसी प्रान्त में जहाँ पहले ही प्रचुर कम्युनिस्ट प्रभाव मौजूद था, नया मुख्यालय (headquarters)

स्थापित करना पड़ा। इन कार्यों में व्यस्त रहने के कारण, चीनी सरकार को अपना रुख नरम रखना पड़ा और वह जापानी मांगों को चुपचाप स्वीकार करती रही।

उत्तरी चीन में नयी हलचल

(Renewed Activity in North China)

पर १९३५ के वर्ष में उत्तरी चीन को नानकिंग सरकार के नियंत्रण से पृथक् करने और एक तथाकथित स्वायत्त शासन स्थापित करके दक्षिण में पीली नदी (Yellow River) और शातुंग तक जापान का प्रभाव विस्तार करने के जापानी प्रयत्न बहुत आगे बढ़े। जनवरी में यह बहाना बनाकर कि चहार प्रान्त के गवर्नर ने तांगकू विराम संधि का अतिक्रमण किया है, चहार में सैनिक कार्यवाही शुरू की गई, पर इस विवाद का अस्थायी निपटारा प्रायः तत्काल हो गया। तीन्तसिन में जापानियों के दो चीनी कर्मचारियों की हत्या हो जाने पर मई में फिर अव्यवस्था आरम्भ हुई और होपेई के गवर्नर को बर्खास्त करने, उसकी सेना तींतसिन से हटाने और जापानी-विरोधी हलचलें रोकने की माँगें की गईं। यद्यपि ये माँगें तुरन्त पूरी कर दी गईं[1], पर फिर भी जापानी सेना अपना दबाव जारी रखने के लिए हर बहाने का उपयोग करती रही। कुछ समय तक उन्हें समझौते की भावना से माना जाता रहा, पर नवम्बर में, जब उत्तरी प्रान्तों को नानकिंग सरकार के नियंत्रण से विमुक्त करने का जापानी लक्ष्य स्पष्टतः सिद्ध हो गया था, च्यांगकाई शेक ने स्थानीय चीनी अधिकारियों और जापानी सेनापतियों के बीच वार्ता निलम्बित करने का आदेश दे दिया, जिससे वार्ता स्वयं उनके और नानकिंग स्थित जापानी राजदूत श्री एरियोशी के बीच हो। इन वार्ताओं से बिल्कुल पृथक् नानकिंग सरकार ने वर्ष के अंतिम दिनों में होपेई और चहार के लिए एक विकेन्द्रित 'राजनैतिक परिषद्' स्थापित कर दी जो यथार्थतः स्वायत्त नहीं थी और जिसका उद्देश्य यह था कि पाँचों प्रांतों में स्वायत्त शासन स्थापित करने की जापानी योजनाओं की पेशबन्दी कर दी जाय। नानकिंग का शांसी और शांतुंग पर नियंत्रण बना रहा, पर २४ नवम्बर को यिन जू-केंग ने, जिसका जापानियों से सम्बन्ध था और जिसे तांगकू विराम संधि द्वारा होपेई में स्थापित विसैन्यीकृत क्षेत्र के पूर्वी भाग का प्रशासक नियुक्त किया गया था, अपने प्रदेश की स्वतंत्र स्वायत्तता की घोषणा कर दी और यह चलती रही।

जापान में आन्तरिक तनाव

(Internal Tension in Japan)

चीन सरकार ने वार्ता नानकिंग में करने का जो आदेश दिया था, उसका कारण यह था कि उसे उन गम्भीर मतभेदों का पता था जो इस समय जापान में

---

१. यह तथाकथित और अभिकथित हो-उमेत्सु करार का अवसर था जिसके नाम पर जापानियों ने १९३७ में अपील की थी, पर चीनी इस करार के अस्तित्व पर ही, जो कभी प्रकाशित नहीं किया गया, आपत्ति उठाते हैं और जापानी सैन्य-मण्डल के अध्यक्ष ने उस समय इस बात का प्रतिवाद किया था कि कोई मांगें पेश की गई थीं।

सेना या कम से कम इसके नये अफसरों तथा वैधानिक संसदीय सरकार के मध्य मौजूद थे। छोटे सैनिक अधिकारी एक लोकतन्त्र-विरोधी आन्दोलन, जो 'शोवा पुनः स्थापन' (Showa Restoration) के नाम से प्रसिद्ध था, के आदर्शों से अनुप्राणित थे—यह आन्दोलन गुप्त संगठनों और प्रचारात्मक शिक्षण शिविरों के द्वारा कुछ मात्रा तक सारे देश में फैला दिया गया था; खासकर ये अफसर सैनिक नीति और व्यय के सम्बन्ध में संसदीय नियन्त्रण पर आपत्ति करते थे। सरकार ने तो इस समय अनुनय (persuasion) की रीति से चीन में अपने लक्ष्यों की पूर्ति का यत्न किया, पर सेना का एक प्रभावशाली वर्ग सीधी कार्यवाही और बल-प्रयोग के पक्ष में था। १६३५ की गर्मियों में सैनिक शिक्षा के महा-निरीक्षक (Inspector General of Military Education) को उसके पद से हटाने के तुरन्त बाद एक नौजवान अफसर ने युद्ध-कार्यालय के एक उच्च अधिकारी जनरल नागाता की हत्या कर दी, और उसने उसका कारण यह बताया कि मैं शोवा पुनः स्थापन (Showa Restoration) को आगे बढ़ाने, और इस प्रकार सेना को लोकतन्त्रीय नियन्त्रण से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हूँ। इस अपराध के लिए उस पर मुकदमा फरवरी १६३६ में, साधारण निर्वाचन के तत्काल बाद जिसने सरकार की स्थिति को बहुत मजबूत बना दिया था, चला। इन परिस्थितियों में २६ फरवरी को एक सैनिक विद्रोह हो गया, जिसमें कई प्रमुख राजनैतिक नेताओं की हत्या हुई और कइयों की हत्या का यत्न किया गया। सम्राट् ने इन कार्यवाहियों की निन्दा की और विद्रोहों के नेताओं को कठोर सजाएँ दी गईं, पर उन्हें जनता की कुछ सहानुभूति प्राप्त करने में सफलता हो गयी, जिससे अस्थायी रूप से सेना की शक्ति और बढ़ने में मदद मिली पर वर्ष के अंतिम दिनों में एक प्रतिक्रिया शुरू हो गई जिससे सैनिक और असैनिक अधिकारियों में मतभेद अधिकाधिक बढ़ने लगे।

चीन में प्रतिरोध की भावना की वृद्धि
(Growth of Spirit of Resistance in China)

इस बीच जापानी मांगों को लगातार मानते जाने पर चीन में विरोध बढ़ता जा रहा था। सरकार की होपेई-चहार राजनैतिक परिषद् की नियुक्ति जैसे कार्यों से प्रतीत होने वाली सरकार की नरमी को बहुत नापसन्द किया गया। च्यांगकाई शेक पर यह सन्देह किया गया कि वह श्री हिरोता की योजनाओं के अनुसार चलने के लिए बहुत अधिक तैयार था—श्री हिरोता ने जनवरी १६३६ में एक त्रिसूची कार्यक्रम बनाया था जिसमें मंचूकुओ का अभिज्ञान, कम्यूनिज्म के विरोध में संयुक्त कार्य और जापान विरोधी कार्यों की समाप्ति, ये तीन चीजें थीं। यद्यपि कुछ समय के लिए जापानियों ने सैनिक आक्रमण का उपाय छोड़ दिया था, पर अब भी लक्ष्य स्पष्टतः यही था कि चीनी प्रदेश के बहुत बड़े हिस्से को व्यवहारतः पृथक् कर दिया जाए। शिक्षित लोकमत ऐसे कार्यों से भी क्रुद्ध हुआ जैसे जापानी और कोरियन तस्करों के कार्य, जिनसे, सरकारी तख्मीने के अनुसार, १६३६ में कम से कम ५ करोड़ डालर मूल्य के शुल्क की चोरी की गई जिससे चीनी राजस्व को अत्यधिक गम्भीर

हानि हुई। यह दुष्कार्य काफी खुले तौर से चलता था और इसमें पूर्वी होपेई स्वायत्त शासन के अस्तित्व के कारण, जो अपने लिए कुछ शुल्क ले लेता था, और इसके बाद माल जाने देता था, इसे और भी प्रोत्साहन मिलता था। नानकिंग सरकार के सामने इस प्रकार यह विकल्प थे कि या तो वह इस प्रकार की लूट चलने दे, और या दक्षिण में एक चुङ्गी चौकी बना दे जिससे पूर्वी होपेई का चीन से सम्बन्ध विच्छेद पूरा हो जाता, और इस प्रकार यह जापान के हाथों का खिलौना बन जाय। यह सन्देह करने के लिए पूरे कारण थे कि जापानी अधिकारी अपनी नीति के अनुसार इन अवैध कार्यवाहियों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। अंत में होपेई चहार परिषद् द्वारा १९३६ के बसंत में जापानी राजनयिक और आर्थिक सलाहकार स्वीकार कर लिये जाने और उत्तरी चीन में जापानी सेना की वृद्धि से मामला संकट-बिन्दु पर आ गया।

जून के आरम्भ में केन्द्रीय सरकार की प्रतीयमान लापरवाहा के विरुद्ध तार द्वारा विरोध प्रदर्शन करने के बाद केन्टनी और क्वान्सी के सैनिकों की एक टुकड़ी जापान की अग्रेसरण नीति (forwand policy) का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से उत्तर की ओर बढ़ने लगी। यह 'दक्षिणी विद्रोह' शीघ्र समाप्त कर दिया गया पर इस हमले ने और जिस तत्परता से इसे दबाया गया, उसने च्यांगकाई शेक का प्रभाव बढ़ा दिया और उसके हाथ मजबूत कर दिये। उसी समय शेंसी में कम्युनिस्ट सेनाएँ जापानी आक्रमण के मुकाबले में संयुक्त मोर्चा संगठित करने के उद्देश्य से बातचीत कर रही थीं। पतझड़ में जब च्यांगकाई शेक स्यानफू में 'तरुण मार्शल' चाँगसुएह-लिआंग से मिला, तब उसे यह चेतावनी दी गई कि उसकी नीति के विरुद्ध व्यापक असन्तोष फैला हुआ है और इसके बाद १२ दिसम्बर को उसके वहाँ आने पर वह रहस्यमय घटना हुई जिसमें चांग और उसके आदमियों ने उसका अपहरण कर लिया और उसके सामने लाल सेनाओं से सहयोग और जापान के स्पष्ट विरोध की माँगें पेश कीं। उसे क्रिसमस के दिन रिहा कर दिया गया। 'तरुण मार्शल' ने अनुशासन के सामने सर झुकाया और उसे शीघ्र ही सजा दी गई और क्षमा कर दिया गया, और इस घटना का भीतरी इतिहास जो चाहे हो, पर इससे च्याँगकाई शेक का प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा और यदि उसे जापानी दावों का मुकाबला करना पड़ता तो उसके पास जनता के समर्थन का एक और प्रमाण हो गया। तथ्य तो यह है कि इस समय नानकिंग सरकार को न केवल उन प्रान्तों से, जो उसके सीधे नियंत्रण में थे, बल्कि होपेई-चहार राजनैतिक परिषद् से भी निष्ठा और समर्थन के आश्वासन प्राप्त हुए। इन घटनाओं के अलावा, सुईयुआन के चीनी गवर्नर को मंचू-मंगोल सैनिकों और अनियमित सैनिकों की एक मिली-जुली टुकड़ी द्वारा जिसे जापानी अफसरों और सामग्री का समर्थन प्राप्त था, उसके प्रदेश पर किये गये आक्रमण का प्रतिरोध करने में सफलता मिली। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि भविष्य में जापानी माँगों के प्रति अधिक कड़ा रुख अपनाने के लिए प्रोत्साहन मिला। तथ्यतः सुईयुआन पर आक्रमण के परिणामस्वरूप, चीनी सरकार ने एक व्यापक समझौते के लिए चल रही वार्ता, जो प्रायः सारे साल जापान से चलती रही थी, भंग कर दी।

युद्ध से पहले की स्थिति
(Situation Preceding the War)

उपर्युक्त विवरण से यह मालूम हो जायगा कि १९३७ तक घटनाओं का प्रवाह ऐसी स्थिति की ओर चल रहा था, जिसमें हिंसक संघर्ष की संभाव्यता थी। चीन को अभूतपूर्व मात्रा में एकता स्थापित करने में सफलता हुई थी और उसमें देश की अखंडता पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली माँगों का दृढ़ता से मुकाबला करने का नया और व्यापक संकल्प भरा हुआ था। जापान में समझौते और सहयोग के पक्षपाती नरमदली आदर्शों, और तरुण सैनिक अफसरों के नेतृत्व में बल-प्रयोग में विश्वास करने वाले वर्ग के आदर्शों में अंतर बढता जा रहा था। इस पिछले वर्ग को स्वतन्त्र कार्यवाही में ही एकमात्र आशा दिखाई देती थी, और इसके हठ को, संसार के अन्य भागों में आक्रमण की सफलता से और इस ज्ञान से कि यूरोप की स्थिति के कारण वहाँ से किसी प्रकार का हस्तक्षेप व्यवहारतः असम्भव था, विशेषकर इस कारण कि पूर्व और पश्चिम की प्रसारवादी ताकतें २६ नवम्बर १९३६ के जर्मन-जापानी कमिन्टर्न-विरोधी करार द्वारा संयुक्त हो गई थीं, प्रोत्साहन मिला। उसी समय १९३७ के आरम्भिक महीनों में नरमदली विचार जापानी सरकार और खासकर विदेश मंत्री श्री सातो के सामने इतने प्रबल रूप से पेश किया गया कि उत्तरी चीन की सेना में कमी करने के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया जा रहा था। अपनी योजनाओं में इस बाधा का भय उपस्थित होने पर उत्तरी चीन की सेना और मंचूरिया स्थित जापानी सेना ने अंशतः अपनी आपसी ईर्ष्या छोड़ दी, और उग्रपन्थियों ने इन अफवाहों से प्रेरित होकर कि अब उन्हें माफ कर दिया जाना है, अवश्य ऐसी स्थिति पैदा करने का निश्चय किया हो सकता है जिससे जापानी जनता को चीन में अपनी सेनाएँ घटाने के बजाए उनमें वृद्धि करने की आवश्यकता मजबूरन अनुभव करनी पड़े।[1] जून में जो राजनैतिक परिवर्तन हुए, जिनमें श्री सातो के स्थान पर श्री हिरोता आ गए, उन्होंने ऐसे प्रभाव पैदा करने के और अधिक अच्छे मौके पैदा कर दिये।

लूकाओचियाओ की घटना और युद्ध का आरम्भ
(The Lukouchiao Incident and Outbreak of War)

जिस घटना पर लड़ाई शुरू हुई और १९३९-४५ के विश्व-युद्ध से जा मिली तथा इसके अन्त तक चलती रही, उसके लिए कौन कितना जिम्मेवार था, यह हिसाब लगाने में इन बातों का ध्यान रखना उचित होगा। उत्तर की ओर से चीन में सफलतापूर्वक सैनिक प्रवेश करने के लिए पेकिंग पर इकट्ठी होने वाली रेलवे लाइनों पर नियन्त्रण सर्वाधिक महत्त्व का है। इस नगर को क्रमशः हैंको और नानकिंग से मिलाने वाली लाइनों का जंकशन लूकाओचियाओ पर है, जो १३ किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में है, इसलिए सामरिक दृष्टि से स्वभावतः यह मालूम होगा कि आक्रामक

१. इन्टरनेशनल अफेअर्स, नवम्बर १९३७, पृष्ठ ८३८।

युद्ध में इस स्थान पर जल्दी से जल्दी अधिकार कर लेना चाहिए। इसलिए यह अर्थपूर्ण बात थी कि ७ जुलाई १९३७ को लूकाओचियाओ में वह घटना हुई जो बाद के युद्ध के लिए बहाना बन गई। संघर्ष के लिए सीधी जिम्मेवारी के विषय मे बड़े निराशाजनक परस्पर-विरोधी प्रमाण मिलते हैं। जापानी यह कहते थे कि चीनियों ने जापानी युद्धाभ्यास में फौज के बढ़ाव को स्पष्टतः गलती में गम्भीर हमला समझकर पहले गोली चलाई। यदि यह बात मान ली जाए तो जापानी सेनापति भी कम से कम अंशतः जिम्मेवार होगा, क्योंकि उसने इस मार्मिक सामरिक स्थल को नकली लड़ाई के लिए उपयुक्त स्थान चुना, और सब कुछ होते हुए भी, चीनियों की गलती जल्दी और शान्ति से सुधारी जा सकती थी। पर चीनियों के अनुसार हुआ यह था कि जापानियों ने, एक लापता आदमी की खोज के लिए लूकाओचियाओ के पास वाम्पिग में घुसने की इजाज़त न दिये जाने पर, एकदक पदाति सेना और तोपखाने से उस स्थान पर आक्रमण कर दिया। वहां की जापानी सेनाओं को कुछ ही दिनों के भीतर मंचूरिया से भारी कुमुक भेज दी गई, और १५ जुलाई को टोकियो के युद्ध-कार्यालय ने जापान से सेना भेजने का ऐलान कर दिया। दो दिन बाद नानकिंग को सरकारी तौर से सूचित किया गया कि जापान केन्द्रीय सरकार के सैनिकों का होपेई में प्रवेश सहन न करेगा। १९ तारीख को यह खबर आई कि एक स्थानीय समझौता हो गया है, पर मुठभेड़ें होती रहीं और अगले दिन जापानियों ने लूकाओचियाओ पर गोले बरसाये। महीने के अन्त तक तीन्तसिन और पेकिंग तथा आसपास के रेलवे स्टेशन और बैरकें उनके हाथ में आ गईं।

यद्यपि उस समय, और सच तो यह है कि किसी भी समय, युद्ध की सरकारी घोषणा नहीं की गई, पर इस समय से व्यवहारतः युद्ध शुरू हो गया माना जा सकता है। जुलाई के अन्तिम दिनों में देश के सब भागों से जापानी निवासियों को शीघ्रता से निकाला गया। अपनी पार्श्व सेना की रक्षा के लिए सुईयुआन रेलवे पर नियन्त्रण करने के बाद, जापानियों ने दक्षिण की ओर जाने वाली दोनों रेलवे लाइनों के साथ-साथ बढ़ना शुरू किया और वर्ष के अन्त तक पीली नदी (ह्वांगहो) से घिरे हुए अधिकतर प्रदेश पर उनका नियन्त्रण हो गया। उत्तर-पश्चिम में उन्होंने सुईयुआन पर कब्जा कर लिया। इधर शंघाई क्षेत्र में तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई जिसमें, इधर चीनी तो १९३१ की सी स्थिति, जिसमें इस अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती से उन पर हमला किया गया था, पैदा होने को रोकने के लिए दृढ़-संकल्प थे और दूसरी ओर जापानियों को इस बस्ती में रहने वाले विशाल जापानी समाज की रक्षा की चिंता थी, चिन्ता-जनक घटनाएँ हुईं, जिनमें एक घटना ९ अगस्त वाली घटना भी थी, जिसमें चीनियों के कथनानुसार, सैनिक हवाई अड्डे के पास न आने की चेतावनी की उपेक्षा करने पर एक जापानी नौसैनिक अफसर और एक मल्लाह को मार दिया गया था। चीनी शान्ति संरक्षण दल (Chinese Peace Preservation Corps) का एक सदस्य इस अफसर की गोली का शिकार हुआ बताया जाता था, पर लड़ाई का तात्कालिक कारण जापानी युद्धपोतों की एक बड़ी टुकड़ी का पहुँचना था, जिसे इस घटना की तारीख से पहले शंघाई पहुँचने का आदेश दिया गया था। १३ अगस्त को लड़ाई शुरू हुई जिसका

परिणाम यह हुआ कि वर्ष के अन्त तक नानकिंग पर जापानी कब्जा हो गया और वुहू से समुद्र तक यांगत्से पर उनका नियन्त्रण हो गया।

विदेशों में प्रतिक्रिया और ब्रुसेल्स सम्मेलन
(External Reactions and the Brussels Conference)

सितम्बर १९३७ में एक अपील, जो चीनी सरकार ने अनुच्छेद दस, ग्यारह और सत्रह के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ को भेजी थी एक सुदूरपूर्व सलाहकार समिति (Far Eastern Advisory Committee) को दी गई, जिसने यह रिपोर्ट दी कि जापान द्वारा जो सैनिक कार्यवाही की गई है वह, उस घटना को देखते हुए जिसके कारण वह की गई है बहुत अधिक है और १९२२ की नौ-राष्ट्रीय संधि (Nine-Peace Treaty) तथा ब्रिएण्ड-केलोग पैक्ट के विरुद्ध है और उसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। इसने नौदेशीय संधि के हस्ताक्षर-कर्त्ताओं की बैठक की भी सिफारिश की। असेम्बली ने इसकी रिपोर्ट ६ अक्तूबर को स्वीकार कर ली, और साथ ही एक प्रस्ताव भी स्वीकार किया जिसमें यह कहा गया था कि—

> राष्ट्रसंघ के सदस्यों को ऐसी कोई कार्यवाही न करनी चाहिए जिसके प्रभावस्वरूप चीन की प्रतिरोध शक्ति में कमी हो और उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि वे अलग-अलग चीन को क्या मदद दे सकेंगे।

पर यह जरा भी सम्भावना नहीं थी कि १९३७ में राष्ट्रसंघ द्वारा की गई कोई भी घोषणा प्रभावहीन गरज के अलावा कुछ और होगी। नौदेशीय संधि के हस्ताक्षरकर्त्ताओं का सम्मेलन पहले-पहल अधिक आशाजनक उपाय प्रतीत हो सकता था, क्योंकि इसमें यूनाइटेड स्टेट्स भी सम्मिलित होता। सम्मेलन नवम्बर में ब्रुसेल्स में नियत रीति से हुआ, यद्यपि जापान ने उसमें भाग लेने का निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। सोवियत संघ ने, यद्यपि वह आरम्भिक हस्ताक्षरकर्त्ता नहीं था, सम्मेलन में भाग लेने के लिए दिया गया निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, पर शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि अगर कभी वह समय था जब कोई राष्ट्र आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए शब्दों से आगे जाने को तैयार होता तो अब वह लद गया था—वे तभी कुछ करने को तैयार थे जब उनका कोई स्वार्थ प्रत्यक्षतः अन्तर्ग्रस्त प्रतीत होता हो। ब्रुसेल्स सम्मेलन ने परिणामतः साधारण सिद्धान्तों को पुनः पुष्ट करने के अतिरिक्त कोई उपयोगी बात नहीं की और इस विषय में असफलता आक्रान्ताओं के लिए एक और सूचना थी कि उन्हें इकट्ठे या अलग-अलग ऐसी शक्तियों से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं थी जिनके पृथक् हितों को स्पष्टतः खतरा न हो। यह शायद अर्थपूर्ण बात थी कि जर्मनी और जापान के मध्य हुए कमिन्टर्न विरोधी करार में इटली की अनुषक्ति जिसने 'बर्लिन-रोम अक्ष' (Berlin-Rome Axis) को 'बर्लिन-रोम-टोकियो त्रिभुज' (Berlin-Rome-Tokio Triangle) में परिवर्तित कर दिया, ६ नवम्बर को हुई, जबकि ब्रुसेल्स सम्मेलन चल रहा था। इस दिखावे को कि यह व्यवस्था सिर्फ बोल्शेविज्म के खतरे के विरुद्ध की गई थी, तब दो दिन बाद हिटलर ने पूरी तरह उतार फेंका, जब उसने इसे 'एक महान् विश्व-राजनैतिक त्रिभुज' बताया, जिसमें तीन

शक्तिहीन मूर्तियाँ नहीं हैं बल्कि ऐसे तीन राज्य हैं जो *अपने अधिकारों और मार्मिक हितों* की निर्णायक रीति से रक्षा करने के लिए तत्पर और दृढ़-संकल्प है।'

चीन में अधिकतर राष्ट्रों के स्वार्थ इतने थोड़े थे कि वे हस्तक्षेप करने के लिए उत्सुक नहीं थे। यह सच है कि शंघाई के आस-पास हुई सैनिक कार्यवाही से ऐसी घटनाएँ हो गईं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में रहने वाले राष्ट्रों में क्षोभ पैदा हो गया। ३ दिसम्बर को विरोध-पत्रों की अवहेलना करते हुए जापानियों ने बस्ती में से एक उत्तेजक 'विजय जलूस' निकाला, और एक क्रुद्ध चीनी दर्शक के बम फेंक देने पर जापानी सैनिकों ने आस-पास के क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इन्हें स्थानीय पुलिस के ब्रिटिश कमान्डर के प्रबल आवेदन पर ही वहाँ से हटाया जा सका। १२ दिसम्बर को जापानियों ने यांगत्से नदी में दो ब्रिटिश गनबोटों पर गोली चलाई और यूनाइटेड स्टेट्स के गनबोट पनाए को जानबूझ कर आकाश से की गई बमबारी द्वारा डुबा दिया और उसके बचे हुए आदमियों पर मशीनगनों से गोली चलाई। इन घटनाओं पर पत्रों का आदान-प्रदान हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप जापानी सरकार ने क्षमा मांग ली और क्षतिपूर्ति देना स्वीकार किया, पर सामान्य स्थिति पर और कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

तो भी ब्रिटेन गम्भीरता से यह अनुभव करता था कि जापान की अग्रेसरण-नीति (Forward Policy) उसके मार्मिक हितों के लिए ऐसा खतरा था कि उस नीति में बाधा डालना वांछनीय था, बशर्ते कि बाधा डाली जा सकती हो। यद्यपि जापान के राजनीतिज्ञ विदेशी स्वार्थों के विषय में अपने इरादों के बारे में विश्वासोत्पादक बयान देते रहे, पर सेना—और नियन्त्रण स्पष्टतः उसी के हाथ में था—बड़ी भिन्न भाषा बोलती थी। उनमें से कुछ लोग खुले आम कहते थे कि हम 'चीन से ब्रिटेन का प्रभाव समाप्त कर देना चाहते हैं'। ब्रिटिश वाणिज्यिक स्वार्थों के तथा इस सम्भाव्यता के अलावा भी कि दक्षिण चीन में जापानियों के घुस आने से हांगकांग बर्बाद हो सकता है, जापान में एक ऐसा विचारक-वर्ग भी था, जो प्रशान्त महासागर के उन द्वीपों को लालसाभरी निगाहों से देखता था जो आस्ट्रेलेशिया (Australasia) को जाने वाले हमारे संचार मार्गों के दोनों ओर हैं। इसलिए सफल और अनवरुद्ध जापानी प्रसार के प्रतिकूल परिणाम न केवल वाणिज्यिक ही बल्कि सामरिक भी हो सकते थे। इसलिए ब्रिटिश विदेश-मन्त्री ने यह अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया कि यदि पर्याप्त समर्थन मिल सके तो वह प्रभावी कार्यवाही के पक्ष में हैं, और उसने खास कर यूनाइटेड स्टेट्स का सहयोग पाने के लिए असंदिग्ध प्रयत्न किया, जिसके राष्ट्रपति ने ५ अक्तूबर को अपनी जनता एकलन (isolation) या अकेले रहने के भ्रम के विरुद्ध स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी थी और 'संधियों के इन अतिक्रमणों और मानवीय सहज भावनाओं की इन अवज्ञाओं के मुकाबले में, जो आज ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और अस्थिरता पैदा कर रही हैं, जिससे सिर्फ एकलन या तटस्थता द्वारा बचा नहीं जा सकता', शान्ति-प्रेमी राष्ट्रों की ओर से संगठित प्रयत्न का प्रतिपादन किया था। इसलिए १ नम्वबर को श्री ईडन ने अपने एक भाषण में यह बताने के बाद कि यूनाइटेड स्टेट्स के बिना कोई प्रभावी कार्यवाही नहीं की जा सकती, यह कहा कि

हम उन से आगे तो नहीं दौड़ते रहेंगे, पर पीछे भी नहीं रहेंगे, और यदि आवश्यकता हुई तो मैं उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए 'मैलबोर्न' से अलास्का तक जाऊँगा, पर ब्रुसेल्स सम्मेलन में, या उसके कुछ वर्ष बाद तक भी कोई ऐसी सम्भावना नही दिखाई दी कि यह सहयोग हो सकेगा।

युद्ध की प्रगति और संभावनाएँ
(Progress and Prospects of the War)

यहां लड़ाई के, जो इस इतिहास पुस्तक की शेष आलोच्य अवधि के बाद तक चलती रही, सैनिक पहलुओं को बहुत संक्षेप में प्रस्तुत करना उचित होगा। १९३८ के आरम्भिक भाग में जापानियों ने पीली नदी से घिरे हुए प्रदेश पर अपना कब्जा पूरा कर लिया, यद्यपि उनकी सत्ता उन स्थानों से बहुत परे तक नहीं थी जिन पर उनकी सेनाओं का वस्तुतः अधिकार था। उन्हें सामरिक महत्त्व के सब स्थानों पर काफी सेना रखनी पड़ती थी और उनके फैलते हुए संचार-मार्गों को चीनी गोरिल्लों से लगातार खतरा बना हुआ था। वर्ष के पहले पाँच महीनों में जापानियों के मुख्य उद्देश्य सूचाओ और चेंगचाओ के महत्वपूर्ण जंकशन थे जो लुंग हाइ रेलवे द्वारा पेकिंग-हैंकाओ और तीन्तसिन-नानकिंग लाइनों को मिलाते हैं,। सूचाओ पर मई के अन्तिम दिनों मे अधिकार हो गया, पर इस से पहले जापानियों को तायर च्वांग में जो उसके ६० मील पूर्व में था, करारी हार हुई थी। इस जंकशन पर अधिकार करने के बाद जापानी सेनाएँ चेंगचाओ की ओर बढ़ीं और ६ जून तक वे काइफेन में प्रविष्ट हो गईं जो उनके उद्देश्य से लगभग ५० मील दूर था। पर इस दिशा में आगे प्रगति पीली नदी के किनारों के बाँध इस जगह पर टूट जाने के कारण रुक गई। इससे चारों ओर बाढ़ आ गई जिसने कुछ समय के लिए बढ़ाव को रोक दिया और जीवन का बड़ा नाश हुआ। कुछ समय तक यह निश्चित न किया जा सका कि बाँध चीनियों ने जान-बूझ कर तोड़े थे या जापानी बमबारी से अकस्मात् टूट गये थे। पर अब यह मालूम हो चुका है कि वे बांध चीनियों के जर्मन सैनिक सलाहकारों के सुझाव पर तोड़े गये थे।[1] अब सैनिक कार्यवाही का मुख्य स्थल यांगत्से घाटी पर आ गया और अब हैंको की ओर चढ़ाई शुरू हुई जहाँ नानकिंग से भाग कर चीन सरकार ने अपनी राजधानी बनाई थी। यह चढ़ाई जुलाई के अंत तक क्यूकियांग के आस-पास पहुँच गई और बहुत थोड़ी देर तक रुका रहने के बाद बढ़ाव जारी रहा और अंत में २५ अक्तूबर को हैंको पर कब्जा हो गया, पर भागते हुए चीनियों ने नगर पर गोली बरसाई और सेनापति च्यांगकाई शेक शत्रु सेना के प्रवेश से ठीक पहले विमान द्वारा भाग गया।

लगभग उसी समय २१ अक्तूबर को कैंटन के पतन से, जिस पर जापानियों ने लगभग १० दिन पहले अचानक हमला कर दिया था, चीन को एक और भी अधिक गम्भीर हानि उठानी पड़ी। इस महत्त्वपूर्ण जगह प्रतिरक्षा के साधनों को मजबूत बनाने की ओर काफी ध्यान नहीं दिया गया था क्योंकि यह विश्वास नहीं था कि दुश्मन

---

१. देखिए टाइम्स, १ सितम्बर १९३८ का अग्रलेख।

ब्रिटेन के लिए ऐसा उत्तेजक कार्य करने का दुस्साहस करेगा जिससे उसके हाँगकाँग-स्थित स्वार्थों पर बहुत अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। सम्भाव्यता यह है कि जापान में सितम्बर में चैकोस्लोवाक संकट के सिलसिले में प्रदर्शित शान्तिवादी प्रवृत्ति को देख कर साहस पैदा हो गया।

यह दुहरी हानि युद्ध के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण मंजिल को सूचित करती थी, क्योंकि चीन अब अपने सब बन्दरगाहों से विच्छिन्न हो गया था, और उसकी आबादी के तथा सांस्कृतिक और औद्योगिक जीवन के मुख्य क्षेत्र शत्रु के हाथों में पड़ गये थे। राजधानी चुगकिंग ले जायी गयी और 'स्वतंत्र चीन' की, जो अब पश्चिम के अपेक्षया अविकसित और अलग-थलग प्रान्तों तक रह गया था, प्रतिरक्षा पर सारा यत्न केन्द्रित किया गया।

पर स्थिति जितनी दीखती थी उससे कम निराशाजनक सिद्ध हुई। नयी प्रतिरक्षा पंक्तियों के दूर होने से उन्हें और अधिक संरक्षण प्राप्त हो गया और अपेक्षया छोटे से क्षेत्र पर सारी शक्ति केन्द्रित होने से राष्ट्रीय एकता की एक नई भावना बढ़ी। चीन के बहुत दूर-दूर के स्थानों से शरणार्थियों का जो प्रवाह आया, उसमें बहुत से एक दूसरे से अपरिचित लोग निकट सम्पर्क में आये। इस सिलसिले में सांस्कृतिक भद्रलोक का साहचर्य खास मूल्यवान सिद्ध हुआ। आवश्यकता ने विराट् परिश्रम को प्रेरणा दी जिससे उद्योग के स्थानान्तरण और संचार साधनों के विकास में चमत्कारपूर्ण गति से वृद्धि हुई। बाहर से चीन को माल बर्मा रोड से पहुँचता रहा, जो जुलाई १९३८ में उद्घाटित किया गया था और वर्ष के अन्त तक पूरे जोर से प्रयोग में आ रहा था। हिन्द-चीन के साथ जो रोड और रेल संबन्ध थे, उनसे तथा एक लम्बी सड़क से, जो उत्तर-पश्चिम में सोवियत संघ के राज्य-क्षेत्र में थी, माल आता रहा। इस प्रकार लड़ाई जारी रहने के बावजूद १९३९ के वर्ष में कोई बड़े सामरिक महत्व के परिवर्तन नहीं हुए। सुदूर पूर्व की जिस घटना ने उस वर्ष की गर्मियों में सब से अधिक ध्यान खींचा था वह थी तींतसिन में विदेशी परिभोकों (concessions) की घेरे-बन्दी। पर इसका चीन-जापान संघर्ष से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था और द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ने के समय की स्थिति में, लम्बे गतिरोध की सम्भावना दिखाई देती थी।

: २० :

योरोप और निरस्त्रीकरण सम्मेलन

(Europe and Disarmament Conference)

योरोपीय संघ के लिए ब्रिएण्ड योजना

(The Briand Scheme for European Union)

निरस्त्रीकरण सम्मेलन से ठीक पहले अधिकाधिक लोग यह मानने लगे थे कि इस समय की निराशाजनक समस्या मुख्यत: इस तथ्य के कारण है कि युद्धोत्तर पद्धति का निर्माण एक इतने विस्तृत आधार पर हुआ है कि उस तक अभी संसार असल में पहुँच नहीं सका है; इस विचार की, पूर्वी एशिया और दक्षिण अमेरिका में बिना रुकावट युद्ध का सहारा लेने से—वह नाम के अलावा हर दृष्टि से युद्ध ही था—उल्लेखनीय रूप से पुष्टि हो गई। योरोप के राष्ट्र अब भी सहजवृत्ति से यह अनुभव करते थे कि उनके असली हित एक छोटे से क्षेत्र तक सीमित हैं, और उनके लोगो में पृथ्वी के दूरस्थ कोनों में शान्ति के लिए युद्ध लड़ने को जरा सा भी उत्साह नहीं था। योरोप से बाहर के राष्ट्रों का भी शान्ति के उन खतरों के बारे में यही विचार था, जो उस महाद्वीप पर मंडरा रहे थे और बहुत से क्षेत्रों में यह भावना थी कि कुछ छोटे आधार पर बना हुआ अंतर्राष्ट्रीय संगठन अधिक वास्तविक हो सकता है। यह महत्त्व-पूर्ण है कि बहुत आरम्भिक भाषण में, जिसमें एक प्रमुख राजनीतिज्ञ ने योरोपीय संघ के विचार का प्रतिपादन किया था, प्रश्न के इस पहलू पर बहुत बल दिया गया था। श्री हेरियो ने जो उस समय फ्राँस के प्रधान मन्त्री थे, इस विषय की सबसे पहली चर्चा अक्तूबर १९२४ में की थी। पर जनवरी १९२५ में उन्होंने इस विचार को निम्न रूप में विकसित किया : 'मैंने राष्ट्र संघ में......अपनी शक्ति इसी कारण लगाई है कि इस महान् संस्था में मुझे योरोप के संयुक्त राज्य (यूनाइटेड स्टेट्स आफ योरोप) की पहली मोटी रूपरेखा दिखाई दी है'। उनके लिए इस समय भी वांछनीय लक्ष्य संसार नहीं, योरोपीय संघ था—राष्ट्रसंघ इस लक्ष्य की पूर्ति का साधनमात्र था।

शायद इसी भावना से, यद्यपि इतने स्पष्ट रूप से कह कर नहीं, श्री ब्रिएण्ड ने सितम्बर १९२९ में फिर योरोपीय संघ का विचार उठाया। प्रोफेसर टायन्बी[1] ने, जो ऐतिहासिक सादृश्य प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं, सचमुच एक ऐसे योरोप का चित्र खींचा है जो 'चारों ओर उन बड़े-बड़े राज्यों से घिरा और दबा हुआ है जो एशिया और समुद्रपार के देशों में योरोपीय सभ्यता के प्रसार से पैदा हुए हैं' और इसमें यह सुझाया है कि योरोपीय संयुक्तता की इच्छा का मुख्य कारण वही था जिससे प्रेरित होकर मेकियावेली ने इटली के पृथक्-पृथक् नगर-राज्यों का . ।ला कर कुछ-कुछ ऐसा

---

१. सर्वे आफ इंटरनेशनल अफेअर्स, १९३०, पृष्ठ १३३.

ही संघ बनाने की योजना बनाई थी या जिसने बाह्य शक्तियों की वृद्धि से आशंकाग्रस्त प्राचीन ग्रीस की जातियों में ईटोलियन और एकियन संघों को जन्म दिया था। तो भी यह मानना कठिन है कि व्यावहारिक राजनीतिज्ञों के मनों में यही कारण काम कर रहा था, यद्यपि उस ज़रा अधिक सैद्धान्तिक प्रचार का कुछ सीमा तक यही कारण रहा होगा जिसके कारण काउंट काउडन-हव-कालेर्गी (Count Coudenhove-Kalergi) बहुत समय से इसी आदर्श के पीछे पड़ा हुआ था। श्री ब्रिएण्ड की दृष्टि में योरोपीय संघ का हेतु इससे बिल्कुल उलटा प्रतीत होता है, अर्थात् यह भावना नहीं कि बाहरी दुनिया बहुत पास आ गई है, या कठिन हो गई है, बल्कि यह कि यह निष्क्रिय और दूर हो गयी है। उनके विचार में योरोप की शान्ति को खतरा बाहर से न होकर अन्दर से था। उनका विचार था कि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग तब ही विश्वास-योग्य सुरक्षा प्रदान कर सकता है जब वह इतने थोड़े क्षेत्र तक सीमित हो जो खतरे को महसूस कर सके।

इसलिए जिस ज्ञापन में उन्होंने अपने विचारों को विशद किया था और जो १७ मई १९३० को संबद्ध सरकार को भेजा गया था, उसमें उन्होंने 'उन राष्ट्रों की सुरक्षा और कल्याण की दशाओं से ही, जिनकी भौगोलिक स्थिति संसार के इस भाग को *वास्तव में* मजबूरन संगठित करती है' उत्पन्न होने वाली आवश्यकता की चर्चा की थी। इस अनुमान से बचना और भी कठिन है कि वह मुख्यत: एक फ्रान्सीसी के रूप में बोल रहे थे और उनके मन में सब से बढ़कर फ्रेंच शान्ति और फ्रेंच सुरक्षा थी, जो स्वाभाविक बात थी। यह सच है कि उन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया कि जो कुछ भी किया जाय, वह 'राष्ट्रसंघ के ढाँचे के भीतर' किया जाय पर उसमें योरोप से बाहर के राष्ट्र ढांचा-मात्र रह जाते थे। यह एक ऐसे योरोप का चित्र था जिसमें फ्राँस और उसके साथी चौधरी बने रह सकते थे। राष्ट्रसंघ एक उपयोगी दलील बन गया क्योंकि इसके आधार पर श्री ब्रिएण्ड ने दो असुविधाजनक हिस्सेदारों, सोवियत संघ और तुर्की[1] को, जो इस समय प्रसंविदा से अनुषक्त नहीं थे, अपनी योजना में शामिल करना अस्वीकार कर दिया। इसी भावना से उन्होंने 'परमसर्वोच्चता और सम्पूर्ण राजनैतिक स्वाधीनता' का पक्षपोषण किया जिसे उनका एक आलोचक नीदरलैण्ड किसी भी असली योरोपीय संघ (Federation) से, असंगत समझता था।

जो हो अन्य योरोपीय सरकारों की आलोचनाओं से यह प्रत्यक्ष था कि श्री ब्रिएण्ड के आशय पर यह संदेह व्यापक रूप से किया जाता था। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि जिन राष्ट्रों से फ्राँस की मैत्री थी, उनमें सबसे अधिक अनिर्बन्धित समर्थन बैल्जियम का था, जिसने सदा फ्रेंच प्रधानता पर एक रोक होने के कारण राष्ट्रसंघ को पसंद किया था। उसके अन्य मित्र पोलैंड और लघुदेश संधि (Little Entente) के अन्य राज्य इस योजना के सबसे उत्साही समर्थक थे। इटली, जर्मनी, बलगेरिया और हंगरी, ये सब सोवियत संघ और तुर्की को शामिल करने के पक्ष में थे, और आस्ट्रिया भी योरोप से बाहर की शक्तियों के साथ निकट सम्बन्ध चाहता था। इटली और बलगेरिया ने स्थापित निर्वाचित समिति पर जो आपत्तियां उठाईं, उनसे, और हंगरी ने समानता के सिद्धान्त पर जो बल दिया उससे, फ्रेंच प्रभुता का भय भी प्रकट

१. तुर्की को १८ जुलाई १९३२ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया गया।

होता था। जर्मनी ने यह संकेत किया कि नये योरोप का आधार अधिकारों की समानता, सबके लिए सुरक्षा और प्राकृतिक जीवनीय आवश्यकताओं का शान्तिपूर्ण समंजन (adjustment) होना चाहिए, और इटली सुरक्षा से पहले निरस्त्रीकरण चाहता था तथा हंगरी पहले संधि संशोधन की आवश्यकता पर खुले आम जोर दे रहा था।

योरोपीय राज्यों के तीसरे समूह से, जो अपेक्षया तटस्थ हैं और जिनमें ब्रिटेन तथा आयर्लैण्ड को शामिल किया जा सकता है, प्राप्त उत्तर भी कुल मिलाकर आलोचनापूर्ण थे। विदेश मंत्रालय के १९४६ में प्रकाशित लेख्यों[1] से जो भावनाएँ उद्घाटित हुई हैं, उनसे पता चलता है कि इस योजना का जितना विरोध उस समय राजनयिक विनम्रता के कारण प्रकट किया जा सकता था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्व-निश्चित विरोध मौजूद था। जो लोग, ब्रिटेन के प्रतिनिधि की तरह इस प्रस्थापना के निर्माता के प्रति सच्चा आदर और सहानुभूति रखते हुए इस पर निष्पक्ष भाव से विचार कर सकते थे, उनकी मुख्य आपत्ति यह थी कि नया संगठन राष्ट्रसंघ का प्रतिस्पर्धी सिद्ध होगा और उसके कार्य और गौरव को हानि पहुँचाएगा तथा बेकार उसके ही कार्य करने लगेगा। बहुमत आर्थिक समस्या को राजनैतिक समस्या से गौण स्थान देने के पक्ष में नहीं था पर श्री ब्रिएण्ड ने राजनैतिक समस्या को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। इस बात से आश्चर्य और कौतूहल प्रतीत होता था, क्योंकि स्वयं श्री ब्रिएण्ड ने ५ सितम्बर १९२९ को राष्ट्रसंघ की असेम्बली के सामने पहली बार यह विषय रखते हुए कहा था कि यह संस्था 'स्पष्टत:' मुख्यतया आर्थिक होगी, और सहयोग के क्षेत्र की जो रूपरेखा उन्होंने अपने अन्तिम ज्ञापन में शामिल की थी, उसमें चुने गये सब विषयों से इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती प्रतीत होती थी, पर इस योजना का निर्माता अन्त में इस राय पर पहुँचा था—जो एक फ्राँसीसी के लिए स्वाभाविक और संगत थी—कि "आर्थिक संघ के मार्ग में प्रगति की सारी संभावना सुरक्षा के प्रश्न पर पूरी तरह निर्भर थी।"[2] पर जिन सरकारों से परामर्श किया गया उन्होंने प्रस्थापना के मूलभूत विचार—निकटतर सहयोग की आवश्यकता—पर सहमति प्रकट की। सच तो यह है कि इस बात पर विवाद हो ही क्या सकता था। इसलिए यह प्रश्न आगे अध्ययन के लिए राष्ट्रसंघ के एक विशेष आयोग को सौंप दिया गया और उसके हाथों यह स्वाभाविक मौत मर गया। बातचीत का मुख्य परिणाम यह हुआ कि वे मुख्य प्रश्न एक बार फिर सामने आ गये जिन पर योरोप में विवाद था—फ्रांस पहले सुरक्षा की बात करता था, जर्मन समानता का दावा करता था और सब असंतुष्ट शक्तियां संधि में संशोधन पर जोर दे रही थीं। इन सब घटनाओं के प्रकाश में योरोप की गुटबन्दियां पहले ही जैसी अशुभ प्रतीत हो रही थीं।

---

१. डोक्यूमेंट्स ऑन ब्रिटिश फॉरेन पालिसी, १९१९-१९३९, सिरीज २, जिल्द १, अ० ४।

२. डोक्यूमेंट्स ऑन ब्रिटिश फॉरेन पालिसी, १९१९-१९३९, सिरीज २, जिल्द १, अध्याय ४, पृ. ३२०।

आस्ट्रो-जर्मन सीमाशुल्क ऐक्य
(Austro-German Customs Union)

श्री ब्रिएण्ड की योजना पर राष्ट्रसंघ की असेम्बली में पहले विचार के समय आस्ट्रियन प्रतिनिधि ने यह सुझाया था कि प्रादेशिक आर्थिक करार (regional economic agreements) अभीष्ट दिशा में पहला उपयोगी कदम हो सकते है। बाद में जो कुछ हुआ, उसे देखते हुए इस सुझाव को महत्त्वपूर्ण मानना होगा। जनवरी १९३१ में ही योरोपीय संघ के लिए बनाये गये पृच्छा आयोग (Commission of Enquiry) की दूसरी बैठक के दिनों में आस्ट्रियन प्रतिनिधि डॉक्टर शोबर ने शायद इसी विचार का अनुसरण करते हुए जर्मन विदेश मन्त्री डॉक्टर कर्टियस के साथ आस्ट्रो-जर्मन सीमा शुल्क ऐक्य (Austro-German Customs Union) बना लेने की दृष्टि से बातचीत की। यह बातचीत, जो बहुत गुप्त रखी गई, मार्च के आरम्भ में वियेना में जारी रही, और २१ मार्च को एक ऐसे ऐक्य की स्थापना के बारे में समझौता हो जाने के ऐलान से संसार चकित रह गया। इस समझौते का पाठ (text) २३ मार्च को प्रकाशित हुआ।

इस ऐलान से एकदम बड़ा विरोध पैदा हो गया। इस कार्य को न केवल उस प्रकार के राजनैतिक ऐक्य की भूमिका समझा गया, जिस पर शांति संधियों ने प्रतिबन्ध लगा रखा था, बल्कि अक्तूबर १९२२ के आस्ट्रियन पुनर्निर्माण के प्रथम प्रोटोकोल में आस्ट्रियन सरकार ने 'ऐसी कोई समझौता वार्ता न करने या कोई ऐसा आर्थिक या वित्तीय वचन न देने की प्रतिज्ञा भी की हुई थी जिससे प्रत्यक्षतः या परोक्षतः आस्ट्रियन स्वाधीनता मे कमी होती हो', और 'किसी राज्य को ऐसी विशेष सुविधाएँ या अनन्य अधिकार देकर, जिनसे आस्ट्रिया की आर्थिक स्वाधीनता को खतरा हो सकता है, उस आर्थिक स्वाधीनता का अतिक्रमण न करने' की प्रतिज्ञा की हुई थी। यह वार्ता इतने गुप्त रूप से की गई कि उसने उस सन्देह को बढ़ा दिया जो इस घटना पर अविलम्ब पैदा हुआ था।

फ्रांस, चैकोस्लोवाकिया और इटली ने पुनर्निर्माण प्रोटोकोल (Reconstruction Protocol) के हस्ताक्षरकर्त्ताओं के रूप में सरकारी तौर से विरोधपत्र दिये। ब्रिटेन अकेला ही चुप रहा, और उसने जल्दबाजी मे कोई फैसला करना अच्छा न समझा, पर २५ मार्च को श्री हैण्डर्सन ने औरों के समान ही यह आशा प्रकट की कि आगे बढ़ने से पहले करारकर्त्ता पक्ष राष्ट्रसंघ की परिषद् को प्रस्थापित कदम की वैधता के बारे में अपनी संतुष्टि करने का अवसर देंगे। तो भी जर्मनी ने शुरू में इस मामूली से सतर्कतामूलक कार्य को स्वीकार करने में भी हठपूर्ण और दुर्भाग्यपूर्ण अनिच्छा प्रकट की। पर मार्च के अन्त तक श्री कर्टियस के एक अधिक नरम भाषण से वातावरण साफ हो गया और कूटनीतिक दबाव पर, १७ अप्रैल को आस्ट्रियन सरकार ने, परिषद् की अगली बैठक न होने तक, आगे कार्यवाही न करने का निश्चय किया।

११ मई को क्रैडिट-एनस्टाल्ट (Credit Anstalt) के फेल हो जाने से फ्रांस को वित्तीय दबाव डालने की सुविधा हो जाने के कारण स्थिति पर प्रभाव

पड़ा। इसके बाद फ्रांस ने हर मौके पर दबाव डाला और अगस्त के अंत तक इस दबाव का प्रयोजन पूर्ण हो गया। ३ सितम्बर को डाक्टर शोबर ने इस परियोजना के परित्याग का ऐलान कर दिया। इससे राष्ट्रसंघ की परिषद् द्वारा प्रस्थापित सीमा शुल्क ऐक्य की वैधता के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से कराया जाने वाला निर्णय आवश्यक हो गया। फ्रांस की गतिविधियों का निस्संदेह यही प्रयोजन था, क्योंकि तथ्यतः, अपील के परिणाम के बारे में बड़ा संदेह था। जब दो दिन बाद ५ सितम्बर को न्यायालय ने अपना निर्णय घोषित किया तब यह हुआ कि प्रस्थापित कार्य की अवैधता ७ के मुकाबले में ८ के ही बहुमत से स्थापित हुई, और इस तथ्य को बहुत से जर्मन और आस्ट्रियन अपनी नीति की नैतिक विजय समझते थे, पर इस घटना से उस समय के योरोप की घबराहट-भरी अवस्था बड़े स्पष्ट रूप से सामने आ गई।

फ्रांको-इटालियन नौसैनिक वार्तालाप
(The Franco-Italian Naval Discussions)

योरोप मे अशान्ति पैदा करने वाला एक और कारण उस नौसैनिक समस्या की घटनाओं से प्रस्तुत हो गया जो उस बातचीत में हल नहीं हो सकी थी जिसके परिणामस्वरूप २२ अप्रैल १९३० की लन्दन संधि हुई थी। इटालियन तो यह कहते थे कि फ्रांस ने १९२१-२ में वाशिंगटन मे नौसैनिक समानता का सिद्धांत मान लिया था पर एक के बाद एक आने वाली फ्राँसीसी सरकारें इस बात का सदा खण्डन करती रहीं थीं और तथ्यतः यह बात निराधार थी। सच तो यह है कि श्री ब्रिएण्ड ने श्री ह्यूज़ के इस आशय के तार पर कि इस मामले में फ्राँस के हठ करने से सम्मेलन विफल हो जाएगा, महायुद्धपोतों या कैपिटल जहाजों में समानता की बात अनिच्छा से स्वीकार कर ली थी, पर अन्य श्रेणियों के बारे में फ्राँस ने साफ तौर से और औपचारिक रूप से कुछ भी नही कहा था।

इटली की नीति अब बारी-बारी से उत्तेजक और नरम होती जाती थी जो स्वभावतः चिन्ताकारक अवस्था थी। ३० अप्रैल १९३० को इटालियनों ने एक प्रति-स्पर्धी जहाज निर्माण कार्यक्रम अपनाने का ऐलान किया पर ९ मई को श्री ग्रांडी ने यह घोषणा की कि इटली पुनः वार्त्ता करने के लिए तैयार है। उसी महीने श्री मुसोलिनी ने बहुत भयजनक बातें कई बार कही जिनमें से सबसे अधिक उल्लेखनीय, जो १७ मई को कही गयी थी, इस भाग के आरम्भिक अध्याय में पहले उद्धृत की जा चुकी है। अगली चाल ३ जून को चली गई—श्री ग्राँडी ने यह ऐलान किया कि यदि फ्राँस अपना सोचा हुआ जहाज-निर्माण कार्यक्रम स्थगित कर दे तो मुसोलिनी अपना नौसैनिक निर्माण कार्यक्रम विलम्बित करने को तैयार है। इस प्रस्ताव का फ्राँस ने जो जवाब दिया उस पर एक तरह का बेईमानी का आरोप लगाया जा सकता है। बहुत देर के बाद श्री ब्रिएण्ड ने ७ जुलाई को यह ऐलान किया कि १ दिसम्बर से पहले 'जो कार्य हाथ में लिया जा चुका है उसके बाद फ्राँस और कोई नया जहाज निर्माण करना शुरू न करेगा' पर ११ तारीख को यह पता चला कि चालू वर्ष के

कार्यक्रम के सब नये जहाजों के निर्माण का कार्य आरम्भ हो चुका है, और इसलिए तथ्यतः इस प्रस्ताव का क्रियात्मक रूप में कोई अर्थ नहीं था। पर ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स की सक्रिय मध्यस्थता से वार्त्ता चलती रही और फरवरी १९३१ में श्री हैंडर्सन ने यह ऐलान किया कि सिद्धान्त रूप में एक समझौता हो चुका है जिसे *सर्वे आफ इन्टरनेशनल अफेअर्स* (*Survey of International Affairs*) के लेखक ने 'अविशेषज्ञ के लिए उतना ही सुबोध बताया है जितनी कोई ज्योतिप या धर्मशास्त्र की पुस्तक।' ऐसी अवस्था में पाठक के लिए यह सौभाग्य की बात है, यद्यपि समझौता करने वाले पक्षों या संसार के लिए नहीं, कि इन्हें हृदयंगम करना आवश्यक नहीं, क्योंकि अप्रैल तक यह स्पष्ट हो गया कि अब भी समझौते के मार्ग में गम्भीर बाधाएँ थीं। इसके बाद वार्त्ता भंग हो गयी।

कठिनाई हल्के क्रूजरों और विध्वंसकों के बारे में दोनों पक्षों की आपेक्षिक शक्तियों के सिलसिले में पैदा हुई। इटली इस आधार पर प्रस्थापित व्यवस्था मानने को तैयार था कि फ्राँस के पास इस करार के लागू होने के दिनों में जितने जहाज अधिक हों उनमें अधिकांश जीर्ण (overage) जहाज हों। इसलिए वह ऐसा निर्वचन मानने को तैयार नहीं था जिससे फ्राँस को यह अधिकार मिल जाए कि वह नये जहाजों का निर्माण आरम्भ करके, जो समझौते की अवधि समाप्त हो जाने पर जीर्ण जहाजों का स्थान ले लेंगे अपनी श्रेष्ठता बढ़ा ले। दूसरी ओर फ्राँसीसियों ने करार के उस उपबन्ध पर बल दिया जिसमें कहा गया था कि *'पूरा किये जाने वाले* नये निर्माण-कार्य का टनेज उस टनेज से अधिक नहीं होगा जो इस श्रेणी में ३१ दिसम्बर १९३६ से पहले बदला जाना है,' और यह तर्क पेश किया, जो बहुत उचित जंचता था, कि जो जहाज नियत तिथि पर बन रहे थे, वे समझौते के क्षेत्र में नहीं आते। यह कहा गया कि यदि और कुछ निर्वचन किया जाए तो इटली को इस श्रेणी में समानता मिल जाएगी जिसका फ्राँस ने लगातार विरोध किया था। यह गलतफहमी जो किसी बाहर वाले को सर्वथा यथार्थ प्रतीत होती है, इटली में यथार्थ नहीं मानी जाती थी, और दोनों देशों के अखबारों में जो आरोप-प्रत्यारोप चले, उनसे सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना में कोई मदद नहीं मिली।

योरपीय अशान्ति के अन्यान्य कारण
(Further Causes of European Unrest)

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के विशेष कारणों और १९३१ के आर्थिक संकट से जनित कारणों के अलावा, राजनीतिक उपद्रव भी हुए थे, जिनका कुछ अवस्थाओं में, घटनाओं के मुख्य प्रवाह से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहा प्रतीत होता। डेनमार्क और नार्वे में ईस्ट ग्रीनलैंड की सर्वोच्चता पर संकटपूर्ण अव्यवस्था पैदा हो गई यद्यपि यह शान्ति के लिए ज़रा भी खतरा नहीं थी, और अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के एक निर्णय से १९३३ में डेनमार्क के पक्ष में मामला तय हो गया। इसमें जो जटिल प्रश्न अन्तर्ग्रस्त थे उन पर इस जैसी पुस्तक में विचार नहीं किया जा सकता। स्पेन में क्रान्ति हुई और पुर्तगाल में भी कुछ ऐसी चीज़ हुई, और साईप्रस में ग्रीक आबादी ने जो सर्वत्र व्यापक

आत्मनिर्णय के कीटाणुओं से संक्रान्त हो गई थी, भयंकर विद्रोह कर दिया। माल्टा में भी इसी मुसीबतों के साल में उपद्रव हुए। जर्मनी में नाज़ी पार्टी की सत्ता वृद्धि की, जो व्यापक बेचैनी का मुख्य कारण भी थी, जर्मन-पोलिश सम्बन्धों पर विशेष प्रतिक्रिया हुई—इन सम्बन्धों में १९३० में दोनों देशों के मध्य एक व्यापारिक करार हो जाने से अस्थायी रूप से सुधार हो गया था। उत्तेजक भाषणों से संदेह पैदा हो गया। डान्जिग में तनाव की स्थिति से जिसके कारण अप्रैल १९३१ में पोलिश कमिश्नर-जनरल ने त्यागपत्र दे दिया, कुछ समय तक गम्भीर घटनाएँ होने की सम्भावना पैदा हो गई थी, और पोलैंड में जर्मन अल्पसंख्यकों के साथ होने वाले व्यवहार पर वर्ष के शुरू में राष्ट्रसंघ की परिषद् ने विचार किया। पर उपद्रव और अशान्ति योरोपीय महाद्वीप तक ही सीमित न थे। दक्षिण अमेरिका में चाको विवाद के फिर उठ खड़े होने और, नाम के अलावा और सब बातों में, उसके युद्ध का रूप धारण कर लेने की घटना भी १९३१ में हुई और उसी वर्ष जापानियों ने मंचूरिया में बल-प्रयोग का मार्ग अपनाया। ऐसी निराशाजनक परिस्थितियों में जबकि युद्ध के शस्त्र शस्त्रागारों से पहले ही निकाले जाने शुरू हो चुके थे, निरस्त्रीकरण सम्मेलन २ फ़रवरी १९३२ को—शंघाई में तोपों की गड़गड़ाहट शुरू हो चुकने और चार्पेई के ध्वंसाव शेष हो चुकने के चार दिन बाद आरम्भ हुआ।

निरस्त्रीकरण सम्मेलन, पहली मंजिल

(The Disarmament Conference, First Phase)

आज, जब एक बार फिर जीवन और मृत्यु के एक संघर्ष में हथियार प्रयुक्त किये जा रहे हैं, एक संक्षिप्त साधारण इतिहास पुस्तक में उन जन्मना मृत प्रस्तावों को विस्तार से देने की कोई उपयोगिता नहीं, जो उस सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों ने प्रस्तुत किये थे। सिंहावलोकन करते हुए हम सब ऐल्फ्रेड ज़िमर्न की इस बात से सहमत हो सकते हैं कि निरस्त्रीकरण का भाग्य तो उसी समय सदा के लिए सो गया था जब कि संयुक्त कार्यवाही द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों की पूर्त्ति का प्रश्न (प्रसंविदा अनुच्छेद ८) न केवल राष्ट्रीय शस्त्रास्त्रों के उपयोग का ही विषय न रहा प्रत्युत वह ऐसा प्रयोजन भी न रहा जिसके लिए कोई राष्ट्र हथियार उठाने के लिए तैयार होता।

जब प्रत्येक को अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिए छोड़ दिया गया, तब, जसा कि सर ऐल्फ्रेड ज़िमर्न ने बताया है, 'इस विषय पर विचार सहयोग के बजाय प्रतियोगिता की भावना से होना अनिवार्य था', और 'यह आशा करना कि ५० राज्यों या सिर्फ महाशक्तियों में, इस प्रकार की प्रतियोगिता के आधार पर, सहमत निरस्त्रीकरण संधि हो सकती है, वृत्त को वर्ग बनाने में सफल होने की आशा करना था'[1]। फ्राँसीसियों के मस्तिष्क में अन्तर्राष्ट्रीय सेना का जो विचार बार-बार आ रहा था, उसका, इस योजना की व्यावहारिक कठिनाइयों के अलावा भी, उन राष्ट्रों द्वारा सहानुभूति से स्वागत किये जाने की सम्भावना नहीं थी, जो अपने सामूहिक दायित्व

१. सर ए० ज़िमर्न, दि लीग ऑफ नेशन्स एण्ड दि रूल ऑफ लॉ, लंदन, मैकमिलन, १९३६, पृ० ३३१।

निभाने में, जोखिम लेने से अधिकाधिक पीछे हटते जा रहे थे। सच तो यह है कि फ्राँस अपने अनोखे तर्क से राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में निरस्त्रीकरण पर विचार को प्रसंविदा में पारिभाषित शस्त्रों के प्रयोजन के साथ जोड़ता रहा। संशोधित फ्रेंच योजना में, जो श्री पाल बान्‌ कूर ने ४ नवम्बर को पेश की थी, अब भी सामूहिक सुरक्षा को, चाहे सीमित मात्रा तक ही सही, मूर्तरूप देने पर बल दिया था। इसकी मुख्य विशेषता यह प्रस्ताव था कि संसार को तीन संकेन्द्र वृत्तों (concentric circles) में विभाजित किया जाए जिनमें से सब से बाहर वाले वृत्त में वे सब शक्तियां हों जिनके प्रतिनिधि सम्मेलन में हैं। ये केलाग पैक्ट के भंग या भंग की आशंका के मौके पर आपस में परामर्श करने का, आक्रान्ता के साथ आर्थिक या वित्तीय सम्बन्ध न रखने का और किसी अन्तर्राष्ट्रीय वचन के अतिक्रमण से पैदा हुई तथ्यात्मक स्थिति को अभिज्ञात न करने का वचन दें। दूसरे वृत्त में सिर्फ वे शक्तियाँ होतीं जो राष्ट्रसंघ की सदस्य थीं और साथ ही प्रसंविदा के अनुच्छेद १६ को प्रभावी रूप से और दृढ़ निष्ठा से लागू करने पर सहमत हों। अन्त में, सबसे भीतर के वृत्त के लिए एक विशेष संगठन का प्रस्ताव रखा गया जिसमें अधिक विनिर्दिष्ट सैनिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ होतीं। इस योजना के बारे में इस समय इतना ही कहना काफी है कि एबिसीनियन संकट के अनुभव से यह सिद्ध था कि सबसे बाहर वाले दायित्वों की आंशिक और अस्थायी पूर्ति के लिए ही संसार का कोई भी राष्ट्र वास्तव में तैयार था।

ब्रिटेन ने अपने अनुरूप ही कार्य किया। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जान साइमन ने अपना ध्यान मुख्य समस्या पर उतना नहीं लगाया जितना ऐसी आंशिक मर्यादाएँ, जो सहकारिता से पराङ्मुख और राष्ट्रवादी संसार को स्वीकार्य हो सकें, प्राप्त करने का क्रियात्मक प्रयत्न करने पर लगाया। सर जान का सबसे नया विचार 'गुणात्मक निरस्त्रीकरण', अर्थात् ऐसे शस्त्रों पर प्रतिषेध, जो विशेष रूप से आक्रामक समझे जा सकें, का विचार था। इस प्रस्ताव का सहानुभूति से स्वागत किया गया, पर जाँच करने पर, विशेषज्ञ आक्रमण और प्रतिरक्षा की विभाजक रेखा पर सहमत न हो सके जिससे यह प्रस्ताव रह गया; उदाहरण के लिए ब्रिटिश दृष्टि से पनडुब्बियाँ सारतः आक्रामक हैं पर कुछ राष्ट्र उसे अपनी नौसनिक प्रतिरक्षा का मुख्य स्तम्भ समझते थे। किसी ने संक्षेप में यह कहा था कि कोई हथियार किस श्रेणी में रखा जायगा, यह बात इस पर निर्भर है कि आप इसके किस सिरे पर खड़े हैं।

२२ जून को यूनाइटेड स्टेट्स के राष्ट्रपति ने जनरल कमीशन की एक विशेष बैठक बुलाकर अपनी एक योजना सुझाई। इसमें नौसैनिक निरस्त्रीकरण के मामले में अमेरिकन रवैये की प्रमुख विशेषताएँ मौजूद थीं, अर्थात् इसमें सीधा-सादा गणितीय अनुपात लगाया गया था, और व्यावहारिक प्रकार की बाधाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। इन्हें एक ऐसा 'ब्रुश' बताया गया जिसे बीच में से काटना था। साधारण विचार यह था कि विभिन्न राष्ट्रीय सेनाओं के मौजूदा सम्बन्ध कायम रखे जायें और संसार के शस्त्रों में आंतरिक आरक्षण या पुलिस कार्यों के लिए आवश्यक बल को छोड़कर शेष में एक-तिहाई की कटौती कर दी जाए। यद्यपि श्री हूवर ने "औपनिवेशिक आधिपत्य वाली शक्तियों के लिए आवश्यक हेर-फेर" करने की बात

कह दी थी, पर नौसैनिक संधि के बारे में पहले की बातचीत की तरह इसमें भी कार्य के पहलू की अनुचित रूप से उपेक्षा की गई थी। ब्रिटिश पद्धति पर संगठित छोटी सी सेना, जिसमें लगभग आधी सेना छोटी-छोटी गैरिजों के रूप में सारी दुनिया में फैली हुई है, और स्वदेशस्थ सेना न केवल प्रतिरक्षा का, बल्कि शेष सेना के लिए सहायता करने का प्रयोजन भी पूरा करती है, स्पष्टत: बड़ी योरोपीय सेनाओं से तुलनीय नहीं हो सकती; यह पहले ही व्यवहारत: और अधिक कम न किए जाने वाले न्यूनतम को निरूपित करती है और इसकी आक्रामक शक्ति उपेक्षणीय है। इसी प्रकार विभिन्न देशों के मौजूदा अनुपात आक्रमण करने के बहुत भिन्न सामर्थ्य को सूचित करते हैं। कुछ उदाहरणों में वे प्रतिरक्षा के लिए न्यूनतम अंश हैं जबकि औरों में वे बहुत अधिक प्रतीत होते हैं। इसलिए सब में उतने ही प्रतिशत कमी कर देना अवैज्ञानिक है। तथ्यत:, शुद्ध आपेक्षिकता और गणितीय विकलन (subtraction) एक अत्यधिक जटिल समस्या, पर एक अत्यधिक सीधा दृष्टिकोण, प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार, अमेरिकन राष्ट्रपति के प्रस्ताव का नम्रता से स्वागत किया गया, और इटली ने तुरन्त इन प्रस्थापनाओं पर अपनी स्वीकृति का ऐलान कर दिया, पर यह कोई महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक प्रगति नहीं थी।

पर शुरू से ही प्रगति में सब से अलंघ्य बाधा जर्मन रवैये के कारण थी। जैसा कि पहले से किसी निरस्त्र राष्ट्र के लिए स्वाभाविक था, जर्मनी को यह चिन्ता कम थी कि अन्य राष्ट्र किस मात्रा तक अपनी सेनाओं में कमी करेंगे, और यह चिन्ता अधिक थी कि उनकी तथा उसकी अपनी स्थितियों में कितनी असमानता रहेगी; चाहे ऊँचा स्तर अपनाया जाय या नीचा, उसका उद्देश्य अपने समानता के दावे पर बल देना था। इसलिए यदि शेष संसार वर्साई में पराजित पक्ष पर लादी गई शर्तें स्वीकार करने को तैयार नहीं था, तो श्री ब्रूनिंग और उनके साथी सम्मेलन में अपने लिए जो मांग कर रहे थे वह निरस्त्रीकरण की नहीं, बल्कि पुन: शस्त्रीकरण की माँग थी। इन परिस्थितियों में सारे सम्मेलन में दिखाई पड़ने वाला संयोजक-सूत्र, फ्रांस की सुरक्षा को परमावश्यक पूर्ववर्ती शर्त मानने की माँग और जर्मनी के समानता की माँग के बीच की कशमकश था। पर फ्रांस के लिए, जिसे उन दिनों भी अपनी सुरक्षा के लिए चिन्ताग्रस्त रहना पड़ा था, जब जर्मनी शक्तिहीन और परास्त पड़ा था, उसके पुराने शत्रु के शान्ति संधि की शर्तों से एक बार मुक्त कर दिये जाने पर सुरक्षित अनुभव करना व्यवहारत: असम्भव था।

श्री ब्रूनिंग के मंत्रिमंडल के स्थान पर जून १९३८ में श्री वान पेपन के 'जमींदारों के मंत्रिमण्डल' के आजाने पर जर्मनी का समानता के अपने दावों को स्वीकार कराने का आग्रह और प्रबल हो गया। १६ सितम्बर को जर्मन सरकार ने मौजूदा हालात में सम्मेलन से अपने हट जाने की सूचना दी। दो दिन बाद ब्रिटिश सरकार ने अपने विचारों का एक विवरण प्रकाशित किया जिसमें इस स्थान पर जर्मन समानता का प्रश्न उठाने को अनुचित बताया गया था। और जर्मनी ने वर्साई की संधि और संबन्धित पत्र-व्यवहार में विद्यमान निरस्त्रीकरण-संबन्धी चर्चा का जो अर्थ लगाया था, उसकी विधि-संबन्धी शुद्धता की आलोचना की थी। पर शीघ्र ही यह स्पष्ट हो

गया कि यह बाधा दूर किये बिना प्रगति की कोई आशा नहीं, और दिसम्बर के शुरू में एक स्वीकार्य फारमूला खोजने के लिए जिनीवा मे एक पंच-शक्ति सम्मेलन (Five Power Conference) (जिसमें--फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और यूनाइटेड स्टेट्स थे) बुलाया गया। पाँच दिन तक घोर परिश्रम के बाद 'उस व्यवस्था में जर्मनी का समानता का अधिकार स्वीकार किया गया जो सब राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करे, इस प्रकार जर्मनी और फ्राँस की मांगें एक ही पदावली में इकट्ठी कर दी गई जिसे प्रत्येक अपने-अपने निर्वचन के अनुसार मानने को तैयार था। पर यद्यपि जर्मनी को उस समय सम्मेलन में लौट आने को मना लिया गया पर कोई भी शब्द-चातुर्य समस्या के मर्म को स्पर्श न कर सका।

इस सम्मेलन के विवरण का अध्ययन करने वाला व्यक्ति इस बात से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता कि आरम्भिक आयोग के लम्बे विवादों के एकमात्र परिणाम-स्वरूप जो अभिसमय-प्रारूप (DraftConvention) तैयार किया गया था, उस का बहुत कम उपयोग किया गया। यद्यपि औपचारिक रूप से वह कुछ समय के लिए रूपरेखा बना रहा, परन्तु व्यवहार में इसकी अधिकाँशतः उपेक्षा की गई। यद्यपि इसके परिश्रम के बर्बाद होने की बात सोचकर दुःख होता है, पर शायद इसकी वही गति हुई जिसका यह पात्र था। तथ्यतः, यह निरा कंकाल-मात्र था और इसने जो फैसले जैसे-तैसे कर लिये थे वे अधिकतर अवस्थाओं में कम या अधिक महत्त्व के निर्बन्धों से लदे हुए थे। पर सम्भवतः सम्मेलन के कार्य के प्रति एक नया ही दृष्टिकोण अपनाए जाने का असली कारण यह था कि १९३२ का संसार वह संसार नहीं था जिसमें आरम्भिक आयोग (Preparatory Commission) ने इस समस्या को सोचा था। जब सम्मेलन ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके, जिसका अभिप्राय सर जान साइमन के शब्दों में 'उन लाभों को भी संग्रहीत करना था जो उसमें प्राप्त हुए थे, ताकि वे हाथ से निकल न जाएँ', २० जुलाई को अपने परिश्रम की पहली मंजिल पूरी की, तब ये लाभ सिर्फ एक ठोस निश्चय रूप में रह गये और वह था रासायनिक और जीवाणु-युद्ध पर पाबन्दी। पर यह मामला ऐसा था, जैसा कि श्री लिटोविनोफ ने बड़े तीखे रूप में बताया था, जिस पर जिनीवा प्रोटोकोल के दिनों में पहले ही सारतः समझौता हो गया था। साधारणतया सब ने उस पर निराशा प्रकट की और सोवियत संघ तथा जर्मनी ने उस प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान भी किया। इटली तथा सात अन्य राज्यों—अफ़गानिस्तान, अलबानिया, आस्ट्रेलिया, बलगेरिया, चीन, हंगरी और तुर्की—ने मतदान नहीं किया, और इटली के एक अखबार ने यह सुझाव रखा कि इटली सम्मेलन से पृथक हो जाये—इस लेख में राष्ट्रसंघ को 'ऐसी सीमित दायित्व वाली कम्पनी (A Limited Liability Company) बताया गया था जिस पर इंगलैंड, फ्रांस, और परोक्षतः अमेरिका, का नियंत्रण है'। मुसोलिनी ने उसी समय युद्ध के गुणगान करने वाला एक लेख प्रकाशित कराया जिसमें घोषित किया गया था कि 'फासिस्ट स्थायी शान्ति की शक्यता या लाभदायकता में विश्वास नहीं करते।'

सम्मेलन का पुनरायोजन—मैकडौनल्ड योजना
(Resumption of the Conference—the MacDonald Plan)

जब २ फरवरी १९३३ को जनरल कमेटी का विचार-विनिमय फिर आरम्भ हुआ तब यूरोप के सम्बन्धों में एक नया युग पहले ही शुरू हो चुका था, जिसने निरस्त्रीकरण की बची-खुची अंतिम आशा को भी जल्दी से समाप्त कर दिया। ३० जनवरी को एडोल्फ हिटलर जर्मन राइख का प्रधान मंत्री बन गया था। २४ फरवरी को जापान के यह अधिसूचित कर देने पर कि वह राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र दे रहा है, सम्मेलन की सफलता की आशा और अधिक धूमिल हो गई, यद्यपि उसके प्रतिनिधि सम्मेलन में भाग लेते रहे। इसलिए प्रगति प्राय: नगण्य हुई और उस समय प्राय: वातावरण निराशाजनक ही बना हुआ था, जब १६ मार्च को श्री रैम्जे मैकडौनल्ड ने आकर उसकी कार्यवाही में जीवन और वास्तविकता लाने का और प्रयत्न किया। वह अपने साथ एक नये अभिसमय का प्रारूप लाये थे जो मुख्यत: उन सब प्रस्तावों का संग्रह था जिनके स्वीकार किये जाने की अब तक अधिक से अधिक आशा प्रतीत हुई थी। इसे अपने पूर्ववर्त्ती प्रारूपों की अपेक्षा यह सुविधा थी कि यह पहली बार सैनिकों की निश्चित संख्या सुझा सकता था, यद्यपि वे अस्थायी होतीं। अभिसमय पाँच भागों में बंटा हुआ था। पहले में, जो सुरक्षा के बारे में था, कैलाग पैक्ट के भंग, या भंग होने की आशंका में सिर्फ सम्मेलन करने का उपबन्ध था, और वह भी ऐसी अवस्थाओं में जिनमें बड़ी शक्तियों को एक विशेष महत्त्व का स्थान प्राप्त हो जाता था, क्योंकि किसी निश्चय को मान्यता देने के लिए उनका सर्वसम्मत होना अनिवार्य था, पर अन्य प्रतिनिधियों को सिर्फ बहुमत से सहमत होने की आवश्यकता थी। इसमें निस्संदेह स्थिति की वास्तविकताओं को स्वीकार किया गया था। भाग दो में सैनिकों की संख्या सीमा उसमें दी गयी एक तालिका के अनुसार रखने का प्रस्ताव था—इस तालिका में आगे बातचीत के आधार के रूप में प्रत्येक राज्य के लिए प्रस्थापित संख्याएँ दी गई थीं। इसमें युद्ध-सामग्री पर गुणात्मक आधार पर विचार किया गया और कुछ शस्त्रों का भार और व्यास सीमित किया गया था, संख्या नहीं। नौसैनिक प्रस्तावों में लन्दन संधि के उपबन्ध फ्रांस और इटली पर भी लागू करने का यत्न किया गया था, और १९३५ में विशेष सम्मेलन बुलाने के समय तक स्थिति को स्थिर करने की कोशिश की गई। प्रत्येक देश के लड़ाकू विमानों की संख्या, अभिसमय की अवधि में, घटाकर विनिर्दिष्ट सीमाओं तक कर दी जानी थी। स्थल-सैनिक और नौसैनिक विमानों की पूर्ण समाप्ति तथा नागरिक उड्डयन का प्रभावी पर्यवेक्षण अन्तिम लक्ष्य सुझाये गये थे और बहिवर्त्ती प्रदेशों में आरक्षण यानी पुलिस कार्य के लिए की जाने वाली बमबारी को छोड़कर विमानों से बमबारी पर पाबन्दी लगायी जानी थी। भाग चार रासायनिक और जीवाणु-युद्ध पर पाबन्दी लगाता था और अंतिम भाग में ऐसे स्थायी निरस्त्रीकरण आयोग का प्रस्ताव था, जिसे निरीक्षण और नियन्त्रण की विस्तृत शक्तियां हों। इस ब्रिटिश योजना की मुख्य विशेषताएँ ये थीं, जो, जहाँ तक जर्मनी का सम्बन्ध है, वर्साई की संधि के निरस्त्रीकरण वाले अध्याय की स्थानापन्न बतायी जाती थीं।

मैकडौनल्ड योजना पर विचार करते हुए, जिसमें चार शक्ति संधि (Four Power Pact) के बारे में हो रही बातचीत के कारण अस्थायी रूप से बाधा पड़ गयी, योरोप महाद्वीप की सेनाओं को अल्पकालीन सेवा पद्धति पर एक ही स्तर का बनाने के सवाल पर जर्मनी के हठ के कारण शीघ्र ही गतिरोध की आशंका पैदा हो गई क्योंकि जर्मन इस समय तक वर्साई की संधि द्वारा अपने ऊपर लादी गई दीर्घ-सेवा पेशेवर सेना (long service professional army) के मूल्य के बारे में अपना विचार पूर्णतया बदल चुके थे। अब वे इस सिद्धान्त को कायम रखना चाहते थे और उनके ऐसा करने के प्रयत्न प्रगति में पूर्ण बाधक थे। ११ मई १९३५ को जर्मन अखबारों मे फ्रोहर वान न्यूरथ के एक लेख के प्रकाशन से, जिसमें, यह प्रतीत होता था कि, जर्मनी के पुनः शस्त्र-सज्जित होने का अभिप्राय प्रकट किया गया है, स्थिति और उलझ गई। इसके मुकाबिले लार्ड हेलशम ने लार्ड सभा में यह भाषण दिया कि यदि जर्मनी सम्मेलन में आगे भाग लेने से इंकार करेगा तो वह वर्साई संधि के उपबन्धों से ही बद्ध रह जाएगा और कि यदि उसने पुनः शस्त्र-सज्जित होने का यत्न किया तो उस पर अनुशास्तियाँ लागू करना उचित होगा। फ्राँस में श्री पाल बौंकूर ने जर्मन हठ के कारण सम्मेलन भंग होने की दिशा में वही धमकी दोहरायी। ये शब्द व्यर्थ नहीं गये। १३ मई को ही श्री वान पैपन ने युद्ध की प्रशंसा करने वाले एक भाषण द्वारा और जर्मन माताओं को बहुजननी होने का उद्बोधन करके—ताकि युद्ध-क्षेत्र में उनके बेटे पर्याप्त संख्या में मर सकें—व्याप्त तनाव बढ़ा दिया। पर राष्ट्रपति रूज़वेल्ट द्वारा योरोप के राष्ट्रों से एक बार और अपील किये जाने पर १७ मई को हिटलर द्वारा की गई सरकारी नीति-घोषणा अप्रत्याशित रूप से नरम थी, और उस से वायुमण्डल काफी साफ हो गया। कुछ ही दिनों के भीतर जर्मनी ने बाधा पैदा करने का रवैया त्याग दिया और उसके बाद अभिसमय प्रारूप के प्रथम वाचन (first reading) में अपेक्षया द्रुत प्रगति हुई। यूनाइटेड स्टेट्स के एक और वक्तव्य से, जिससे यह प्रतीत होता था कि वह यह मानने के लिए तैयार था कि यदि वह उन शक्तियों के निर्णय से सहमत होगा तो आक्रांता पर अनुशास्तियां (sanctions) लागू करना चाहती हैं, तो वह ऐसा कोई कार्य न करेगा जिससे आक्रान्ता के विरुद्ध की जाने वाली सामूहिक कार्यवाही व्यर्थ होने लगे, अनुकूल प्रभाव पैदा हुआ। पर अब भी मत-भेद स्पष्ट दिखाई दे रहे थे और यह साफ था कि सुरक्षा के लिए फ्राँस जो कुछ चाहता था, उसकी पूर्ति अभी दूर की बात थी। ७ जून को मैकडौनल्ड अभिसमय प्रारूप जनरल कमीशन द्वारा आधार के रूप में मान लिया गया और सम्मेलन पतझड़ के लिए स्थगित हो गया

जर्मनी का सम्मेलन से हटना

(Germany withdraws from the Conference)

इस पर श्री हैंडर्सन योरोप की मुख्य राजधानियों की 'निरस्त्रीकरण तीर्थ-यात्रा' (Disarmament Pilgrimage) पर चल दिये और स्वतन्त्र वार्ताएँ की गईं। इनसे शीघ्र यह पता चल गया कि फ्राँस तब तक अपनी सेना घटाने को तैयार न था

जब तक नियन्त्रण और पर्यवेक्षण की पद्धति की परख न हो जाए या जर्मन पुनः-शस्त्रीकरण के विरुद्ध पर्याप्त गारण्टियाँ न दी जाएँ। परिणामतः, विचार इस पक्ष में होता गया कि निरस्त्रीकरण आयोग का काल दो भागों में बाँट दिया जाए, जिन में से पहले में पर्यवेक्षण की पद्धति की परख हो जाएगी पर शस्त्रसज्जित शक्तियों के शस्त्रास्त्रों का परिसीमन होगा, कमी नहीं। उसी काल में योरोपीय सेनाओं का समान स्टैन्डर्ड वाली अल्प-सेवा पद्धति में रूपान्तर कर दिया जाएगा, जिसमें जर्मन सेना अभिसमय में अनुज्ञात संख्या तक क्रमशः बदल जाएगी, पर निःशस्त्र शक्तियों द्वारा पुनःशस्त्रीकरण न किया जाएगा। दूसरे काल में अभिसमय के निरस्त्रीकरण के उपबन्ध पूर्ण समानता के आधार पर क्रियान्वित किए जाएँगे। जब यह प्रस्थापना जर्मनी के सामने रखी गयी, यद्यपि यह स्वीकार कभी नहीं की गयी, तब यह समझा जाता था कि उसकी सरकार अभिसमय द्वारा अनुज्ञात पर वर्साई की संधि द्वारा निषिद्ध हथियारों के नमूने हासिल करने को अधिक चिन्तित थी। पर जब यह कहा गया कि वह उन नमूनों की परिभाषा करे, तब उसने जो जवाब दिया उसका अभिप्राय यह था कि वह पुनः पर्याप्त शस्त्रीकरण चाहती थी, और इस रूप में यह उत्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता था। जब सम्मेलन फिर शुरू होने का दिन पास आया तब यह अनुभव किया गया कि इस समय समझौता और किसी भी समय की अपेक्षा अधिक निकट था, और प्रतीत होता है कि किसी को भी यह संदेह नहीं था कि जो वास्तव में हुआ वह होगा।

१४ अक्तूबर १९३३ के सवेरे सर जान साईमन ने सम्मेलन के ब्यूरो को ऊपर बताए गए प्रस्ताव स्पष्ट किए। उनका आमतौर से अनुमोदन हुआ और फ्रीहर वान रीनबेबन ने भी, जो अपने ऊपर वालों की अनुपस्थिति मे जर्मनी का प्रतिनिधित्व कर रहा था, ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि कोई आकस्मिक घटना होने वाली है। तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि तथ्यतः जर्मन नीति पिछले दिन बर्लिन में हुई मन्त्रिमण्डल की बैठक में निर्धारित हो चुकी थी। ब्यूरो की बैठक दोपहर १२½ बजे समाप्त हुई और ३ बजे श्री हैंडर्सन को तार द्वारा जर्मनी के सम्मेलन से हट जाने की सूचना दी गई। कुछ ही समय बाद राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र देने की अधिसूचना दे दी गयी। इन दोनों निश्चयों का ऐलान बर्लिन में दोपहर के अखबारों में हुआ।

इन ऐलानों पर यह सारी आशा कि निरस्त्रीकरण सम्मेलन कुछ वास्तविक कमी या परिसीमा करा सकेगा, दुनिया के दिल से मिट गई। तब से इस बात के यत्न किये गए कि जो कुछ बचाया जा सके, उसे बचा लिया जाए, और शस्त्रास्त्रों की बेरोक-टोक प्रतियोगिता को रोका जाए। २१ नवम्बर को जनरल कमीशन 'समान्तर और पूरक प्रयत्नों' का मार्ग बनाने के लिए स्थगित हो गया। इस से पहले इटली ने अपने इस मत की सूचना दे दी थी कि सम्मेलन का जारी रहना समय का अपव्यय है, और ८ दिसम्बर को फासिस्ट ग्रांड कौंसिल ने यह निश्चय किया कि 'इटली का राष्ट्रसंघ से आगे सहयोग इस शर्त पर होगा कि राष्ट्रसंघ के संविधान, संगठन और उद्देश्यों में यथासंभव न्यूनतम समय के भीतर आमूल सुधार किये जाएँ'। यह आशा

कि जर्मन सरकार पछतावा करेगी, उस प्रबल समर्थन से शीघ्र ही हट गई, जो १२ नवम्बर को किये गये मत-संग्रह मे इसके कार्य को जनता से प्राप्त हुआ । १८ दिसम्बर को हिटलर ने वे शर्तें बतायीं, जिन पर वह बातचीत फिर करने को तैयार था । उस ने तीन लाख सैनिकों की सेना भर्ती करने की माँग रखी, जिसे उन सब श्रेणियों के हथियार रखने की इजाजत होगी जो वर्साई संधि द्वारा निषिद्ध थे और सम्मेलन द्वारा 'प्रतिरक्षात्मक' निर्दिष्ट किये गये थे। नागरिक उड्डयन (civil aviation) पर्यवेक्षण या निर्बन्धन से मुक्त होगा, यद्यपि और जगह पर्यवेक्षण का सिद्धान्त मान लिया गया था। सैनिक प्रकार के (para-militry) दस्ते—एस. ए., एस. एस. और स्टालहैल्म—असैनिक और सम्मेलन के क्षेत्र से बाहर माने जाने थे। अन्तिम बात यह कि सार के प्रदेश की अविलम्ब वापसी और इसकी कोयला खानों के स्वामित्व के प्रश्न पर वार्ता करने की माँग की गयी ।

इन शर्तों को फ्राँस ने १ जनवरी १९३४ को तुरन्त अस्वीकार कर दिया पर ब्रिटेन और इटली ने अधिक यथार्थ रुख अपनाया। जैसा कि कोमटे डि ब्रोकविल ने बैल्जियम की सीनेट में कुछ समय बाद (६ मार्च) स्पष्ट बताया था, तथ्यत: जर्मनी को वे उपाय अपना कर ही पुनः सशस्त्र होने से रोका जा सकता था, जो कोई शक्ति अपनाने को तैयार नहीं थी । इसलिए इस बिल्कुल स्पष्ट तथ्य पर जोर देना, जैसा कि फ्राँसीसी दे रहे थे, बिल्कुल व्यर्थ था, कि वर्साई के निरस्त्रीकरण-सम्बन्धी उपबन्धों के एकपक्षीय निराकरण को क्षमा किया जा रहा था । इसलिए ब्रिटेन और इटली दोनों के प्रस्तावों में जो एक साथ जनवरी के अन्त में प्रकाशित किये गये, जर्मनी के पुन: शस्त्रसज्जित होनें के दावे को अधिकाँशत: स्वीकार किया गया था । इन दोनों में से ब्रिटेन ने उनका, विशेषकर वायु शस्त्रास्त्रों के मामले में, जिसमें वह वर्साई की पाबन्दियाँ दो वर्ष तक बनाये रखने के पक्ष में था, अत्यधिक प्रतिरोध प्रदर्शित किया । दोनों प्रस्तावों में मुख्य अन्तर यह था कि इटली मौजूदा स्तर पर शस्त्रास्त्रों की मात्रा स्थिर मात्र करना चाहता था, पर ब्रिटेन अब भी ऐसे अभिसमय पर समझौता करना चाहता था, जिसमें कुछ प्रकार के हथियारों का परित्याग कर दिया जाए । फ्राँस सुरक्षा की माँग पूरी करने के लिए यह प्रस्ताव रखा गया कि अभिसमय के हस्ताक्षर-कर्त्ताओं में उस समय परामर्श हुआ करे जब यह आरोप किया जाए कि इसकी शर्त्तें भंग की गई हैं, और इस बात पर बल दिया गया कि ऐसे परामर्श के बाद आवश्यक कार्यवाही करना अपरिहार्य कर्त्तव्य होगा । इन सुझावों का फ्राँस में बड़ा बुरा स्वागत हुआ, और उसके और ब्रिटेन के सम्बन्ध अधिकाधिक बिगड़ते जा रहे थे । अब ब्रिटिश नीति का मुख्य उद्देश्य यह था कि दोनों पक्षों के मतभेदों को दूर करने का यत्न किया जाये । श्री ईडन अब वार्त्ता और स्पष्टीकरण की यात्रा पर रवाना हुए, जिससे १६ अप्रैल को जर्मनी की मूल माँगों में कुछ परिवर्तन हुआ [1] और फ्राँस ने १९ मार्च को एक

१. खास कर, हिटलर ऐसे नियम स्वीकार करने को तैयार था जिनसे एस. ए. और एस. एस. का असैनिक स्वरूप सुनिश्चित बना रहे । इन संगठनों के पास कोई शस्त्र न होंगे और न इन्हें शस्त्रों के उपयोग का अभ्यास कराया जायगा। इन्हें सैनिक शिविरों में भी जमा न किया जाएगा।

पत्र दिया जिस में ब्रिटिश सरकार के सामने यह समस्या सीधे तौर से पेश की गई थी कि वह गारण्टियों के मामले में आगे बढने को तैयार है, या नहीं। उत्तर में उससे यह पूछा गया कि जिस प्रकार की गारण्टियों को फ्रांस परमावश्यक समझता है, उनका स्वरूप क्या है। इसी बीच, जर्मन बजट के जिस में सैनिक व्यय में बड़ी वृद्धि दिखायी गयी थी, आँकड़ों के प्रकाशन से स्थिति पर असर पड़ा। इन आंकड़ों के प्रकाश में अब फ्रेंच सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि कोई भी गारन्टी दी जाए पर हम जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण के किसी प्रस्ताव पर सहमत न होंगे।

इसलिए २६ मई १६३५ को सम्मेलन की जनरल कमेटी की पुनः बैठक कुछ आशाहीन वातावरण में हुई। वहस से बहुत मतभेद सामने आये पर अंतिम समय में समझौता होगया, जिसने सम्मेलन को सचेत बनाये रखा। इसने चार प्रश्नों—प्रादेशिक सुरक्षा करारों, निष्पादन की गारण्टियों, वायुसेनाओं और शस्त्रों के निर्माण व व्यापार—की और अधिक जाँच करने का काम कमेटियों को सौंपा और सरकारों से यह सिफारिश की कि वे सोवियत संघ के इस प्रस्ताव का और अध्ययन करें कि सम्मेलन को एक सर्वथा भिन्न प्रकार के, स्थायी शान्ति संगठन में रूपान्तरित कर दिया जाए, जिसमे निरस्त्रीकरण पर विचार, सुरक्षा पर विचार करने के बाद, किया जाए पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि श्री लिटविनोफ की इस आशय की आलोचना में, जो उन्होंने यह अंतिम सुझाव प्रस्तुत करते हुए की थी, बहुत सच्चाई थी कि किसी एक भी ठोस प्रस्ताव पर, और किसी एक साधारण फारमूले तक पर भी मतैक्य का पूर्ण अभाव था। *बुलेटिन आफ इन्टरनेशनल न्यूज़* मे प्रकाशित एक लेख[1] के शब्दों में,

> निरस्त्रीकरण की सब आशा लुप्त हो गई थी। शस्त्रास्त्रों के परिसीमन की आशा धूमिल हो गई थी और आम पुनः शस्त्रीकरण का भय और इसके सम्भव भयंकर परिणाम दुनिया के मस्तिष्क पर एक धमकी और एक दुःस्वप्न बन गये थे।

वे रणक्षेत्र के अभ्यासों में हिस्सा न लेंगे और स्थायी सेना के अफसरों की कमान या शिक्षा मे न रहेंगे। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि एस. ए. के कमाण्डर कैप्टेन रोम ने १८ अप्रैल को एक भाषण दिया था, जिसमें उस संगठन के महत्त्व पर बहुत बल दिया था और उन लोगों को निर्दयतापूर्वक साफ़ करने की धमकी दी थी जो सरकारी पदों पर थे और नाजी क्रान्ति के समाजवादी पहलू के प्रति अन्धे थे।

१. २ जून, १६३४।

: २१ :

योरोप—जर्मनी का पुनरुत्थान

(Europe—The Resurgence of Germany)

हिटलर का रहस्य

(The Mystery of Hitler)

इस पुस्तक के अन्तिम भाग में जिस काल का वर्णन है, उसमें योरोप के इतिहास और कुछ सीमा तक सारे संसार के इतिहास पर, एक तथ्य छाया हुआ था और वह था एडोल्फ हिटलर के अधिनायकत्व में जर्मन शक्ति का पुनर्जन्म। यह तो शुरू से ही हर कोई, यहाँ तक कि फ्रांस भी, जो जर्मनी के पुनरुद्धार के समय को विलम्बित करने के लिए भरसक और बहुधा भ्रान्त प्रयत्न कर रहा था, मानता था कि जर्मनी से यह आशा नहीं की जा सकती और न करनी चाहिए कि वह वर्साई की संधि द्वारा उस पर लादी गई शर्तों को स्थायी रूप से मानता रहेगा, उसके लिए योरोप की एक महा-शक्ति का स्थान पुनः प्राप्त कर लेना अनिवार्य था। पर यह बात कि यह पुनरुद्धार राष्ट्रीय समाजवाद की देखरेख में हो, और इस प्रकार, उन खतरों को जिन्हें हटाने के लिए, दुनिया १९१४ से १९१८ तक लड़ती रही, दस गुने रूप में फिर पैदा कर दे, अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के अधिकतर प्रेक्षकों के लिए आकस्मिक और पूर्ण आश्चर्य पैदा करने वाली थी। १९२९ में ही बर्लिन-स्थित भूतपूर्व ब्रिटिश राजदूत लार्ड डैबर नोन ने अपनी पुस्तक *'एन एम्बैसेडर आफ पीस'* की पहली दो जिल्दें प्रकाशित की थीं। इस पुस्तक में हिटलर की चर्चा सिर्फ पृष्ठ ५१-२ पर पाद-टिप्पणी में है, जिसमें १९२३ के बावेरिया के विद्रोह में भाग लेने के कारण उसकी गिरफ्तारी और सजा प्राप्ति का उल्लेख करने के बाद इस प्रकार लिखा है : 'अन्त में वह ६ मास बाद रिहा कर दिया गया और उसकी सजा के शेष काल के लिए उसकी जमानतें ले ली गईं जिसके बाद उसे सब भूल गये'। बाद में भी दिसम्बर १९३२ में प्रोफेसर टायनबी ने यह राय प्रकट की थी कि 'बहुत सी बातें अस्पष्ट हो सकती हैं, पर एक बात जिसका आप भरोसा कर सकते हैं, यह है, कि नाजी पतन की ओर हैं'[1]। स्वयं जर्मनी में की गई भविष्यवाणियाँ भी इतनी ही गलत थीं। डाक्टर आर्नोल्ड वोल्फर्स ने, जो उस समय *हाक्सचल फार पालिटिक* में अध्ययन निर्देशक (Director of Studies) थे, नवम्बर १९२९ में रायल *इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेअर्स* में दिये एक भाषण में, जिसमें जर्मनी के राजनैतिक दलों का विस्तार से वर्णन था, हिटलर का कभी उल्लेख नहीं किया और अक्तूबर १९३२ में इसी संस्था के सामने दिये गये एक और भाषण में, १९३० के चुनावों में नाजी पार्टी की सफलताओं और उसके परिणाम-

---

१. इन्टरनेशल अफेअर्स में उद्धृत, मई १९३४, पृष्ठ ३४३।

स्वरूप 'न केवल जर्मनों के बल्कि सारे संसार के विस्मय' की चर्चा करने के बाद यह भविष्यवाणी की थी कि 'मेरे विचार में जर्मनी से एक दल के अधिनायकत्व का खतरा दूर हो गया है'[1]। तो भी जनवरी १९३३ में हिटलर जर्मन राइख का प्रधान मन्त्री हो गया।

फ्यूहरर के जीवन के पिछले १२ वर्षों के संचित साक्ष्य और अनुभव साथ लेकर सिंहावलोकन करते हुए हमें उसके सामर्थ्य के बारे में समसामयिक तखमीनों की भ्रान्तता पर कुछ आश्चर्य अनुभव होना अनिवार्य है। यदि उन लोगों द्वारा प्रस्तुत चित्र में पर्याप्त सचाई थी, जिन्हें हिटलर के व्यक्तित्व का अध्ययन करने का सबसे अच्छा मौका था तो ऊपर से इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस व्यक्ति के बारे में यह आशा कभी नहीं की जा सकती कि वह एक महान् बुद्धिशाली और सुसंस्कृत जाति के स्वीकृत और अत्यधिक सफल शासक के रूप में प्रतिष्ठित हो जाएगा। सब ने उसे हमारे सामने इस रूप में पेश किया कि वह तुच्छ या उपहासास्पद रूप वाला एक आस्ट्रियन है, जो अपने आरंभिक जीवन मे सदा असफल रहा; वह बह जाने वाला, भावुक और संकल्पहीन अल्पशिक्षित और किसी नये या मौलिक विचार से शून्य व्यक्ति है। पर स्पष्टत: उसने जो सफलता प्राप्त की और जो सफलता प्राप्त होने की सीमा तक वह पहुँच गया था, उन्हे देखते हुए हिटलर में राज्यनिर्माता के, और इससे भी बढ़कर, नेतृत्व के, बहुत से गुण अपवाद रूप से अधिक मात्रा में अवश्य रहे होंगे। यदि हम उसकी ईमानदारी, या मानवता की परवाह के पूर्ण अभाव और उन थोड़ी सी, परन्तु घातक गलतियों को, जो उसने कीं, विवेक की भूल कहकर नजरंदाज करदें—जिससे अधिकतम बुद्धिमान व्यक्ति भी नही बच सकते—तो हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि उसमें वास्तविक प्रतिभा का गुण था, चाहे वह प्रतिभा दिव्य न होकर राक्षसी थी। पर्याप्त मात्रा में वास्तविक महानता से असम्पन्न व्यक्ति उन सैनिकों और राजनीतिज्ञो की पूर्ण अनुवर्तिता और निष्ठा प्राप्त नही कर सकता था, जिनकी बुद्धि-कुशलता प्रश्नातीत थी, और जर्मन जनता पर उसका प्रभाव और भी अधिक असंदिग्ध था।

शायद उसमें मौलिकता का अभाव माना जा सकता है, पर आवश्यक नहीं कि यह कोई बाधा ही हो। उसके इस अपने कथन में सचाई थी कि महान् सिद्धांत-निर्माता प्राय: महान् नेता नहीं होता, और 'नये विचार सोच सकने की योग्यता का नेतृत्व की क्षमता से कुछ भी सम्बन्ध नही'[2]। निश्चय ही जर्मनी में उन सिद्धांतों की सफलता में, जिन पर राष्ट्रीय समाजवाद खड़ा था, नवीनता की कमी से सहायता मिली। वे जर्मन जनता की दीर्घकालीन अभिलाषाओं और 'अभिलषित विचारणा' से बिलकुल मेल खाते थे। आर्य कल्पना और इससे उत्पन्न अखिल जर्मनवाद (Pan-Germanism) तथा राज्य में दिव्यता की भावना (quasi-deification) जिस पर नाजी सत्ता खड़ी थी, के मूल सुदीर्घ अतीत की अविकसित जनजातीय सहज वृत्तियों में थे, और उन्हें

१. इन्टरनेशनल अफेअर्स जनवरी १९३०, पृष्ठ ३३, और नवम्बर १९३२ पृष्ठ ७६३, ७६६।

२. मीनकैम्फ, पृष्ठ ६५०।

फ्यूहरर ने सम्भाव्यत: मूल से या जर्मन लेखकों और दार्शनिकों की दीर्घ परम्परा की शिक्षाओं में से संगृहीत किया था। तर्क के सामने तो वे टिक ही नहीं सकते थे, पर धर्म के रूप में वे सब आसानी से स्वीकार्य थे। वह मनोवृत्ति, जो उन्हें स्वीकार करती है, उन सब मौकों पर, जब जर्मनी ने अपने-आप को शक्तिशाली और संगठित समझा है, प्रदर्शित हुई है।

ट्यूटोनिक प्रसार की अस्पष्ट और अपारिभाषित योजनाएँ इस गहरी जमी हुई भावना की अभिव्यक्ति मात्र हैं कि जर्मनी को अपने राष्ट्रीय प्रयोजन की शक्यता और पवित्रता, अपने देश प्रेम के उत्साह······, सार्वजनिक और वैज्ञानिक गतिविधि की प्रत्येक शाखा के सफल अनुशीलन, और अपने दर्शन, कला और आचार शास्त्र के उच्च रूप, के द्वारा जर्मन राष्ट्रीय आदर्शों की सर्वश्रेष्ठता पर बल देने का अधिकार प्राप्त हो गया है, और क्योंकि यह उसके राजनैतिक विश्वास की एक स्वयं-सिद्धि है कि सत्य तभी प्रचलित हो सकता है जब वह बल से पोषित हो, अतः यह विश्वास पैदा हो जाना सरल है 'कि शानदार जर्मन तलवार, जिसका देश-भक्ति से भरे भाषणों में इतना प्रयोग होता है, उन सब कठिनाइयों को हल करने के लिए मौजूद है, जो जर्मन-प्रभावान्वित संसार में उन आदर्शों का शासन स्थापित करने के मार्ग में आएँ।

ये बातें सर आयर क्रो ने ३० साल से अधिक समय पूर्व एक ज्ञापन में[१] लिखी थीं, जो सारे का सारा निश्चायक रूप से यह प्रदर्शित करता है कि हिटलरी जर्मनी के रवैये में कोई नवीनता नहीं थी। पर जब कोई सरकार राष्ट्रीय देशभक्ति के इन भ्रमों का जान बूझ कर फायदा उठाती है, जैसा नाजी जर्मनी ने किया, और उन्हें ऐसा सरकारी विश्वास बना देती है जिसकी आलोचना करना नास्तिकता है तब विश्व की शान्ति को स्पष्ट खतरा पैदा हो जाता है। खास कर, यह स्पष्ट है कि शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का आदर्श जो राष्ट्रसंघ के रूप में था, एक चुनी हुई जाति के विश्व-नेतृत्व के आदर्श से, जो हिटलरवाद का ऐलानिया लक्ष्य था, सर्वथा असंगत था।[२]

यद्यपि इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मीन कैम्फ के लेखक के एक बार सत्तारूढ़ हो जाने पर जनता ने उसके सिद्धान्तों को आसानी से और व्यापक रूप से कैसे स्वीकार कर लिया, पर इससे इस आकस्मिक और अप्रत्याशित सफलता के कारण का बिल्कुल पता नहीं चलता। प्रोफेसर टायन्बी ने यह लिखा है कि नाज़ी विजय से कुछ ही पहले नवम्बर १९३२ में 'मेरी नज़र प्रत्येक चौराहे पर खाकी कमीज़ पहने हुए निराश दिखाई देने वाले नौजवानों पर पड़ी, जो डरते-डरते आने-जाने वालों के सामने दान-पात्र ले जाते थे, और वे राहगीर कुछ भी बिना दिये और उनकी ओर बिना नज़र उठाये अपने रास्ते चलते जाते थे'।[३] उस उपपत्ति को मानना खतरनाक रूप से गलत है, जो इस देश (ब्रिटेन) में बहुत समय से ठीक मानी जाती थी कि हिटलर के अभ्युदय को वर्साई संधि के अन्यायों का, चाहे वे अभिकथित थे या वास्तविक, परि-

---

१. जी० पी० गूच और एच० टैम्पर्ले। ब्रिटिश डाक्यूमेंट आन ओरिजिन्स आफ दि वार, लन्दन, एच० एम० एस० ओ; १९२६-३८ जिल्द (iii), पृष्ठ ३९७। यह 'यूरोप के मित्रों' द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका के रूप में (नम्बर१९) भी प्राप्य है।

२. देखिए मीन कैम्फ, पृष्ठ ४३८।

३. सर्वे ऑफ़ इंटरनेशनल अफेअर्स, १९३३, पृष्ठ १४३।

गुलाम बनाया जा सकता है, और इसीलिए उसके शासन का खतरा वर्साई की संधि (Treaty of Versailles) की उचित शिकायतों के हट जाने पर लुप्त हो जाने की आशा की जा सकती है यह उपपत्ति इस बात की कुछ भी व्याख्या नहीं कर पाती कि वर्षों तक वर्साई की 'ज्यादतियों के खिलाफ व्यर्थ शोर मचाने पर भी वह उपेक्षित और बदनाम बना रहा, और उसके बाद उसे अकस्मात् सफलता मिली।' उसके समर्थकों की संख्या में वृद्धि का अधिक तात्कालिक कारण, जैसा कि अन्यत्र सुझाया गया है, आर्थिक संकट की सहवर्ती निराशा थी, और इसके कारण उससे ठीक पहले वाले पदाधिकारियों को मजबूर होकर शासन के जो अलोकतंत्रीय उपाय अपनाने पड़े, उनकी शुरूआत थी। पर तब भी उसकी अंतिम विजय की पूरी और सतोषजनक व्याख्या नहीं होती। वास्तव में इसका कारण राजनैतिक नेतृत्व का एक लाक्षणिक गुण बताया जा सकता है जो हिटलर में निस्संदेह भरा हुआ था, और वह है जोखिमों का ठीक-ठीक हिसाब लगाने की सहज प्रतीत होने वाली क्षमता, और उसी समय तथा निष्ठुरतापूर्वक कार्यवाही करने के मनोवैज्ञानिक क्षण की अलौकिक स्फुरणा।

नवम्बर १९३२ के साधारण निर्वाचन में नाजी वोटों मे पिछली जुलाई की अपेक्षा बहुत कमी हो गई थी, और जब ३० जनवरी १९३३ को हिटलर प्रधान मन्त्री हुआ, तब उसकी नियुक्ति श्री वोन पेपन (Herr von Papen) द्वारा आयोजित एक राजनैतिक चाल का परिणाम थी। विचार यह था कि या तो उसे संयुक्त मन्त्रिमंडल के दोहरे जुए मे जोत कर दबा दिया जाए, और या उसे शक्तिरहित जिम्मेवारी सौंप कर बदनाम कर दिया जाए। उसके दल को ५८४ के राइखस्टैग (Reichstag) में सिर्फ १९६ स्थान प्राप्त थे और उन राष्ट्रवादियों के साथ मिल कर भी, जिनके साथ, अस्थायी रूप से उसने सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, वह बहुमत नहीं पा सकता था, पर सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद नाजी नेता उसे न छोड़ने के लिए पूर्णतया कृतसंकल्प था। पहले पग हिटलर के पृष्ठपोषक केप्टेन गोएरिंग (Captain Goring) ने उठाये—उसने प्रशा में पुलिस अधिकारी तथा प्रान्तीय अधिकारी ऐसे बना दिये जिन पर भरोसा किया जा सके। उन चुनावों में, जो ५ मार्च १९३३ को होने वाले थे, अपेक्षित सफलता निश्चित रूप से प्राप्त करने के लिए कुछ और भी उपाय करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी, और इस घटना से ठीक पहले के दिनों में किसी उल्लेखनीय घटना की रहस्यमय चेतावनियाँ शीघ्र ही फैल गई।[1] ये साधार सिद्ध हुईं या कम से कम एक उल्लेखनीय संयोग से इनकी पुष्टि हो गई। २७ फरवरी को रात के दस बजे राइखस्टैग (Reichstag) के भवन में आग लगती दिखाई दी। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि यह आग लगाने का काम एक अर्द्धोन्मत्त दिखायी देने वाले डचमैन का कार्य था, जो उसने स्वयं स्वीकार किया। यह आदमी कम्युनिस्ट विचारों का अनुयायी था। पर यह भी सच है कि उसी रात को २ बजे कम्युनिस्ट खतरे से राइख की रक्षा के लिए, एक विशेष आदेश छपे हुए रूप में निकाला गया और जिसके उग्र उपबन्धों को इतनी तत्परता से लागू किया गया कि अगले ही दिन राइख-

१. देखिए जे० डब्ल्यू० वीलर-बेनेट का लेख 'जर्मनी का नया शासन', जो इण्टरनेशनल अफेअर्स, १९३३ में, पृष्ठ ३१५ पर प्रकाशित हुआ है।

स्टैग के सब कम्युनिस्ट सदस्य और प्रशन विधान सभा के उनके राजनैतिक साथी जेल में डाल दिये गए। अगले कुछ दिनों में सैकड़ों प्रमुख "मार्क्सवादी", जिनमें सोशल डैमोक्रेट तथा कम्यूनिस्ट दोनों थे, देश भर में गिरफ्तार कर लिये गये। राइखस्टैग (Reichstag) की आग स्पष्टतः कम्यूनिस्टों के लिए उतनी ही घातक थी जितनी नाजियों के लिए अनुकूल अवसर प्रस्तुत करने वाली थी। इन परिस्थितियों में यह कुछ आश्चर्य की बात है कि आगामी चुनावों में हिटलर के समर्थकों की विजय पहले से अधिक नहीं हुई, क्योंकि नरमदली पक्षों की शक्ति कायम रही और नाज़ी तथा राष्ट्रवादी मिलकर सिर्फ ३३ का बहुमत (६४७ के राइखस्टैग में नाज़ी २८८, राष्ट्रवादी ५२) प्राप्त कर सके। पर यह हिटलर के प्रयोजन के लिए काफी था, क्योंकि २३ मार्च को एक समर्थकारक विधेयक (Enabling Bill) के पारण द्वारा ४ साल के लिए संसदीय शासन का अन्त कर दिया गया और इस अवधि के लिए नाजी पार्टी और उसके नेता को अधिनायकीय शक्तियाँ प्राप्त हो गयीं, और इससे भी पहले आपात आदेश के (emergency decree) अधीन विभिन्न प्रान्तीय सरकारों के ग्लीक्सकैल्टुंग (Gleichschaltung) द्वारा शक्ति केन्द्रित कर ली गयी थी, और ११ जुलाई तक कुछ विरोधी दलों को दबा देने और शेष के स्वेच्छया दिखाई देने वाले विघटन से क्रान्ति पूरी हो गई। इन घटनाओं के बाद यहूदियों का जो विद्रोहजनक उत्पीड़न और निष्कासन हुआ, उसने बाहरी दुनिया को तो स्तम्भित कर दिया, पर जर्मनी के 'आर्यन' क्षेत्रों में वह बहुत लोकप्रिय हुआ।

'मीन कैम्फ' और नाज़ी कार्यक्रम
('Mein Kampf' and the Nazi Programme)

नेशनल सोशलिस्ट पार्टी ने १९२० में जो कार्यक्रम अपनाया था, उसके पहले तीन सूत्रों में इसकी वैदेशिक नीति के जो लक्ष्य बताए गए है, वे निम्नलिखित हैं :—

(i) जर्मन मूल वंश (race) के सब लोगों का आत्म-निर्णय के अधिकार द्वारा एक महान् जर्मनी में संगठन;

(ii) वर्साई और सेण्ट जर्मेन की शान्ति संधियों का निराकरण;

(iii) जनता के भरण-पोषण और अधिक आबादी के बसने के लिए और क्षेत्र प्राप्त करना।

यही बातें हिटलर की *मीनकैम्फ* में निरूपित वैदेशिक नीति की मोटी रूपरेखाएं भी हैं, यद्यपि वह इससे आगे जाता है। सूत्र तीन 'रूस और उस पर निर्भर सीमावर्ती राज्यों' को ही निर्दिष्ट करता है, और अन्तिम उद्देश्य 'विश्व शक्ति या कुछ भी नहीं' है, जिसके लिए प्रारम्भिक प्रसार सहायक-मात्र है, क्योंकि 'विश्व शक्ति' के लिए उस आकार की आवश्यकता है जो इसे इस समय इसके योग्य महत्त्व प्रदान कर सके और इसके नागरिकों को जीवन दे सके।[1] जहाँ तक वर्साई की संधि का सम्बन्ध है, इस शिकायत का, हिटलर के विचार में, प्रचार की दृष्टि से आधारभूत महत्त्व था, और इसका उपयोग यह किया जाना था कि हथियारों की इच्छा जागृत की जाए, प्रतिरक्षा या सुरक्षा की नहीं।

१. मीनकैम्फ, पृष्ठ ७४२।

वर्साई की शान्ति संधि का क्या उपयोग किया जा सकता है ? ··· ··· इनमें से प्रत्येक बात को इस जाति के दिमाग और दिल में इस तरह भर दिया जा सकता है कि अन्ततः ६ करोड़ नर-नारियों के दिल की यह लज्जा और घृणा की साँझी भावना एक जाज्वल्यमान सागर बन जाए, जिस भट्टी में से मज़बूत फौलाद का एक संकल्प पैदा हो, और उससे एक आवाज़ निकले—'हम फिर हथियार लेंगे'[1]।

जहाँ तक पहले सूत्र का सम्बन्ध है, उसमें एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है, जिस में कार्यक्रम की पूर्ति एक उपयोगी मैत्री सम्बन्ध में बाधक बन सकती थी। दक्षिणी टाइरोल 'एक ऐसा खिलौने का घोड़ा है जिस पर यहूदी आजकल असाधारण कौशल से बढ़ता है'। इस प्रकार हिटलर सबसे अधिक दुर्व्यवहार भुगतने वाले जर्मन अल्प-संख्यकों को उनकी किस्मत पर छोड़ देता है। वह उनके बारे में सिर्फ यह टिप्पणी करता है कि 'यहूदियों और हैप्सबर्ग लैजिटीमिस्टों (Legitimists) का जर्मनी के पक्ष में मैत्री की नीति में बाधा डालने में सबसे अधिक स्वार्थ है' (पृष्ठ ७०९) और वह यह लिखता है :

किसी देश के खोए हुए प्रदेश को वापस लेने का प्रश्न सबसे पहले मातृदेश की राजनैतिक स्वाधीनता और शक्ति को पुनः प्राप्त करने का प्रश्न है। हमारी वैदेशिक नीति का प्रथम कार्य यह है कि मैत्री संधियों की चतुर नीतियों द्वारा इसमें सफलता प्राप्त की जाए।[2]

श्री हिटलर ने मीन कैम्फ की वैदेशिक नीति संक्षेप में इस रूप से बताई है जिसे उसने एक राजनीतिक अहदनामा (Political Testament) पुकारा है :

योरप में कभी भी दो महाद्वीपीय शक्तियों का उत्थान न होने दो। जर्मन सीमान्त पर एक दूसरी सैनिक शक्ति संगठित करने के प्रत्येक प्रयत्न को, चाहे वह एक सैनिक शक्ति के योग्य राज्य बनाने के रूप में ही हो, जर्मनी पर आक्रमण समझो, और ऐसे किसी राज्य के, उत्थान को रोकने के लिए, और यदि यह पहले से मौजूद हो तो, इसे विध्वस्त करने के लिए हथियार उठाने को न केवल अपना अधिकार, बल्कि कर्त्तव्य समझो।[3]

यह स्पष्ट है कि ऐसी नीति न केवल राष्ट्रसंघ की युद्धोत्तर प्रणाली के, बल्कि बहुविध शक्ति-संतुलन की युद्ध-पूर्व प्रणाली के भी सर्वथा विरुद्ध है। इसलिए यदि *मीन कैम्फ* श्री हिटलर के वास्तविक लक्ष्य और आशय को प्रस्तुत करती थी, तो योरोप में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए तब तक निकाली गई किसी भी योजना में उसे ठीक से बिठाना असम्भव था। यही इस स्थिति में सब से कठिन बात थी।

पर कुछ लोग, विशेषकर इस देश में, यह समझने वाले थे कि *मीन कैम्फ* उस समय के अविवेक का, जिसे अब त्याग दिया गया है, परिणाम थी, जब इसका लेखक एक गैर-जिम्मेदार आन्दोलनकारी था, और वह १९२० के कार्यक्रम को भी पुराना, तथा वोट लेने के उद्देश्य से बनाया गया घोषणा-पत्र समझते थे, जिस पर अब गम्भीरता से विचार की आवश्यकता नहीं थी। यह सच है कि फ्यूहरर के बहुत से बाद के कथन उसकी पुस्तक में उद्घोषित सिद्धान्तों के सर्वथा विरोधी थे। इस-लिए यह प्रश्न पैदा होता है कि नाजी शासन में जर्मन वैदेशिक नीति के सच्चे रूप

१. वही, पृष्ठ ७१४-१५। इस नारे 'वीरवोलन वीडर वैफन' का अनुप्रासमय रूप ध्यान देने योग्य है।

२. वही, पृष्ठ ७११। यही बात पृष्ठ ६८८ पर दोहराई गई है।

३. वही, पृष्ठ ७५४।

को कौन प्रकट करता था ? इस तथ्य से कि *मीन कैम्फ़* का राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के आधार के रूप में प्रचार अब भी जारी था, शायद निश्चित रूप से इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता : सब धार्मिक पुस्तकों का समय के प्रवाह के साथ, बहुत स्वतन्त्रता से अर्थ लगाया जाने लगता है, और इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण है जिनमें आन्दोलन कार्यों के पिछले कार्यक्रम व्यावहारिक जिम्मेदारी आने पर नरम हो जाते है। जैसा कि टाममूर (Tom Moore) ने लिखा है :

"हमारे उदारवादी जहाँ दो-एक वर्ष सत्तारूढ़ रहते हैं वे फिर अनुदारवादी हो जाते हैं। यह प्रकृति का कैसा अचरज है ?"

इन दोनों में से कौन सी बात ठीक है, यह निश्चय करना कठिन है, और यह कठिनाई राष्ट्रसंघ और निरस्त्रीकरण सम्मेलन से जर्मनी के पृथक् हो जाने की कथा से, जो एक पिछले अध्याय में दी गई है, स्पष्ट हो सकती है, यद्यपि यह बाद में भी लगातार आती रहेगी। यदि यह मान लिया जाए कि जर्मन नीति के उद्देश्य *मीन कैम्फ़* के उद्देश्य और नाज़ी कार्यक्रम के उद्देश्य के सदृश ही थे तो यह स्पष्ट है कि वे शान्तिपूर्ण उपायों से प्राप्त नहीं किये जा सकते थे। हिटलर को स्वयं भी इस बारे में कोई भ्रम नहीं था।

(उसने कहा था) पीड़ित प्रदेश गर्मागर्म विरोध-प्रदर्शनों द्वारा पितृ-देश में वापिस नहीं लाये जा सकते, बल्कि कठोर आघात करने में समर्थ तलवार द्वारा ही लाये जा सकते हैं। इस तलवार का निर्माण करना जनता की सरकार की आन्तरिक नीति का उद्देश्य है : इसके निर्माण-कार्य की रक्षा और युद्ध-कार्य में साझी खोजना, इसकी विदेश नीति का लक्ष्य है।[१]

यह विचार बार-बार दोहराया गया था, उदाहरण के लिए पृष्ठ ७०८ पर और पृष्ठ ७४१ पर। इस धारणा पर हमें राष्ट्रसंघ (League of Nations) जैसी संस्था से, जो विधि-विरुद्ध बल-प्रयोग की इतनी विरोधी थी, शीघ्र पृथक् हो जाने की आशा करनी ही चाहिये थी, और निरस्त्रीकरण सम्मेलन विफल करने के यत्न की सम्भावना भी करनी ही चाहिये थी, क्योंकि प्रतिबन्धहीन प्रतियोगिता की अवस्था में ही जर्मनी पुनः इतना शस्त्रसज्जित होने की आशा कर सकता था कि उसकी ताकत का शक्तिगत राजनीति में प्रभावी रूप से उपयोग किया जा सके। साथ ही हमें पहले ही यह कल्पना न कर लेनी चाहिये कि पर्दा शुरू में ही सारे का सारा हटा दिया जाएगा। इसके विपरीत, सम्भाव्यतः इन कार्यों का दोष दूसरों के कन्धों पर डालने का यत्न किया जाए।

मीन कैम्फ़ की विचारधारा के लोग कहते थे कि हिटलर की नीति से उसके शासन के पहले वर्ष में ठीक यही स्थिति पैदा हो गई थी। इसके विरोधी बाद के महीनों में हिटलर द्वारा पेश किये गये अनुकूल और नरम प्रस्तावों की ओर ध्यान खींचते थे, और यदि उनके निर्वचन को सही, और उनके प्रस्तावों को सचाई से पेश किया गया मान लिया जाय, तो उनका श्री बार्थो पर और कुछ कम मात्रा में ब्रिटिश सरकार पर यह दोष डालना निस्संदेह सही था कि उन्होंने एक सुनहरे और फिर

१. मीनकैम्फ, पृष्ठ ६८६।

वापस न आने वाले मौके को गंवा दिया। दूसरी ओर, यदि असली हिटलर वह था जो उसकी आत्मकथा में दिखायी देता था तो यह उत्तर दिया जा सकता था कि फ़्यूहरर को यह पता था कि उसका वास्ता श्री बार्थो (M. Barthou) और फ्राँस के कानूनी और संदेही मस्तिष्क से पड़ना था। इसलिए इंकारी की सम्भावना तो की ही जा सकती थी, और यदि यह सम्भावना पूरी न होती तो इन प्रतिज्ञाओं से हटने के लिए बहाने ढूंढना कठिन न होता, जो उसी प्रकार के होते जो हिटलर ने बाद में बहुत से अवसरों पर ऐसे प्रयोजनों के लिए पेश किये थे। जो हो, असली स्थिति वह पैदा हो गयी थी जिसके बारे में यह माना जा सकता है कि मीन कैम्फ का लेखक इसी का इच्छुक था। इस प्रसंग में फ़्यूहरर के साथी श्री हैस्स (Herr Hess) द्वारा १९ जून १९३८ को दिया गया भाषण शायद महत्त्वपूर्ण है:

(उसने कहा था) पुरानी लोकतन्त्रीय प्रणाली में वर्साई की संधि के विरुद्ध गुप्त रूप से पुनः शस्त्र-सज्जित होना सम्भव नहीं हुआ, क्योंकि शान्तिवादी दुनिया के सामने ये बातें प्रकट कर देने के लिए सदा तैयार रहते थे। नेशनल सोशलिज्म या राष्ट्रीय समाजवाद ने इन गद्दारों को नजरबन्दी कैम्पों में डाल दिया जो उनका उचित स्थान था। उसके बाद, नेशनल सोशलिस्ट जनता के समर्थन से फ्यूहरर ने पहले गुप्त रूप से, और फिर खुले आम, पुनः शस्त्र-सज्जित होने का, लामबन्दी पुनः लागू करने का, राइनलैंण्ड पर कब्जा करने का, और पश्चिमी सीमान्त को दृढ करने का साहस किया।

निस्संदेह, अब हिटलर के वास्तविक लक्ष्य और नीति विवाद के विषय नहीं हैं। नूरेम्बर्ग के मुकदमे में और अन्य स्थानों पर युद्ध के बाद से जो साक्ष्य प्रस्तुत किया गया, उसने उन पर बहुत प्रकाश डाला है, और वे अब बिल्कुल स्पष्ट रूप में सामने आ गये हैं। पर जिस समय की बात से यहाँ हमारा सम्बन्ध है, उस समय और उसके बहुत बाद तक फ़्यूहरर के इरादों के बारे में दो विरोधी निर्वचनों की उपस्थिति एक ऐसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में अवश्य दर्ज की जानी चाहिए, जिसका बाद की अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर बहुत प्रभाव पड़ा।

योरोप में प्रतिक्रियाएँ
(Reactions in Europe)

१. चार-देशीय संधि (The Four-Power Pact)

यह स्वाभाविक था कि ऐसे जर्मनी के पुनः अभ्युदय की, जो *मीन कैम्फ* और नाजी कार्यक्रम के आदर्शों से अनुप्राणित समझा जाता था, योरोप में अविलम्ब प्रतिक्रियाएँ पैदा हों। इन में से सबसे महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया यह हुई कि योरोप महाद्वीप में राष्ट्रों के सम्बन्ध आश्चर्यजनक नये रूपों में आ गये, जो हिटलर के शासन के पहले दो वर्षों में मुख्य रूप से दिखाई दिये, पर इससे भी पहले यह स्पष्ट संकेत मिल गया था कि जर्मन अभ्युदय का योरोप के संगठन पर जो प्रभाव होने की सम्भावना है, उसे शीघ्र ही महसूस किया जाएगा। १८ मार्च १९३३ को निरस्त्रीकरण सम्मेलन के दिनों में एक मौके पर मुसोलिनी ने रोम में श्री रैम्जे मैकडोनल्ड और सर जॉन साइमन के सामने एक नयी परियोजना रखी, जो कुछ समय से उसके उपजाऊ मस्तिष्क में अंकुरित हो रही थी। निस्संदेह यह पूछा जा सकता है कि उस समय जो बातचीत

हुई, क्या उसका जर्मनी में सरकार के परिवर्तन से दैवी सम्बन्ध की अपेक्षा बहुत अधिक सम्बन्ध था। डूचे की यह विशेषता थी कि वह महाशक्तियों की श्रेणी के, जिसमें इटली ने अपनी कष्टोपार्जित स्थिति स्थापित कर ली थी, और सामान्य देशों के बीच स्पष्ट प्रभेद करने में विश्वास करता था, फ़ासिस्ट होने के नाते उसे राष्ट्रों की समता जैसे सिद्धान्त में कोई वास्तविक विश्वास नहीं था। उसकी राय से, राष्ट्रसंघ इस कारण कोई कार्यवाही करने में पंगु था कि उसे ५० से अधिक सदस्य-राज्यों के ऐकमत्य की आवश्यकता थी; निरस्त्रीकरण के मामले में ऐसा ऐकमत्य होना उसे न केवल कठिन, बल्कि निरर्थक प्रतीत होता था। चार महान् योरोपीय शक्तियों के मध्य शान्ति की स्थापना के बारे में या उनके शस्त्रास्त्रों के बारे में विश्वास-योग्य संधि अधिक आसानी से होनी संभव थी, और युद्ध के उस एकमात्र प्रकार को जो वस्तुत: विश्व सभ्यता को खतरा पैदा कर रहा था, दूर रखने का कम से कम उतना ही प्रभावी उपाय हो सकती थी। यह विचार उसने तूरिन (Turin) में दिये गये एक भाषण में अक्तूबर १९३२ में ही पेश किया था और संभाव्यत: उसी श्रेणी की अन्य शक्तियाँ भी अधिकांशत: यही विचार रखती थीं।

पर इटली को, खास कर नाजी नियंत्रण के अधीन जर्मनी के पुनरुत्थान के बाद, निश्चय हो गया था कि शान्ति का बने रहना शान्ति संधियों के संशोधन पर निर्भर है। इस समय उसका संशोधन का समर्थन सचमुच शान्ति की इच्छा—विशेष रूप से फ्रांस और जर्मनी के मध्य शान्ति, जिनके मध्य संघर्ष से मैत्री संधि की टेढ़ी समस्याएँ खड़ी हो जातीं—पर आधारित था। इस प्रेरक भाव ने अपेक्षित संशोधन का क्षेत्र छोटा कर दिया। युद्ध के तत्काल जोखिम पैदा करने की दृष्टि से न तो हंगरी-आस्ट्रिया की और न बल्गारिया की ही शिकायतें वस्तुत: महत्त्वपूर्ण थीं। मुसोलिनी के मन में संशोधन प्रथमत: जर्मनी के हित में संशोधन था और यह भी एक खास दिशा में, क्योंकि डूचे यह कभी नहीं चाहता था कि दक्षिणी टाईरोल (South Tyrol) छोड़ दिया जाय, या जर्मनी को आस्ट्रिया के साथ संघ बना कर ब्रेनर दर्रे के सम्पर्क में लाया जाए। इस बात को समझ लेना बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि व्यवहारत: इसका अर्थ यह था कि प्रस्तावित नीति का वास्तविक खतरा उस दिशा में इटली से अधिक से अधिक दूर हट जाता और इसलिए सिर्फ एक राष्ट्र पोलैण्ड को पोलिश गलियारे (Corridor) और पोलिश-साइलीशिया के बारे में प्रभावित करता।

शायद यह प्रतीत होगा कि महाशक्तियों का अपेक्षित नेतृत्व उनकी उस प्रधान स्थिति से काफी तौर से कायम था, जो इन शक्तियों को राष्ट्रसंघ की परिषद् में प्राप्त थी, पर पोलैंड के सिर पर संधि संशोधन करने के बारे में परिषद् में विचार करने से स्पष्टत: यह हानि थी कि यह उस मुख्य विरोधी की उपस्थिति में किया जाता जिसकी सम्मति जितनी अप्राप्य थी उतनी ही आवश्यक भी थी। डूचे के मन में फ्रांस, जर्मनी, इटली और ब्रिटेन के मध्य संधि का प्रस्ताव रखते हुए मुख्य विचार ऐसे ही रहे प्रतीत होते हैं—इस संधि का 'साधारण प्रयोजन शान्ति था और इसकी बड़ी और प्राय: एकमात्र, विवरण की बात संधियों का संशोधन था'[1]। मुसोलिनी

---

१. श्री रैम्जे मैकडोनल्ड, ब्रिटिश लोकसभा, २३ मार्च १९३३।

की दृष्टि में एक ऐसे परामर्शकारी निकाय का बड़ा लाभ यह होता कि इसमें फ्राँस अपने संशोधन-विरोधी साथियों से पृथक् हो जाता और उसे दो, सुनिश्चित रूप से संशोधन-पक्षपाती शक्तियों का सामना करना पड़ता, और उसे अपने पक्ष में सिर्फ ब्रिटेन का सहारा रह जाता जिसके इस विषय पर विचार पूरी तरह पोलैण्ड के पक्ष में नहीं थे। ऐसी परिस्थितियों में यह प्रतीत हो सकता है कि इस योजना में फ्रेंच सहमति की सम्भावनाएँ आशाजनक नहीं थीं—और सम्भवतः इसी कारण सबसे पहले पृथक् रूप में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से चर्चा छेड़ी गयी—पर फ्राँस इस प्रस्ताव पर सीधी ना नहीं कर सकता था, क्योंकि इस प्रकार इटली और जर्मनी में सुनिश्चित रूप से फ्राँस-विरोधी साहचर्य बन जाने का भय था।

यदि इटालियन योजना का लक्ष्य, अन्तर्राष्ट्रीय प्रसादन (appeasement) था, तो इस सुझाव की जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, उनसे इसके प्रस्तावक को अवश्य निराशा हुई होगी। इससे तत्काल एक बड़ा तीव्र तूफान खड़ा हो गया जो इस कारण और भी अधिक कटु था कि योजना का प्रामाणिक विवरण उस समय अप्राप्य था और इसलिए अटकलबाज़ी के लिए बहुत गुन्जायश थी। लघुदेश संधि (Little Entente) की स्थायी परिषद् ने खरे शब्दों में एक विरोध-पत्र जारी किया, जिसे न केवल इन तीन देशों के बल्कि पोलैंड और फ्रांस के अखबारों ने भी और अधिक स्पष्ट भाषा में दुहराया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने तुरन्त यह कहा कि वे प्रस्ताव मूलरूप में सर्वथा अस्वीकार्य हैं, और श्री दलादिए (M. Daladier) ने, यद्यपि वे अप्रत्याशित रूप से शान्त और नम्र थे, फ्रांस की ओर से ऐसी ही आपत्तियां उठायीं। इन परिस्थितियों मे वह संधि ऐसी रीति से व्यर्थ हो गई कि वह अहितकर भी न रही और उसका सारा वास्तविक प्रयोजन या सार्थकता भी समाप्त हो गई। इस प्रकार संशोधित होने पर इसने लघुदेश संधि शक्तियों की आपत्तियाँ और प्रस्तावित पक्षों की आपत्तियाँ भी, जिन्होंने ६ जून को इस पर हस्ताक्षर कर दिये, दूर कर दीं।

२. पोलैण्ड
(Poland)

पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि इस प्रस्ताव से पोलैंड के मन में जो संदेह पैदा हो गये थे, और जो पूरी तरह दूर नहीं हुए थे, उनका वह प्रथम परिवर्तन कराने में, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, महत्त्वपूर्ण योग था। २६ जनवरी १९३४ को संसार पोलैंड और जर्मनी के मध्य संधि की घोषणा से चकित रह गया, जिसके अनुसार १० वर्ष के लिए दोनों पक्षों ने अपने मतभेद निबटाने में बल-प्रयोग का त्याग कर दिया था। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि पोलैंड में इस तथ्य के बावजूद इस समझौते को गम्भीरता से लिया गया कि इसके निबंधन (terms) उन वचन-बन्धों को, जो दोनों राष्ट्रों ने केलोग पैक्ट के हस्ताक्षरकर्त्ताओं के रूप में किए हुए थे, समय की दृष्टि से सीमित-मात्र करते थे। इस अप्रत्याशित घटना से पहले कुछ हल्कों में यह संदेह पैदा हुआ कि कोई गुप्त समझौता किया गया है, जिसके अनुसार पड़ौसी देशों के सिर पर एक या दोनों पक्षों को राज्य-क्षेत्र-संबंधी

परिवर्तनों के लिए क्षतिपूर्ति की जाएगी[1] पर उस समय काम कर रहे संभाव्य बल, के बारे में अब कम कुटिल विचार बनाना सम्भव है। हिटलर के सत्तारूढ होने तक पोलेंड के सबसे अधिक सम्भाव्य शत्रु-जर्मनी और सोवियत संघ १९२२ की रेपैलो सधि (Treaty of Rapallo) के बाद से लगातार उसी पक्ष मे रहे थे। युद्धोत्तर पोलैण्ड द्वारा अधिकृत राज्य-क्षेत्र मुख्यत: जर्मनी और रूस के भूतपूर्व प्रदेशों से बनाया गया था और इन दो शक्तियों के शत्रु रूप में मिल जाने से यह खतरा था कि शायद सारा देश टूट कर अपने पहले घटकों मे विच्छिन्न हो जाए। इन परिस्थितियों में पोलिश नीति के लिए एकमात्र सम्भव मार्ग यह था कि वह फ्रेंच मैत्री से और उस सुरक्षा से जो राष्ट्रसंघ से मिल सके, चिपटा रहे, चाहे ऐसी निर्भरता राष्ट्रीय गौरव के लिए कितनी ही अरुचिकर हो। जर्मनी के प्रबल बोलशेविक विरोधी बन जाने पर जिसके 'रूस और सीमावर्ती राज्यों, पर प्रसारात्मक उद्देश्यों की खुलेआम उद्घोषणा की जाती थी, स्थिति आमूलचूल परिवर्तित हो गई, और अब खतरा एक सर्वथा भिन्न प्रकार का था। जर्मनी के पुन: प्रदेश प्राप्ति के कार्यक्रम (irredentism) से पोलैण्ड को जो खतरा था, उसके अलावा भी, यह स्पष्ट था कि जर्मनी और सोवियत संघ में संघर्ष होने पर पोलिश प्रदेश का रणभूमि के रूप में उपयोग होना निश्चित था। दूसरी ओर, अब एक शक्तिशाली और सम्भाव्यत: विरोधी पड़ोसी को दूसरे से लड़ाना सम्भव था, और फ्रांस की मैत्री, यद्यपि इसे पूर्णतया छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी, अब कम महत्त्वपूर्ण रह गई थी, खास कर इस कारण कि अब फ्रांस आरम्भिक युद्धोत्तर वर्षों की अपेक्षा बहुत दुर्बल था। क्योंकि जर्मनी के सब प्रसारात्मक लक्ष्यों की पूर्ति का यत्न एक ही समय नहीं किया जा सकता था, इसलिए वह अस्थायी निश्चितता प्राप्त हो सके तो अच्छा ही था जिसकी पोलीफेमस (Polyphemus) ने यूलीसस (Ulysses) से प्रतिज्ञा की थी—कि तुझे सब से अन्त में खाऊँगा। ऐसी व्यवस्था जर्मनी को भी स्वीकार्य थी क्योंकि इससे निवारक युद्ध की सम्भावना कम होती थी, और वह अभी युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था; यद्यपि उसके अन्तिम लक्ष्य बिना आक्रमण के अप्राप्तव्य थे। पर वह इसके बिना अपने कार्य का आरम्भ कर सकता था, क्योंकि सार का जर्मनी में फिर मिल जाना उसके चुप रहने पर अधिक सम्भावित था, और पोलैण्ड की अस्थायी निश्चिन्तता से उसे डैन्यूब के विक्षुब्ध क्षेत्र में आत्मनिर्णय के नाम पर शिकार खेलने के अधिक आशाजनक कार्य में अधिक स्वतन्त्रता मिल जाती थी। पोलैण्ड को भी राष्ट्रसंघ की परिषद् से जर्मनी के हट जाने से अपने कुछ भयों से छुटकारा मिल गया और अपने पूर्वी पडोसी के साथ पहले ही ऐसा समझौता हो जाने से उसने यह अनुभव किया कि इस नये करार से इस समय प्राप्य सर्वोत्तम सुरक्षा मिलती है और फ्रांस को अपनी मैत्री की सुरक्षा के बारे में चिंतित करने में कोई हानि नहीं—और संधि के प्रकाशन से यह उद्देश्य निश्चित रूप से सिद्ध हो गया। फ्रांस में जो गलतफहमियां पैदा हुईं, उनका सचमुच औचित्य था। यद्यपि वह यह समझता था कि गलियारे

---

१. यह संदेह मार्च १९३८ में अस्थायी रूप से फिर पैदा हो गया जब कि पोलैंड ने लिथुआनिया (Lithuania) को अल्टीमेटम दिया, पर स्पष्टतः यह गलत बुनियाद पर था।

(Corridor) का सवाल सिर्फ बन्द पड़ा है, और वह बीच-बीच में फ्रेंच मैत्री के बने रहने पर बल देता था पर पोलैण्ड में लोकमत के शीघ्र ही अधिकाधिक जर्मन-पक्षपाती और फ्रेंच-विरोधी होने के चिह्न दिखाई देने लगे थे—इस प्रवृत्ति को स्थानीय सामी-विरोध (Anti-Semitism) और पोलिश सरकार के स्वरूप से प्रोत्साहन मिला। तथ्य तो यह है कि इस तिथि से हम उस पोलिश नीति का आरम्भ देख सकते हैं, जिसे उसने शीघ्र ही खुलेआम मानना शुरू कर दिया, कि पोलैण्ड 'शान्ति' का बाड़ा है, अर्थात् वह राष्ट्रसंघ की प्रसविदा के अधीन सामूहिक सुरक्षा के दायित्वों के मुकाबले जर्मनी और रूस के मध्य तटस्थ अन्तराल राज्य का रूप पसद करता है।

३. लघुदेश संधि
(The Little Entente)

नाज़ी जर्मनी के उदय का लघु देशों के संगठन पर स्वभावतः दुर्वलताजनक प्रभाव हुआ। यह संगठन, जैसा कि पाठकों को स्मरण होगा, मुख्यतः आस्ट्रो-हंगेरियन संशोधन पक्षीय विचारधारा (Revisionism) के लिए रुकावट के रूप में गठित किया गया था—इसमें ही तीनों साझियों का समान हित था। जर्मन प्रसार सिर्फ चैकोस्लेवाकिया के लिए सीधा खतरा था, शेष दो साझियों के लिए जर्मन शक्ति की वृद्धि कुछ मात्रा तक स्वागत-योग्य हो सकती थी क्योंकि वह उन दो संभावी शत्रुओं की शक्तियों को प्रतितुलित करती जिनसे वे क्रमशः भय खाते थे। बैसरैबिया के प्रश्न ने सोवियत संघ को रूमानिया के लिए एक स्थायी कांटा बना दिया था और इसलिए उसे अब यह सोच कर कुछ सांत्वना मिल सकती थी कि रूस के विरुद्ध उसके स्वार्थ और जर्मनी के स्वार्थ अब एक ही थे। यूगोस्लाविया डेन्यूब नदी-क्षेत्र में इटालियन प्रभाव के विस्तार को और आस्ट्रिया तथा हंगरी के साथ इटली के घनिष्ठ संरक्षणकारी सम्बन्धों को भय और शत्रुता के साथ देखता रहा था। इसलिए उसके वास्ते जर्मन प्रभाव ब्रेनर तक विस्तृत हो जाने की संभाव्यता सर्वथा अरुचिकर नहीं थी। सच तो यह है कि लघु देश संधि के तीन साझियों ने अपनी एकता का फौरन दोबारा ऐलान किया, पर इन अतिरंजित विरोध-प्रदर्शनों से बाहरी दुनिया को विश्वास न जमा। अब संयुक्त मोर्चा किसी स्पष्ट संयुक्त हित पर आधारित नहीं प्रतीत होता था।

४. फ्रांस
(France)

उपर्युक्त योरोपीय मैत्री परिवर्तनों पर आधारित विचारों ने तथा रूसी नीति के उस परिवर्तन ने, जिसका आगे उल्लेख किया गया है, फ्रेंच विदेश मंत्री श्री बार्थो को अपने देश की मौजूदा प्रतिरक्षा व्यवस्थाओं को दृढ़ करने, और नयी प्रतिरक्षा व्यवस्थाएँ निर्मित करने की दिशा में कठोर प्रयत्न करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने अपने कार्यक्रम के पहले भाग को १९३४ की गर्मियों के शुरू में वार्सा, प्राग, बुखारेस्ट और बेलग्रेड की यात्राएँ करके पूरा करने का यत्न किया। दूसरे भाग ने पारस्परिक गारंटी की पूर्वी संधि के लिए लोकार्नो करारों के अनुकरण पर की गयी प्रस्थापना का रूप लिया, और यह आशा की जाती थी कि इसके बाद यूरोप के अन्य भागों में ऐसे ही प्रादेशिक समझौते हो जाएँगे। पूर्वी संधि के लिए प्रस्तावित पक्ष थे सोवियत रूस, बाल्टिक राज्य, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया और जर्मनी। योजना का यह एक अवि-

भाज्य भाग था कि सोवियत संघ राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करे और उसे सदस्य बनाया जाए। रूस को रूसी सीमान्तों की फ्रांसीसी गारन्टी के बदले में मौजूदा लोकार्नो सन्धियों से भी सम्बद्ध किया जाना था।

श्री बार्थो को इस तथ्य से प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला हो सकता है कि पारस्परिक गारंटी का एक और करार, चाहे वह कम महत्त्व का था, हाल में ही हुआ था। ९ फरवरी १९३४ को एथेन्स में ग्रीस, यूगोस्लाविया, रूमानिया और तुर्की के प्रतिनिधियों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये थे जिसके अधीन संधिकर्त्ता पक्षों ने परस्पर अपने बाल्कन सीमान्तों की गारंटी देना, अपने हितों को प्रभावित करने वाले मामलों पर मिलकर परामर्श करना, पहले विचार-विनिमय किये बिना अहस्ताक्षरकर्त्ता बाल्कन देश के प्रति कोई राजनैतिक कार्यवाही न करना, और हस्ताक्षरकर्त्ताओं की साधारण सम्मति के बिना ऐसे देशों के प्रति राजनैतिक दायित्व न ग्रहण करना स्वीकार किया था। इस बाल्कन करार का प्रभाव निश्चित रूप से संशोधन-विरोधी था, और बलगेरिया को यह प्रतिकूल पड़ता था। इसलिए उसने इसमें शामिल होने से इंकार कर दिया और अलबानिया सम्भाव्यतः इस कारण शामिल नहीं हुआ कि इटली उस व्यवस्था से असंतुष्ट था जिससे संशोधन में बाधा पड़ती थी और खास कर उन बलगेरियन दावों की पूर्त्ति असंभव हो जाती थी जिनके प्रति इटली हमदर्दी रखता था। इस प्रकार, बलगेरिया को समर्थन के लिए अन्यमुखापेक्षी बना देने के कारण यह समझा जा सकता है कि करार ने अपना मुख्य प्रत्यक्ष उद्देश्य, अर्थात् दक्षिण-पूर्वी योरोप को किसी भी महाशक्ति पर निर्भर होने से छुड़ा देने, को व्यर्थ कर दिया[1] तो भी यह उस प्रकार के प्रादेशिक समझौते अस्तित्व में आने का एक उदाहरण था जिन्हें श्री बार्थो करने के लिए यत्नशील थे।

ब्रिटेन और इटली ने फ्रेंच योजना का इस धारणा पर स्वागत किया कि यह बिल्कुल पारस्परिकता के आधार पर होगी। यद्यपि इन दोनों राष्ट्रों ने अपने ऊपर कोई नये दायित्व लेनें से इंकार कर दिया, पर यह पोलैंड और जर्मनी के विरोध से भंग हो गया। पोलैंड को, जो अपने जर्मन समझौते से अस्थायी रूप से अधिक आश्वस्त अनुभव कर रहा था, यह प्रतीत होता था कि उसके दायित्व बढ़ जाएँगे और उसकी सुरक्षा में कोई सारभूत वृद्धि नहीं होगी, और इसमें जर्मन या रूसी सेनाओं के उसके प्रदेश में से गुज़रने की सम्भावना हो जाती थी, और वह इस सम्भावना से बचने के लिए कृतसंकल्प था। जर्मनी ने हिटलर के अभ्युदय के बाद से प्रस्तावित ढंग की बहुपक्षीय संधियों में शामिल होने से सदा इंकार किया था, यद्यपि पोलिश नमूने के द्विपक्षीय करारों में शामिल होने की इच्छा उसने प्रकट की थी। नाज़ी परराष्ट्रनीति के साधा-

१. बाद में यह मुख्य उद्देश्य सर्वोपरि हो गया। ३१ जुलाई १९३८ को बलगेरिया और बाल्कन संधि वाले देशों में एक समझौता हुआ जो बलगेरिया को संधि में शामिल करने में बड़ा सहायक हो गया और जिसने उस देश को नेविली (Neuilly) की शान्ति संधि के सैनिक प्रतिबंधों से मुक्त करके यह प्रदर्शित कर दिया कि बाल्कन में अब बलगेरियन आक्रमण से भय नहीं था। जर्मन प्रभुत्व का भी ऐसा ही लाभकारक परिणाम हुआ और लघु देश संधि वाले देशों तथा हंगरी के मध्य सम्बन्ध सुधर गये—उन्होंने २३ अगस्त १९३८ को एक समझौता करके बल-प्रयोग का त्याग करने और हंगरी का पुन:शस्त्रीकरण होने की घोषणा की थी।

रण रूप के बारे में किसी का जैसा विचार हो, उसके अनुसार, इस रुख का अलग-अलग अर्थ लगाया जा सकता है। सम्भाव्यतः जर्मनी का, करार की अभिकथित पारस्परिकता पर अविश्वास करना बिल्कुल ठीक था। यह कल्पना करना सुगम नहीं था कि सोवियत संघ या चकोस्लोवाकिया नाजी जर्मनी की ओर से लड़ेंगे। दूसरी ओर यह धारणा करना भी कठिन था कि जर्मनी इन देशों के आक्रमणों का शिकार होगा। रूस अपने आन्तरिक विकास में अति व्यस्त था जिसके लिए शान्ति की दीर्घ अवधि अपेक्षित थी और जहाँ तक वह दूसरे देशों के मामलों में तब भी दखलंदाजी कर सकता था, वहाँ उसका हथियार विध्वंसक प्रचार था, सशस्त्र बल नहीं। पहले ही महाद्वीप के समान लम्बे-चौड़े प्रदेश वाला वह किसी अन्य राष्ट्र के प्रदेश पर अधिकार करने के लिए लोलुप नहीं प्रतीत होता था। जहाँ तक और प्रस्तावित साझियों का सम्बन्ध है, उनके शान्तिवादी इरादों पर तर्कसंगत रूप से कोई आपत्ति नहीं की जा सकती थी। प्रस्तावित करार की तुलना एक भेड़िये और कुछ भेड़ों और एक भैंस के मध्य वाले करार से की जा सकती है। यदि भेड़िया इसमें शामिल होने का इच्छुक नहीं तो इसका कारण यह बताया जा सकता है कि उसे इससे कोई स्पष्ट लाभ नहीं हो सकता, पर यदि यह माना जाय कि उसका मांस-भक्षी स्वभाव जैसे का तैसा है तो स्पष्टतः वह भी द्विपक्षीय समझौते पसंद करेगा जो सिर्फ उसके सद्भाव पर निर्भर होंगे, और यदि वह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने का फैसला करे तो ऐसी अवस्था में एक शिकार दूसरे से पृथक् हो जाएगा।

इस प्रकार श्री बार्थो ने जर्मनी की प्रतिरक्षात्मक घेराबन्दी की अपनी योजना को पूरा करने में स्वयं को असमर्थ पाया। सच तो यह है कि उस वर्ष के उत्तरार्द्ध में उस समय उन्हें एक और भी अधिक आशाजनक विकल्प सूझ रहा था। जब आस्ट्रिया में घटित घटनाओं ने, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा, कुछ समय के लिए इटली की प्रबल शक्ति को जर्मन-विरोधी पक्ष में लाकर खड़ा कर दिया था, तब इस नई दिशा ने फ्रांस के एक पहले वाले मित्र, यूगोस्लाविया, की निष्ठा के हट जाने का गम्भीर खतरा पैदा कर दिया। यूगोस्लावों की निगाह में, जिन्हें दो बुराइयों में से एक चुननी थी, डैन्यूब के प्रदेश में फ्रान्स और इटली के नेतृत्व की अपेक्षा जर्मन नेतृत्व अधिक अच्छा प्रतीत होता था। इन विसंवादी मैत्री सम्बन्धों (discordant alliances) में सामंजस्य लाने की समस्या पर ही श्री बार्थो १९३४ के पतझड़ में विचार कर रहे थे। ९ अक्तूबर को यूगोस्लाविया का राजा एलेक्जेण्डर अपेक्षित समझौता वार्ता करने के उद्देश्य से मार्शेल्स उतरा। श्री बार्थो उस से मिले और कुछ ही मिनट बाद ये दोनों आदमी एक क्रोशियन हत्यारे के हाथों मारे गये। यह अप्रत्याशित आतंकपूर्ण कार्य योरोप की शान्ति के लिए आसानी से घातक सिद्ध हो सकता था। इससे जो जोश पैदा हुआ, उससे यूगोस्लाविया के और हंगरी तथा इटली के मध्य गंभीर तनाव पैदा हो गया—हंगरी और इटली पर यह विश्वसनीय सन्देह किया जाता था कि वे उस तरह के आतंकवादी संगठनों को, जिस तरह के एक संगठन से इस अपराधी का सम्बन्ध था, प्रोत्साहन नहीं तो आश्रय तो देते ही थे। सौभाग्य से खतरे की गम्भीरता शीघ्र ही अनुभव कर ली गयी। जब दिसम्बर में यह मामला राष्ट्रसंघ

के सामने आया, तब सबकी सम्मति से इटली द्वारा किये गये कार्य को विचार-कोटि से बाहर कर दिया गया और हंगरी को मुख्यत: श्री ईडन की चतुराई से, उतनी थोड़ी सी निन्दा स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया गया, जिस से यूगोस्लाव भावनाओं की संतुष्टि हो जाए ।

५. सोवियत संघ
(The Soviet Union)

श्री बार्थो की योरोप के संगठन के लिए जो आकांक्षापूर्ण योजनाएँ थी, उनका शेषांश फ्रान्स और सोवियत रूस के बीच मेल-मिलाप था । नाज़ी जर्मनी के अभ्युदय से जो नीति-परिवर्तन हुए थे, उनमें शायद सबसे अधिक आश्चर्यजनक रूसी रुख में परिवर्तन था । युद्ध के बाद के आरम्भिक वर्षों में सोवियत सरकार, जिसका विजेता शक्तियों ने बहिष्कार तथा सक्रिय विरोध किया था, स्वभावत: जर्मनी की ओर झुक गई थी, और उनकी मैत्री के पहले संकेत १९२२ की रेपैलो संधि (Treaty of Rapallo) में दिखायी दिये थे । पोलैण्ड और रूमानिया के साथ फ्रांस के मैत्री-सम्बन्ध का स्वाभाविक परिणाम यह भी था कि रूस और फ्रान्स में वैमनस्य हो जाए— पोलैण्ड और रूमानिया दोनों के पास ऐसे प्रदेश थे, जिनके कारण उन्हें रूस की शत्रुता का खतरा या भय था । फ्रांस और रूस के बीच तनाव के लिए एक और कारण यह था कि फ्रांस मे बहुत सारे क्रान्ति-विरोधी उत्प्रवासियों ने शरण ले रखी थी। निरस्त्रीकरण सम्बन्धी आरम्भिक आयोग (Preparatory Commission on Disarmament) की चर्चाओं में, और सम्मेलन की आरम्भिक अवस्थाओं में भी, जर्मनी और सोवियत संघ की नीति का यह संयुक्त आधार था कि वे विजेता शक्तियों के शस्त्रास्त्रों में प्रचुर कमी कराने का प्रयत्न कर रहे थे । इस समय फ्रेंच विचार की, जो पहले सुरक्षा और पीछे निरस्त्रीकरण की बात रखता था, रूसी प्रतिनिधिमण्डल ने सबसे अधिक खरी आलोचना की थी । सोवियत संघ की भाषा और रवैय्या राष्ट्र संघ के प्रति और भी कटुतापूर्ण था, जिसे वह विश्व पूँजीवाद के बलों का एक घृणित और खतरनाक संघ समझता था । तो भी, यह कथन पूर्ण सत्य सिद्ध हुआ कि 'परिस्थितियाँ मामलों को बदल देती हैं' । हिटलर के सत्तारूढ़ होने के शीघ्र बाद, रूस ही कुछ समय तक फ्रांस का घनिष्ठतम और सबसे अधिक शक्तिशाली मित्र बना, और वह न केवल राष्ट्रसंघ का सदस्य बल्कि इसके सिद्धान्तों का सबसे प्रबल समर्थक भी होगया ।

इस परिवर्तन के तीन मुख्य कारण थे जिनमें से दो नये थे, और एक कुछ साल पुराना था । दो नये कारण थे जापान की ओर से खतरा और हिटलर का अभ्युदय । पूर्वी एशिया में हमले का खतरा स्वभावत: रूस के पश्चिमी सीमान्तों को अपने सब पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्ण समझौते करके सुरक्षित करने का यत्न करने के लिए प्रेरित करता था । इन परिस्थितियों में सोवियत संघ ने १९३१ और १९३२ में फ्रांस, पोलैण्ड, एस्टोनिया, फिनलैण्ड और लैटविया के साथ कई तटस्थता और अनाक्रमण की संधियां कीं। बैस्सरेबियन प्रश्न के कारण अब भी रूमानिया के साथ ऐसा समझौता नहीं हो सकता था । सोवियत संघ ने दिसम्बर १९२५ और अक्तूबर १९२७ के मध्य

तटस्थता और अनाक्रमण की बहुत सी संधियां जिस प्रेरक कारण से की थीं, इन संधियों का प्रेरक कारण उससे सर्वथा भिन्न था, क्योंकि इनका प्राथमिक आशय लोकार्नो संधियो के प्रभाव को दूर करने के लिए एक ऐसी प्रतिस्पर्धी प्रणाली की स्थापना करना था जो मास्को पर केन्द्रित हो। इस प्रकार की पहली सधि पर सोवियत संघ और तुर्की के प्रतिनिधियों ने १७ दिसम्बर १९२५ को हस्ताक्षर किये। अगले वर्ष जर्मनी, अफगानिस्तान और लिथुआनिया के साथ वैसे ही समझौते किये गये। ईरान को इस प्रणाली में अक्तूबर १९२७ में शामिल किया गया। योरोपीय संधियाँ ५ साल के लिए थीं और एशियाई ३ साल के लिए।

१९२९ के लिटविनोफ प्रोटोकोल में शामिल होने के लिए जो वार्ता हो रही थी, उसकी अब दूसरी मंजिल आ गयी—इस प्रोटोकोल का मुख्य अभिप्राय बाल्टिक राज्यों को पोलैण्ड के बजाय सोवियत संघ की छत्रछाया मे केलोग पैक्ट स्वीकार कराकर पोलिश कूटनीतिक प्रयत्नों की पेशबन्दी करना था। यह अभिप्राय तब अंशतः व्यर्थ हो गया जब प्रोटोकोल पर पोलैण्ड, उसके बाल्टिक पडोसियो और रूमानिया ने एक साथ हस्ताक्षर किये। पर श्री लिटविनाफ की कूटनीति को इस बात में कुछ सफलता मिली कि उन्होंने इन देशों को अपने प्रोटोकोल में शामिल करा लिया। पर पहली अवस्था की तरह इस अवस्था में भी, रूस में एक योरोपीय प्रणाली चलाने में सहयोग देने की इच्छा के कोई वास्तविक चिह्न नहीं दिखायी दिये।

फ्रांस और राष्ट्रसंघ को जो विरोध और संदेह सोवियत संघ से पृथक् कर रहे थे, उन्हें दबाने के लिए योरोप से किसी खतरे की आवश्यकता थी। जब तक युद्ध का खतरा सिर्फ जापान से था, तब तक तटस्थता और अनाक्रमण की प्रतिज्ञाएँ रूस की आवश्यकता पूरी कर सकती थीं। जर्मनी में उस आदमी के अभ्युदय के साथ, जिसने सार्वजनिक रूप से रूस को जर्मन प्रसार के लिए एक क्षेत्र बताया था, रूस में सक्रिय समर्थन की इच्छा पैदा हुई। सोवियत नीति का नया रूप मई १९३३ में ही दिखाई दे गया था जब श्री राडेक ने इजवेस्तिया में एक लेखमाला लिख कर निश्चित रूप से संधि संशोधन का विरोध किया था। आपने लिखा था :—

> लूट भरी वर्साई शान्ति संधि के संशोधन का मार्ग एक नये विश्व-युद्ध में से होकर जाता है। संशोधन की चर्चा वह पर्दा है, जिसके पीछे साम्राज्यवाद मानव-बुद्धि के कल्पनागम्य भयंकरतम और क्रूरतम युद्ध की तय्यारी करता है।[१]

इसलिए इस समय सोवियत संघ पहले ही निश्चित रूप से संशोधन-विरोधी पक्ष में आ चुका था। रूस भी समर्थन पाने का इच्छुक था और फ्राँस भी। उसका दिमाग जिस दिशा में काम कर रहा था, वह १९३२ की संधि के अनुसमर्थन से पहले फ्रेंच संसद् में हुए विवाद में प्रत्यक्ष हो चुकी थी। संधि को स्वीकार करने की सिफारिश करते हुए श्री हेरिओ (M. Herriot) ने दावा किया था कि यह मार्ग परम्परागत फ्रेंच नीति के अनुसार, बल्कि ध्वनितार्थतः उससे भी कहीं बढ़कर था :

> याद कीजिए कि किस तरह फ्रांसिस प्रथम ने केवल सारे ईसाई राज्यों का साथ छोड़ कर, बल्कि वास्तव में उनके विरुद्ध, तुर्की का साथ दिया था; क्योंकि यही फ्राँस के हित में था।

---

१. बुलेटिन ऑफ इण्टरनेशनल न्यूज़, जिल्द १०, संख्या ४, १७ अगस्त, १९३३।

इस ऐतिहासिक उदाहरण का प्रासंगिक औचित्य सैनिक मैत्री में अधिक था, तटस्थता की घोषणा-मात्र में कम। फ्रांस और सोवियत संघ दोनों के लिए संयुक्त प्रतिरक्षा में प्रत्येक के हथियारों का उपयोग शीघ्र ही घनिष्ठतर संबंध का अप्रच्छन्न लक्ष्य बन गया।

सोवियत संघ के नीति-परिवर्तन में अंतिम तत्त्व था विश्वक्रान्ति के प्रति उसकी सरकार के रुख में परिवर्तन। शुरू में कम्युनिज़्म की स्थापना विश्व-क्रान्ति का प्रारम्भिक कदम-मात्र समझी जाती थी। इस घटना का आरम्भ उस समय से माना जा सकता है जब जून १९२७ में ट्राटस्की (Trotsky) और जिनोविव (Zinoviev) को रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति से निकाल दिया गया था। ट्राटस्की और उसके साथी लगातार यह मानते रहे थे कि कम्युनिज़्म स्थायी रूप से विश्वव्यापी आधार पर ही बनाया जा सकता है, और इस प्रकार, उन्होंने सब जगह क्रान्ति प्रतिपालित और प्रोत्साहित करने का यत्न किया था। दूसरी ओर स्टालिन ने, जिसके विचार इस समय विजयी हो गये, रूसी प्रदेश की विशाल सीमाओं में एक समाजवादी राज्य स्वतन्त्र रूप से विकसित करने की शक्यता में विश्वास प्रकट किया। कौन पक्ष सही था, इस बखेड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं। दोनों ओर कुछ-कुछ सचाई प्रतीत होती है। स्टालिनवादी नीति का क्रियात्मक परिणाम यह था कि आंतरिक विकास के विशाल कार्य पर ध्यान केंद्रित किया गया, जिससे बाहरी दुनिया को दुहरा लाभ था; प्रथम तो इससे अन्य देशों के आंतरिक मामलों में सक्रिय हस्तक्षेप का खतरा नगण्य रह जाता था और दूसरे, इस नीति की सफलता के लिए दीर्घ काल तक शान्ति परमावश्यक थी। इसलिए यह सोवियत संघ को स्वार्थ के आधार पर उन देशों का साथी बना देती थी जो योरोप में युद्ध न होने देने के लिए यत्नशील थे। इस प्रकार यद्यपि उन राजनैतिक मुकदमों की जिन्होंने दूसरे विश्व-युद्ध से पहले के कुछ वर्षों में रूस की ओर ध्यान खींचा था, न्याय के दृष्टिकोण से, आलोचना की जा सकती है, और बहुत सी दृष्टियों से वे पश्चिमी विचारकों के लिए पहेली बने हुए हैं, पर अन्तर्राष्ट्रीय पहलू से देखें तो वे शुभ-चिह्न माने गए थे, क्योंकि जिन पर वे मुकदमे चलाए गए थे, उनमें अधिकांश पर ट्राटस्की के विचारों को मानने का आरोप था।

सोवियत संघ के पक्ष-परिवर्तन की पहली अवस्था सितम्बर १९३४ में आयी जब उसे फ्राँस, ब्रिटेन और इटली के प्रस्ताव पर राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया गया और परिषद् में उसे स्थायी जगह दी गयी। अंतिम परिणति तब हुई, जब फ्राँस और सोवियत संघ में पारस्परिक सहायता की संधि हुई, और सोवियत संघ तथा चैकोस्लोवाकिया में एक पूरक संधि हुई, जो तब प्रवर्तित होनी थी, जब फ्राँस किसी आक्रमण के मामले में सक्रिय हस्तक्षेप करे। इनमें से पहली संधि पर २ मई १९३५ को, और दूसरी पर १६ मई को हस्ताक्षर हुए। फ्रेंच संधि का फ्रेंच लोक सभा (Chamber of Deputies) ने २७ फरवरी १९३६ को और सीनेट (Senate) ने १२ मार्च को अनुसमर्थन कर दिया। अनुसमर्थन-पत्रों का अंतिम आदान-प्रदान २७ मार्च को हुआ। ये तिथियाँ बाद

में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगी, पर सोवियत नीति में परिवर्तन के इन प्रतीयमान संकेतों को अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति से प्राप्त अनुभव से यह पता चलता है कि रूस के रवैय्ये में जो सुधार था, वह प्रतीयमान ही था, वास्तविक नहीं। लेनिन की नयी आर्थिक नीति के दिनों से ही सोवियत सरकार की राजनैतिक चालें परिवर्तनशील और अवसरवादी रही हैं पर उनके निकटतम प्रेक्षकों ने उस नीति में जो उन्होंने अपनी मार्क्सवादी विचार-धारा को आगे बढ़ाने के लिए अपनायी हैं एक विशेष संगति देखी है, और उस पर बल दिया है। रूसियों की एक पूरी पीढ़ी अब इस बात को असंदिग्ध और अखण्डनीय विश्वास की वस्तु मानने की शिक्षा प्राप्त कर चुकी है कि अन्ततोगत्वा विश्व कम्युनिज़्म की विजय अनिवार्य है, पर पूँजीवादी बलों के सम्भावित प्रतिरोध के कारण यह विजय सशस्त्र संघर्ष के बिना नहीं हो सकती। रूसी मनोवृत्ति विचित्र प्रकार से हठपूर्ण है और नीति के अस्थायी परिवर्तनों को किसी स्थायी हृदय-परिवर्तन का प्रमाण मानने के बजाय मेषनीति (अर्थात् अधिक प्रबल प्रहार के लिए पहले पीछे हटने का सिद्धान्त) का प्रयोग मानना चाहिए।

राष्ट्रीय समाजवाद सक्रिय रूप में
(National Socialism in Action)

३० जून, १९३४ की दलशुद्धि
(The Party Purge of 30 June, 1934)

हिटलर के रंगमंच पर आने से योरोप के सब देशों में जो जागरूकता पैदा हो गई थी, उसके परिणामस्वरूप फ्यूहरर को अपने पद-ग्रहण के दूसरे वर्ष के आरम्भ में अपने वैदेशिक कार्यक्रम की पूर्ति में कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। सच तो यह है कि जब तक जर्मनी का पुनःशस्त्रीकरण और आगे नहीं बढ़ता, तब तक इससे अधिक की आशा करना अयुक्तियुक्त था। जर्मनी की भूख मिटाने के लिए जो पहला ग्रास दिया जाने की संभावना थी, वह था सार की पुनः प्राप्ति जिसके भाग्य का फैसला वर्साई की संधि के अनुसार १९३५ के शुरू में मतसंग्रह द्वारा किया जाना था। हिटलर के लिए सार की वापसी को बड़ी भारी विजय के रूप में पेश करना कठिन होता, क्योंकि नाजी शासन से पहले तक इसे एक निश्चित बात समझा जाता था और वहाँ की स्थिति पर राष्ट्रीय समाजवाद की ज्यादतियों से ही मतदान पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता था। तथ्यतः यदि घटनाक्रम को अपने ही मार्ग से चलने दिया जाता तो सार पके बेर की तरह जर्मनी के मुँह में आ पड़ता, पर हिंसा के प्रदर्शन से उसका हाथ से निकल जाना संभव था। चुप रहना आवश्यक था। अन्यत्र भी अविलम्ब प्रगति की संभावनाएँ पहले से अच्छी नहीं प्रतीत होती थीं। ३० जनवरी १९३४ को दिये गये एक भाषण में हिटलर ने जब पोलिश पैक्ट की चर्चा की तब हर्षध्वनि का अभाव रहा, जो अर्थपूर्ण था, और उसी अवसर पर उसके इस कथन का कि 'इस वर्ष जर्मन राइख ने रूस के साथ मैत्री-सम्बन्ध बनाने का यत्न किया है,' उसके पुराने समर्थकों द्वारा सोत्साह स्वागत किये जाने की संभावना नहीं थी। इसी भाषण में आस्ट्रिया के बारे में पहली बार वाली प्रतिज्ञाएँ भी की गयी थीं, जो अब सिर्फ ऐतिहासिक दिलचस्पी का विषय हैं। जर्मन-आस्ट्रियन ऐक्य (Anschluss) अब तब ही होना था, जब आस्ट्रियन जनता स्वेच्छया आत्म-निर्णय करे।

> यह कहना कि जर्मन राइख आस्ट्रियन राज्य का अतिक्रमण करना चाहता है, बेहूदा है, और इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता......मैं असदिग्ध शब्दों में आस्ट्रियन सरकार के इस प्रकार के कथन का खण्डन करता हूं कि आस्ट्रियन राज्य पर राइख द्वारा कोई आक्रमण किया जायगा, या वह आयोजित भी किया जा रहा है।

तथ्यतः राष्ट्रीय समाजवाद की वैदेशिक नीति का उसकी सब दिशाओं में मजबूरन विलम्बन हुआ, उसने नाजी पार्टी का वह अधिकतर आधार नष्ट कर दिया जिस पर वह वास्तव में संगठित थी। पार्टी को अपनी नीति के घरेलू पहलुओं पर विचार

करने के लिए मजबूर होना पड़ा, जिस पर बहुत कम मतैक्य था। राष्ट्रीय पक्ष वालों की आशाएँ भंग हो गई थीं, और इसलिए समाजवादी पक्ष वालों की आशाओं पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा। पार्टी के इस वाम पक्ष के विचार का एक प्रमुख समर्थक कैप्टेन रोम (Captain Rohm) था जो नाजियों की अपनी निजी सेना, खाकी कपड़ों वाली एस० ए० या स्टर्म एबटीलुंगेन (Sturm Abteilungen) का सैन्याध्यक्ष था। कहा जाता था कि वह एक उग्र प्रकार के समाजवादी कार्यक्रम का पक्षपाती था, जो जंकर (या जर्मन धनिक-पुत्रों) और औद्योगिक हितों को, बहुत नापसंद था। इस समय, तक हिटलर को जो सफलताएँ प्राप्त हुई कही जा सकती थीं, अर्थात् आन्तरिक विरोध की समाप्ति और जर्मन पुनः शस्त्रीकरण की आशा का सूत्रपात, उन दोनों से "निजी सेना" की आवश्यकता समाप्त होने लगती थी। घर के अन्दर पराजित करने के लिए कोई शत्रु नहीं था और घर से बाहर के शत्रुओं को हराना पेशेवर सैनिकों का काम था। वे पुराने मित्र, जिनके हिंसक उपायों ने अपने नेता को लम्बे संघर्ष में सत्तारूढ़ बनाए रखा था, अब गरीब रिश्तेदारों की तरह असुविधाजनक हो रहे थे। तथ्य तो यह है कि एस० ए० हिटलर के लिए एक मुसीबत और एक खतरा भी हो गयी थी, और शायद इसी कारण उसने अपने १६ अप्रैल के प्रस्ताव में इस सेना को शस्त्रों से वंचित करने और सैनिक अभ्यासों में इसके भाग लेने को निषिद्ध करने की इच्छा प्रकट की थी। दूसरी ओर रोम इस बात पर बल देता रहा कि उसके सारे के सारे सैनिकों को उनके ही अफसरों के अधीन दस्तों के रूप में जर्मन सेना में समाविष्ट कर लिया जाए, और वह प्रत्येक संभव उपाय से एस० ए० का महत्त्व बढ़ाने का यत्न करता रहा। सरकारी विवरण तो यह है कि कैप्टेन रोम और उसके साथी मिली खबरों के अनुसार, इससे भी आगे बढ़ गये थे और उन्होंने जनरल वान श्लीशर तथा एक विदेशी शक्ति के अनिर्दिष्ट प्रतिनिधि के साथ मिलकर एक षड्यन्त्र किया था जिसका मुख्य विचार यह बताया जाता है कि रोम को नियमित सेना तथा एस० ए० जैसे 'देशभक्त संगठनों' का प्रभावी नियन्त्रण सौंप दिया जाए और जनरल वान श्लीशर वान पेपन के स्थान पर उपप्रधान मंत्री हो जाए। हिटलर की गिरफ़्तारी इस षड्यन्त्र का एक अविभाज्य हिस्सा थी। यह तो स्वयं फ्यूहरर ने कहा था और यह ३० जून के तीसरे पहर चार बजे के लिए आयोजित की गयी बताई जाती थी।

जो बात निश्चित है वह यह है कि खाकी कमीज़ पार्टी के लोगों की सारे जुलाई की छुट्टी कर दी गयी थी। अतः कथित षड्यंत्रकारी जगह-जगह बिखर गये थे और ऐसे कामों में लग गये थे जो उनके कलुषित उद्देश्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। ३० जून के बड़े सवेरे रोम और एस० ए० के कुछ अन्य प्रमुख नेता म्यूनिख से कुछ दूर झील के किनारे के एक बंगले में सोये पड़े थे। बर्लिन का नेता कार्ल अर्नस्ट, जिसका हाल में विवाह हुआ था, उसी दिन ब्रेमर हेवन से हनीमून (विवाहित प्रथम मास) के लिए मेजोर्का (Majorca) रवाना हो रहा था; जनरल वान श्लीशर बर्लिन से कोई २० मील दूर पोट्सडम के निकट न्यूबेबल्सबर्ग में अपने घर में अपनी पत्नी को गाँव भेजने की तैयारी कर रहा था। दूसरी ओर, तैयारी के अधिक प्रमाण हैं। जनरल गोरिंग द्वारा दिये गये एक वक्तव्य के अनुसार, फ्यूहरर ने उसे यह आदेश दिया था कि जब वह इशारा करे, तब ही चोट

की जाए, और उस प्रयोजन के लिए उसे विशेष शक्तियाँ सौंपी गयी थीं। प्रतीत होता है कि जर्मन सेना को भी आगामी उत्क्षेपण (Coup) की चेतावनी मिली थी। ३० जून के सवेरे २ बजे हिटलर डाक्टर गौएबल्स और दो अन्य व्यक्तियों के साथ विमान द्वारा बोन से म्यूनिख रवाना हुआ, जहाँ वे २ घंटे बाद पहुँच गए। यहाँ उन्होंने पुलिस से भरी हुई कई कारें इकट्ठी कीं और वे विएसी (Wiessee) गए, जहाँ रोम और उसके साथी बिस्तरों में पड़े थे। उन्होंने उन्हें गोली से उड़ा दिया। उसी समय बर्लिन में गोरिंग और म्यूनिख में मेजर बुच यही काम कर रहे थे। दोनों स्थानों में बहुत सी गिरफ्तारियाँ की गईं, और गिरफ्तार व्यक्तियों को—जिनमें से कम से कम एक पहचानने की भूल में पकड़ा गया था—बिना मुकदमे मौत के घाट उतार दिया गया। अर्नस्ट, जो छुट्टी मनाने जाते समय पकड़ा गया, की भी यही गति हुई, और लगभग ठीक उस समय जिस समय सरकारी विवरण के अनुसार एस० ए० विद्रोह होने वाला था, जनरल वान श्लीशर और उसकी पत्नी अपने मकान में कत्ल कर दिये गए। हिटलर ने कहा था "इन चौबीस घंटों में मैं स्वयं राष्ट्र का उच्चतम न्यायालय था।" दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत शत्रुओं को डिक्टेटर की एक मात्र इच्छा पर, न्यायिक जाँच का दिखावा भी बिना किये, समाप्त कर दिया गया।

उसके विश्वस्त समर्थक श्री हेस ने ८ जुलाई को भाषण करते हुए, जो कार्य किया गया था, उसकी तुलना डेसीमेशन (या दशमवध, अर्थात् दण्ड देने के लिए प्रत्येक दसवें व्यक्ति को मार देना) द्वारा प्राचीन रोम की दंड प्रणाली से की थी। जब राष्ट्र का भाग्य मंझधार में हो तब व्यष्टि के दोष की मात्रा पर बहुत बारीकी से विचार नहीं किया जा सकता।

> यद्यपि यह बात कठोर प्रतीत होती है, तो भी प्रत्येक दसवें सैनिक को, दोष या निर्दोषिता के बारे में जरा भी सवाल बिना पूछे, गोली मार देने के द्वारा सैनिक विद्रोहों को दबाने की पुरानी प्रणाली में एक गहरी सार्थकता थी।[१]

दोनों की तुलना किसी भी तरह नहीं हो सकती, क्योंकि दशमवध (decimation) का उद्देश्य यह था कि जहाँ सारे निकाय का दोष सिद्ध हो चुका है, वहाँ दण्डितों की संख्या कम कर दी जाए, पर इसे उन कार्यों की विधिहीन बर्बरता की निश्चायक स्वयं-स्वीकृति माना जा सकता है। इस तरह मारे गये लोगों की संख्या सरकारी तौर से ७७ बतायी गयी थी, पर यह निश्चित है कि यह संख्या इससे बड़ी थी, क्योंकि जो गोलियों की आवाज सुनी गयी, वह बहुत देर तक जारी रही। दो सौ से ऊपर का तख्मीना लगाया गया है और संभाव्यत: वह कुछ अधिक नहीं। मृत व्यक्तियों की नैतिक आधार पर निन्दा कर के इन विद्रोहजनक कार्यवाहियों पर नीचता का एक और रंग चढ़ा दिया गया, क्योंकि उनमें से कुछ के निजी जीवन चाहे जितने अनैतिक रहे हों पर यह बात उस प्रश्न से सर्वथा असंगत थी जिस पर उन्हें कष्ट उठाना पड़ा था।

सार
(The Saar)

जैसा कि इस अध्याय में पहले संकेत किया गया है, वर्साई की संधि के अनुसार, सार प्रदेश के भाग्य का अन्तिम निर्णय १९३५ में २८ जून १९१९ को वहाँ

१. बुलेटिन ऑफ इन्टरनेशनल न्यूज, १९ जुलाई, १९३४।

रहने वाले निवासियों के मत-संग्रह से होना था। यहाँ के निवासियों को सारे या कुछ भाग के विषय में तीन विकल्पों मे मे एक का चुनाव करना था :

(क) संधि वाले शासन को बनाये रखना;

(ख) जर्मनी को वापसी;

(ग) फ्राँस को हस्तांतरण

तीसरे विकल्प को कभी भी जनता का समर्थन प्राप्त नहीं रहा था, और नाजी शासन से पहले तक, आम तौर से यह महसूस किया जाता था कि बड़े प्रबल बहुमत से सारा प्रदेश जर्मनी को लौटाने के पक्ष में निर्णय होगा। पर १६३३ मे पहले सार के प्रधान दल कैथोलिक सेंटर, सोशल डिमोक्रेट और कम्युनिस्ट थे और यद्यपि कैथोलिक सेन्टर के अधिकतर सदस्य स्थानीय नाज़ी संगठन में, जो 'ड्यूट्स फ्रंट' (Deutsche Front) कहलाता था, शामिल हो गये थे, पर पिछले दो दलों ने परिश्रम से नाजी-विरोधी प्रचार संगठित किया था, क्योंकि कैथोलिक मतों का अन्तिम रुख वैटिकन के साथ हिटलर के सम्बन्धों मे प्रभावित हो सकता था। इसलिए यह निश्चित खतरा प्रतीत होता था कि इस प्रदेश के कम से कम कुछ भाग शायद मौजूदा शासन में बने रहने का निश्चय करें।

इन परिस्थितियों में नाजी दल ने धमकियों और आतंक के व्यापक कार्य शुरू किये, जिन पर न केवल नाज़ी-विरोधी शरणार्थियो और निवासियों की ओर मे, बल्कि आयोग के सभापति श्री नाक्स की ओर से भी, सरकारी रिपोर्टों और पत्र-व्यवहार मे शिकायतें की गयीं। ८ मई को प्रकाशित एक पत्र में श्री नाक्स ने आयोग के विरुद्ध आकस्मिक प्रबल आक्रमण का भय प्रकट किया था, और राष्ट्र संघ को प्रेषित उनकी रिपोर्टों में यह चर्चा थी कि नाज़ी स्थानीय प्रशासन के साथ-साथ एक और तथ्यत: (de facto) सरकार स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं। तथ्य तो यह है कि नाजी उन सबको जर्मनी के द्रोही मानते थे जो सार को राइख से पुन: मिलाने का विरोध करने को तैयार होते और ऐसे व्यक्तियों से, चाहे वे मतदाता हों या पीछे आये हुए शरणार्थी हों, बदला लिया जाने का भय मत-संग्रह पर फ्राँसीसी विरोध पैदा करने का बहुत बड़ा कारण था। फ्राँसीसियों का कहना था कि 'यह मत-संग्रह का उपहास होगा, जो एक प्रकार का दंडनीय अपराध है।'[1]

तथ्य तो यह है कि फ्रेंच विदेश मन्त्री ने न केवल मतदाताओं की, बल्कि शरणार्थियों की भी सुरक्षा का आश्वासन देना अपना कर्त्तव्य समझा। २५ मई के अपने उपर्युक्त भाषण में उन्होंने एक मामले का जिक्र किया, जिसमें सार के समाज-वादी नेता के पुतले को फाँसी दी गयी थी, और बताया कि इस पर वहाँ सबने वाहवाही की :

> यदि मैं इस आदमी को और अन्य निवासियों को जो मतदाता नहीं हैं, अन्ततोगत्वा और बिल्कुल निश्चित रूप से लिये जाने वाले प्रतिशोधों के अर्पित कर देता तो क्या मैं अपने आप को इस सभा (फ्रेंच लोकसभा) के सामने पेश कर सकता था, जिसमें, मैं जानता हूँ कि, प्रत्येक प्रकार के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के आदर को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है।

---

१ फ्रेंच चैंबर में श्री बार्थो का भाषण, २५ मई, १६३४।

इस प्रकार मई के अन्त मे तनाव विशेष रूप से तीव्र था और इस बात का बडा भय था कि ऐसी कोई घटना न हो जाए जो फ्राँस और जर्मनी में लड़ाई पैदा करा दे, जिसके दूरगामी परिणाम हों। इसलिए दो जून को एक समझौते की घोषणा से बड़ा चैन अनुभव किया गया, जिसके द्वारा फ्रेंच और जर्मन सरकारों ने अपने ऊपर निम्नलिखित बधन लगाये थे[1] :

(१) दबाव न डालना या प्रतिशोधों से दूर रहना और इन प्रतिज्ञाओं के विरुद्ध किये जाने वाले अपने देशवासियों के कार्यो को रोकना और दण्डित करना।

(२) अन्तिम शासन की स्थापना के बाद से एक वर्ष तक के संक्रमण काल के लिए किसी प्रकार के प्रतिशोधों की शिकायतें सुनने के लिए और यथोचित क्षतिपूर्ति देने के लिए एक सर्वोच्च न्यायाधिकरण बनाये रखना।

(३) उन में इन प्रतिज्ञाओं को लागू करने के बारे में होने वाले किसी मतभेद को स्थायी पंचन्यायालय (Permanent Court of Arbitration) के पास भेजना।

राष्ट्रसंघ की परिषद् ने ४ जून को इस समझौते को अन्तर्विष्ट करने वाली रिपोर्ट स्वीकार कर ली और इस से निर्वाचकों को जो संरक्षण मिलता था, वह गैर-मतदाताओं को भी देने का अपना अधिकार सुरक्षित रखा। इस ने मत-संग्रह की तारीख १३ जनवरी १९३५ तय की और मत-संग्रह के संगठन और संचालन के लिए वे उपबन्ध स्वीकार किये जिनकी रूप-रेखा समझौते में दी गयी थी। पर यह आशा पूरी न हुई कि यह समझौता हो जाने से सार के मामलों में नाजी दखलन्दाजी रुक जायगी। इस के विपरीत, जुलाई और अगस्त में ड्यूट्स फ्रंट (Deutsche Front) ने जर्मनी की ओर से अपना आन्दोलन तीव्र कर दिया, जासूसी की एक प्रणाली चलायी और बर्लिन में गुप्त पुलिस के साथ निकट सम्बंध बनाये रखें। इन परिस्थितियों में फ्राँस का यह भय कि मत-संग्रह को धमकियों या बल-प्रयोग से प्रभावित किया जाएगा, किसी भी तरह दूर न हुआ और अक्तूबर के पिछले दिनों में यह खबरें आयीं कि सार की सीमा पर फ्रेंच सैनिक तैयारियाँ हो रही है। पर जर्मनी स्वतंत्र मतदान के हित में और व्यवस्था कायम रखने के लिए भी फ्रेंच सैनिक हस्तक्षेप का बिल्कुल विरोधी था। यह कहा जाता था कि यह एक ऐसा आक्रमण कार्य होगा जिसकी तुलना रूहर पर अभियान से की जा सकती है, और इसके फलस्वरूप लोकार्नो संधि का अतिक्रमण होगा। दूसरी ओर, जर्मन सरकार ने इस अवस्था में व्यवस्था कायम रखने और अपने समर्थकों के दायित्वहीन उत्साह को संयत रखने की प्रशंसनीय इच्छा प्रकट की।

संतोषजनक मतसंग्रह सुनिश्चित रूप से होने में जो कठिनाई थी, वह सौभाग्य से ५ दिसम्बर को दूर हो गयी, जब श्री ईडन ने राष्ट्र संघ की परिषद् की एक बैठक में एक तदर्थ अन्तर्राष्ट्रीय सेना (adhoc international force) में इस शर्त पर ब्रिटिश सैनिक देने का प्रस्ताव रखा कि अन्य देश भी इसी प्रकार सैनिक दें, और जर्मनी और फ्रांस, दोनों, यह प्रस्ताव स्वीकार करें। इस सुझाव का उत्साह से स्वागत

---

१. ये प्रतिज्ञाएँ सिर्फ उन पर लागू होती थीं जिन्हें मत देने का अधिकार था, पर सार के सब निवासियों को किसी भी प्रकार के दुर्व्यवहार के विरुद्ध राष्ट्र संघ की परिषद् से अपील करने का अधिकार था।

हुआ और तदनुसार आवश्यक सेना ब्रिटेन, इटली, नीदरलैण्ड्स और स्वीडन द्वारा दी गयी टुकड़ियों से मिलकर बनी। यह २२ दिसम्बर को सार पहुँची और इस के नियंत्रण में मतसंग्रह १३ जनवरी, १९३५ को शान्ति से गुजर गया। इसके परिणामस्वरूप ९०% से अधिक मत जर्मनी के साथ पुनर्मिलन के पक्ष में पड़े और इस समाधान से, जो अप्रत्याशित नहीं था, सार का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय विवाद की सूची से निकल गया।

डाँज़िग में राष्ट्रीय समाजवाद
(National Socialism in Danzig)

जब तक जर्मनी की सैनिक शक्ति को बहुत अधिक बढ़ने के लिए समय नहीं मिला था, तब तक यह प्रत्यक्ष था कि राष्ट्रीय समाजवाद के लिए निर्धारित कार्य-क्रम में वैदेशिक सफलता का सर्वोत्तम उपाय यह था कि प्रमुक्त जर्मन आबादियों को स्वतंत्र रूप से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। जहाँ कहीं ऐसी आबादियाँ थीं, यहाँ तक कि डेनमार्क में भी जिसने युद्ध के बाद अपने दावे पेश करने में प्रशंसनीय संयम दिखाया था, वहाँ यह शीघ्र ही दिखायी देने लगा। ऐसी नीति को आगे बढ़ाने का जहाँ बहुत उत्तम अवसर था, ऐसा एक स्थान डाँजिग का स्वतन्त्र नगर था, क्योंकि वहां जर्मन अंश अल्प-संख्यक होने के बजाए बहु-संख्यक था। पर इस नीति पर चलना उस समय से जरा नाज़ुक काम हो गया था, जब हिटलर ने पोलैंड के साथ निपटने को विलम्बित करने का निश्चय किया। स्थानीय नाजियों को सत्ता हथियाने के लिए प्रोत्साहित करते हुए भी वह अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों के भय से उनके जोश को बार-बार नियन्त्रित करता रहता था।

एक ऐसी उलझन पैदा होने का खतरा प्रधान मंत्री के रूप में हिटलर के जीवन के बहुत आरंभिक काल में आ गया था। डांजिग के स्वतन्त्र नगर को दिये गए क्षेत्र के भीतर वैस्टर प्लैट प्रायद्वीप पर पोलों का एक गोला बारूद का गोदाम था। दिसम्बर १९२५ में राष्ट्र संघ की परिषद् द्वारा किए गए एक निश्चय के अनुसार, पोलों को इस स्थान पर जो पहरेदार रखने का अधिकार था उनकी संख्या ८८ तक सीमित थी, यद्यपि यह हाई कमिश्नर की सम्मति से बढ़ाई जा सकती थी। वह व्यवस्था, जिसके द्वारा डांजिग सैनेट ने पोतगाह मंडली (Harbour Board) को विशेष पुलिस का एक दस्ता दे रखा था, फरवरी १९२३ में समाप्त कर दी गयी, जिसका परिणाम यह हुआ कि अब पोतगाह में पोलिश सम्पत्ति के संरक्षण के लिए कोई संतोषजनक गारन्टी न रही। इन परिस्थितियों में ६ मार्च १९३३ को पोलों ने हाई कमिश्नर से बिना पूछे अपने संतरियों की संख्या २०० तक बढ़ा दी। निस्संदेह इस प्रकार कानूनी तौर से उन्होंने गलत कदम उठाया। यह मामला विचार के लिए राष्ट्र संघ में पेश हुआ पर दोनों तरफ समझौते की प्रवृत्ति दिखायी दी, और पोतगाह पुलिस की पुनर्नियुक्ति और पोलिश कुमुक हटा लेने पर झगड़ा संतोषजनक रूप से खत्म हो गया।

जिस समय यह संकट पहली बार पैदा हुआ, उस समय डांजिग में राष्ट्रीय समाजवाद की शक्ति प्रचंड नहीं हुई थी। १९३३ के आरम्भ में एक संयुक्त मन्त्रिमंडल

पदारूढ़ था और डांजिग लोक-सभा में ७२ के सदन में कुल १३ नाजी सदस्य थे। पर अप्रैल में नाजियों ने लोक सभा का विघटन करा दिया और आगामी चुनावों में उन्होंने चार का निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करने में सफलता हासिल कर ली, यद्यपि दो-तिहाई बहुमत से अभी वे बहुत दूर थे जो संविधान में संशोधन करने की दृष्टि से आवश्यक था। राष्ट्रीय समाजवादी सरकार के शासन में डांजिग का रूप तुरन्त पूर्णतया बदल गया।

जो साल भर बाद १९३३ के पतझड़ में पुनः डांजिग जाता, वह वहाँ की स्थिति में परिवर्तन देखकर अवश्य चकित रह जाता। इस परिवर्तन का बाह्य प्रतीक स्वस्तिक ध्वज था, जो प्रत्येक सार्वजनिक भवन पर फहराता था और असंख्य निजी मकानों की खिड़कियों से लहराता था……जर्मनी से पहली बार डांजिग की यात्रा करने वाले आगन्तुक को सम्भवतः यह पता नहीं चल सकता था कि वह जर्मन देश में नहीं है।[1]

यह मानना होगा कि जर्मनी और पोलैण्ड में मेल-मिलाप की सम्भावना पर पोलैण्ड और स्वतन्त्र नगर के सम्बन्धों में निश्चित सुधार हो गया, और डाजिग तथा डीनिया (Gdynia) के मध्य व्यापार के अभिभाजन (apportionment) के सम्बन्ध में हुई बातचीत से सितम्बर १९३३ में एक संतोषजनक समझौता हो गया। पर शासन व्यवहारत: एक जर्मन श्री फार्स्टर के नियंत्रण में था, जो डांजिग का नागरिक भी नहीं था, और यहूदियों तथा राजनैतिक विरोधियों से भेद-भाव तथा मनमानी गिरफ्तारियां किये जाने पर अवैधानिक कार्य की शिकायतें पैदा हुई जो जनवरी १९३४ में ही राष्ट्रसंघ के सामने आई थीं, पर डांजिग सीनेट के नये अध्यक्ष डा० राऊशनिंग (Dr. Rauschning) द्वारा दिये गए आश्वासन संतोषजनक थे और यद्यपि उनकी इस अनोखी नरमी के कारण उन्हे अगले नवम्बर में त्याग-पत्र देने को मजबूर होना पड़ा तो भी, उसके बाद अपेक्षतया शान्ति का समय रहा। पर फरवरी १९३५ में पुन: विघटन हुआ, क्योंकि नाजी शासक सार में हाल में प्राप्त हुई सफलता का लाभ उठाने के लिए उत्सुक थे और उन्हें आशा थी कि उनका अभिलषित दो-तिहाई बहुमत उन्हें मिल जायेगा, जिससे उन्हें संविधान का संशोधन करने का अधिकार हासिल हो जायेगा।

परन्तु हिंसा और आतंक के कार्यों के बावजूद चुनाव का परिमाण निराशाजनक था। सिर्फ ४३ नाजी सदस्य निर्वाचित हुए और निर्वाचन सम्बन्धी अनियमितताओं के आरोप सिद्ध हो जाने पर यह संख्या घट कर ३९ रह गयी। पर सीनेट के नाजी अध्यक्ष श्री ग्रीजर (Herr Greiser) ने हठपूर्ण नीति से व्यवहार करना जारी रखा, और हाईकमिश्नर श्री सीन लैस्टर (Mr. Sean Lester) का अपमान किया तथा अनेक तरह से संविधान की मर्यादा का उल्लंघन किया।

उसकी नीति से स्वतन्त्र नगर को जो वित्तीय कठिनाइयाँ पैदा हा गयीं, उनसे भी अगली गर्मियों में अव्यवस्था पैदा हो गयी। मई में पोलिश अधिकारियों से बिना परामर्श किये चलार्थ (currency) का अवमूल्यन कर दिया गया और इस कार्य से

१. आई० एफ०डी० मारो, दि पीस सैटलमैन्ट इन दि जर्मन-पोलिश बोर्डरलैण्ड्स, लन्दन, रायल इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्टरनेशनल अफेअर्स के लिए ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस द्वारा प्रकाशित १९३६, पृष्ठ ४७०।

डीनिया की प्रतिस्पर्धी समृद्धि पर जो प्रतिक्रिया हुई उसकी उन्होंने शिकायत की। १८ जुलाई को पोलिश वित्त मन्त्री ने आदेश दिया कि डांजिग होकर आने वाले पोलिश आयात पोलिश प्रदेश मे पोलिश अधिकारियों द्वारा ही सीमा शुल्क चौकी से छोड़े जा सकते थे। बदले में श्री ग्रीजर ने जर्मनी से खाद्य पदार्थ और आवश्यक वस्तुएँ बिना शुल्क डांजिग में आने देने का आदेश दिया और इस प्रकार जर्मनी के साथ लगभग सीमा-शुल्क ऐक्य करने की दिशा में लम्बा कदम बढ़ा दिया। पर इस अवस्था मे जर्मनी ने जर्मन-पोलिश सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने देने की इच्छा से मध्यस्थता का प्रभाव डाला, जिसके परिणामस्वरूप दोनों पक्षों की ओर से किये गए अप्रीतिकर कार्यों को रद्द करके संकट निपटा दिया गया।

पर नाजी शासन की अनियमितताओं का प्रश्न राष्ट्रसंघ की परिषद् में बार बार आता था और डांजिग का नाजीकरण इस समय तक इतनी दूर पहुँच चुका था कि लोक सभा में संसदीय वाद-विवाद एक तमाशा रह गया था। 'संसदीय बैठक में विरोधी पक्षों को दिया गया समय इस प्रकार था सोशल डिमोक्रेट पार्टी, ५ मिनट; सन्टर पार्टी ४ मिनट; जर्मन नेशनल, पोलिश और कम्युनिस्ट ग्रुट प्रत्येक १ मिनट।'[1]

उस समय कुछ सुधार की आशा प्रतीत होती थी, जब श्री ग्रीजर जनवरी १९३६ में राष्ट्र संघ की परिषद् के सामने उपस्थित हुए। इस समय, जब राष्ट्र संघ एक दोषी महाशक्ति पर अनुशास्तियां लागू ही कर रहा था, परिषद् को एक विशेष प्रभाव प्राप्त था और श्री ग्रीज़र के मामले में इसके दृढ़ता दिखाने से उसका कुछ समय के लिए पतन हो गया। सीनेट ने कुछ कानूनों को, जो अवैधानिक घोषित किये गये थे, परिवर्त्तित करना स्वीकार कर लिया और यह कार्य २० फरवरी को हो गया। कुछ महीनों तक गाड़ी काफी ठीक चलती रही, और श्री लेस्टर के पुनः हाई कमिश्नर नियुक्त होने पर श्री ग्रीजर ने उन्हें विनीत शब्दों में बधाई भेजी।

पर जून में सहसा परिवर्त्तन हुआ। इस समय तक राष्ट्रसंघ का प्रभाव शून्य तक गिर चुका था। ऐबीसीनिया में इटालियन आक्रमण सफल हो गया था। सम्राट् भागा हुआ था और अनुशास्तियों का परित्याग किया ही जाने वाला था। जर्मनी ने बिना किसी की दखलन्दाज़ी के राइनलैंड पर पुनः अधिकार कर लिया था, और वह इटली के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने में व्यस्त था। क्योंकि इनके लिए उस समय आस्ट्रियन ऐक्य की योजना का परित्याग आवश्यक था इसलिए अन्यत्र मामूली आक्रामकता का प्रदर्शन केवल निरापद ही नहीं बल्कि सामयिक भी था। तदनुसार, जून १९३६ में उपद्रव शुरू हो गया और एक उपद्रव में फार्स्टर ने सार्वजनिक रूप से ऐलान किया कि मैं डांजिग में अपने कार्यो के लिए जर्मनी के फ्यूहरर के अतिरिक्त और किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं। महीने के अन्तिम दिनों में जर्मन क्रूजर *लीपज़िग* के आगमन के मौके पर राष्ट्र संघ के हाई कमिश्नर का जान-बूझकर अपमान किया गया। परिणामतः जुलाई में श्री ग्रीज़र फिर जिनीवा में हाजिर हुए जहाँ उन्होंने दो हठपूर्ण और उद्धत भाषण दिये, और बाहर निकलते समय पत्रकार दीर्घा से गुजरने पर अंगूठा दिखाया और घृणा से जीभ निकाली।

---

१. हाई कमिश्नर की १९३५ की रिपोर्ट।

इस समय के बाद लीग ने डांजिग में कोई प्रभावी नियन्त्रण लागू करने का यत्न छोड़ दिया प्रतीत होता था। सितम्बर में इसने श्री लैस्टर को राष्ट्र संघ का उप-महामन्त्री नियुक्त करने के कौशल से हाई कमिश्नर के पद से वापिस बुला लिया। सब विरोधी दलों का पूर्णतया दमन करने का अप्रच्छन्न आन्दोलन, और बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ अक्तूबर में शुरू हुईं और अबाधित रूप से होती रहीं। जनवरी १९३७ में परिषद् ने एक रिपोर्ट अंगीकार की जो पोलैंड ने तैयार की थी, जिसे यह मामला सौंपा गया था—प्रोफेसर टायन्बी के शब्दों में 'व्यवहारत: इसका यह अर्थ था कि राष्ट्र संघ ने डाँजिग में विरोधी पक्षों की ओर से हस्तक्षेप करने का अपना अधिकार त्याग दिया था, जिससे विरोधी पक्ष के भाग्य पर तो सदा के लिए ताला पड़ गया'।[1] इसलिए इस बात का अब उसकी अपेक्षा कम महत्त्व रह गया जो पहले होता कि मई १९३७ में नाजियों के दबाव के कारण सोशल डेमोक्रेट पार्टी और सैन्टर पार्टी में से कुछ आदमियों के निकल जाने, और जर्मन राष्ट्रीय पार्टी के विघटन के परिणामस्वरूप, जिसके सदस्य नाजी बन गये, नाजी दल को अन्त में अपना अभिलषित दो-तिहाई बहुमत पाने में सफलता हो गयी।

आस्ट्रिया

(Austria)

१९२४ के आरम्भ में शायद हिटलर के इस प्रतिवाद में कुछ सचाई थी कि जर्मनी का सीधे आक्रमण द्वारा आस्ट्रिया को आत्मसात् करने का कोई इरादा नहीं क्योंकि नाजी कार्यक्रम के अन्य अखिल जर्मन या प्रसारात्मक परि-योजनाओं से ऐक्य (Anschluss) इस बात में भिन्न था कि इसमें जो लक्ष्य था, वह बल-प्रयोग के बिना सिद्ध हो सकता था। १९१८ की सैनिक सुलह के तत्काल बाद के दिनों में आस्ट्रिया मे जर्मनी के साथ मिल जाने की इच्छा आम थी, और राष्ट्रीय समाजवाद की विजय से पहले किसी भी समय सम्भाव्यत: आस्ट्रियन जनता का ऐसा बड़ा बहुमत होता जो ऐक्य के पक्ष में होता। आस्ट्रो-जर्मन सीमा शुल्क ऐक्य (Austro-German Customs Union) के प्रस्ताव का, जो १९२१ मे रखा गया था, फ्रांस और अन्य राष्ट्रों ने इस भय से विरोध किया था कि यह दो बन्धु राष्ट्रों में स्वेच्छयाकृत राजनैतिक ऐक्य की भूमिका सिद्ध होगा। आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य पर सच-मुच बड़ी प्रबल आपत्तियाँ थीं, और यह अनुभव किया जाता था कि इसे स्थापित करने के प्रयत्न युद्ध पैदा कर देंगे, पर जर्मनी के आगे बढ़ने की अन्य योजनाओं से इसमें यह भेद था कि यह उस देश को आवश्यक रूप से एक आक्रामक की स्थिति में नहीं रखता था: इसके विपरीत, यह दूसरे राष्ट्रों पर यह दायित्व डालता था कि वे दोनों राष्ट्रों की अभिव्यक्त इच्छा पर होने वाले उनके ऐक्य को रोकें और अन्त में बल-प्रयोग का आश्रय लें। दूसरे शब्दों में, ऐसे ऐक्य का प्रतिरोध शक्ति-संतुलन के सिद्धान्त (balance of power) को, जिसे शान्ति सम्मेलन ने प्रकाश्यत: तिरस्कृत किया था, आत्मनिर्णय के सिद्धान्त से, जिस पर संधियां मुख्यत: आधारित थीं, ऊँचा

१. सर्वे आफ इन्टरनेशनल अफेअर्स, १९३६, पृष्ठ ५७१।

स्थान देता था। इसके अलावा, दृष्टिगत लक्ष्य ऐसी क्रमिक अवस्थाओं से प्राप्त किया जा सकता था जिससे प्रत्येक उत्तरोत्तर कार्य का विरोध कठिन हो जाता। इसलिए आस्ट्रिया में राष्ट्रीय समाजवाद (national socialism) की वृद्धि को प्रोत्साहित करना हिटलर के राजनीतिक लक्ष्यों के एक महत्त्वपूर्ण भाग की पूर्ति के लिए सबसे अधिक आशाजनक उपाय प्रतीत होता था।

पर इसके लिए डाक्टर डालफस (Dr. Dollfuss) की अध्यक्षता में संचालित तत्कालीन आस्ट्रियन सरकार को अपदस्थ करना आवश्यक था और इस दृष्टि से उसी क्षण से, जिस समय हिटलर सत्तारूढ़ हुआ, पहले तो स्वयं आस्ट्रिया में मौजूद जर्मन एजेन्टों के षड्यन्त्रों द्वारा और बाद में जब जून १९३३ में इन्हें निकाल दिया गया, तब रेडियो भाषणों के अस्त्र के प्रयोग द्वारा, आस्ट्रियन नाजियों के सहयोग से जर्मनी से आलोचना का एक निरन्तर प्रवाह वहाँ फेंका गया। १७ फरवरी १९३४ को इस स्थिति में बीज रूप से विद्यमान खतरों को दूर करने के लिए फ्रांस, ब्रिटेन और इटली की सरकारों ने एक संयुक्त घोषणा प्रकाशित की जिसमें कहा गया था कि हमारा 'प्रासंगिक संधियों के अनुसार आस्ट्रिया की स्वाधीनता और अखंडता बनाये रखने की आवश्यकता के बारे में एक ही विचार है'। एक ब्रिटिश स्मरण-पत्र में, जो कुछ दिन पहले प्रकाशित किया गया था, इस देश के रवैये को और स्पष्ट किया गया था।

आस्ट्रिया की अखंडता और स्वाधीनता ब्रिटिश नीति का एक उद्देश्य है और ब्रिटिश सरकार का किसी दूसरे देश के भीतरी मामलों में दखल देने का कोई इरादा नहीं है। पर वह पूरी तरह आस्ट्रिया के यह मांग करने का अधिकार स्वीकार करती है कि उसे भीतरी मामलों में किसी अन्य क्षेत्र से कोई दखलन्दाजी न की जानी चाहिए।[1]

इस समय इटली आस्ट्रिया और हंगरी दोनों के साथ संरक्षक के से सम्बन्ध रखने की आकांक्षा करता था, और उसने इन देशों के साथ १७ मार्च को एक संधि की जिसमें तीन प्रोटोकोल (the Rome protocols) थे जिनके प्रभावस्वरूप दोनों देश इटालियन चक्र में और भी अधिक घनिष्ठ रूप में आ गये। आस्ट्रियन प्रधानमन्त्री डा० डालफस (Dr. Dollfuss) की स्थिति इस समय कुछ डगमग थी क्योंकि वे एक साथ दो मोर्चों पर नाजियों के विरुद्ध और सोशलिस्टों के विरुद्ध घरेलू संघर्ष में व्यस्त थे। सच तो यह है कि संसदीय शासन में यह स्थिति नहीं चल सकती थी, पर नेशनल कौंसिल या राष्ट्रीय परिषद् के अध्यक्ष और उपाध्यक्षों के, दैव-वशात् ठीक उन जर्मन, चुनावों के समय दिये गए त्याग-पत्रों से जिन्होंने नाजी शक्ति को दृढ़ कर दिया था प्रधान मन्त्री को संसदीय शासन समाप्त करने और प्रायः अधिनायकता की स्थिति ग्रहण कर लेने का अवसर मिला। इस प्रकार वह आस्ट्रियन नाजियों के आतंकवादी कार्यों को दबाने के लिए जोरदार कार्यवाही कर सके। पर उन्हें इस तथ्य से कठिनाई थी कि उनके मुख्य समर्थकों का झुकाव फासिज़्म की ओर था, जिसके कारण उन्हें नाजीवाद की अपेक्षा जिसके बहुत से आदर्शों से उन्हें स्पष्टतः सहानुभूति थी, मार्क्सवाद को दबाने की अधिक चिन्ता रहती थी। उनके प्रमुख सहकारी प्रिंस स्टारेमबर्ग (Prince Starhemberg) और मेजर फे (Major Fey) हेमवेयर के नेता थे—यह एक सशस्त्र

१. सर जान साइमन द्वारा ब्रिटिश लोकसभा में पढ़ा गया, १३ फरवरी, १९३४।

संगठन था जो शुरू में समाजवाद का मुकाबला करने के लिए बनाया गया था, और मेजर फे को तो नाजी पार्टी के निश्चित रूप से विरुद्ध ऐलान करने के लिए मना लिया गया, पर स्टारेमबर्ग को इस पर मुख्य आपत्ति सिर्फ इसके जर्मन नेताओं पर थी और आमतौर से विदित था कि हेमवेयर (Heimwehr) के बहुत से सदस्य नाजी प्रवृत्तियाँ रखते हैं। इसलिए डाक्टर डालफस को अपने समर्थकों की इच्छा पूर्ति के लिए मजबूर होना पड़ा, और इसके परिणामस्वरूप १२ फरवरी १९३४ को आस्ट्रियन सोशलिस्टों के विरुद्ध अत्यधिक उग्र कार्यवाही की गई। उन्होंने सशस्त्र प्रतिरोध किया, जिस पर उन्हें तोप खाने का प्रयोग करके क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया, और इसमें कई सौ आदमी मारे गये। यह मानने के लिए हमारे पास आधार है कि यह पग इटली के दबाव से, या कम-से-कम उसके सुझाव पर, उठाया गया था। इस रक्तरंजित नीति से संभाव्यतः सरकार की और बदनामी होने लगी और आस्ट्रिया के नाजियों को बहुत से रंगरूट प्राप्त हुए।

२२ जुलाई १९३४ को शुरू होने वाले सप्ताह में आस्ट्रियन नाजी सैनिकों में जो जर्मनी में म्यूनिख मे और उसके चारों ओर रहते थे, अभूतपूर्व हलचल दिखाई दी। सशस्त्र आस्ट्रियनों से भरी हुई लारियाँ प्रत्येक रात सीमान्त की ओर जाती थीं आर खाली म्यूनिख लौटती थीं। २५ तारीख को सशस्त्र व्यक्तियों के एक बड़े दल ने वियेना में सरकारी भवन में घुस कर वहां उपस्थित मंत्रियों को अस्थायी रूप से कैदी बना लिया। उस समय वहाँ पूरे मंत्रिमडल की बैठक होने वाली थी, पर एक चेतावनी मिल जाने के कारण यह स्थगित कर दी गयी थी। प्रधान मंत्री डा० डालफस को उसने उनके साथियों से पृथक् करके गोली से उड़ा दिया। उसी समय नाजी षड्यन्त्रकारियों का एक और दल वियेना रेडियो स्टेशन में घुस गया और उसने दुनिया के सामन ऐलान कर दिया कि डा० डालफस ने त्याग-पत्र दे दिया। सम्भाव्यतः यह देश के अन्य भागों में व्यापक उपद्रव के लिए एक इशारा था। कई स्थानों में, विशेषकर स्टीरिया और कैरिन्थिया में, उपद्रव हुए, पर कुछ ही दिनों में भयंकर संघर्ष के बाद व्यवस्था स्थापित हो गयी। सचिवालय पर काबिज विद्रोहियों ने व्यवस्था स्थापित करने वाले बलों के सामने आने पर अपने कैदियों को छोड़ दिया और अन्त में उन्हें सुरक्षित रूप से जर्मनी लौट जाने देने का वचन दिया गया। इसे दिलाने में वियेना स्थित जर्मन राजदूत का भी योग रहा प्रतीत होता है, पर बाद मे यह कहा गया कि यह व्यवस्था रक्तपात न करने की शर्त पर थी, और क्योंकि इस शर्त को भंग किया गया था, इसलिए यह संरक्षण हटा लिया गया और षड्यन्त्रकारियों को गिरफ्तार कर लिया गया। जर्मन सरकार ने भी अपने दूत के कार्य का प्रत्याख्यान किया और बर्लिन से प्राधिकार पाये बिना ऐसी व्यवस्था में शामिल होने के लिए उसे अपयश के साथ वापिस बुला लिया गया। एक और परिणाम यह हुआ कि श्री हैबिश्ट (Herr Habicht) को, जो जर्मन था तथा 'आस्ट्रिया के लिए निरीक्षक,' था और म्यूनिख में नियुक्त था, बरखास्त कर दिया गया—यह वही व्यक्ति था जिसकी डालफस सरकार के विरुद्ध की गयी रेडियो आलोचनाएँ बहुत समय से कुख्यात थीं। आस्ट्रियन प्रधान मंत्री की समाप्ति को छोड़कर, यह उत्क्षेपण (coup) विफल रहा प्रतीत होता था, और इस दुष्कार्य से अन्य देशों में सर्वत्र जो रोष पैदा हुआ, वह सब जगह स्पष्ट

दिखाई देता था। सच तो यह है कि श्री मुसोलिनी ने तो आस्ट्रियन सीमान्त पर तुरंत सेनाएँ भेज दीं और प्रिंस स्टारेमबर्ग (Prince Starhemberg) को भेजे एक सदेश जिसमें उन व्यक्तियों की 'जो दूर रहते हुए अन्तर्ग्रस्त थे', अर्थपूर्ण चर्चा थी, घोषित किया कि इटली आस्ट्रिया की स्वाधीनता की पहले से भी अधिक दृढ़ता से रक्षा करेगा। इन परिस्थितियों में जर्मनी के सरकारी रवैये की शुद्धता और नरमी आसानी से समझ में आ सकती है। पर नाजी अखबारों की बातें अधिक स्पष्ट थीं। कई अखबारों ने इस उत्क्षेपण (coup) को जनता की इच्छा के एक स्वाभाविक विस्फोट के रूप में और उन सब के लिए एक चेतावनी के रूप मे, जो यह समझते हैं कि वे किसी जाति के स्वभाग्य निर्णय के अधिकार को कुचल सकते हैं, पेश किया। सब से विचित्र वह वक्तव्य था जो उत्क्षेपण के दिन सरकारी ड्यूट्स नैकरेख्टन ब्यूरो (Deutsches Nachrichtenburo) (जर्मनसूचना विभाग) द्वारा जारी किया गया था, पर अविलम्ब बाद जल्दी से वापिस ले लिया गया था। इसमें विद्रोह को 'आस्ट्रिया की सारी जनता का अपने जेलरों, यन्त्रणा दाताओं और अत्याचारियों के विरुद्ध विद्रोह बताया गया था। जल्दबाजी में उस चाल की सफलता की कल्पना करते हुए, इसमें आगे कहा गया था, कि जर्मन जाति डालफस की सरकार पर प्राप्त की गयी विजय का हर्ष से स्वागत कर रही है...... नयी सरकार यह यत्न करेगी कि.........अखिल जर्मनवाद (Pan-Germanism) को जर्मन आस्ट्रिया में भी आश्रय दिया जाए। इस वक्तव्य को देखने से यह संदेह पैदा हो सकता है कि यदि उत्क्षेपण सफल हुआ होता तो क्या तब भी जर्मनी का यही रुख होता, पर यदि जैसा कि अब उपलब्ध प्रमाणों से निश्चय प्रतीत होता है, हिटलर उसके लिए जिम्मेवार था, तो १९३४ के आस्ट्रियन षड्यन्त्र को उसकी असफलताओं में गिनना होगा। इसका एक मात्र परिणाम यह हुआ कि उसके उद्देश्य के विरोधी यूरोपियन संयोजन की शक्ति बढ़ गयी। फिलहाल इटली का फ्रांस से मेल हो गया और वह निश्चय रूप से जर्मन विरोधी पक्ष में आ गया, यद्यपि यह नयी नीति ज्यादा दिन नहीं टिकनी थी।

: २३ :

इटली और एबिसीनिया

(Italy and Abyssinia)

फ्रांको-इटालियन समझौते

(The Franco-Italian Agreements)

१९३५ के साल में अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की पहली घटना फ्रांस का वह प्रयत्न था जो उसने इटली के साथ नई बनाई हुई मैत्री को दृढ़ करने के लिए किया। प्रायः सारे युद्धोत्तर काल में जुलाई १९३४ तक अनेक कारणों से फ्रांको-इटालियन सम्बन्धों में बहुत तनातनी रही थी (देखिए अध्याय १०) और इटली की नीति कुल मिला कर जर्मनी के प्रति बड़ी सहानुभूतिपूर्ण रही थी। श्री बार्थो के बाद एक ऐसा आदमी फ्रेंच विदेश मंत्री हुआ, जिसके चरित्र और व्यक्तित्व का इस अध्याय में अभिलिखित घटनाओं पर ऐसा निर्णायक प्रभाव पड़ना था कि दो शब्दों में उसका परिचय दे देना उचित होगा। यह आदमी श्री पिअरे लावाल थे जिन्हें लार्ड वैंसिटार्ट (Lord Vansittart) ने, जिन्हें उनका निकट से अध्ययन करने के सब से बढ़िया मौके मिले थे,—'सड़ने वालों' (rotters) की श्रेणी में—'उन थोड़े से व्यक्तियों में बताया है, जिन्हें सूक्ष्मदर्शी या माइस्क्रोस्कोप से देखने पर सिवाय और अधिक विघटन के और कुछ नज़र नहीं आता'।[1] प्रकृति ने उसे धूर्त और गद्दार के काम के लिए तैयार करने में रूपसज्जा कुछ अधिक दे दी प्रतीत होती थी। पर तत्काल अविश्वास पैदा करने वाले सांप जैसे चेहरे के बावजूद श्री लावाल कई वर्ष तक यह पार्ट बहुत योग्यता के साथ अदा करने में सफल हुए। लार्ड वैन्सिटार्ट ने लिखा है कि वह १९३५ में ही अपने देश के हित हिटलर और मुसोलिनी को बेच देने को तैयार था।[2] पर यहां उसे संदेह का लाभ दिया जायगा, और इसके कार्यों का इस उपकल्पना पर निर्वचन किया जाएगा कि इस समय उसके उद्देश्य एक देशभक्त पर सकीर्ण-बुद्धि फ्रांसीसी के लक्ष्य रहे होंगे यद्यपि जिन साधनों से वह उन्हें सिद्ध करना चाहता था, वे पूर्णतया लज्जाहीन और बेईमानी भरे थे। श्री लावाल ने उन अनुकूल परिस्थितियों से लाभ उठाने का यत्न करने में तनिक भी देर न की जिनके कारण एक ऐसी महत्त्वपूर्ण शक्ति ने नीति परिवर्तन किया था। नव वर्ष दिवस अर्थात् १ जनवरी के अविलम्ब बाद वह रोम रवाना हो गया जहां तीन दिन में कई प्रश्नों पर समझौता हो गया। फ्रांस ने १९१५ की लंदन सधि में की गयी अपनी प्रतिज्ञा की पूरक और अंतिम पूर्ति के रूप में इटली को अफ्रीका में और प्रदेश दे दिया, जो बहुत मूल्यवान् न होते हुए भी,

---

१. लार्ड वैंसिटार्ट, लेसन्स ऑफ माई लाइफ, लन्दन, हचिंसन, १९४३, पृष्ठ ४५।

२. वही।

बहुत लम्बा चौडा था, अफ्रीका में इटली को और सम्पूर्ति करने के लिए फ्रेंच स्वामित्व वाली जिबूटी-अदीस अबाबा रेलवे (Djibouti-Addis Ababa railway) में लगभग २५०० शेयर इटली को देने की व्यवस्था की गई—इस रेलवे द्वारा एबिसीनिया का व्यापार फ्रेंच सुमालीलैंड से समुद्र तक पहुँचता था। ट्यूनीशिया के सवाल पर एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार उस उपनिवेश में १९४५ से पहले इटालियन जनों से उत्पन्न बच्चों की इटालियन राष्ट्रीयता मानी गई, और अगले २० वर्षों में उत्पन्न बच्चों को विकल्पाधिकार (right of option) दिया गया। १९६५ के बाद वहां फ्रेंच सामान्य विधि (common law) लागू होनी थी।

यूरोपियन स्थिति के बारे मे दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि यदि किसी देश ने अपने शस्त्रास्त्रों संबंधी दायित्व का एकपक्षीय प्रत्याख्यान किया तो वे मिल कर कार्यवाही करेंगे, और यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि किसी को एक-पक्षीय कार्यवाही की इजाजत नही दी जा सकती। उन्होंने अन्य राज्यों की स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता का आदर करने के अपने कर्तव्य की पुन: पुष्टि की और यह सिफारिश की कि आस्ट्रिया और अन्य 'विशिष्टत: बद्धहित राज्यों' के मध्य परस्पर अहस्तक्षेप (non-intervention) के लिए एक अभिसमय कर लिया जाए। ऊपर से यह प्रतीत होता था कि इटली को इस सौदे से मामूली लाभ हुए हैं। आस्ट्रिया में जर्मन दखलंदाजी के विरोध में सहयोग करने की फ्रांस की तत्परता हर सूरत में एक पूर्व-निश्चित बात थी जिसके लिए उसे कुछ देने की आवश्यकता नहीं थी। ट्यूनीशिया संबंधी व्यवस्था में कुल मिला कर इटली द्वारा पहले किये गए दावों को कम ही करना पड़ा था और अफ्रीका में प्रदेश-प्राप्ति बहुत कम आबादी वाले कुछ वर्ग मील रेगिस्तान की ही प्राप्ति थी। बाद की घटनाओं को ध्यान में रखें तो इसमें कुछ भी संदेह नहीं हो सकता कि श्री मुसोलिनी फ्रांको-इटालियन समझौते के जिस पहलू को सबसे अधिक महत्व देते थे, वह यह था कि इससे एक परियोजना के लिए जिसकी योजना कुछ समय से तय्यार की जा रही थी, अर्थात् एबिसीनिया पर विजय के लिए, रास्ता साफ हो जायगा। अब तक इस प्रदेश में इटालियन अग्रेसर नीति का फ्रांस की ओर से ईर्ष्यापूर्ण विरोध होता, पर इस मौके पर, जैसा कि समझौता वार्ता के तथ्य से ही सिद्ध होता था, जर्मनी के पुनरुत्थान से उत्पन्न स्थिति ने उसे यूरोप के इस खतरे के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा संगठित करने के सर्वोच्च उद्देश्य के सामने और सब स्वार्थों को गौण करने के लिए प्रवृत्त कर दिया था। रोम के वार्तालाप में श्री मुसोलिनी ने कम से कम यह आश्वासन प्राप्त कर लिया था कि फ्रांस के प्रत्यक्ष स्वार्थ एबिसीनिया में इटली के आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना में बाधक नही होंगे और यद्यपि श्री लावाल का यह निश्चय-कथन शायद सत्य था कि 'रोम समझौतों की कोई भी बात इथियोपिया की सर्वोच्च स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता को नहीं छेड़ती', [1] और इस आरोप का प्रत्याख्यान भी सच था कि उन्होंने इटालियन प्रथमाक्रमण को पहले ही खुली छूट का परवाना दे दिया था, पर प्रतीत होता है कि डूचे ने यह निष्कर्ष

१. फ्रेंच सीनेट में भाषण, २६ मार्च, १९३५।

निकाला था, जो बाद की घटनाओं के प्रकाश में देखें तो सही ही निकाला था, कि यदि फ्रेंच स्वार्थ मेरी योजनाओं में बाधा नहीं है तो इथियोपियन स्वार्थों की फ्रांस को विशेष चिन्ता नहीं होगी।

वर्साई संधि का प्रथम प्रत्याख्यान
(The First Repudiation of the Versailles Treaty)

इस बीच हिटलर यह अनुभव कर रहा था कि उसे जर्मनी को शान्ति संधि की दासता से जर्मन नेतृत्व के स्वर्ग में पहुँचाने वाले पूर्व-निर्दिष्ट नेता के रूप में अपने दावे को सिद्ध करने के लिए कोई सनसनीदार नीति घोषित करनी चाहिए। अब तक प्रगति मन्द और प्रभावहीन रही थी। आस्ट्रोजर्मन ऐक्य अब भी पहले ही जितनी दूर था और आस्ट्रियन षड्यंत्र का परिणाम एक संभाव्य मित्र को एक सक्रिय विरोधी बना देने के रूप में ही हुआ था। यह सच था कि जर्मनी को पुनः शस्त्रसज्जित करने का काम चुपके से पहले ही शुरू कर दिया गया था, पर यह संभाव्य प्रतीत होता था कि अन्य शक्तियों की मौन-स्वीकृति के कारण इसका नाटकीय प्रभाव तब तक नहीं हो सकता, जब तक इसको बहुत जोर के साथ प्रचारित न किया जाए। फ्रांस और ब्रिटेन में फरवरी १९३५ के शुरू में लन्दन में जो वार्तालाप हुआ, उससे यह दिखायी देता था कि दोनों सरकारें कुछ शर्तों पर वर्साई संधि के निरस्त्रीकरण खण्डों को निराकृत करने को तय्यार थीं। फ्रांस जो शर्त लगाने के लिए उत्सुक था वह यह थी कि जर्मनी श्री बार्थो द्वारा परियोजित पारस्परिक गारण्टी प्रणाली में शामिल हो और यह विचार लन्दन वार्तालाप के बाद प्रकाशित की गई विज्ञप्ति में प्रकट किया गया था। उसमें इसके साथ 'ऐयरलोकार्नो' (air Locarno) के लिए एक नई प्रस्थापना भी थी जिसके अनुसार पश्चिमी शक्तियां उस देश को अपनी वायु सेनाओं की अविलम्ब सहायता प्रदान करने का पारस्परिक वचन देंगी जिस पर संविदा-कर्ता पक्षों में से कोई एकाएक हवाई आक्रमण कर दे।

ये प्रस्थापनाएं जर्मनी के सामने एक अविभाज्य समष्टि के रूप में पेश की गईं, क्योंकि जिस बात पर ब्रिटेन का सबसे अधिक जोर था, वह यह था कि सारा मामला निपट जाए, पर जर्मनी में उन पर पृथक्-पृथक् विचार किया गया, और उनका अलग-अलग स्वागत हुआ। वायु संधि, जिसका जैसा कि जनरल गोरिंग ने बाद में बताया अर्थ यह होता था कि जर्मनी के पास वायुसेना होगी जिस पर शान्ति संधि में पाबन्दी लगाई गयी थी, निश्चित रूप से स्वागत-योग्य थी। ऐसी प्रस्थापना को अस्वीकार करना जर्मनी को ऐसी व्यवस्था के संभाव्य लाभों से वंचित करना मात्र होता, जो शेष पक्ष आपस में भी कर सकते थे। पर जर्मनी ने पूर्वी यूरोप में बहुपक्षीय समझौते करने पर अपनी आपत्तियां कायम रखीं। अब भी संभावनाएं इतनी अनुकूल प्रतीत होती थीं कि सर जान साइमन को ७ मार्च को बर्लिन आने के लिए निमन्त्रण दिया जा सकता था पर प्रस्तावित तिथि से तीन दिन पहले ब्रिटिश सरकार ने प्रतिरक्षा के प्रश्न के संबंध में एक संसदीय पुस्तिका प्रकाशित की।[1] इसमें 'इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा गया था कि जर्मनी वर्साई की संधि के भाग ५ के उपबंधों के होते हुए खुले आम बड़े

---

१. cmd 4827 of 1935.

पैमाने पर पुनः शस्त्रीकरण कर रहा था,' और यह स्वीकार किया गया था कि 'न केवल सेना से, बल्कि उस भावना से, जिससे आबादी का और विशेषकर देश के युवकों का संगठन किया जा रहा है, असुरक्षा की वह व्यापक भावना, जो निर्विवादरूप से पहले पैदा हो चुकी है, अधिक चमत्कृत और सिद्ध होती है'।

चाहे इस खरे प्रकाशन के परिणामस्वरूप हो, जैसा कि उस समय आम तौर पर समझा जाता था, और चाहे अन्य कारणों से हो, हिटलर को तुरन्त 'सर्दी लग गई' जिससे ब्रिटिश यात्रा को महीने के अंतिम दिनों तक स्थगित करना आवश्यक हो गया। इस कूटनीतिक रुग्णता से उसके स्वस्थ होने मे, १२ मार्च को फ्रेंच मंत्रिमंडल के इस निश्चय से और रुकावट पड़ गई कि महायुद्ध के दिनों में फ्रेंच जन्म-दर मे कमी के कारण १९३५-३९ के वर्षो मे उपलब्ध रंगरूटों की जो गम्भीर न्यूनता उसके सामने आई थी, उसे पूरा किया जाए। इस लक्ष्य को वे सेवाकाल दुगना और प्रारम्भिक भर्ती की अवस्था मे कमी करके प्राप्त करना चाहते थे, यद्यपि इसके परिणामस्वरूप फ्रेंच सेनाओं में वृद्धि न होती बल्कि इसका उद्देश्य सिर्फ उसे ३५०,००० के सामान्य स्तर पर बनाए रखना था। पर इससे फ्यूहरर को उस कार्य के लिए एक सुविधाजनक बहाना मिल गया जो उसने पहले ही सोच रखा होगा। इस समय तक यह स्पष्ट था कि फ्रांस और ब्रिटेन दोनों की नीति जर्मनी की सशस्त्र सेनाओं में वृद्धि को अवश्यम्भावी समझती थी इसलिए यह अनुमान करना अनुचित न था कि उनमें से कोई भी अति न करेगा, चाहे हिटलर ने शाँति संधि के भाग ५ के अधीन अपने दायित्वों का प्रत्याख्यान कितने ही स्पष्ट रूप से करने का निश्चय किया हो। इन परिस्थितियों में उसे एक नाटकीय उत्क्षेपण (coup) का अवसर मिल गया।

शनिवार ९ मार्च को विदेशी सरकारों को सरकारी तौर से यह अधिसूचित किया गया कि वर्साई संधि के बावजूद एक जर्मन वायुसेना मौजूद है। यह तारीख महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह जर्मनी द्वारा अपने संधिगत दायित्वों का पहला खुला प्रत्याख्यान था, पर सारभूत तथ्य कुछ समय से सब को मालूम था और इसलिए इसका अपेक्षतया कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। तेरह तारीख को सर जान साइमन ने ब्रिटिश लोकसभा में कहा कि विलम्बित आँग्ल जर्मन वार्त्ता २५ तारीख को होगी और मै और ईडन २४ को बर्लिन रवाना होंगे। पर अगला सप्ताहांत अधिक सनसनीखेज रहा। १६ मार्च को राईख की सरकार (Government of the Reich) ने एक आदेश जारी करके जर्मनी में लामबन्दी पुनः शुरू कर दी और जर्मन सेना की शांतिकालीन संख्या १२ कोर और ३६ डिवीजन, अर्थात् जैसा कि बाद में हिटलर ने इसका अर्थ बताया, ५,५०,००० निश्चित की। इतनी बड़ी सेना उस सेना से प्रायः दुगुनी थी, जो हिटलर ने पहले पर्याप्त बतायी थी, और योरोप में फ्रेंच सेना की सामान्य शांतिकालीन संख्या से बहुत अधिक थी। इसलिए इस ऐलान से व्यापक भय पैदा हुआ। जैसा कि ब्रिटिश सरकार ने शीघ्र ही एक सरकारी विरोधपत्र में बताया था, इससे 'स्वतन्त्र रूप से वार्त्ता द्वारा किये जाने वाले व्यापक समझौते, जो अब तक योरोपीय कूटनीति का माने हुए उद्देश्य थे, की संभावनाएँ यदि अन्तिम रूप से नष्ट नहीं हो गईं तो भी गम्भीर हानि अवश्य पहुँची।'

एक ऐसा व्यापक समझौता, जो सब की सम्मति से संधि उपबन्धों का स्थान ले ले, होने में उन संख्याओं से कोई सुविधा नहीं होगी जो सशस्त्र सैनिकों के बारे में पहले कभी भी प्रस्तुत की गयी संख्याओं से बहुत अधिक बड़ी है और पहले ही किये जा चुके निश्चय के रूप में पेश की गयी हैं। इसके अलावा, यदि वे संख्याएँ उसी रूप में बनी रहें तो अन्य अत्यधिक सम्बन्ध रखने वाली शक्तियों का उस पर सहमत होना यदि असंभव नहीं तो बहुत कठिन तो हो ही जाएगा।[1]

फ्रेंच और इटालियन सरकारों ने भी विरोध प्रकट किया और फ्रेंच सरकार ने राष्ट्रसंघ के महामंत्री (Secretary General) के पास अविलम्ब अपील पेश की। राष्ट्रसंघ की परिषद् की एक असाधारण बैठक बुलाई गई और उससे पहले स्ट्रेसा में ११ अप्रैल को फ्रांस, ब्रिटेन और इटली का नई स्थिति पर क्या रुख हो, यह विचारने के लिए प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन रखा गया।

स्ट्रेसा सम्मेलन और जिनीवा की कार्यवाही

(The Stresa Conference and the Proceedings at Geneva)

ब्रिटिश मंत्रियों की बर्लिन यात्रा २५ मार्च को पूर्व-व्यवस्था के अनुसार हुई पर उससे कुछ भी लाभ न हुआ। हाँ, इतना अवश्य पता चला कि हिटलर का रवैया जिद और हठ का है। इसके बाद ईडन मास्को, वार्सा और प्राग गये और ११ अप्रैल को स्ट्रेसा सम्मेलन हुआ। यह मुख्यतः एक संयुक्त मोर्चा प्रदर्शित करने का प्रयत्न था। तीनों सरकारों ने—

खेद के साथ यह अनुभव किया कि ऐसे समय, जब शस्त्रास्त्रों के प्रश्न को स्वतन्त्र रूप से वार्त्ता द्वारा निपटाने की दिशा में कदम उठाये जा रहे थे, जर्मन सरकार द्वारा अपनाये गये एकपक्षीय प्रत्याख्यान के तरीके से जनता का शान्तिपूर्ण व्यवस्था की निःशंकता में विश्वास कमजोर पड गया।[2]

उन्होंने लोकार्नो संधि में अपनी निष्ठा पुनः प्रकट की और आस्ट्रिया के विषय की चर्चा करते हुए—

१७ फरवरी और २७ सितम्बर १९३४ की एंग्लो-फ्रैंको-इटालियन घोषणाओं की पुष्टि की, जिनमें तीनों सरकारों ने यह माना था कि आस्ट्रिया की स्वाधीनता और अखंडता बनाये रखने की आवश्यकता उन सब की नीति का आधार बनी रहेगी।[3]

शायद यह बात अर्थपूर्ण थी कि मुसोलिनी ने सम्मेलन के दिन प्रातःकाल इटालियन जनता को यह चेतावनी दी कि वह सम्मेलन के विचार-विमर्श से अत्यधिक आशा न करे। इस समय उसके मन में शान्ति की विध्वंसक और सहयोग के लिए घातक एक परियोजना पहले ही घूम रही थी जिसकी, मौन रहने के षड्यन्त्र द्वारा, सम्मेलन में किसी भी पक्ष ने चर्चा नहीं की। राष्ट्रसंघ की परिषद् की, जिसने १५-१७ अप्रैल तक जिनीवा में विचार-विमर्श किया बाद की कार्यवाहियों का परिणाम इस घोषणा के रूप में हुआ कि :

---

१. Cmd. 4848 of 1935।

२. Cmd. 4880 of 1935.

३. लीग आफ नेशन्स आफिशल जर्नल, मई १९३५, पृष्ठ ५५१।

जर्मनी ने उस दायित्व का पालन नहीं किया है जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सब सदस्यों पर उन वचनों को पूरा करने के बारे में आता है, जो उन्होंने दिए हैं।[1]

और यह संकेत भी किया कि यदि उस प्रकार का कार्य आगे किया गया जिस की निन्दा की गयी है तो शाब्दिक निन्दा के साथ ठोस कार्यवाही भी की जा सकती है।

इस प्रसंग में यह निश्चय किया गया कि जिस प्रकार के प्रत्याख्यान का दोषी जर्मनी को माना गया है यदि वैसे प्रत्याख्यान का उदाहरण '*योरोप* के देशों की सुरक्षा और *योरोप* में शान्ति बनाये रखने के सम्बन्ध में दिये गये वचनों के प्रसंग में हो' तो उचित कार्यवाही करने की आवश्यकता है, और एक समिति से यह प्रार्थना की गई कि वह

इस प्रयोजन के लिए ऐसे उपाय सुझाए जिनसे प्रसंविदा सामूहिक सुरक्षा के संगठन में अधिक प्रभावी हो जाए और खासकर वे आर्थिक और वित्तीय उपाय निर्दिष्ट करे जो भविष्य में किसी राज्य के, चाहे वह राष्ट्र संघ का सदस्य हो या न हो, अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के एक-पक्षीय प्रत्याख्यान द्वारा शान्ति के लिए संकट पैदा करने पर अपनाए जा सकें।[1]

"*योरोप की* जातियों की सुरक्षा और *योरोप में* शान्ति बनाए रखने" की बात में सिर्फ योरोप की जो विचित्र चर्चा थी, उसकी ओर उस समय कुछ ध्यान खिचा और बाद में और भी अधिक ध्यान गया। स्पष्टतया ऐसा जान-बूझ कर किया गया क्योंकि श्री लिटविनोफ द्वारा प्रस्ताव के क्षेत्र को विस्तृत करने के प्रयत्न का तीव्र विरोध किया गया था, पर उसे इस कारण उचित ठहराया जा सकता था कि उसका उद्देश्य उस बात के लिए नयी अनुशास्तियाँ (sanctions) सोचना था जिसकी प्रसंविदा में स्पष्ट चर्चा नहीं थी, और कि नया दंडात्मक विधान बनाते हुए ऐसी कोई बात रखना हितकर न था जिसको शायद सबका अनुमोदन न प्राप्त हो सके। इन शब्दों में एबिसीनियन स्थिति के प्रच्छन्न निर्देश होने की बात स्पष्टतया गलत मालूम होती है—यदि एबिसीनिया में आक्रमण होता तो वह पहले ही अनुच्छेद १६ के अन्तर्गत आ जाता।

हिटलर का २१ मई १९३५ का भाषण
(Herr Hitler's Speech of 21 May, 1935)

जिन लोगों ने हिटलर के इरादों और नीति के बारे में अधिक अनुकूल रुख अपनाया, वे अपनी मान्यता के समर्थन में इस समय उसके उस रवैये की युक्तिपूर्णता और मध्यमार्ग की ओर इशारा कर सकते थे जो उसके २१ मई को दिए गये एक महत्त्वपूर्ण भाषण में प्रकट हुआ था। बाद की घटनाओं को देखते हुए यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि जर्मन परराष्ट्र नीति पर यह पूरी और विमर्शित घोषणा सोवियत संघ के साथ फ्रेंच और चैकोस्लोवाक संधियों पर हस्ताक्षर के अविलम्ब बाद की गयी थी—उन संधियों को यह सचमुच स्थिति का एक घटक मानती थी क्योंकि इसमें कहा गया था कि :

१. लीग आफ नेशन्स आफिशल जर्नल, मई १९३५, पृष्ठ ५५१।

फ्राँस और रूस के मध्य सैनिक संधि के परिणामस्वरूप लोकार्नो संधि में विधिगत असुरक्षा का अंश आ गया है।

और तदनुसार

जर्मन सरकार विशेष रूप से कृतज्ञ होगी, यदि प्रामाणिक रूप से यह बताया जा सके कि लोकार्नो संन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक पक्ष के संविदीय कर्त्तव्य (contractual obligation) पर फ्राँको-रूसी सैनिक संधि के भूतलक्षी (retrospective) और भविष्यलक्षी प्रभाव क्या होंगे।

इसलिए इस संधि को पूरी तरह एक सिद्ध तथ्य (fait accompli) मानते हुए ही हिटलर ने, लादी गई वर्साई संधि के अपने एकपक्षीय प्रत्याख्यान को, विशेष रूप से इस कारण कि उनके निर्वचन के अनुसार, निरस्त्रीकरण सम्बन्धी समझौते पहले अन्य पक्ष तोड़ चुके थे, उचित ठहराते हुए भी, यह आश्वासन दिया कि मैं स्वेच्छया लिये गए अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को खास कर लोकार्नो संधि और उसके राइनलैंड में विसैन्यीकृत क्षेत्र-विषयक उपबंधों का सचाई से पालन करूँगा। इस विषय पर उसने निम्न शब्द कहे थे :—

खास कर वह (जर्मन सरकार) तब तक लोकार्नो संधि से उत्पन्न सब दायित्वों को मानती रहेगी और उनकी पूर्ति करेगी जब तक अन्य हिस्सेदार उस संधि का पालन करने को तैयार हैं। विसैन्यीकृत क्षेत्र को स्वीकार करने में जर्मन सरकार यह समझती है कि उसका कार्य योरोप को प्रसन्न करने में वही योगदान है जो योगदान सर्वोच्च-सत्ता-सम्पन्न राज्य के लिए अश्रुतपूर्व सख्ती का है।

अब संभवतः इस वाक्य का यह मतलब लगाना सम्भव है कि जिस नीति की उद्घोषणा की गई थी उससे बचने के एक साधन को यह छिपाये हुए था पर इसे इस बात का सच्चा संकेत नहीं माना जा सकता कि तथ्यतः उस प्रतिज्ञा पर भरोसा नहीं किया जा सकता था।

उसी भाषण में आस्ट्रिया के सम्बन्ध में की गई घोषणा और भी अधिक स्पष्ट थी।

जर्मनी आस्ट्रिया के आन्तरिक मामलों में दखल देने का, आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला लेने का, या ऐक्य संधि करने का न तो इरादा रखता है न और इच्छा।

जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण के बारे में भी हिटलर ने उतनी ही संयत और विश्वासजनक बात कही। वह किसी भी अवस्था में उद्घोषित परिमाण से आगे नहीं जायेगा और किसी भी समय जर्मनी की सेनाएँ अन्य शक्तियों द्वारा समान रूप से अपनाई गई मात्रा तक सीमित करने के लिए तैयार था। वायु सेना में वह पश्चिमी योरोप के राष्ट्रों के साथ समानता से अधिक कुछ नहीं चाहता था और नौ सेना को वह ब्रिटिश नौ सेना के ३५% तक सीमित करने को राजी था और उसने नौसैनिक पुनः शस्त्रीकरण प्रतिस्पर्धा की भावना से करने के किसी भी इरादे का खण्डन किया। अन्त में उसने 'गैर जिम्मेदार प्रचार' पर विरोध-प्रदर्शन किया और किसी भी राष्ट्र के घरेलू मामलों में बाह्य हस्तक्षेप न होने देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की वाँच्छनीयता पर जोर दिया।

इस भाषण के कुछ अंश बाद की घटनाओं के प्रकाश में पढ़ने पर कुछ विचित्र मालूम हो सकते हैं, पर उस समय उन्होंने अयुक्तियुक्त माँगों के बजाए शांति-

पूर्ण इरादों का संतोषजनक प्रभाव पैदा किया, पर जिन्हें वक्ता की सत्यता पर संदेह था वे यह कह सकते थे कि योरोप के विक्षुब्ध मन को इन परिस्थितियों में कुछ नये आश्वासन की अविलम्ब आवश्यकता थी। १६ मार्च के सिद्ध तथ्य (fait accompli) का यह परिणाम हुआ था कि योरोप की शेष महाशक्तियों ने एक प्रतिरक्षात्मक संगठन बना लिया था—स्ट्रेसा सम्मेलन के तीन हिस्सेदारों में अब फ्रांको-रूसी संधि ने सोवियत संघ को भी जोड़ दिया था। इसके अतिरिक्त राष्ट्र संघ को गम्भीरता से यह विचार करने लिए प्रेरित किया गया कि वह ऐसे उत्क्षेपण (coup) की पुनरावृत्ति रोकने के लिए कार्य-साधक उपायों की योजना करे। उग्रता से कोई और लाभ नहीं हो सकता था और मौजूदा लाभ खतरे में पड़ सकते थे। अधिक से अधिक कुटिल राजनीतिज्ञ से यह आशा की जा सकती थी कि वह इन परिस्थितियों में जो संदेह पैदा हो चुके थे उन्हें दूर करने के लिए न्यायोचित्त शब्द और न्यायसंगत प्रतीत होने वाली प्रतिज्ञाओं का सहारा लेगा, पर उन लोगों में फूट के बीज बोने का कोई भी मौका हाथ से न जाने देगा जो अब उसके मुकाबले में एक साथ खड़े थे। जैसे प्रस्ताव फ्यूहरर ने अब रखे थे, उन से फ्राँस के संदेहपूर्ण विधिवाद और ब्रिटेन की समझौता-प्रियता में संघर्ष हो सकता था। फ्रांको-सोवियत संधि की व्यापक अप्रियता असौहार्द का मूल थी जिससे लाभ उठाया जा सकता था। पर समुद्री और स्थलीय शस्त्रास्त्रों में जो भेद किया गया था, वह भी उसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए एक आशाजनक साधन था।

आँग्ल-जर्मन नौसैनिक संधि

(The Anglo-German Naval Agreement)

नौसैनिक शस्त्रीकरण के बारे में हिटलर के प्रस्ताव की सचाई उसके प्रस्तावों के और किसी भाग की सचाई की अपेक्षा कम संदेह योग्य प्रतीत होती थी। *मीनकैम्फ* (*Mein Kampf*) में उस ने स्पष्ट लिखा है कि शत्रु रूप में इंगलैंड को पीछे छोड़कर आगे बढ़ते जाने की नीति मूर्खतापूर्ण है।

> सिर्फ इंगलैंड को साथ लेकर ही यह संभव है कि पृष्ठ भाग सुरक्षित हो जाने पर नया जर्मन बढ़ाव आरंभ किया जाए ......इंग्लैंड को अपने अनुकूल बनाने के लिए कोई भी कुर्बानी बड़ी नहीं[1]

उपर्युक्त संदर्भ में परिगणित आवश्यक कुर्बानियों में उसने 'जर्मन नौसेना का परित्याग' भी गिना है। बाद में औपनिवेशिक साम्राज्य का लक्ष्य फिर पैदा हो जाने पर इस कार्यक्रम को परिवर्त्तित किया जा सकता था, पर जब तक लक्ष्य पूर्व में प्रसार और फ्रेंच नेतृत्व का विनाश था, तब तक हिटलर प्रधान समुद्री शक्ति (ब्रिटेन) के अविश्वास को दूर करने के लिए तैयार था। इसलिए ब्रिटिश सरकार का यह मानना सर्वथा उचित था कि जर्मन प्रस्ताव का नौसैनिक भाग यथार्थ और विश्वसनीय था।

ब्रिटेन ने अपनी समझौते की भावना के अनुरूप, जो आधा भाग सुलभ था उसे जल्दी से हस्तगत करने का उपक्रम किया। ४ जून को वार्ता आरंभ हुई और १८ को

१. मीन कैम्फ, पृष्ठ १५४।

एक समझौता हो गया। इस में हिटलर द्वारा प्रस्तुत ३५ और १०० का अनुपात ही रखा गया था, यद्यपि जर्मनी को यह अधिकार भी मिल गया कि वह सारे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल को इस श्रेणी में पनडुब्बियों की जितनी टनेज प्राप्त है उतनी तब तक रख सके जब तक कुल टनेज सम्बन्धी व्यवस्था का अतिक्रमण न हो। इस में कोई संदेह नहीं कि कम से कम इन सीमाओं तक नौसैनिक निर्माण अवश्य किया गया होता, और सच तो यह है कि वह पहले ही शुरू किया जा चुका था। २६ अप्रैल को ही जर्मन सरकार ने ब्रिटेन से कह दिया था कि हम कुछ पनडुब्बियाँ बना रहे हैं जो शान्ति संधि के अनुच्छेद १९१ का स्पष्ट अतिक्रमण था। ८ जुलाई को ही एक जर्मन नौसैनिक निर्माण कार्यक्रम प्रकाशित किया गया था, जिसमें दो २६ हजार टन के बैटल शिप दो १० हजार टन के क्रूजर, १६ विध्वंसक, जिनमें से प्रत्येक १६२५ टन का था, और २० पनडुब्बियाँ थीं, और यह मानने के लिए उचित कारण है कि १८ जून के पहले इस कार्यक्रम में कुछ प्रगति हो चुकी थी। यदि उसे अलग करके सोचें तो ब्रिटिश दृष्टिकोण से जर्मनी के नौसैनिक पुनःशस्त्रीकरण पर कोई सहमत सीमा मौका रहते हुए लादने की नीति उचित होती। यदि यह समझौता फ्राँस और इटली के साथ मिलकर किया गया होता तो इस पर कोई आपत्ति न की जा सकती थी।[1]

तो भी जो कुछ किया गया वह संधि के दायित्वों के और अधिक अतिक्रमण को अकेले ब्रिटेन द्वारा क्षमा करने के तुल्य था। इंग्लैंड के योग से स्ट्रेसा में तय किया गया संयुक्त कूटनीतिक मोर्चा टूट गया था। इसी प्रकार, जो कुछ किया गया वह फ्राँस और ब्रिटेन द्वारा फरवरी में स्वीकार किये गए इस दृष्टिकोण से हटना था कि वर्साई के निर्बन्धों से जर्मनी की मुक्ति को एक व्यापक निपटारे के अंग के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। फ्राँस और इटली ने असंतोष के स्पष्ट चिह्न प्रदर्शित किये। उनकी दृष्टि में, इंग्लैंड जर्मन अधिनायक द्वारा उसके सामने चतुराई से फेंके गए काँटे को आसानी से निगल गया प्रतीत होता था। यदि हिटलर के प्रस्ताव का मुख्य प्रयोजन स्ट्रेसा मोर्चे के संगठन को कमजोर करना था, तो निश्चित ही इसका उद्देश्य पूरा हो गया था।

इटालो-एबिसीनियन युद्ध
(The Italo-Abyssinian War)

पर इस संगठन को इटली के एबीसीनिया के साथ युद्ध करने के संकल्प से जिसका अब व्यापक रूप से भय किया जा रहा था, कहीं अधिक गम्भीर खतरा हो गया था। अब यह विदित है, जैसा कि मार्शल ऐमिलियो डीबोनो (Marshal Emilio de Bono) ने स्पष्ट कह डाला था, कि यह संकल्प १९३३ के पतझड़ में ही अन्तिम रूप से बना लिया गया था, और तब से ही इटली जोर-शोर से ऐसी तारीख को युद्ध छेड़ने की तैयारी कर रहा था, जिससे मामला १९३६ खत्म होने तक निपट जाये। थोड़े से समय में बहुत कुछ करना था, पर आगामी युद्ध की तैयारियाँ और कमान डी बोनो को सौंप कर, जिसकी आयु १९३३ में ६७ वर्ष की हो चुकी थी, डूचे

१. पर यह कठिन होता और शायद असम्भव ही सिद्ध होता।

ने यह निश्चित कर दिया कि तय की गयी तिथि को और न टालने के लिए सब कुछ संभव प्रयत्न किया जायेगा। एक या दो साल बाद जनरल इतना वृद्ध हो जायेगा कि वह अपने सैनिक जीवन को युद्ध में व्यस्त एक ऊँची कमान के साथ समाप्त करने की अपनी चिरसंचित अभिलाषा पूरी न कर सकेगा। पहले यह सोचा गया था कि आक्रमण का यह योजनाबद्ध कार्य एबिसीनिया में किसी आन्तरिक विद्रोह में हस्तक्षेप के रूप में किया जाए अथवा उस रूप में किया जाये जिसे मार्शल साभिप्राय 'स्वयं-रचित प्रतिरक्षा, जिसके बाद प्रत्याक्रमण हो,' के रूप में बताता है। इसलिए शुरू से षड्यंत्र और रिश्वत द्वारा अधीनस्थ इथियोपियन सरदारों की निष्ठा को बिगाड़ने के यत्न किये गए और यह नीति यद्यपि इतनी दूर तक तो नहीं पहुँच सकी कि हस्तक्षेप के लिए बहाना प्रस्तुत कर सके, पर बाद के अभियान में बड़ी मूल्यवान् सिद्ध हुई।

समझने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अभियान के आरम्भ से ही इस फूट डालने वाले राजनैतिक कार्य के परिणाम के चिह्न दिखाई दे रहे थे और इसने हमारे शत्रु को कम से कम दो लाख आदमियों से वंचित कर दिया।

दूसरा बहाना इस तरह न बन सका कि द्वितीय पक्ष ने उत्तेजित होकर आक्रमण-कार्य में पड़ने से इन्कार कर दिया और उसने, अगर कोई घटनाएँ हुई हों तो उनके लिए संतुष्टि कराने में अपनी तत्परता प्रदर्शित की। इसलिए जब पूर्व-निश्चित समय आया, तब इसे छिपाने के सब प्रयत्न छोड़ने पड़े।

नकली प्रतिरक्षा की उस योजना को छोड़ कर जिसके बाद प्रत्याक्रमण होना था, हमें आक्रमण-कार्य की योजना अपनाने के लिए मजबूर होना पड़ा।

डूचे ने जो निश्चय १९३३ में जर्मनी में हिटलर के सत्तारूढ़ होने के तुरन्त बाद किया था, उसके आधार करीब-करीब निम्नलिखित माने जा सकते हैं। इटली की प्रसार की आवश्यकता फासिस्ट नीति का एक आधारभूत तत्त्व थी। एशिया कोचक के पहले तो शान्ति सम्मेलन द्वारा और अन्त में टर्की के पुनरुत्थान द्वारा अविचारणीय हो जाने पर दो में से कोई एक बात की जा सकती थी—'पूर्व की ओर शान्तिपूर्ण प्रसार जिसमें सारे डैन्यूबियन और बाल्कन प्रदेश को यथासम्भव इटली द्वारा संरक्षित प्रदेश या इटालियन प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया जाए अथवा अफ्रीका में और अधिक औपनिवेशिक क्षेत्र प्राप्त किया जाये। मुसोलिनी के भूमध्य-सागर में नेतृत्व-सम्बन्धी अन्तिम स्वप्न चाहे जो रहे हों, पर इस प्रदेश में एक ही ऐसा भूमिखण्ड था जिसकी प्राप्ति में किसी प्रतिस्पर्धी योरोपीय शक्ति के साथ सीधी टक्कर नहीं होती थी—यह था इथियोपिया का साम्राज्य जो ऐसा प्रदेश था जहाँ अग्रेसर नीति (forward policy) के लिए प्रलोभन विशेष रूप से प्रबल था। प्रथमतः इस की प्राकृतिक सम्पदा के कारण, और दूसरे, इस कारण कि १८८९ में उक्सियाली की संधि (Treaty of Ucciali) द्वारा इटालियन एक बार यह मान चुके थे कि उन्हें इस पर संरक्षणाधिकार प्राप्त हो गया था। पर १८९३ में मेनेलिक में इस संधि को अस्वीकार कर दिया गया और १८९६ में उन्हें एडोवा में विनाशकारी पराजय हुई जिससे अस्थायी रूप से ये आशाएँ नष्ट हो गईं और सिर्फ एक चुभने वाली तथा प्रतिशोधात्मक स्मृति-मात्र रह गई पर यद्यपि अन्य सम्बन्धित योरोपीय शक्तियों.

ब्रिटेन और फ्राँस ने इथियोपियन साम्राज्य को बहुत समय से इटालियन दिलचस्पी का विस्तृत क्षेत्र माना था, तो भी हिटलर के आगमन से योरोप की स्थिति परिवर्तित न होने तक यहाँ और अफ्रीका में अन्यत्र भी औपनिवेशिक प्रसार की अगली सम्भावनाओं का यदि इंगलैंड द्वारा नहीं तो फ्राँस द्वारा तो अवश्य ही विरोध होना था। ये दोनों शक्तियाँ और इटली असल में १९०६ के त्रिपक्षीय समझौते द्वारा इथियोपिया की अखण्डता का संरक्षण करने के लिए प्रत्येक प्रयत्न करने को वचनबद्ध थे। इसलिए अब फ्रेंच विरोध इटालियन प्रसार की दोनों वैकल्पिक योजनाओं की संपूर्ण पूर्ति में बाधा बन रहा था—दक्षिण-पूर्वी यूरोप में लघु संधि देशों के साथ अपने सम्बन्धों द्वारा, और अफ्रीका में सारे अभिलषित प्रदेशों में प्रतियोगी फ्रेंच हितों के कारण। यदि जर्मनी नये शासन के अधीन रहते हुए फ्यूहरर की घोषित योजनाओं की पूर्ति के लिए काफी शक्तिशाली हो जाता तो भी डेन्यूब क्षेत्र में इटालियन प्रधानता के मार्ग में उतनी ही बड़ी रुकावट आ जाती पर ये योजनाएं फ्रेंच हितों के भी कम से कम उतनी तो प्रतिकूल थीं ही और इन परिस्थितियों में यह संभव था कि फ्राँस में यूरोप को जो भय थे, उनके चक्कर में डालकर उसे एबिसीनिया के भविष्य के प्रति विरक्त कर दिया जाए। यूरोप की स्थिति को देखते हुए और यूरोप से बाहर से युद्धों के प्रति (उदाहरण के लिए मंचूरिया मामला और बोलीविया तथा पेरागुआ के मध्य संघर्ष) राष्ट्र संघ द्वारा अब तक अपनाए गए दृष्टिकोण को देखते हुए एबिसीनिया के विरुद्ध आक्रमण की परियोजना अपेक्षतया निरापद जुआ प्रतीत होता थी।

यह सच है कि शुरू के युद्धोत्तर वर्षों में शान्तिपूर्ण और सहयोगिता के उपायों से एबिसीनिया में इटालियन प्रभाव स्थापित करने के प्रयत्न किए गए थे; मुख्यतः इटली की सिफारिश पर ही एबिसीनिया को ब्रिटेन की अनिच्छा होते हुए भी १९२३ में राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया गया था; पर एबिसीनिया ने अपनी नई स्थिति का जो प्रयोग किया, वह इटालियन दृष्टिकोण से उत्साहवर्द्धक नहीं था, क्योंकि १९२५ में जब इटली और ब्रिटेन ने एबिसीनियन प्रभाव क्षेत्र तीसरे प्रभावित पक्ष से बिना परामर्श किये आपस में बाँटने का प्रयत्न किया, तब इथियोपिया ने राष्ट्र संघ में अपील करके उसे अंशतः विफल कर दिया। १९२८ में शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा इटालियन हितों की सुरक्षा करने का अंतिम प्रयत्न एक इटैलो-एबिसीनियन संधि (Italo-Abyssinian treaty) के रूप में किया गया जिसके द्वारा, और बातों के साथ-साथ, दोनों पक्षों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे एक-दूसरे की स्वाधीनता के लिए अहितकर कोई कार्य न करेंगे और सब विवाद, शस्त्र-बल का सहारा लिए बिना, संराधन (conciliation) और विवाचन या पंच-निर्णय (arbitration) के लिए प्रस्तुत करेंगे।

पर अब नाज़ी खतरे के अभ्युदय के साथ इटालियन लक्ष्य की ओर अधिक प्रबल दूरगामी कार्यवाही द्वारा बढ़ना निरापद प्रतीत होता था।

यद्यपि सीमावर्ती कबीलों की उच्छृंलता निस्संदेह एबिसीनिया के सब पड़ोसियों के लिए सरदर्द बनी रहती थी, पर उनमें से किसी ने भी गैरजिम्मेदार डाकेजनी के इन कभी-कभी होने वाले कार्यों को साम्राज्य के विरुद्ध—जिसका शासक रासतफ़ारी, जो नवम्बर १९३० में हेलसिलासी प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा था और जो

अपवाद-रूप से एक प्रबुद्ध इथियोपियन था तथा सुधार की सच्ची भावना से अनुप्राणित था—दण्डात्मक कार्यवाही के लिए बहाना नहीं बनाया। इटली और एबिसीनिया के मध्य होने वाले संघर्ष की पहली चेतावनी ५ दिसम्बर १९३४ को मिली जब वालवाल (Walwal) के निकट कुछ इटालियन और एबिसीनियन सैनिकों में मुठभेड़ हो गई, जिसके परिणामस्वरूप ३० इटालियन देशी सैनिक मारे गए और १०० घायल हो गए, तथा दूसरे पक्ष में हताहतों की संख्या बहुत अधिक थी। इटली के इरादों के बारे में जो कुछ अब ज्ञात है, उसे और इस तथ्य को देखते हुए कि संराधन आयोग (Conciliation Commission) के बाद में किये गए फैसले (३ सितम्बर १९२५) में दोनों पक्षों को दोषमुक्त कर दिया गया था, वालवाल विवाद (the Walwal dispute) के गुण-दोष अब कोई खास महत्त्व की चीज़ नहीं हैं। इटली ने इस प्रारम्भिक प्रश्न पर विचार करना लगातार अस्वीकार किया कि आक्रमण इटालियन क्षेत्र में हुआ या एबिसीनियन क्षेत्र में; यद्यपि यह सीमान्त अनिर्दिष्ट था, पर यह निश्चय करने के पक्ष में यह प्रमाण है कि वालवाल लगभग ६० मील इथियोपियन सीमा के भीतर था। पर यह क्षेत्र १९२८ से इटालियन नियन्त्रण में था, जिसे एबिसीनियनों ने सरकारी तौर से अभिज्ञात नहीं किया था और १९३० से स्थायी रूप से उनके आधिपत्य में था। यह निश्चय कर सकना असंभव है कि पहली गोली किस पक्ष ने चलाई।

पर वालवाल की घटना वह मौका था जिससे इटैलो-एबिसीनियन संकट पहली बार राष्ट्र संघ के विचार क्षेत्र में आया। चौथी दिसम्बर को इटालियन सरकार ने एबिसीनियनों के इस प्रस्ताव को कि विवाद १९२८ की संधि के अधीन पंच-निर्णय (arbitration) के सुपुर्द कर दिया जाय, इस आधार पर मानने से इंकार कर दिया था कि तथ्य निर्विवाद हैं और उसी दिन इथियोपियन सरकार ने तदनुसार राष्ट्र संघ के महामंत्री को तार देकर स्थिति की सूचना दी और यह आरोप लगाया कि इटली की ओर से और आक्रमण हो रहे हैं। पर ३ जनवरी १९३५ से पहले तक उन्होंने प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अधीन औपचारिक अपील नहीं की थी।

यूरोपियन शक्तियों के, और विशेषकर फ्रांस के, दृष्टिकोण से यह घटना होने के लिए इससे असुविधाकारक समय शायद ही कोई हो सकता था। यह प्रायः उसी समय हुई जब श्री लावाल (M. Laval) इटली के साथ घनिष्ठ और टिकाऊ मेल-मिलाप करने के प्रयत्न में रोम गए थे। इन परिस्थितियों में इटालियन सरकार ने इस घटना को १९२८ की संधि के अधीन पंच-निर्णय (arbitration) द्वारा निबटाने का सुझाव स्वीकार कर लिया और परिणामतः वह अपील राष्ट्र संघ की सूची से वापस ले ली गई, पर अगले महीने इटली की सैनिक तैयारियाँ इतने भयंकर रूप से दिखाई देने लगीं कि कूटनीतिक शिष्टाचार से न बंधे हुए प्रत्येक व्यक्ति के मन में उसके आक्रामक इरादों के बारे में कोई सन्देह नहीं रहा। उसी समय जाँच के क्षेत्र के बारे में आधारभूत मतभेद हो जाने से प्रस्तावित पंच निर्णय कार्यवाहियों (arbitral proceedings) में गतिरोध पैदा हो गया और १७ मार्च को एबिसीनियन सरकार ने अनुच्छेद १५ के अधीन औपचारिक रूप से राष्ट्र संघ में अपील कर दी।

यह तारीख भी खास तौर से दुर्भाग्यपूर्ण थी, क्योंकि यह ठीक वही तारीख थी जिस पर हिटलर ने वर्साई के निरस्त्रीकरण उपबन्धों का एकपक्षीय प्रत्याख्यान किया था। यद्यपि फरवरी में ही रोम-स्थित ब्रिटिश राजदूत ने मुसोलिनी को, 'ब्रिटिश लोकमत और एंग्लो-इटालियन सम्बन्धों पर इटालियन नीति की सम्भव प्रतिक्रियाओं' के बारे में चेतावनी दी थी[1] पर इस समय यह इशारा करना कि जर्मनी के नियंत्रित करने के लिए पुलिस दल में भर्ती किया गया होनहार नया रंगरूट अपने ही डाकेजनी के एक स्वतन्त्र कार्य की योजना बना रहा था, खेदजनक कौशलहीनता का कार्य प्रतीत होता था। तदनुसार, राष्ट्र संघ के समझौते के लिए हो रही वार्ता की सुस्त और रुक-रुक कर हो रही प्रगति का इथियोपियनों के इन विरोध-वचनों के बावजूद कि यह विलम्ब इटालियन सैनिक तैयारियों की पूर्ति में सुविधामात्र पैदा कर रहे हैं, स्वागत किया।[2] स्ट्रेसा सम्मेलन में जर्मन विरोधी मोर्चे को दृढ़ बनाने के महत्त्व पर और ध्यान खींचा गया था और परिषद् ने अपने आगामी असाधारण अधिवेशन में इटैलो-एबिसीनियन विवाद पर विचार अगले महीने तक के लिए विलम्बित कर दिया। २५ मई को परिषद् ने इस शर्त के साथ विवाद का निबटारा दोनों पक्षों के ही हाथों में छोड़ दिया कि यदि २५ जुलाई तक अंतिम पंच-निर्णायक न चुना गया, या यदि अगले महीने की २५ तारीख तक समझौता न हुआ तो वह मामले पर विचार करने के लिए फिर बैठेगी।

पहली अवस्था ६ जुलाई को आयोग के भंग हो जाने से उचित रूप से बन गई, पर इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने मध्यस्थता का एक स्वतन्त्र प्रयत्न किया था। जून के पिछले हिस्से में रोम-यात्रा के समय ईडन ने डूचे को यह सुझाया था कि एबिसीनिया इटली को ओगेडन का एक हिस्सा दे दे और बदले में उसे ब्रिटिश सुमालीलैण्ड में ज़ीला पर समुद्र तक पहुँचने का रास्ता दे दिया जाए। मार्शल डी बोनो को यह सूचना देते हुए कि मैंने इस प्रस्ताव पर विचार करने से इन्कार कर दिया है, मुसोलिनी ने लिखा था : 'आप मेरे उत्तर की कल्पना कर सकते हैं......अंग्रेजों के रवैय्ये से हानि के स्थान पर लाभ हुआ है......अब आपके पास तयार होने के लिए सिर्फ १२० दिन हैं।' 'असल में' मार्शल ने लिखा है, 'मेरे पास इससे भी कम दिन थे।'

आयोग के भंग होने के कारण परिषद् की असाधारण बैठक ३१ जुलाई को हुई। अब इसे जांच आयोग से वालवाल घटना पर वास्तव में विचार कराने में सफलता हुई, जिसके परिणामस्वरूप, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ३ सितम्बर को दोनों पक्षों को दोषमुक्त ठहराने वाला फैसला किया गया। इसने इटलो-इथियोपियन सम्बन्धों पर साधारण रूप से विचार करने के लिए ४ सितम्बर को पुनः बैठने का भी निश्चय किया और इसी बीच मुख्य प्रश्न सम्बन्धी वार्ता एक त्रिशक्ति सम्मेलन (Three-

१. श्री ईडन का भाषण, ब्रिटिश लोकसभा, २३ अक्तूबर १९३५।

२. मार्शल डी बोनो की यह पुस्तक स्पष्ट करती है कि आवश्यक तैयारियों के लिए यह जरूरी था कि पूर्व-निश्चित तिथि से पहले उपलब्ध प्रत्येक क्षण का उपयोग किया जाए जिससे वर्षा ऋतु की समाप्ति पर युद्ध आरम्भ किया जा सके।

Power Conference) को सौंप दी, जिसमें इटली, ब्रिटेन और फ्राँस थे। इस सम्मेलन का यह परिणाम हुआ कि मुसोलिनी के सामने समझौते के लिए प्रस्ताव रखे गए जिन्हें इन्होंने बिना विस्तृत विचार के ठुकरा दिया और २१ को मार्शल डी बीनो को यह संक्षिप्त संदेश मिला। 'सम्मेलन ने कुछ तय नहीं किया; जिनीवा भी यही तय करेगा। आप इसे तय कीजिए।' जब परिषद् ४ सितम्बर को पुन: बैठी तब इटली के आक्रामक इरादे सब को दिखाई दे रहे थे। इस तिथि से लेकर ३ अक्तूबर को युद्ध शुरू होने से पहले तक जिनीवा में कार्यवाही प्राय: लगातार चलती रही। ११ सितम्बर को ब्रिटिश विदेश मंत्री सर सेमुअल होर ने अपनी यह स्मरणीय घोषणा की कि यह देश प्रसंविदा के अधीन ग्रहण किये गये दायित्व पूरे करने का इरादा रखता है पर :

यदि शान्ति के लिए जोखिम उठानी है तो वह सब को उठानी चाहिए। बहुतों की सुरक्षा सिर्फ थोड़ों के प्रयत्नों से निश्चित रूप से नहीं हो सकती चाहें वे कितने ही शक्तिशाली हों।

आगे आपने कहा :—

राष्ट्र संघ अपने यथार्थ और अभिव्यक्त दायित्वों के अनुसार सारी की सारी प्रसंविदा को सामूहिक रूप से लागू रखने के लिए और खासकर अनुत्तेजित आक्रमण के सब कार्यों के दृढ़ और सामूहिक प्रतिरोध के लिए वचनबद्ध है और मेरा देश उसके साथ है। पिछले कुछ सप्ताहों में ब्रिटिश राष्ट्र के रुख ने यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकट किया है कि वह तथा उसकी सरकार जिस बात को दृढ़ टिकाऊ और व्यापक मान्यता के साथ धारण करती है, वह कोई परिवर्ती और अनिर्भरणीय भावावेश नहीं है, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय आचरण का एक सिद्धान्त है।

यहाँ ब्रिटिश जनता के रुख के जिस प्रदर्शन की चर्चा की गई है, वह उस प्रयत्न का संकेत मालूम होता है जो राष्ट्र संघ और अन्य सम्बद्ध प्रश्नों पर लोकमत जानने के लिए १९३४ के पिछले हिस्से में 'शान्ति शलाका' (Peace ballot) के नाम से किया गया था। इसमें जनता से निम्नलिखित प्रश्नावली पर अपना मत देने के लिए कहा गया था :—

१. क्या ब्रिटेन को राष्ट्र संघ का सदस्य बने रहना चाहिए?

२. क्या आप अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा शस्त्रास्त्रों में व्यापक कमी के पक्ष में हैं?

३. क्या आप अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा राष्ट्रीय सैनिक और नौसैनिक विभागों को बिल्कुल समाप्त कर देने के पक्ष में हैं?

४. क्या निजी लाभ के लिए शस्त्रास्त्रों का निर्माण और बिक्री अंतर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा प्रतिषिद्ध कर दी जाए?

५. क्या आप समझते हैं कि यदि कोई राष्ट्र दूसरे पर आक्रमण करने का आग्रह करे तो अन्य राष्ट्रों को मिलकर इसे

(क) आर्थिक और असैनिक उपायों से,

(ख) यदि आवश्यक हो तो सैनिक उपायों से, रुकने के लिए मजबूर करना चाहिए?

शीर्षक से यह ध्वनितार्थ निकालना कि स्वीकारात्मक मत शान्ति के पक्ष में होगा, और नकारात्मक मत बहुत संभाव्यत: युद्ध के पक्ष में, शायद आलोचना योग्य है और पहले को छोड़कर अन्य सब प्रश्न अंतर्राष्ट्रीय समझौते और सहयोग की कुछ मात्रा के आधार पर थे, और तथ्यत: सारी समस्या की असली जड़ यह सहयोग और समझौते होने में कठिनाई ही थी! यदि यह मान लिया जाए कि 'अंतर्राष्ट्रीय समझौता'

और 'अन्य राष्ट्रों' का संयोजन जिस पर पाँचवाँ प्रश्न निर्भर था हो जाएगा तो सब दलों के ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, चाहे वह १९३५ में होता या उसके बाद, चौथे को छोड़ कर प्रत्येक प्रश्न का साफ अंतःकरण से स्वीकारात्मक उत्तर दे सकते थे—चौथा प्रश्न अधिक विवादास्पद और आपत्ति योग्य था पर यहां हमारा उससे सम्बन्ध नहीं। पाँचवें प्रश्न की इस आधार पर भी आलोचना की जा सकती है कि इसमें बिना यह कहे आर्थिक अनुशास्तियां लागू करने की शक्यता मान ली गई है कि अंत में आवश्यकता होने पर उनका बल से पृष्ठपोषण किया जाएगा।[1]

२७ जून १९३५ को परिणामों का ऐलान किया गया। दिए गए कुल मतों की संख्या १,१५,५९,१६५ तक पहुँची। १,१०,००,००० से अधिक ने पहले प्रश्न का उत्तर हाँ में दिया। १ करोड़ से अधिक ने प्रश्न २, ४, और ५-क का हाँ में उत्तर दिया और संख्या ३ का हाँ में उत्तर देने वालों की संख्या भी बहुत कम नहीं थी। पर ५-ख का उत्तर देने वालों की संख्या बहुत कम थी—जो बड़ी अर्थपूर्ण बात है और जिन्होंने सैनिक अनुशास्तियों (Military sanctions) का अनुमोदन किया वे सिर्फ ६७,८४,३६८ थे, यद्यपि यह संख्या भी विरोध में मत देने वालों की संख्या २३,५१,९८१ से बहुत अधिक थी। इसलिए ब्रिटिश सरकार को एक विषम अवसर पर दिए गए अधिदेश (mandate) के रूप में इसे देखें, तो मत का परिणाम उचित रूप से यह बताया जा सकता है—'अन्य सदस्यों के साथ मिलकर प्रसंविदा के प्रति निष्ठा कायम रखवाने और उसका पालन करने के लिए, तथा आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए जहाँ तक संभव हो, वहां तक यत्न करते जाइये; पर अन्य सदस्य राज्यों के साथ मिलकर भी युद्ध से बचे रहने का भरसक यत्न कीजिए और ऐसी सैनिक कार्यवाहियों का हम कतई समर्थन नहीं करते जो अनन्यतः या प्रधानतः ब्रिटेन के कन्धों पर पड़ेंगी।' ब्रिटिश सरकार द्वारा इसके बाद अपनाई गई नीति की कई दृष्टियों से, विशेषकर इस दृष्टि से कि वह स्थिति का सामना करने के एक मार्ग के रूप में अन्दर से सुस्थित नहीं थी, आलोचना की जा सकती है, पर यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि वह उपर्युक्त व्यवस्था के बिल्कुल अनुरूप थी। प्रश्न ५ में उल्लिखित अनुशास्तियों को प्रश्न संख्या १ से स्वतन्त्र पृथक् विचारणीय प्रश्न मानकर शान्ति शलाका (Peace Ballot) ने राष्ट्र संघ का सदस्य बने रहने और प्रसंविदा के दायित्वों से बद्ध बने रहने में स्पष्ट अन्तर किया था, चाहे वह गलत हो या सही। इसलिए इसके प्रवर्तक अनु० १० के भंग पर—जो प्रश्न उन्होंने कभी जनता के समक्ष नहीं रखा था, भरोसा करने से, या अनुच्छेद १६ में निहित रूप में विधि के शब्दों पर आग्रह करने से विरक्त हो जाते हैं। शान्ति शलाका (Peace Ballot) का यहाँ उल्लेख एबिसीनियन संकट के

१. इस सवाल को नेशनल यूनियन आफ कंजरवेटिव एण्ड यूनियनिस्ट एसोसियेशन की कार्यकारिणी समिति के सभापति कर्नल हर्बर्ट ने बड़े प्रभावी रूप से उठाया था: 'यह अनुभव कराया जा रहा है कि किसी राष्ट्र के लिए इस निश्चय के साथ आर्थिक घेराबन्दी लागू करना सर्वथा संभव होगा कि उसके परिणामस्वरूप युद्ध नहीं हो सकता। तथ्यतः स्थिति यह नहीं है... तथ्यतः असल में तब तक (क) के पक्ष में मत नहीं दिया जा सकता जब तक आप (ख) के लिए मत देने को तैयार न हों। तो भी इसका कुछ स्पष्टीकरण नहीं किया जाता।'

इतिहास में एक तथ्यमात्र के रूप में किया गया है जिससे ब्रिटिश लोकमत के प्रचलित झुकाव का पता चलता है। लेखक की राय में इसे कोई ऐसी चीज़ न मानना चाहिए, जैसा कि इसे मान लिया गया हैं, जिसे राष्ट्रीय सरकार ने नवम्बर में होने वाले आगामी चुनाव में स्वीकार कर लिया और फिर उसका पालन नहीं किया।

३ अक्तूबर १९३५ को प्रत्याशित इटालियन आक्रमण हुआ और ७ को राष्ट्र संघ की परिषद् ने आक्रान्ता देश के मत के अतिरिक्त सर्वसम्मति से पृथक्-पृथक् रिपोर्ट स्वीकार की, जिसमें घोषित किया गया था कि इटली ने प्रसंविदा भंग करके युद्ध आरम्भ किया है। असेम्बली की अगली बैठक में जो ११ अक्तूबर की थी, पचास राज्य सदस्यों ने परिषद् द्वारा स्वीकृत विचार पर सहमति प्रकट की। स्विटज़रलैंड अनुशास्तियों (sanctions) में भाग लेने के सम्बन्ध में वचनबद्ध नहीं हुआ, तथा आस्ट्रिया, हंगरी और अलबानिया ने आक्रान्ता के साथ विशेष सम्बन्धों के कारण अपनी विमति (dissent) घोषित की। अनुशास्तियाँ निश्चित करने और उनका समन्वय करने की समस्या एक समिति को सौंपी गई और तुरन्त यह निश्चय किया गया कि कुछ राष्ट्रों द्वारा एबिसीनिया पर लगाई गई शस्त्र खरीदने की पाबन्दी हटा दी जाए और इटली पर वैसी पाबन्दी लगा दी जाए (प्रस्थापना १)। एक व्यापक वित्तीय अनुशास्ति भी फौरन लागू कर दी गई (प्रस्थापना २) और इटली से आयात करने पर तुरन्त पाबन्दी लगा दी गई (प्रस्थापना ३)। अन्त में इटली को कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ निर्यात करने पर बहुत सीमित पाबन्दी १८ नवम्बर को लागू की गई।[1] इसमें जो सबसे महत्वपूर्ण चीज छोड़ दी गई थी, वह तेल था, जिसे प्रकाश्यत: इस आधार पर छोड़ा गया था कि वह सूची राष्ट्रसंघीय शक्तियों द्वारा नियन्त्रित वस्तुओं तक ही सीमित थी।

यद्यपि इस तथ्य पर कुछ आश्चर्य प्रकट किया गया कि राष्ट्र संघ की कभी काम न लाई गई अनुशास्ति व्यवस्था (sanctions machinery) अन्त में लागू तो की गई, पर अधिकतम जो कुछ किया गया, वह राष्ट्र संघ के संस्थापकों द्वारा कल्पित पूर्ण और व्यापक बहिष्कार से शोकजनक रूप से कम था, या सच तो यह है कि प्रसंविदा के शब्दों के अनुसार न्यूनतम दायित्वों से भी कम था क्योंकि अनुच्छेद १६ द्वारा राष्ट्र संघ के सब सदस्य

> यह जिम्मेवारी लेते हैं कि वे अविलम्ब दोषी राज्य से सब व्यापारिक और वित्तीय संबन्ध विच्छिन्न कर लेंगे, अपने राष्ट्रवासियों और प्रसंविदा भञ्जक राज्य के राष्ट्रवासियों के मध्य सब प्रकार के समागम पर पाबन्दी लगा देंगे और प्रसंविदा भंजक राज्य के राष्ट्रवासियों और किसी अन्य राज्य के, चाहे वह राष्ट्र संघ का सदस्य हो या न हो, राष्ट्रवासियों के मध्य वाणिज्यिक या वैयक्तिक समागम पर रोक लगाएँगे।

इसमें से बहुत कम किया गया पर यह स्मरण रहना चाहिए कि प्रमुख संबद्ध शक्तियाँ इंग्लैंड और फ्राँस, इटली पर ऐसा दबाव न डालने के लिए शुरू से कृतसंकल्प थीं, जिससे उन्हें स्वयं युद्ध में उलझना पड़े। जिनीवा में सर सेमुअल होर ने जिस दिन

---

१. यद्यपि परिणाम वह हुआ जो बताया गया है, पर प्राविधिकतया ये सब निश्चय पृथक् पृथक् सरकारों के विचार करने के लिए प्रस्थापना-मात्र थे।

अपना ऐतिहासिक महत्त्व का भाषण दिया, उससे पिछले दिन उन्होंने श्री लावाल से परामर्श किया था और उस परामर्श के परिणाम को लावाल ने निम्नलिखित रूप में समझने की बात कही थी :

हमने देखा कि हम सैनिक अनुशास्तियों (military sanctions) की बात न सोचने, नौसैनिक घेराबन्दी की कोई कार्यवाही न करने और स्वेज नहर को बन्द करने की बात कभी भी विचार में न लाने पर, संक्षेप में ऐसी प्रत्येक बात से बचने पर, जिसके परिणामस्वरूप युद्ध हो सकता हो, तुरंत सहमत हो गए।[1]

यद्यपि यह निर्वचन गलत था और सर सेमुअल ने कभी भी सैनिक अनुशास्तियां स्थायी रूप से अपवर्जित करने की बात नहीं कही, पर इस सीमा तक सहयोग करने में फ्रांस की अस्पष्ट अनिच्छा ने ऐसी किसी कार्यवाही का प्रायः सारा बोझ तुरंत ब्रिटेन पर डाल दिया और सामूहिक कार्यवाही के वैयक्तिक कार्यवाही बन जाने का खतरा पैदा हो गया। तथ्यतः इन दोनों शक्तियों के सामने जो स्थिति आ गई थी, वह बड़ी कठिन स्थिति थी। इटली ने राष्ट्र संघ को चुनौती दे दी थी, जिसे स्वीकार न करना इस के आगे के अस्तित्व के लिए घातक होता और हर सूरत में इसके गौरव के लिए बड़ा घातक आघात होता। फ्रांस की दृष्टि में राष्ट्र संघ सदा से *योरोपीय* सुरक्षा और संगठन का एक साधन था। अधिकतर अंग्रेज राजनीतिज्ञों की दृष्टि में राष्ट्र संघ एक ऐसी संस्था थी जो मौजूदा अवस्थाओं में योरोप के सम्बन्ध में ब्रिटिश वैदेशिक नीति की परम्पराओं की पूर्ति के लिए प्रायः अनिवार्य थी। योरोप में ब्रिटेन का स्थान प्रायः सदा एक मध्यस्थ का—जिस के लिए वह अपनी बाहरी स्थिति के कारण उपयुक्त है—और बहुविध शक्ति संतुलन (multiple balance of power) के जो स्थायी मैत्रियों के साथ प्रायः असंगत था, संरक्षणकर्त्ता का रहा है। एकलन या अकेले अलग-अलग रहना, अगर कभी व्यवहार्य था, तो भी आज सब जिम्मेवार लोग इसे अशक्य मानते हैं। जब एकलन और स्थायी मैत्रियाँ इस प्रकार विचार-क्षेत्र से बाहर हो गयीं, तब इंग्लैंड स्वभावतः एक ऐसी संस्था के समर्थन की ओर झुका जो उसी की तरह बहुविध संतुलन (multiple balance) को बढ़ावा देती थी और किसी एक शक्ति के नेतृत्व को पैदा करने वाले कार्यों का विरोध करती थी, तथा साथ ही वह मध्यस्थता के लिए अनुपम सुविधाएँ प्रदान करती थी। योरोप में आमतौर पर माना जाने वाला यह विचार कि ऐबिसीनियन संकट में ब्रिटेन अपने विशेष हितों की दृष्टि से राष्ट्र संघ को संचालित कर रहा था, उस अर्थ में निस्संदेह निराधार था, जिस अर्थ में यह आरोप किया गया था। तो भी, यह सच है कि इस समय आशंकित खतरों से राष्ट्र संघ को बचाने की इंग्लैण्ड की इच्छा किसी अस्पष्ट और महान् आदर्श से प्रेरित नहीं थी, बल्कि एक अत्यधिक वास्तविकता पर आश्रित स्वार्थ से प्रेरित थी, और वह यह थी कि उसकी अपनी परम्परागत नीति के लिए मार्मिक महत्त्व के एक साधन को कायम रखा जाए।

पर कुछ ऐसी बातें थीं जिनके कारण उस परिस्थिति में जो अब पैदा हो गयी थी, दृढ़ कार्यवाही करना कठिन हो गया था। पहली बात तो ब्रिटेन ने जिस मात्रा

१. फ्रेंच लोक सभा (Chamber of Deputies) में दिया गया वक्तव्य दिसम्बर १९३५.

तक निरस्त्रीकरण कर दिया था, उसके कारण जनित उसकी सैनिक और नौसैनिक दुर्बलता थी। दूसरी बात थी ब्रिटिश नीति को फ्रांस की नीति के साथ समन्वित करने की आवश्यकता। तीसरी बात थी जर्मनी के कार्यों को नियंत्रित करने के लिए यथा-सम्भव बड़े से बड़ा संयोजन बनाये रखने का औचित्य, और अन्तिम बात यह तथ्य था कि राष्ट्र संघ एक साध्य का साधन था, और वह साध्य था व्यापक युद्ध को रोकना। यदि एबिसीनियन अखंडता की रक्षा के लिए राष्ट्र संघ के साधन का अन्त तक उप-योग किया जाता तो ठीक उसी संकट का जिसे न होने देने के लिए राष्ट्र संघ बनाया गया था, अविलम्ब खतरा पैदा होना आवश्यक था।

इसी द्विविधा में एबिसीनियन संकट में अपनायी गई नीति बिल्कुल व्यर्थ रही। 'योरोपीय' रुख के पक्ष में, जो बिल्कुल भी हस्तक्षेप करने से इन्कार करता था, और स्पष्ट रूप से इसके कारण बताता था, कुछ कहा जा सकता था। एबिसीनिया—और राष्ट्र संघ की हर हालत में रक्षा करने के संकल्प के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता था। ऐसी निर्दोष अनुशास्तियाँ (sanctions) लागू करने के पक्ष में भी कहने के लिए काफी था, जिन्हें आक्रान्ता, चाहे चिढ़कर ही सही, युद्ध की धमकी से अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर सकता था।

यदि इटली के कार्य के परिणामों का गलत अन्दाजा न लगाया जाता तो यह बात बिल्कुल प्रत्यक्ष हो गई होती। सैनिकों और यात्रियों का विशेषज्ञ बहुमत यही मान रहा था कि जलवायु और प्रदेश की कठिनाइयाँ इटालियन सेनाओं के लिए अलंघ्य सिद्ध होंगी और इटली या तो पराजित हो जाएगा, अथवा उसे लम्बा युद्ध लड़ना होगा जिसमें हल्की से हल्की अनुशास्ति (sanction) भी किसी समय निर्णायक सिद्ध हो सकती हैं। चैम्बर लेन, जो इस समय मंत्रिमंडल के उन सदस्यों में थे, जो प्रबल नीति के हार्दिक समर्थक थे, इस से भी आगे बढ़ गये थे, और उन्होंने ८ दिसम्बर को अपनी निजी डायरी में यह विचार दर्ज किया था कि अपनी महान् सेना को स्वेज नहर के दूसरी ओर पहुँचा कर मुसोलिनी ने अपनी गर्दन के चारों ओर एक गाँठ बांध ली है, और उसका दूसरा सिरा ऐसे लटकता छोड़ दिया है कि उसे कोई भी नौसेना से खींच सकता है।[1]

इस विश्वास ने विभिन्न श्रेणियों के लोकमत पर बिभिन्न तरह से असर डाला। ब्रिटिश जनता प्रसन्न हुई और वह मुसोलिनी को उस अवस्था में से निकालने के लिए, जिसे वे उसकी परेशानी की हालत समझते थे, कुछ भी करने को तैयार न थी। दूसरी ओर, फ्राँसीसियों के लिए इटालियनों की हार का सीधा अर्थ यह था कि कठिनाई से प्राप्त किये गए मूल्यवान मित्र के गौरव का नाश और उसकी सहानुभूति से सदा के लिए हाथ धो लेना। वे इंग्लैंड के सामूहिक सुरक्षा के प्रसंग में इस विशिष्ट परीक्षण के लिए इंग्लैंड के प्रतीयमानतः नवजात उत्साह को जरा भी समझ नहीं सकते थे। वर्षों से वे ब्रिटेन से यह प्रार्थना कर रहे थे कि वह उस सुरक्षा में—और

१. कीथ फेलिंग, दि लाईफ आफ नैविल चैम्बर लेन, लन्दन, मैकमिलन, १९४६, पृष्ठ २७२।

उनकी दृष्टि में वही एकमात्र मतलब की सुरक्षा थी—प्रभावी हिस्सा ले और पूर्वी योरोप में उनके मित्रों की अखण्डता बनाये रखने के लिए असंदिग्ध रूप से वचनबद्ध हो। यह सब व्यर्थ रहा, पर ठीक तब जब एक अत्यन्त गम्भीर संकट के समय इटली को अपने पक्ष में मिला लिया गया, इंग्लैंड ने ठीक उसी देश के विरुद्ध अपनी नीति के लिए जिसे पहले उसने संबंधित करने से इन्कार कर दिया था, अब ऐसा उत्साह दिखाने का निश्चय किया, जिसका अब तक किसी को संदेह भी न हुआ था। फ्राँस एक ठोस उदाहरण और एक अमूर्त्त सिद्धान्त के मध्य प्रभेद को, जो ब्रिटिश मानस के लिए इतना महत्त्वपूर्ण था, समझ नहीं सकता था। उसके खुद के लिए मौजूदा संकट ने उसे दो विरोधी चिन्ताओं में डाल दिया था। प्रसंविदा के सुरक्षा के पहलू पर, योरोप में उपयोग के लिए उसकी अपेक्षा कोई और इतना महत्त्व नहीं देता था। यह तो अच्छा था कि राष्ट्रसंघ का अनुशास्तियाँ लागू करने का निश्चय प्रदर्शित कर दिया जाए, पर अब जब कि उसका प्रदर्शन किया जा चुका था, वह अपने नये मित्र की मान रक्षा करना और उसकी कृपा बनाये रखना भी चाहता था। वह कहता था कि मामले का अन्त मधुर हो जाए अर्थात् आपसी सम्मति से निपटारा हो जाए। इस तरह कृतज्ञ और पूरी तरह अपकीर्ति का पात्र न बना हुआ मुसोलिनी ऐसे राष्ट्र संघ का पुनः समर्थन कर सकता था, जो भविष्य के और अधिक खतरनाक आक्रांताओं को भयभीत करने के लिए कम-से-कम आंशिक विजय का एक उपयोगी उदाहरण स्थापित कर चुका होता।

सर सैमुअल होर उस नेता की हालत में थे जिसकी सेना नीराज्य भूमि (No man's land) में खतरे में पड़ी हो और उसके सैनिकों ने उसके पीछे चलने से इंकार कर दिया हो। यदि इटली को हारना था तो वह द्वितीय एडोवा की अपकीर्त्ति उठाने के बजाय, जो सम्भरण की कमी के कारण हुई थी, राष्ट्र संघ के पक्षपातियों से लड़ते हुए हारना पसन्द करता, और जब वह लड़ाई के मैदान में राष्ट्र संघ की सेनाएँ देखने निकलता तो उसे सिर्फ ब्रिटेन की सेना दिखायी देती।

हमने सिर्फ ये सैनिक सावधानियाँ की हैं। भूमध्य सागर में ब्रिटिश बेड़ा है; मिश्र में, माल्टा में, और अदन में ब्रिटिश कुमुक पहुँची हुई है। किसी अन्य सदस्य राज्य ने एक भी जहाज, एक भी हथियार, एक भी सैनिक, इधर से उधर नहीं किया है।[1]

सर सैमुअल होर की दृष्टि में सामूहिक प्रतिरोध के खोखले दिखावे की कलई तब खुल जायेगी जब यह संघर्ष सिर्फ दो राष्ट्रों के मध्य द्वन्द्व के रूप में बदल जायेगा। इन परिस्थितियों में अपने पहले शंखघोष की प्रतीयमान विफलता के बाद वे और सारा राष्ट्र संघ भी लावाल की यह ऊपर से उचित जँचने वाली दलील मानने को तैयार हो गया कि इटालियन आक्रमण के कार्य से पीछे तथा पहले उस संस्था का यह कर्त्तव्य था कि वह बल-प्रयोग और मध्यस्थता की नीतियाँ एक साथ अपनाती। यह युक्ति असल में फ्रेंच विचारधारा की उतनी अपनी नहीं थी, जितनी ब्रिटिश विचारधारा की, क्योंकि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने शुरू से राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय वार्त्ता के एक मंच के रूप में ही महत्त्व दिया था, आक्रांताओं के विरुद्ध बनाये गए सम्भावी मैत्री सम्बन्ध के रूप में नहीं, और सर सैमुअल ने इसे लावाल की अपेक्षा सम्भाव्यतः अधिक गंभीरता

१. सर सैमुअल होर, ब्रिटिश लोक सभा, १९ दिसम्बर १९३५।

से स्वीकार किया था। ब्रिटिश सरकार की नीति के बारे में जो गलत धारणाएँ प्रचलित हैं, उन्हें देखते हुए इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि सर सैमुअल के इस दृढ़ विश्वास की सचाई में संदेह करने के लिए कोई कारण नहीं था कि जो कदम वे उठाने वाले थे, उससे स्वयं राष्ट्र संघ के प्रभाव और मान की रक्षा की सबसे अधिक सम्भावना थी, और यह भी उनका मुख्य उद्देश्य था। उनके अपने ही शब्दों में

हमें एक राष्ट्र के रूप में किसी इटालियन धमकी से भय नहीं है···हमारे मन में जो बात थी वह बहुत भिन्न थी और वह यह थी कि इस प्रकार का एक शक्ति पर किया गया एकाकी आक्रमण, जो अन्य शक्तियों के पूरे समर्थन के बिना किया गया है, करने से मेरी सम्मति में राष्ट्र संघ का विघटन अनिवार्य हो जाता।[1]

जो कुछ वास्तव में हुआ, उसे देखकर हम सब को राष्ट्र संघ की मौत का यह कारण बताने की आदत हो गयी है कि इसने समझौता कराने के अपने यत्न में सिद्धान्त को बलि चढ़ा दिया और इसमें हम यह भूल जाते है कि इसी प्रकार राष्ट्र संघ की सत्ता अन्त में ऐसी स्थिति आ जाने से भी विनष्ट हो जा सकती थी, जैसा कि सर सैमुअल का मन्तव्य था, जिसमें सैनिक अनुशास्तियों (military sanctions) का खोखलापन बिल्कुल सामने आ जाता है। निस्संदेह एक गौण विचार भी था। हम इटली को पराजित कर सकते थे, पर यदि कोई और शत्रु हमारी नौसेना की हीन और क्षत-विक्षत अवस्था का लाभ उठा लेता तो क्या होता।

ब्रिटिश सरकार की नीति के अनौचित्य को कम करने वाली एक और बात भी हो सकती थी, और वह थी लावाल की सौदेबाजी की मजबूत स्थिति। ब्रिटेन का एकाकी स्थिति की बात करते हुए स्पष्टतः सर सैमुअल का मतलब खासकर फ्रांस के साथ न देने या संकोच करने से ही था—यदि शक्ति-परीक्षा होती तो ब्रिटेन को मुख्यतः भूमध्यसागर में कार्यसाधक नौसैनिक सहायता देने में समर्थ एकमात्र महाशक्ति के रूप में मुख्यतः उस पर ही भरोसा करना था। फ्रेंच सहयोग के साथ उसकी युक्ति की मान्यता स्पष्टतः जाती रहती थी। हमारी स्थिति की असली कमजोरी यह थी कि हमारे लिए फ्रांस के साथ मिलकर चलना आवश्यक था और इस परिस्थिति में लावाल को ब्रिटेन को दबाकर उससे अपनी योजनाएँ मनवाने के अपने कार्य में एक अमूल्य हथियार मिल गया।

दिसम्बर १९३५ की कुख्यात लावाल-होर 'शान्ति प्रस्थापना' (Laval-Hoare peace proposal) की यह पृष्ठभूमि थी। यह प्रस्थापना रखने वालों की राय में ऐसी योजना की अविलम्बनीय आवश्यकता 'तेल अनुशास्ति' (oil sanction) लागू करने की प्रस्थापना सिर पर आ जाने के कारण थी। सर सैमुअल-होर का यह विचार था कि यदि

गैर-सदस्य राज्य इसमें प्रभावी हिस्सा लें तो तेल की पाबन्दी के प्रभावस्वरूप मजबूरन युद्ध बंद हो सकता है।[2]

इस समय यूनाइटेड स्टेट्स का सहयोग कम-से-कम सम्भव तो प्रतीत होता ही

१. सर सैमुअल होर का उपर्युक्त भाषण।
२. वही।

था, और लावाल की कार्यरोधक तथा मामले को लम्बा करने की चालों के बावजूद वह परियोजना शीघ्र ही अन्तिम विचार के लिए सामने आने वाली थी और ११ सितम्बर का वाग्मी

पाबन्दी को उस अवस्था में और विलम्बित करने का प्रस्ताव रखने को उचित नहीं समझता था जब तक राष्ट्र संघ के सामने यह सिद्ध न किया जा सके कि वार्त्ता वास्तव में शुरू हुई थी।[1]

वह उस समय अवकाश लेकर स्विटजरलैंड जाना ही चाहते थे, जब लावाल ने ७ दिसम्बर को एक योजना पर उनका अनुमोदन प्राप्त कर लिया। इस योजना पर चढ़ा हुआ ऐसे लच्छेदार शब्दों का जैसे 'प्रदेशों का विनिमय' और 'आर्थिक प्रसार और बस्ती का क्षेत्र', परदा हटा देने पर उसका यह अर्थ था कि मुसोलिनी को, जितना प्रदेश उन्होंने अब तक युद्ध से जीता था, उससे भी अधिक विस्तृत प्रदेश और उस पर व्यावहारिक नियंत्रण सौंप कर उन्हें खरीद लिया जाये। एबिसीनिया को पूर्ण विनाश से बचाने के प्रयत्न के रूप में शायद इसे उचित ठहराया जा सकता था। पर तथ्यतः यह ऐसे समय पेश किया गया जब ऐसी किसी दुर्घटना की सम्भावना नहीं दिखाई देती थी। सर सैमुअल ने स्वयं यह भविष्यवाणी की थी कि युद्ध लम्बा और अनिर्णायक रहेगा और उसके बाद समझौते से फैसला होगा। स्पष्टतः यह प्रस्थापना एबिसीनिया के हितों के बजाय उन शक्तियों के हितों की दृष्टि से पेश की गई थी, जो इथियोपियन अखण्डता बनाये रखने के लिए वचनबद्ध थे। इस प्रकार उस बात पर अस्थायी रूप से सहमत होकर, जिसे वे ब्रिटिश मंत्रिमंडल और राष्ट्र संघ द्वारा और अधिक विचार के लिए परिपक्व प्रस्थापना मानते थे, सर सैमुअल ने अपनी बातचीत के परिणाम लंदन भेज दिये और वे छुट्टी मनाने स्विटजरलैंड चले गये। तय यह हुआ था कि जब तक और अधिक विचार न हो जाये इस योजना को बहुत गुप्त रक्खा जाये, पर हुआ यह कि वह योजना फ्रेंच अखबारों को तुरन्त बता दी गई और अब हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि लावाल के जान-बूझकर किये गए विश्वासघात के परिणामस्वरूप यह रहस्योद्घाटन हुआ। निस्संदेह वे यह समझते थे ऐसे समय में पूर्व रहस्योद्घाटन से ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को मजबूर होकर अपने अनुपस्थित सहयोगी के प्रति निष्ठावान् रहना होगा, और यह अन्दाजा सही सिद्ध हुआ। यद्यपि मंत्रिमण्डल यह मानता था कि वह उन शर्तों से अप्रसन्न और असंतुष्ट है पर उसने इस परियोजना को अनिच्छापूर्वक मान लिया और १० दिसम्बर को एक तार अदीसअबाबा भेजा गया, जिसमें सम्राट् से अनुरोध किया गया कि वे 'इन प्रस्थापनाओं पर सावधानी और अनुकूलता के साथ विचार करें और किसी भी अवस्था में उन्हें हल्के तौर से अस्वीकार न कर दें'। इन शर्तों को अन्तिम नहीं माना गया था, यह बात इस तथ्य से सूचित होती है कि उस संदेश में आगे चलकर 'इनसे प्राप्त होने वाले वार्त्ता के अवसर' की चर्चा थी।

पर लावाल ने ब्रिटिश लोकमत के बल का अन्दाजा नहीं किया था। इस प्रकार उद्घाटित योजना पर जिसके साथ अखबारों में एक नक्शा दिया गया था, जो यह प्रदर्शित करता था कि प्रतीयमानतः दो-तिहाई इथियोपिया आक्रांता को दे दिया

१. वही।

जाना था, ब्रिटिश जनता और नवनिर्वाचित सरकार-समर्थक सदस्यों की ओर से रोषपूर्ण विरोधों का तूफान उठ खड़ा हुआ। हाल के चुनाव आन्दोलन में सरकारी समर्थकों ने सरकार के इरादों के बारे में उस पुस्तक में की गयी भविष्यवाणियों का, जो इस अवसर के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के कुछ प्रतिपक्षी विद्यार्थियों ने जल्दी में प्रकाशित की थीं, लगातार और ईमानदारी से खण्डन किया था :

वे निश्चित रूप से यह सोच रहे हैं कि साधारण निर्वाचन से उन्हें कंजरवेटिव दल में प्रधानता प्राप्त हो जाये जिससे उन्हें अधिकतम शस्त्र-सज्जा के लिए छूट और लोकमत के भय से स्वतन्त्रता मिल जाये। तब वे अपने मित्र मुसोलिनी के साथ एक सौदा करेंगे और उसके बाद वे 'नयी परराष्ट्र नीति' शुरू करेंगे जिसके विषय में सरकारी अखबार कुछ समय से संकेत करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में वह नीति या तो यह है कि यह कहा जाए कि राष्ट्रसंघ सर्वथा असफल हो गया है, अथवा यह कि इसमें प्रसंविदा में से अनुच्छेद १० और १६ निकालकर अत्यधिक सुधार करने की आवश्यकता है, और दोनों अवस्थाओं में, मैत्री संधियों और शक्ति राजनीति (power politics) के प्रवाह में पूरे जोर से कूद पड़ा जाए।[१]

जो कुछ अब हुआ था, उसे देखते हुए वह शर्म से यह महसूस करने लगे कि उन्होंने झूठी बातें कह कर चुनाव जीता है। सरकार तूफान के सामने झुकी और सर सैमुहल होर के स्थान पर श्री ईडन विदेश मंत्री हो गये। यह योजना तो मर गई, पर इसका भूत उन राष्ट्रों के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता रहा, जिन्होंने अब तक राष्ट्र संघ के संरक्षण में आस्था रक्खी थी। जो हानि हुई थी उसके असर को हटाया नहीं जा सकता था।

जो हो, इटालियन प्रगति के बारे में निराशावादी दृष्टिकोण गलत सिद्ध हुआ। एबिसीनियन सेना, जिसे पर्याप्त हथियार न मिल सके, जिस पर विमानों से ऐसी विषयुक्त गैस बरसायी गयी जिससे उसके पास कोई बचाव नहीं था और जिसकी युद्धनीति तथा व्यूहरचना त्रुटिपूर्ण थी, आशा से भी जल्दी और अधिक निश्चित रूप से पराजित हो गई। २ मई १९३६ को सम्राट् ने देश छोड़ दिया और ३ दिन बाद इटालियन सेनाओं ने उसकी राजधानी पर कब्जा कर लिया। अगले महीने अनुशास्तियाँ (sanctions) हटाने के लिए बड़ा व्यापक आन्दोलन हुआ और ब्रिटिश सरकार की इस नीति का देश के लोकमत ने कोई खास विरोध नहीं किया। ६ जुलाई को राष्ट्रसंघ की समन्वय समिति (Coordinating Committee of the League) ने यह सिफारिश की कि १५ जुलाई से अनुशास्तियाँ समाप्त कर दी जायें। व्यावहारिक सामूहिक सुरक्षा का परीक्षण अन्तिम रूप से समाप्त हो गया।

कुछ दिन पहले तथाकथित ओसलो समूह (Oslo group) के राज्यों—स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, फिनलैंड, हालेंड, बैल्जियम और लुक्जेमबर्ग—ने उस स्थिति से यह निष्कर्ष निकाला, जिसे उन्होंने एक संयुक्त विज्ञप्ति का रूप दे दिया, कि जब तक वर्तमान अवस्थाएँ कायम हैं, तब तक वे अपने आपको प्रसंविदा के अनुच्छेद १६ के उपबन्धों से बद्ध नहीं समझेंगे, और इसके बाद से कम से कम स्कैंडिनेवियन देश तो तटस्थता की अपनी परम्परागत नीति पर वापिस आ गये।

---

१. विजिलान्तेस (के० जिलिएकस इन्वेस्ट ऑन पीस, लन्दन, गोलाँक्ज, १९३५. पृ० २८१।

शायद यह समझा जा सकता है कि एबिसीनियन संकट को इस प्रकार की पुस्तक में अनुचित रूप से अधिक स्थान दिया गया है। ऐसा करना इस कारण उचित था कि इस समय से युद्धोत्तर इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आरंभ होता है। इटालियन आक्रमण ने, जो नग्न और निर्लज्जता से किया गया था, सारे संसार पर अपना गहरा असर डाला। इंग्लैंड के लिए इसका अर्थ था उस संस्था का व्यवहारतः नष्ट हो जाना, जिसे विभिन्न दलों की एक दूसरे के बाद आने वाली सरकारों ने अपनी वैदेशिक नीति का आधार उद्घोषित किया था। फ्राँस के लिए इसका अर्थ यह हुआ, जैसा कि अगले अध्याय से स्पष्ट होगा, कि जिस शत्रु से वह सबसे अधिक आतंकित था, उसे और उद्धत होने के लिए बढ़ावा मिला और वह अपने पहले के अकेलेपन से मुक्त हो गया और अन्ततः, इटालियन आक्रांता के लिए, ईश्वरीय व्यवस्था द्वारा, इसका अर्थ यह हो जाना था कि डैन्यूब नदी पर उसका प्रभाव नष्ट हो जाये और जर्मन सेनाएँ ब्रेनर पर आ पहुँचें।

: २४ :

बर्लिन-रोम धुरी

(The Berlin-Rome Axis)

राइनलैंड का पुनः सैन्यीकरण

(The Remilitarization of the Rhineland)

एबिसीनिया में किये गए आक्रमण कार्य से राष्ट्रसंघीय शक्तियों और इटली में जो फूट पड़ी, उससे जर्मनी ऐसे व्यक्ति की स्थिति में आ गया जो दोनों में से किसी भी पक्ष की विजय से महत्त्वपूर्ण लाभ उठाने की आशा में घटनाओं की प्रतीक्षा कर सकता था। यदि इटली पराजित होता तो जर्मनी की आस्ट्रिया-सम्बन्धी आकांक्षाओं का सबसे कट्टर विरोधी तिरस्कृत और दुर्बल हो जाता, पर यदि फ्रांस, ब्रिटेन और छोटी राष्ट्रसंघीय शक्तियाँ इस आक्रमण-कार्य का सफलतापूर्वक मुकाबला करने में अपने को अयोग्य सिद्ध करतीं तो नाजी सरकार की ओर से किये जाने वाले और किसी विधि-विरुद्ध कार्य पर उनके सफल प्रतिरोध कर सकने की सम्भावना उसी अनुपात में कम रह जाती। दोनों अवस्थाओं में जर्मनी को अपनी एकाकीपन की स्थिति से छूटने का बहुत बढ़िया मौका था; क्योंकि इटली हारता या जीतता पर वह अपने स्ट्रेसा के साथियों से पराङ्मुख तो हो ही गया था, और यदि आस्ट्रियन बाधा को अस्थायी रूप से लांघा या हटाया जा सकता तो वह थोड़ा सा झुकाव और दिलचस्पी दिखाकर विरोधी पक्ष में लाया जा सकता था। १९३५-३६ के वर्ष-परिवर्त्तन के दिनों में एबिसीनियन युद्ध का मामला अभी संदिग्ध ही था, पर फरवरी १९३६ के मध्य से इटली की प्रगति की द्रुतता प्रभावोत्पादक थी। हिटलर के दृष्टिकोण से इस समय फ्रांस और ब्रिटेन का ध्यान बहुत कुछ दूसरी ओर लगा था। उसकी योजनाओं में ज़बर्दस्ती दखलन्दाजी का जोख़िम इतना थोड़ा था कि उसकी उपेक्षा की जा सकती थी। इन परिस्थितियों में फ्यूहरर ने एक द्वितीय उत्क्षेपण (Coup) आरम्भ किया, जिसमें सफलता होने पर योरोप में जर्मनी की आपेक्षिक शक्ति बहुत अधिक बढ़ सकती थी।

जब तक राइनलैण्ड सीमान्त सेनाविहीन और किलेबन्दी रहित था, तब तक फ्रांस पूर्वी योरोप के अपने आश्रितों में से किसी की भी तरफ से प्रभावी दबाव बिना कठिनाई के डाल सकता था। पर इस क्षेत्र में एक कठिन बाधा आने पर पूर्व में किसी ऐसी गति-विधि में उसके दखल देने की सम्भावना नहीं थी जिसमें उसकी अपनी सुरक्षा को इतना स्पष्ट खतरा न हो कि जिससे पूरे ज़ोर के योरोपीय युद्ध में कूदने जैसा भयंकर कदम उठाना उचित हो।

सच तो यह है कि फ्रांस या ब्रिटेन में यह धारणा नहीं थी कि शान्ति संधि में राइनलैंड क्षेत्र के विसैन्यीकरण (demilitarization) के उपबन्ध सदा कायम रहेंगे। पर यह माना जाता था कि अन्त में इन्हें वार्त्ता द्वारा बदला जायेगा और इस वार्त्ता के अलावा और अनेक प्रश्न एक साथ हल हो जायेंगे और एक व्यापक योरोपीय समझौता हो जायेगा। फ्राँस, जर्मनी और ब्रिटेन की सरकारों में ऐसे समझौते की दृष्टि से, और खासकर, फरवरी १९३५ में लागू होनेवाले वायु समझौते के बारे में वार्त्ता ६ मार्च १९३६ तक प्राय: लगातार चलती रही थी। उस दिन ईडन ने लन्दन-स्थित जर्मन राजदूत के साथ इस विषय पर महत्त्वपूर्ण बातचीत की थी। जो कुछ होने वाला था, उसे देखते हुए यह महसूस किया जाना चाहिये कि जर्मनी ने वार्त्ता के दौरान यह धारणा बना रखी थी कि फ्राँस और सोवियत रूस में एक समझौता हुआ है। इस प्रकार हिटलर और बर्लिन-स्थित ब्रिटिश राजदूत के मध्य १३ दिसम्बर १९३५ को ही हुई एक भेंट में हिटलर ने घोषित किया था कि फ्रांको-सोवियत "सैनिक मैत्री संधि" जिसका लक्ष्य जर्मनी के विरुद्ध था, के कारण वायुसंधि का प्रश्न ही पैदा नहीं होता था।[1] पर फ्यूहरर रूसी समझौते को चाहे जितना नापसन्द करता हो, वह उसके बाद भी, जब ११ फरवरी १९३६ को वह संधि अनुसमर्थन के लिए फ्रेंच लोक सभा में पेश कर दी गयी थी, फ्राँस के प्रति मैत्री के बड़े मधुर भाव प्रकट करता रहा। यह अनुसमर्थन अन्तिम रूप से होने से एक सप्ताह पहले हिटलर ने एक फ्रेंच पत्रकार को एक भेंट में बार-बार यह बात कही थी कि फ्राँस और जर्मनी के बीच शत्रुता एक असंगत बात है। जब भेंट कर्त्ता ने हल्के तौर से यह बात पेश की कि इस बात का *मीन कैम्फ* (Mein Kampf) के कई संदर्भो से मेल बैठना कठिन है तो उसे यह उत्तर मिला कि यह पुस्तक रूहर के आधिपत्य की तिथि से आरम्भ होती है, और फ्रांको-जर्मन मेल-मिलाप कराकर इसका लेखक 'इतिहास की महान् पुस्तक में अपनी भूल सुधार देगा'। इस उत्तर में यह तथ्य उपेक्षित कर दिया गया है कि सबसे अधिक फ्रांस-विरोधी उल्लेख *मीन कैम्फ* की दूसरी जिल्द में आते हैं, जो लोकार्नो संधियाँ होने और जर्मनी को राष्ट्र सघ का सदस्य बना लिये जाने के बाद प्रकाशित हुई थी। पर इसका सारा अभिप्राय इस सन्देह को दूर करना था कि फ्रेंच शक्ति को गिराने की दिशा में कोई बड़ी कार्यवाही तत्काल विचाराधीन थी।

पर तथ्य यही सिद्ध हुआ। इस भेंट के प्रकाशन के अविलम्ब बाद बर्लिन-स्थित फ्रेंच राजदूत को आदेश दिया गया कि वह हिटलर से प्रस्थापित मेल-मिलाप के सुझाए गये आधार का और अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए कहे और उसे यह उत्तर मिला कि विस्तृत प्रस्थापनाएँ तैयार की जा रही हैं। पर जर्मनी से फ्राँस को जो अगला पत्र मिला, वह बड़े भिन्न प्रकार का था। शनिवार ७ मार्च के सवेरे बैल्जियम, फ्राँस, ब्रिटेन और इटली के प्रतिनिधियों को सूचित किया गया कि जर्मन सेनाएँ उस समय विसैन्यीकृत क्षेत्र में मार्च कर रही थीं।

---

१. १९३६ का Cmd ५१४३, लेख्य ४६। ७ मार्च १९३६ का जर्मन स्मरण-पत्र भी देखिये : 'एक कूटनीतिक वार्तालाप से यह भी पता चला है कि फ्राँस इस सन्धि पर २ मई १९३५ को किये हुए हस्ताक्षर से अपने को पहले ही बद्ध मानता है।'

इस आकस्मिक आधिपत्य के लिए फ्रांको-सोवियत संधि को और लोकार्नो संधि के साथ इसकी कथित असंगति को बहाना बनाया गया। संधि को फ्रेंच लोकसभा (Chamber of Deputies) ने २७ फरवरी को अनुसमर्थन के लिए अनुमोदित कर दिया था, यद्यपि इसे उस समय, जिस समय हिटलर ने उपर्युक्त कार्यवाही की थी सीनेट द्वारा पारित होना शेष था। इस विचार पर कि वह समझौता लोकार्नो संधियों के साथ असंगत था, उस संधि का अन्य कोई पक्ष सहमत न था, और फ्लैन्डिन (M. Flandin) ने उस प्रश्न को स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) के समक्ष रखने का और उसका फैसला मानने का सार्वजनिक रूप से ऐलान किया था। अपने कार्यों द्वारा हिटलर ने निर्विवाद रूप से, वर्साई की संधि के अनुच्छेद ४२ और ४३ को अकस्मात् और सीधे अतिक्रमण द्वारा लोकार्नो संधि के अनुच्छेद २ के अधीन एक संधि-विषय (casus foederis) बना दिया था, और यदि इस अतिक्रमण को घोर अतिक्रमण माना जाता तो अन्य हस्ताक्षरकर्त्ताओं द्वारा अविलम्ब सैनिक कार्यवाही उचित और असल में तो अपेक्षित होती। उस अपराध की गम्भीरता वर्साई सन्धि (Treaty of Versailles) के अनुच्छेद ४४ में स्पष्ट होती है:

> यदि जर्मनी किसी भी तरह अनुच्छेद ४२ और ४३ के उपबन्ध भंग करता है तो यह माना जाएगा कि उसने वर्त्तमान संधि की हस्ताक्षरकर्त्ता शक्तियों के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्य किया है जिस से संसार की शान्ति भंग हो गई।

सच तो यह है कि जर्मनी के सर्वोच्च सैनिक क्षेत्रों में यह कल्पना की गई थी कि राइनलैंड पर पुनः आधिपत्य का अविलम्ब और संयुक्त प्रतिरोध किया जाएगा जिसके सामने आक्रामक सेना को झुकने के अलावा और कोई चारा न होगा। पर हिटलर ने प्रभावित शक्तियों के मिजाज़ का अधिक सही अन्दाज़ा लगाया था। उसके कार्य की आकस्मिकता ने लोकमत इतनी जल्दी सचेत न होने दिया, जिसका उसे लाभ पहुँचा। एकपक्षीय प्रत्याख्यान के अपने कार्य के साथ उसने एक स्मरण-पत्र दिया जिसमें उसने २५ वर्ष के लिए एक पश्चिमी अनाक्रमण संधि (non-aggression pact) वायुसंधि और अपने पूर्वी पड़ौसियों के साथ द्विपक्षीय संधियाँ करने का प्रस्ताव रखा और अन्त में यह कहा कि यदि कुछ शर्तें पूरी कर दी जायें तो जर्मनी राष्ट्र संघ में फिर शामिल होने को तैयार है। यद्यपि हिटलर ने फिर यह प्रदर्शित कर दिया था कि संधि के बंधनों को वह किस रूप में समझता था, तो भी ब्रिटिश जनता का बहुत बड़ा भाग भविष्य के लिए प्रस्तुत उसकी अच्छी दिखाई देने वाली परियोजनाओं की ओर अधिक ध्यान देने को, और उसने जिस तरह अतीत की प्रतिज्ञाओं को फाड़कर फेंक दिया था, उस की ओर से आँख मूंदने को तैयार था। बहुत से लोग यह समझते थे कि एक संपूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्र अपने प्रदेश के उस हिस्से में अपनी सेनाएँ भेज रहा था, जिसमें से उसे अनुचित रूप से दूर रखा गया था, और वे सेना भेजने की रीति और उसके कारण उत्पन्न खतरे की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। *टाइम्स* तक ने अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास-तन्तु पर इस विस्फोटक प्रहार के आघात का स्वागत करते हुए 'पुनर्निर्माण का एक मौका' शीर्षक एक अग्रलेख लिखा था—यह ठीक है कि यह कथन

एक अर्थ में किसी भी ध्वस्त क्षेत्र पर लागू होता है बशर्ते कि नींव ऐसी न हिल गई हो कि ठीक न हो सके।

इंग्लैंड को मामले की गंभीरता का ठीक बोध कराने का, यह बताने का कि 'पश्चिमी योरोप की शान्ति का एक मुख्य आधार नष्ट हो गया है', और भंग की गई संधि के अधीन फ्रांस और बेल्जियम के प्रति अपने दायित्वों में अपने देश की निष्ठा जारी रहने की पुनः घोषणा करने का भार ईडन पर पड़ा, और उन्होंने ९ मार्च को ब्रिटिश लोक सभा (House of Commons) में एक भाषण दिया। पर ब्रिटिश सरकार यह ठाने बैठी थी कि इस मामले को 'घोर अतिक्रमण' (flagrant breach) न माना जाये। इसके परिणाम लोकार्नो राइनलैंड संधि (Locarno Rhineland Treaty) के अनुच्छेद ४ (३) में उपबन्धित हैं। जैसे कि चैम्बरलेन के चरित्र लेखक ने इसे प्रस्तुत किया है, 'संधि के अनुसार हम गारन्टी-दाता थे पर शुरू से हमने अपने आप को मध्यस्थ बना लिया, और यद्यपि हमने इटली पर अब अनुशस्तियां लागू करने में आगे कदम बढ़ाया था, पर जर्मनी पर उन्हें लागू करने से इन्कार करने में भी हम ही आगे थे'।[1] अभी यह स्पष्ट है कि इस संकट में अकर्मण्य बने रहने की मुख्य जिम्मेदारी ब्रिटेन को उठानी होगी। फ्रेंच प्रधान मंत्री श्री सरो (M. Sarraut) और उनके विदेश मंत्री श्री फ्लैन्डिन (M. Flandin) इस पक्ष में थे कि ब्रिटेन और फ्रांस की सम्मिलित सेनाओं को एक साथ इकट्ठा किया जाये और इस नीति की वकालत करने के लिए श्री फ्लैन्डिन ११ मार्च को इंग्लेंड पहुँचे। यदि इस बातचीत के उस विवरण को पूरी तरह सही न भी माना जाए जो श्री फ्लैन्डिन ने दिया है[2], तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रिटिश सरकार को फ्रेंच प्रतिनिधि को यह मनाने में बहुत कठिनाई हुई कि वह नरम रुख अपनाएँ, और कि यदि ब्रिटिश समर्थन और सहयोग की जरा भी आशा होती तो श्री फ्लैन्डिन डटे रहते।[3] पर अंत में सिर्फ इतना तय किया गया कि 'इस प्रश्न को उपर्युक्त अनुच्छेद की उपधारा (१) के अनुसार राष्ट्र संघ की परिषद् के सामने तुरंत लाया जाए।

दोनों युद्धों के बीच के काल में शुरू में फ्रांस का रुख निश्चय ही अधिक दृढ़ और उग्र होता। युद्धों के बीच के समय फ्रेंच वैदेशिक नीति का सर्वांश नहीं तो मुख्यांश तो अवश्य इस इच्छा से प्रेरित था कि फ्रांस की धरती एक और जर्मन आक्रमण की विभीषिका से बची रहे। फ्रेंच राजनीतिज्ञों ने शुरू में इसी दृष्टि से राइन नदी पर प्राकृतिक प्रतिरक्षा सीमांत के लिए शोर मचाया था और योजना बनाई थी कि इससे सुरक्षा में वृद्धि होगी। इसी प्रकार, पूर्वी योरोप के देशों के साथ फ्रांस की मैत्री संधियों को भी जर्मन आक्रमण से फ्रांस की सुरक्षा के लिए हितकर माना जाता था,

---

१. कीथ फैलिंग, दि लाइफ आफ नैविल चैम्बरलेन, लन्दन, मैकमिलन १९४६, पृष्ठ २७९।

२. पी. ई. फ्लैन्डिन, पोलिटिक फ्राँसेस १९१९--४०, पेरिस (Editions) Nouvelles. १९४७, पृष्ठ २०७--८।

३. देखिए श्री चर्चिल का विवरण, दि गैदरिंग स्टार्म में, लन्दन, कैसल, १९२८, पृष्ठ १५०--४।

और राष्ट्र संघ में फ्रांस की दिलचस्पी का मुख्य कारण भी यही था कि इससे उस खतरे के विरुद्ध सुरक्षा साधनों को दृढ़ करने की और गुंजाइश थी। पर इस समय तक फ्रेंच लोकमत की दृष्टि में—और इसीलिए कुछ मात्रा तक उन फ्रेंच राजनीतिज्ञों की दृष्टि में भी जो उस लोकमत पर निर्भर थे—उनमें से कुछ बातों का महत्त्व एक और उपाय के कारण, जो राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में अपनाया गया था, बहुत कुछ घट गया था। प्राकृतिक प्रतिरक्षा सीमान्त, जिससे वह निराश हो गया था, के स्थान पर, फ्रांस बहुत दिनों से एक कृत्रिम सीमान्त बनाने की बात सोच रहा था, और १९२९ से उस के निर्माण में जोर-शोर से व्यस्त था, जिसके बारे में यह आशा की जाती थी कि वह प्राकृतिक सीमान्त से भी अधिक कार्यसाधक सिद्ध होगा। इस 'मैज़िनो रक्षा पंक्ति' के, जो सारे फ्रांको-जर्मन सीमान्त पर फैली हुई थी, चमत्कारों का बहुत प्रचार किया गया था, और अद्यतनीय तथा विस्तृत किलेबन्दी के क्षेत्र में सर्वोत्तम चीज होने के नाते, इसे सामान्यतया अभेद्य समझा जाता था—और असल में सीधे सामने के हमले के लिए संभवतः यह अभेद्य होगी भी। पर औसत फ्रेंचमैन इस प्रकार जर्मन आक्रमण के नये अनुभव के भयों से जितना मुक्त हो गया उतना ही वह फ्रेंच रण नीति के उन पहलुओं के प्रति उदासीन होने लगा जिनमें निष्क्रिय प्रतिरक्षा से अधिक कुछ करने की आवश्यकता थी। इस नये 'मैजिनो-निश्चिन्त' फ्रांस को अपने और जर्मनी के बीच की रुकावट का, तत्संवादी एक जर्मन दुर्ग-पंक्ति द्वारा दृढ़ हो जाना चिन्ताजनक नहीं प्रतीत होता था, हालांकि इससे फ्रांस के पूर्वी योरोप के मित्रों को आकस्मिक सैनिक सहायता पहुँचाने में इससे स्पष्ट रुकावट होती थी।[1] मनोवृत्ति का यह परिवर्तन अन्त में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होना था।

पर ब्रिटेन और फ्रांस की इच्छाओं में बहुत अंतर था—ब्रिटेन तो जर्मन स्मरण-पत्र की प्रस्थापनाओं में सुझाई गई वार्त्ता आरम्भ करना चाहता था और फ्रांस इस बात पर डटा हुआ था कि संधि के एकपक्षीय प्रत्याख्यान के इस नये उदाहरण को जरा भी क्षमा नहीं किया जाना चाहिए। इन परिस्थितियों में राष्ट्र संघ की परिषद् जिसकी बैठक १४ मार्च को लन्दन में हुई, इस निर्णय से अधिक कुछ न कर सकी कि जर्मनी अपने अन्तर्राष्ट्रीय बंधनों को भंग करने का दोषी है, और बाद की वार्त्ता लोकार्नो शक्तियों के हाथों में छोड़ दी गयी। इन्होंने १९ मार्च तक प्रस्थापनाओं की एक लम्बी सूची तैयार कर ली थी जिसमें उन्होंने फ्रांको-सोवियत संधि (Franco-Soviet Pact) और लोकार्नो संधि (Locarno Treaty) की कथित असंगतता के बारे में स्थायी न्यायालय (Permanent Court) का फ़ैसला स्वीकार करने के लिए कहा गया था और यह कहा गया था कि जब तक नयी जर्मन प्रस्थापनाओं पर वार्त्ता पूरी न हो तब तक राइनलैंड में भेजी गई सेनाओं की संख्या बहुत कम कर दी जाए और किले या हवाई अड्डे न बनाए जाएं। एक अंतर्राष्ट्रीय सेना बनाने और उसे उस क्षेत्र में रखने का प्रस्ताव भी रखा गया था, पर उसे शीघ्र ही चुपचाप छोड़ दिया गया।

३१ मार्च को जर्मन सरकार ने, जिसे राष्ट्र की ओर से प्रायः सर्व-सम्मत

---

१. श्री तारदू की युक्ति देखिए जो इस पुस्तक के अध्याय ४ में पृथकतावादी आन्दोलन शीर्षक के अन्तर्गत उद्धृत है।

विश्वास के मत से इसी बीच बढ़ावा मिला था, १९ शीर्षकों के अन्तर्गत प्रति प्रस्थापनाएं (counter proposals) पेश कीं, जो मुख्यतः ६ मार्च के स्मरण-पत्र का विस्तार थीं, और किलेबन्दी के प्रश्न पर उनका मौन अर्थपूर्ण था। फ्राँसीसियों ने इस लेख्य की कड़ी आलोचना की। उन्होंने कहा कि इसमें प्रस्थापित व्यवस्था के अतिक्रमण के विरुद्ध प्रभावी गारन्टियाँ नहीं हैं, और बताया कि सीधे-सादे द्विपक्षीय अनाक्रमण समझौते सुरक्षा या पवित्रता की दृष्टि से उन दायित्वों में कुछ भी वृद्धि नहीं करते, जिन्हें पक्ष केलॉग पैक्ट (Kellogg Pact) के अधीन ग्रहण किए हुए हैं। इसके बाद १० अप्रैल को लोकार्नो शक्तियों की एक बैठक में ब्रिटेन ने यह वचन देकर कि वह जर्मनी को स्पष्टीकरण करानेवाली प्रश्नावली प्रस्तुत करेगा, फ्रैंच प्रतिनिधियों को और आगे बातचीत का सब विचार त्याग देने से रोका। इस समय फ्राँस २ मई को चुनावों में अपनी सरकार के पराजित हो जाने से अस्थायी रूप से पंगु हो गया था। क्योंकि फ्रैंच प्रक्रिया के अनुसार निवृत्त होने वाले प्रशासन को बिना वास्तविक अधिकार के एक महीने और पदारूढ़ रहना था, इसलिए प्रश्नावली तैयार करने का भार अनिवार्यतः ब्रिटेन पर पड़ा जिसकी सरकार ने ७ मई को अपने प्रश्न जर्मनी को प्रस्तुत किए पर इन का हिटलर की सरकार ने, यह दिखाते हुए कि हमारा अपमान किया गया है, कोई उत्तर नहीं दिया। उसने अपनी स्थिति दृढ़ करने का कार्य जारी रखा और परिणामतः मार्च १९३७ के वार्षिकोत्सव समारोह में एक प्रभावित दुर्गरक्षित रक्षा-पंक्ति की बात मान ली गई।

विसैन्यीकृत क्षेत्र फ्राँस के लिए इस रूप में महत्त्वपूर्ण था कि वह उस समझौते का, जिसके द्वारा उसे शांति सम्मेलन में अपनी यह साग्रह मांग छोड़ने के लिए प्रेरित किया गया था, कि राइन नदी के पश्चिम का क्षेत्र बर्लिन के प्राधिकार से अलग कर दिया जाए, बचा हुआ एकमात्र अंश था। इसलिए इसे उस मूल्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश माना जा सकता था, जिसे देकर जर्मनी को अपने राइन पार के क्षेत्र में अपनी सेना रखने की इजाजत दी गयी थी। इसके अतिरिक्त लोकार्नो संधि, जिसे हिटलर ने इस प्रकार फाड़कर फेंक दिया था, जर्मनी पर लादे जाने की तो बात दूर, उसके ही सुझाव पर उसका सूत्रपात किया गया था, और जर्मनी की ओर से ही पहले यह सुझाव आया था कि इसकी गारन्टियों में विसैन्यीकृत क्षेत्र का कायम रखना भी समाविष्ट किया जाए।

उसी अर्थ में, संधि वाले राज्य इस संधि में राइनलैंड को विसैन्यीकृत करने के उस दायित्व की पूर्ति कराने की गारण्टी दे सकते थे जिसे जर्मनी ने वर्साई की संधि के अनुच्छेद ४२ और ४३ में ग्रहण किया था।[१]

बैल्जियम के साथ की गयी ज्यादती और भी अधिक घोर और असमर्थनीय थी। बैल्जियम के लिए इस प्रदेश का अस्तित्व १९१४ के दुष्कार्य की पुनरावृत्ति के समय से उसकी सुरक्षा की मुख्य गारण्टी बना रहा था, और उसके सीमांत से लगे हुए क्षेत्र के पुनः सैन्यीकरण में वह लचर बहाना भी नहीं किया जा सकता था जो फ्रांको-सोवियत समझौते के अनुसमर्थन से मिल गया था। हिटलर के कार्य ने उस

१. हैरियो को दिया गया जर्मन स्मरण-पत्र, ६ फरवरी १९२५, १९२५ का Cmd २४३५।

एकमात्र शर्त को भी विनष्ट कर दिया जिसके कारण बैल्जियम-वासी अपनी युद्ध से पहले की तटस्थता की स्थिति के परित्याग को उचित समझते थे। नयी स्थिति में उसे मजबूरन कुछ ऐसी चीज़ पर आना पड़ा जो बिल्कुल ऐसी ही प्रतीत होती थी। इस परिवर्त्तन का पहला संकेत राजा लियोपोल्ड ने १६ अक्तूबर १९३६ को एक भाषण में दिया, जिसमें आपने कहा : 'हमें ऐसी नीति पर चलना है जो अनन्यत: और पूर्णत: बैल्जियम हो। उस नीति का लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम अपने पड़ोसियों के किसी भी विवाद से दृढ़तापूर्वक बाहर रहें'। इन शब्दों ने फ्रांस में कुछ चिन्ता पैदा कर दी। पर बाद में यह स्पष्ट किया गया कि उनका अर्थ यह नहीं था कि बैल्जियम राष्ट्र संघ के सदस्य के नाते अपने ऊपर आने वाले कर्त्तव्यों का प्रत्याख्यान करता है, पर उनसे यह विचार अवश्य प्रकट होता था कि अब बैल्जियम के लिए लोकार्नो प्रणाली की गारण्टियों में सक्रिय भाग लेना शक्य नहीं होगा। यह विचार फ्राँस और ब्रिटेन द्वारा २४ अप्रैल १९३७ को की गई एक संयुक्त घोषणा में स्वीकार किया गया। बैल्जियम के यह वचन देने पर कि वह अपने सीमांत की प्रतिरक्षाओं को बहुत मजबूत कर देगा, उन्होंने उसे लोकार्नो के दायित्वों से मुक्त करना, और साथ ही अपनी ओर से, उस संधि में निविष्ट आक्रमण से बैल्जियम की सुरक्षा की गारण्टी जारी रखना स्वीकार कर लिया।

मांट्रो सम्मेलन
(The Montreux Conference)

राइनलैंड पर जर्मनी की सेनाओं के पुन: आधिपत्य के तुरन्त बाद एक और विसैन्यीकृत क्षेत्र—काले सागर के जलडमरूमध्यों का क्षेत्र अपने संधि-प्रतिबंधों से मुक्त हो गया, पर जिन परिस्थितियों में यह हुआ वे बहुत भिन्न थीं। एकपक्षीय प्रत्याख्यान के एक नये उदाहरण के स्थान पर मांट्रो सम्मेलन (Montreux Conference) ने पक्षों की साधारण और विमर्शित सम्मति से संधि संशोधन की एक स्वागत-योग्य नजीर प्रस्तुत की। इस कारण, तुर्की की इस प्रार्थना का, जो उसने अप्रैल १९३६ में (और उससे पहले भी) पेश की कि लासेन की संधि (Treaty of Lausanne) में सन्निविष्ट जलडमरूमध्य अभिसमय (Straits Convention) में परिवर्त्तन किया जाये, संशोधन-पक्षपाती (revisionist) और यथास्थिति-पक्षपाती शक्तियों (status quo powers) ने एक समान अनुमोदन किया। संशोधन-पक्षपाती शक्तियों ने तो साध्य के कारण और यथास्थिति-पक्षपातियों ने साधनों के कारण इसका अनुमोदन किया। संधियों की पवित्रता का सिद्धान्त माना गया, पर साथ ही इस विशिष्ट संलेख के उपबन्धों में 'शांतिपूर्ण परिवर्तन' कर दिये गए।

विसैन्यीकरण लासेन में की गई उन व्यवस्थाओं का गौण हिस्सा था जो अब पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत थीं। जलडमरूमध्य अभिसमय (Straits Convention) एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के तत्वावधान में युद्ध और शांति के दिनों में जलडमरूमध्य में से सैनिक और वाणिज्यिक जहाजों के गुजरने को विनियमित करता था, और निकटवर्त्ती तटों और द्वीपों को विसैन्यीकृत करता था। यह उपबन्ध बिना शर्त नहीं था, बल्कि युद्ध के दिनों में, अन्य हस्ताक्षरकर्त्ता शक्तियों को सूचना देकर तुर्की द्वारा

परिवर्तित किया जा सकता था। जलडमरूमध्य की स्वाधीनता और विसैन्यीकृत क्षेत्र की सुरक्षा हस्ताक्षरकर्त्ता शक्तियों की गारण्टी के अन्तर्गत थी।

उस समय से जब नाजी जर्मनी के पुनर्जीवन से निरस्त्रीकरण की और शांति की सम्भावनाएँ संदिग्ध हो गयी थीं, तुर्की ने जिसे जुलाई १९३२ में राष्ट्र संघ में लिया गया था, जलडमरूमध्य के पुन: सैन्यीकरण का प्रश्न बार-बार उठाया। उसकी दलीलों का आधार यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय गारंटियों का मूल्य घट गया है और व्यापक पुन: शस्त्रीकरण चल रहा है, पर तब तक तुर्की के इन दावों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया जब तक इटली के सफल आक्रमण ने और राइनलैंड में विसैन्यीकृत क्षेत्र के हिटलर द्वारा अतिक्रमण ने ऐसी आम मानसिक अवस्था नहीं पैदा कर दी जो इस प्रश्न पर उस समय पुनर्विचार के लिए अधिक अनुकूल थी जब तुर्की ने इसे एक बार फिर अप्रैल १९३६ में उठाया।

पहली बात तो यह है कि यह आशंका साधार थी कि यदि पारस्परिक सम्मति से संशोधन करने से इंकार कर दिया गया तो तुर्की हिटलर का दिखाया मार्ग पकड़ लेगा। दूसरे, पुन: सैन्यीकरण का कोई उदाहरण पैदा करने में अब ऐसी कोई हानि नहीं थी, जैसी जर्मन उत्क्षेपण (German Coup) से पहले हो सकती थी। तीसरे, इटालियन नीति की प्रतीयमान प्रवृत्ति के कारण ब्रिटेन ने भूमध्यसागर में एक मित्र शक्ति के मजबूत होने का स्वागत किया तथा फ्रांस को इस प्रस्थापना में अपने नये मित्र रूस की स्थिति सुधारने का अवसर दिखाई देता था। इस प्रस्ताव पर जिस महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरकर्त्ता देश के आपत्ति उठाने की सम्भावना थी, वह इटली था जो अस्थायी रूप से एक बदनाम 'उद्वैध' (outlaw) की स्थिति में था। पर सबसे बड़ी बात यह थी कि पारस्परिक सम्मति से संशोधन का सारा विचार ही उस अनिवार्य या एक-पक्षीय परिवर्त्तन के प्रक्रम के मुकाबले में, जो प्रचलित मार्ग प्रतीत होता था, एक आनन्ददायक वैषम्य प्रस्तुत करता था।

इसलिए तुर्की को अप्रैल के अंत तक इटली के अतिरिक्त उन और सब शक्तियों की, जिन्होंने लासेन की संधि पर हस्ताक्षर किये थे, प्रस्थापित सम्मेलन के लिए सम्मति प्राप्त करने में सफलता मिल गई—यह सम्मेलन माँट्रो (Montreux) में २२ जनवरी १९३६ को हुआ, और इस तिथि से एक मास के भीतर जलडमरूमध्य अभिसमय का सर्वसम्मत संशोधन तय हो गया। पर काम पूरा होने से पहले कुछ तनावपूर्ण और संकटपूर्ण मौके आये। शुरू में यह नहीं खयाल किया गया था कि सम्मेलन से १९२३ के अभिसमय के उन उपबन्धों को छोड़कर किसी और उपबन्ध को परिवर्त्तित करने के लिए कहा जायेगा जो विसैन्यीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी के विषय में थे। इस सीमित परिवर्त्तन से भी निस्संदेह सब राष्ट्रों के जहाजों के पार जाने की विधित: स्वतंत्रता कुछ-कुछ भ्रम-मात्र रह जाती है, क्योंकि वह पुन: शस्त्र-सज्जित तुर्की के तथ्यत: नियन्त्रण के अधीन रहती। पर पहले यह कल्पना नहीं की गयी थी कि जलडमरूमध्य की अन्तर्राष्ट्रीय जल पथ के रूप में स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को, जिसके आधार पर प्रारंभिक अभिसमय हुआ था, खुलेआम छोड़ने का कोई प्रयत्न किया जायेगा। पर जब हुआ तो इसमें तुर्की की प्रस्थापनाएँ पेश हुईं जिनमें

जलडमरूमध्य की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का कोई जिक्र नहीं था। इसके स्थान पर तुर्की की रक्षा के सिद्धान्त की चर्चा थी। प्रारूप में आगे प्रारम्भिक अभिसमय को इस प्रकार संशोधित किया गया था कि वह संशोधन तुर्की की अपेक्षा रूस के लिए अधिक हितकर प्रतीत होता था—संशोधन में काले सागर में प्रवेश पर उग्र प्रतिबन्ध लगाये गये थे और किसी भी तटवर्त्ती देश के बेड़े को भूमध्य सागर में चले जाने की स्वतन्त्रता दी गई थी। वार्त्ता में यह अप्रत्याशित घटना हो जाने से सोवियत संघ के, जिसे सम्मेलन में हिस्सा लेने वाले अधिकतर देशों की सहानुभूति प्राप्त थी, तथा ब्रिटेन के विचारों में संघर्ष हो गया। संक्षेप में कहें तो प्रश्न यह था कि काले सागर को महा समुद्र का भाग माना जाये या इसको तटवर्त्ती शक्तियों की सुरक्षा के हित में एक विशेष व्यवस्था प्रदान की जाये, और यदि ऐसे विशेष अधिकार दिये जाएँ तो क्या वे परस्परापेक्षता के सिद्धान्त पर दिये जाएँ जिसके अनुसार काले सागर के बेड़ों के भूमध्य सागर में घुसने पर वैसी ही पाबन्दियाँ लगा दी जायें। ब्रिटिश सरकार का कथन यह था कि जलडमरूमध्य या तो समान रूप से सबके लिए खुला हो, या समान रूप से सबके लिए बन्द हो, और रूस को ऐसी सुविधा न मिल जानी चाहिए कि वह भूमध्य सागर में लड़े और फिर पीछे हटकर ऐसी जगह पहुँच जाए जहाँ उसका बेड़ा आक्रमण से पूर्णतया सुरक्षित है। ब्रिटिश प्रतिनिधियों को यह रुख अपनाते हुए सम्भाव्यतः अपनी जल सेना को ऐसे 'इकतरफा यातायात' की पद्धति के संस्थापन से होने वाले किसी सीधे खतरे की इतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी ऐंग्लो-जर्मन नौसैनिक समझौते पर उन प्रभावों की थी जो सोवियत संघ की समुद्री शक्ति को यह सुविधा दिये जाने पर हो सकते थे। इस सीमा तक उस आरोप में थोड़ी बहुत सचाई हो सकती थी, जो सम्मेलन में भाग लेने वाले कुछ प्रतिनिधियों ने संकेत से लगाया था कि हम जर्मनी की ओर से लड़ रहे थे।

अन्त में मामला एक समझौते से निपटा जिसमें काले सागर की शक्तियों की प्रचुर सुविधाएँ बनी रहीं। जिस बात से सब से अधिक विवाद पैदा हुआ, वह उस युद्ध की बात थी जिसमें तुर्की शामिल न हो। ऐसी अवस्था में यह तय हुआ कि युद्ध-रत शक्तियों के युद्धपोत किसी भी दिशा में जलडमरूमध्य में से न गुजरने चाहिएँ, पर यदि वे प्रसंविदा के अधीन दायित्वों की पूर्त्ति के लिए या तुर्की को बद्ध करने वाली और प्रसंविदा के ढांचे के अन्तर्गत की गई पारस्परिक सहायता की संधि के कारण आक्रमण के शिकार को सहायता देने के लिए जाते हों तो यह रोक लागू न होगी।

नये अभिसमय के शेष उपबन्धों की यहां चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, अधिकतर विवाद किताबी मालूम होता है क्योंकि नियन्त्रण की वास्तविक शक्ति समुद्र-तटों और द्वीपों के पुनः सैन्यीकरण के साथ तुर्की के हाथों में पहुँच गयी थी। नयी व्यवस्था का यह भाग, नये अभिसमय पर सम्मेलन में भाग लेने वाली शक्तियों के २० जुलाई को हस्ताक्षर होने के अविलम्ब बाद लागू हो गया। हस्ताक्षर के बाद उसी रात को पहले वाले विसैन्यीकृत क्षेत्र में ३० हजार तुर्क सैनिक भेज दिये गये।

आस्ट्रो-जर्मन समझौता
(The Austro-German Agreement)

मॉंट्रो सम्मेलन के निर्णय पर जर्मनी और इटली ने असंतोष व्यक्त किया—यही दो राज्य थे जिन पर नयी व्यवस्था का सब से अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना थी। इस समय तक यह प्रत्यक्ष हो गया था कि इन दोनों देशों की सरकारों के मध्य घनिष्ठ मेल-मिलाप का प्रक्रम चल रहा था। उनकी रीतियों और राजनैतिक आदर्शों की समरूपता से इसकी आशा की जा सकती थी;—सच तो यह है कि वे उसी रवैये पर फिर आ रहे थे जो दोनों युद्धों के बीच की अवधि के अधिकांश भाग मे उनके सम्बन्धों का परिचायक रहा था। कुछ मास तक प्रत्येक की नीति दूसरे के अनुकूल रही। जर्मनी ने राइनलैंड में जो कार्य किया था, उसने इटली के विरुद्ध अनुशास्तियों (sanctions) की नीति सख्ती से लागू करना और कठिन कर दिया और विलोमतः स्ट्रेसा मोर्चा दृढ़ बना रहता और यदि एबिसीनियन युद्ध ने योरोप का बहुत सा ध्यान न खींच लिया होता तो जर्मनी ने ऐसी जोखिम उठाने की हिम्मत कभी न की होती। 'बर्लिन-रोम धुरी' (Berlin-Rome Axis) के निर्माण में एक बाधा आस्ट्रिया की समस्या थी, और इसे अब ११ जुलाई १९३६ को एक आस्ट्रो-जर्मन समझौता करके फिलहाल संतोषजनक रीति से समाप्त कर दिया गया—यह समझौता एक महीने से भी अधिक पहले मुसोलिनी को दिखाया गया था और उसके द्वारा अनुमोदित किया गया था। अगले दो वर्षों में जो कुछ होने वाला था, उसे देखते हुए इस व्यवस्था का ऐलान करने वाली सरकारी विज्ञप्ति के शब्द उद्धृत कर देना उचित होगा :

(१) फ्यूहरर और प्रधान मन्त्री द्वारा २१ मई १९३५ को की गई घोषणाओं के अनुसार जर्मन राइख की सरकार आस्ट्रियन संघ राज्य की पूर्ण सर्वोच्चता अभिज्ञात करती है।

(२) दोनों में से प्रत्येक सरकार दूसरे देश के भीतरी राजनैतिक ढांचे को, जिसमें आस्ट्रियन राष्ट्रीय समाजवाद का प्रश्न भी शामिल है, उस देश के भीतरी मामलों का हिस्सा समझती है जिस पर वह प्रत्यक्षतः या परोक्षतः कोई प्रभाव नहीं डालेगी।

(३) आस्ट्रियन संघ सरकार की नीति साधारणतया और विशिष्टतः जर्मन राइख के प्रति सदा उन सिद्धान्तों पर आधारित होगी जो इस तथ्य से मेल खाते हैं कि आस्ट्रिया ने अपने आप को एक जर्मन राज्य अभिस्वीकार कर लिया है। इसका १९३४ के रोम प्रोटोकोलों और १९३६ के पूरक समझौतों पर, या इन प्रोटोकोलों में उसके हिस्सेदार इटली और हंगरी की दृष्टि से आस्ट्रिया की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं होगा।[१]

इस समझौते ने आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ स्वेच्छया साझी बना दिया और इससे ऐक्य (anschluss) के अधिकतर लाभ प्राप्त होते प्रतीत होते थे और उस विचारधारा के लोगों से, जो इसके विरोधी थे, विरोध भी नहीं होता था। इनमें इटली के अतिरिक्त भी, आस्ट्रियन सरकार के वे समर्थक और बहुत से वे व्यक्ति शामिल थे, चाहे वे जर्मनी के प्रति कितना भी मैत्रीभाव रखते हों, जो अपने देश की ऐतिहासिक स्वतन्त्रता को महत्त्व देते थे और नाजी शासन को नापसन्द करते थे। खासकर, कैथोलिक चर्च और आस्ट्रिया तथा हंगरी दोनों में प्रभावशाली लोकमत का

१. जर्मन प्रचार मंत्री डा० गोएबल्स का रेडियो भाषण।

एक बड़ा समुदाय था जो अब भी हैब्सबर्ग की पुनः स्थापना को सर्वोत्तम और अंतिम हल मानता था। इस प्रकार इस समझौते से न केवल इटली और आस्ट्रिया, बल्कि हंगरी के भी जर्मन नीति के चक्र के निकटतर आने का प्रयोजन सिद्ध हुआ, और इस से युद्धपूर्व की त्रिदेशमैत्री (Triple Alliance) का बहुत कुछ पुनर्निर्माण हो गया। यद्यपि आस्ट्रिया और हंगरी कुछ समय तक इस समूह के पुराने सैनिक महत्त्व में बहुत कम अंशदान कर सकते थे, पर यह मुख्यतया इटली के भयों और संदेहों को दूर करने की एक रीति के रूप में परियोजित किया गया था और इस समय के बाद इटली स्पष्टतया जर्मनी के साथ निकट परामर्श और सहयोग से काम कर रहा था यद्यपि एक 'बर्लिन-रोम धुरी' (Berlin-Rome Axis) के अस्तित्व की सार्वजनिक रूप से उद्घोषणा नवम्बर से पहले नहीं की गयी।

स्पेन का गृह-युद्ध
(The Spanish Civil War)

नवनिर्मित मैत्री आस्ट्रो-जर्मन समझौता होने के लगभग साथ ही, १७ जुलाई को, स्पेन में गृह-युद्ध भड़क उठने से और दृढ़ हो गई। इस युद्ध में हस्तक्षेप से इटली और जर्मनी की नीतियों के सहयोग को आशापूर्ण क्षेत्र मिलता था। स्पेनिश संघर्ष का यही पहलू एक ऐसे मामले को, जो मुख्यतः घरेलू था, और जिसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के इतिहास का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था, अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्रदान करता है। तथ्य यह है कि युद्धोत्तर काल में स्पेन में कई महत्त्वपूर्ण आन्तरिक परिवर्त्तन हुए थे, जिनका अब तक उल्लेख नहीं हुआ पर अब उनके बारे में कुछ कहना आवश्यक है।

स्पेन संसदीय प्रणाली के विकास के लिए सदा विशेष रूप से अनुपयुक्त रहा है। स्पेन की आबादी का ४५% से अधिक भाग १९३१ में निरक्षर था। उसमें केन्द्रीय सरकार की विरोधी, एकता को खण्डित करने वाली प्रादेशिक निष्ठाएँ मौजूद थीं और सेना, कैथोलिक चर्च और मार्क्स तथा बाकुनिन की परस्पर-विरोधी प्रेरणाओं से कार्य करने वाले श्रमिक संगठन जैसी "सरकार के अन्दर सरकारें" मौजूद थीं, और राष्ट्रीय स्वभाव मूलतः समझौते को नापसन्द करने वाला था। उसमें वे आवश्यक बातें कभी मौजूद नहीं थी जिनके न होने पर लोकतन्त्रीय शासन अधिनायकों द्वारा दबा दिया जाता है, या अराजकता का रूप ले लेता है। असम्भव स्थिति का परम्परागत हल यही रहा है कि सेना के किसी जनरल ने विद्रोह की घोषणा कर दी, या सैनिक उद्घोषणा जारी कर दी। १९वीं शताब्दी का पहले का, १८२० से १८७४ तक का इतिहास राजनैतिक क्षेत्र में सेना की दखलन्दाज़ी के उदाहरणों से भरा पड़ा है। कभी-कभी इस उपाय के परिणामस्वरूप आपवादिक रूप से स्थिर और सफलताकाल भी आया है। १८७४ में सैनिक उद्घोषणा के परिणामस्वरूप ही बूरबन (Bourbons) पुनः सत्तारूढ़ हुए थे। इसी उपाय से १९२३ में जनरल प्राइमो डी रिवेरा (General Primo de Rivera) की अधिनायकता का आरम्भ हुआ जो १९३० तक चली। जुलाई १९३६ में जनरल फ्रांको के उत्क्षेपण (Coup) का आशय, उसी प्राचीन परिपाटी

का अवलम्बन था जिसे स्पेन में वैधानिक परिवर्तनों के निष्पादन के लिए अभिज्ञात साधन माना जाने का हक सा था।

पर जिन उपायों से प्राइमो डी रिवेरा ने शासन सम्भाला, उन तरीकों से बनाई गई सरकार प्रायः शान्ति का वंचनापूर्ण रूप-मात्र पैदा करती है, क्योंकि वह बलपूर्वक जनता के भावना-प्रदर्शन को दबाये रखती है। इस प्रकार दबे हुए असन्तोष के बल संचित होकर, खतरनाक रूप धारण कर लेते हैं। १९३० में प्राइमो के हटने के बाद एक वर्ष भी नहीं बीता कि अप्रैल १९३१ में राजा एलफोन्सो देश से भाग गया। उस के बाद एकाएक गणराज्य का जन्म हो गया और इसकी पतवार अत्यधिक विपरीत विचारों वाले व्यक्तियों को सौप दी गयी—जनता की निगाह में उनकी शासन के लिए एकमात्र योग्यता यह थी कि उन्हें पूर्ववर्ती शासन में राजनैतिक आधार पर कैद किया गया था। इनमें राजतन्त्रवादी और कैथोलिक, उदार स्वतन्त्र विचारक तथा रिपब्लिकन सोशलिस्ट शामिल थे। इसके परिणाम पर जोस कैस्टीलेजो (Jose Castillejo) ने अक्तूबर १९३६ में दिये गए एक भाषण में एक मनोरंजक तुलना प्रस्तुत की थी।[1]

स्पेन में जब पहले-पहल रेलें चलीं, तब एक किसान बारसीलोना से मैड्रिड को जाती हुई एक गाड़ी में बैठा। उन दिनों एक ही लाइन होती थी। इसलिए गाड़ियों को एक ही स्टेशन पर तब तक रुकना पड़ता था, जब तक विपरीत दिशा में जाने वाली गाडियाँ स्टेशन से गुजर न जावें। किसान पानी पीने चला गया और जब वह लौटा तब उसकी गाड़ी मैड्रिड रवाना हो चुकी थी और स्टेशन पर मौजूद गाड़ी विपरीत दिशा में जाने वाली थी। वह गाड़ी में घुसा और उसने वहाँ बैठे हुए एक और आदमी से पूछा, 'आप कहाँ जाएँगे?' दूसरे आदमी ने जवाब दिया, 'मैं बारसीलोना जा रहा हूँ'। 'ओह', किसान ने कहा, 'कैसा विचित्र आविष्कार है। आप बारसीलोना जा रहे हैं, मैं मैड्रिड जा रहा हूँ, और हम दोनों एक ही गाड़ी में हैं।' गणराज्य के पहले वर्षों में मन्त्रियों की यह स्थिति थी।

इस प्रकार राजनैतिक विरोधियों को मन्त्रिमण्डल से पृथक् या कैद किये बिना नये संविधान को चलाना असम्भव सिद्ध हुआ। बीच-बीच में नीतियाँ पलट दी जाती थीं, और जरूरी सुधारों की दिशा में प्रगति बहुत मन्द और सविराम हुई। अधीर श्रमजीवी वर्ग ने उन कानूनों को पहले ही लागू करना शुरू कर दिया जो अभी बनाए नहीं गये थे। असुरक्षा की आम भावना ने मज़दूरों में असन्तोष बढ़ा दिया क्योंकि मालिक और ज़मींदार कोई ऐसा नया काम शुरू करने से हिचकिचाते थे जो तत्काल आवश्यक न हो। फलतः बेकारी बढ़ती थी। एक साफ बात यह थी कि राजनैतिक विरोधियों की विजय का अर्थ था अल्पमत का विनाश, चाहे वह दक्षिणपंथी हो या वामपंथी। इस प्रकार एक या दूसरे पक्ष की विजय में ऐसी मार्मिक दिलचस्पी से स्वभावतः मध्यमार्गी लोकमत का विलोप होने लगा। सच्चे संसदीय शासन के बजाय वहाँ शुरू से ही परस्पर न मिल सकने वाले गुटों के मध्य संघर्ष था। सब प्रकार के सुशासन का सार है व्यवस्था की रक्षा और आबादी के प्रत्येक वर्ग को न्याय प्राप्त कराना। ये परमावश्यक बातें स्पेनिश गणराज्य में शुरू ही से नदारद थीं। प्रायः शुरू से एक प्रकार का गृह-युद्ध चल रहा था। अगस्त १९३२ में ही राजा-पक्षपाती

१. अप्रकाशित : इंटरनेशनल अफैअर्स में उद्धृत, ७ मई १९३७, पृष्ठ ४०८।

सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। जनवरी १९३३ में अराजकतावादी और सिंडीकैलिस्ट तत्त्वों का एक विद्रोह दबाना पड़ा। जब दिसम्बर १९३६ के चुनाव के परिणामस्वरूप दक्षिण पक्ष की ओर झुकाव हो गया, तब विरोधी नेताओं ने तुरन्त विद्रोह की धमकियाँ दीं जिनकी परिणति अक्तूबर १९३४ के एस्ट्रियास विद्रोह में हुई।

फरवरी १९३६ के चुनावों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी, जिसमें केन्द्र तो प्रायः लुप्त हो गया और दक्षिणपंथी तथा वामपंथी दल संतुलित थे। दक्षिणपंथियों को ४५,७०,००० मत मिले और वामपंथियों को ४३,५६,०००, पर स्थानों की दृष्टि से वामपंथियो को और सब दलों की अपेक्षा ५७ का बहुमत मिला। यह विजय सब वामपक्षी गुटों का एक 'जनवादी मोर्चा' बनाने के द्वारा हुई, जिसमें नरम उदारदलियों से लेकर कम्यूनिस्ट और अराजकतावादी तक शामिल थे। यद्यपि कम्यूनिस्टों को सारे स्पेन में ५० हजार से अधिक मत मिले पर अराजकतावादी और सिण्डीकैलिस्ट लोगों का बीच में आ जाना महत्त्वपूर्ण था। इस प्रकार, संसदीय विजय का मुख्य कारण एक ऐसा बल बन गया जिसके सिद्धान्त संसदीय शासन के विरोधी थे। यह भी पता चल गया था कि जनवादी मोर्चे का निर्माण कमिन्टर्न द्वारा अपनी अगस्त १९३५ की कांग्रेस में निर्धारित की गई नीति के अनुसार था। यद्यपि स्पेन जैसे व्यष्टिवादी और प्रादेशिक भावनाओं वाले देश में रूसी नमूने पर सर्वहारा की केन्द्रगत अधिनायकता की स्थापना का कोई खतरा नहीं था पर जनवादी मोर्चे में स्पष्टतः कुछ लोग मौजूद थे जो संवैधानिक उपायों से बिल्कुल विपरीत साधनों द्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध करने पर तुले हुए थे। इस तथ्य से उन वर्गों में स्वभावतः तीव्र भय पैदा हो गया जिन्हें ये लोग धमका रहे थे।

वामपक्षियों की विजय ने, चाहे वह बहुत थोड़े वोटों से हुई थी, उनके उग्र अनुयायियों में तुरन्त यह भावना पैदा कर दी कि क्रान्ति का समय आ गया है। फ्रांस में, जहाँ एक ऐसा मोर्चा सत्तारूढ़ हो गया था, शुरू में ऐसी ही प्रतिक्रिया हुई थी, पर श्री लियों ब्लूम की सरकार इतनी सशक्त थी कि उसने व्यवस्था बनाये रखी। स्पेन में ऐसी किसी बात की आशा नहीं थी। तुरन्त असह्य अराजकता की अवस्था हो गई। निःसन्देह बहुत सी ज्यादतियाँ दक्षिणपक्षी अतिवादियों ने की थीं, पर सरकार की कमज़ोरी भी माननी ही होगी। चुनावों के और जनरल फ्रांको का विद्रोह शुरू होने के बीच में २५१ चर्च जला दिये गये थे, ३२४ अखबारों के दफ्तर, राजनैतिक क्लब और निजी मकान हमले के शिकार हुए थे, जिनमें से ७९ पूरी तरह विनष्ट हो गये। ३३९ व्यक्तियों की हत्या कर दी गई थी। १२८७ व्यक्ति घायल हो गये। डकैती का बोल-बाला था। ३३१ हड़तालें हुई थीं।

१३ जुलाई को श्री काल्वो सोटेलो की, जो दक्षिणपंथी योग्यतम राजनैतिक नेता था, हत्या कर दी गई, और इस घटना को प्रायः जनरल फ्रांको के विद्रोह का कारण बताया जाता है, पर इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि योजना पहले ही पूरी हो चुकी थी और इस घटना का जो कुछ प्रभाव हो सकता है वह सिर्फ यह कि विद्रोह पहले तय की गयी तिथि से कुछ पहले शुरू कर दिया गया हो। तथ्यतः एक आसन्न सैनिक राज्योत्क्षेपण (military coup d'etat) की अफवाहें चैथम हाउस में हुई एक

बैठक में सुनी गई थीं।[1] स्पेनिश राजनीतिज्ञ श्री लेरोक्स को सोटेले की मृत्यु के अगले षड्यन्त्र की सूचना दे दी गई थी। इससे भी अधिक अर्थपूर्ण बात यह थी कि रिपोर्टों के अनुसार विमान-चालकों ने, जिन्हें ३० जुलाई को फ्रेंच प्रदेश में जबर्दस्ती उतरना पड़ा था, यह गवाही दी थी कि हमें विद्रोह शुरू होने से तीन दिन पहले, अर्थात् १४ जुलाई को ही जनरल फ्रांको के पास काम करने के लिए भरती किया गया था। यह गवाही इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इससे षड्यन्त्र में इटली का हाथ होने का पता चलता है।

इसलिए विदेशी हस्तक्षेप के अलावा भी, विचार किया जाय तो स्पेन में १७-१८ जुलाई की रात को जो कुछ हुआ, वह आधुनिक स्पेनिश इतिहास में निरन्तर घटने वाली एक घटना की पुनरावृत्ति थी जो ऐसी परिस्थितियों में हुई थी जिनमें उस जैसी किसी बात का होना अनिवार्य था, और यह एक ऐसा मामला था जिसमें कोई अन्य देश सम्बन्धित नहीं हो सकता था। असल में तो, दोनों में से कोई भी पक्ष लोकतन्त्रीय सहानुभूति पाने का पात्र नहीं था। दोनों पक्षों के वास्तव में शक्तिशाली लोग 'उन कठिनाइयों को, जिनमें १९३६ में स्पेनिश गणराज्य पड गया था, उदार संस्थाओं को उन्मूलित करने और स्पेनिश राज्य पर कब्जा कर लेने के लिए एक अवसर के रूप में इस्तेमाल करना चाहते थे।[2] ऐसी स्थिति में ब्रिटेन का सर्वथा अहस्तक्षेप (non-intervention) का रवैया उसकी परम्परागत नीति के अनुसार था। ऐसे रवैये का औचित्य सिद्ध करने वाली दलीलें लार्ड कैसलरीग द्वारा १८२० में बिल्कुल ऐसी ही परिस्थितियों में बनाये गये एक राज्य प्रलेख (State Paper) में पढ़ी जा सकती हैं। जनरल फ्रांको की विजय स्पेनिश श्रमजीवी वर्ग के लिए अशुभ-सूचक हो सकती है, और जनवादी मोर्चे में उन उग्र तत्त्वों की विजय जो शुरू से सर्वहारा क्रान्ति का सहायक कदम मानते थे, स्पेन के सम्पत्तिशाली वर्गों के लिए आतंक की संभावना पैदा कर रही थी। पर संभाव्यत: यह बात १९३९ में भी उतनी ही सही थी जितनी १८२० में—

> कि योरोप का इतना ही बड़ा और कोई भाग नहीं है जिसमें ऐसी क्रान्ति से अन्य राज्यों को कोई सीधा और आसन्न खतरा पैदा होने की संभावना न हो और ऐसे खतरे होने पर ही, कम से कम इस देश में, बाह्य हस्तक्षेप उचित माना जाएगा।[3]

इसलिए, ब्रिटिश सरकार ने श्री ब्लूम द्वारा स्पेन में अहस्तक्षेप के लिए एक सम्मत व्यवस्था के शीघ्र अपनाये जाने और तुरन्त कार्यान्वित किए जाने के लिए की गई अपील का फौरन उत्तर दिया। बैल्जियम, पोलैंड और सोवियत रूस से भी अनुकूल उत्तर प्राप्त हुए, और पुर्तगाल, जर्मनी और इटली ने भी इस नीति को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया, यद्यपि इटली का इसे समर्थन इस शर्त पर था कि स्वयंसेवकों की रवानगी रोकने और चंदे करने के विशेष उपबन्ध इसमें समाविष्ट किये जायें और पर्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण हो। अगस्त के अन्त तक मुख्य योरोपीय शक्तियों ने,

१. इन्टरनेशनल अफेयर्स, सितम्बर १९३६, पृ० ६६७।
२. दि राउंड टेबिल, जून १९३८, पृ० ४४३।
३. लार्ड कैसलरीग, loc cit.

जिनमें जर्मनी, इटली और सोवियत संघ भी थे, एक अहस्तक्षेप समझौते (non-intervention agreement) पर हस्ताक्षर कर दिये थे; फ्रास, जर्मनी, ब्रिटेन, बैल्जियम और पुर्तगाल ने स्पेन या उसके उपनिवेशों को विनिर्दिष्ट हथियार तथा युद्ध-सामग्री—जिसमे विमान भी शामिल थे, निर्यात करने पर पाबन्दी लगा दी थी, और फ्रेंच प्रस्ताव १५ अन्य योरोपीय राज्यों द्वारा सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया गया था। एक अन्तर्राष्ट्रीय अहस्तक्षेप समिति ने लंदन में ९ सितम्बर को कार्य आरम्भ किया।

पर कुछ योरोपीय शक्तियों द्वारा इस नीति की मौखिक स्वीकृति उनके कार्यों से मेल नहीं खाती थी। इटली स्पष्ट रूप से और जर्मनी सम्भाव्यतः उस सैनिक विद्रोह का ज्ञान रखते थे जिसके आकस्मिक राज्योत्क्षेपण (coup d'e'tat) के रूप में तुरन्त सफल होने की आशा थी। यह आशा फलीभूत न हुई। स्पेनिश सरकार का देश के पूर्व और मध्य भाग पर नियंत्रण बना रहा। यह एक सारा मिला हुआ क्षेत्र था जो केटेलोनिया (जिसमें एरेगोन के कुछ भाग भी थे), वेलेन्शिया, एल्मीरिया सहित मर्सिया और न्यूकैसिल के पुराने प्रान्तों का तत्स्थानी था: मलागा और बेडेजोज़ ने भी विद्रोह का विरोध किया पर बेडेजोज़ अगस्त के मध्य में पराजित हो गया और उत्तर में बास्क प्रान्त और पहाड़ों तथा समुद्र के बीच का पश्चिम की ओर ओवीडो तक का प्रदेश (पर ओवीडो उसमें शामिल नहीं था) एक और क्षेत्र खंड था जहाँ उत्क्षेपण (coup) असफल रहा था। इसलिए स्थिति यह थी कि जब तक जनरल फ्रांको अपने अधीन सेनाओं के जोर से, और उन संभरणों से जो उसे पहले ही मिल चुके थे, सफलता की आशा कर सकता, तब तक उसके समर्थकों का हित इसमें था कि वे स्पेनिश सरकार को मिलने वाली सहायता बन्द कर दें। इसके लिए रूस के मजदूरों से बहुत-सा धन लिया जा रहा था और स्पेनिश सरकार को अनेक स्थानों से विशेषकर सोवियत-संघ से युद्ध-सामग्री और विमान भी प्राप्त हो रहे थे। पर जब सारा मामला बढ़ कर गृह-युद्ध का रूप धारण कर गया, तब प्रत्येक पक्ष के समर्थक अपनी-अपनी सहायता बनाये रखने और बढ़ाने को उत्सुक थे। अहस्तक्षेप समिति की बिल्कुल शुरू की बैठकों में रूस ने जर्मनी, इटली और पुर्तगाल पर बार-बार हस्तक्षेप के आरोप लगाए, और अक्तूबर समाप्त होने से पहले सोवियत सरकार ने घोषित कर दिया कि हम समझौते पर वहीं तक बंधे रहने को तैयार हैं, जहाँ तक अन्य सदस्य शक्तियाँ, उनसे अधिक नहीं। इस समय तक रूस द्वारा दी गई सहायता काफी बड़ा रूप ले चुकी थी, और १९ नवम्बर को ईडन ने ब्रिटिश लोक सभा में कहा कि 'जर्मनी या इटली की अपेक्षा भी अधिक दोषी अन्य सरकारें हैं।' एक ब्रिटिश यात्री द्वारा प्रकट की गई राय संभाव्यतः स्वीकार की जा सकती है कि यदि जर्मन और इटालियन सहायता न होती तो विद्रोह पहले कुछ ही सप्ताहों में विफल हो गया होता, पर अक्तूबर में सोवियत संघ से प्राप्त हुई सहायता के बिना सरकार शीघ्र ही पराजित हो गई होती।

इसलिए, प्रायः शुरू से ही अहस्तक्षेप के समझौते का दोनों संघर्ष-रत पक्षों के विदेशी समर्थकों ने गंभीर उल्लंघन किया था। दोनों पक्षों का बहाना अपने आदर्शों का था। निस्संदेह स्पेनिश सरकार से सहानुभूति रखने वाले बहुत से लोग सचमुच ऐसे विचारों से प्रेरित थे, पर यह बात संदिग्ध है कि वे इटली, जर्मनी और रूस की ओर

से किए जा रहे हस्तक्षेप के सच्चे प्रेरक कारण को निरूपित करते थे। जहां तक रूस का सम्बन्ध है, उसका मुख्यतः यह आशय रहा प्रतीत होता है कि नाजी-फैसिस्ट गुट की शक्ति की महत्त्वपूर्ण वृद्धि को रोका जाए जिसके लिए जर्मनी और इटली उद्योग कर रहे थे। 'लाल' स्पेन में प्रचलित राजनैतिक सिद्धान्त अराजकतावाद और सिन्डीकेलिज्म का मार्क्स या लेनिन के विचारों की अपेक्षा मुसोलिनी के गुरू के विचारों से अधिक निकट सम्बन्ध था, और योरोप के एक सुदूर कोने में इसकी विजय से अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिज्म के प्रसार को कोई सीधी सहायता मिलने की संभावना नहीं थी; ऐसे विचार की विजय से इटली को या जर्मनी को गंभीर खतरा था—इन दोनों देशों में सर्वहारा क्रान्तिकारी आन्दोलनों की शक्ति उपेक्षणीय थी। सच तो यह है कि रूसी खतरा हिटलर के दिमाग पर ऐसा सवार था कि उनका एक आदर्श के लिए लड़ने वाले के रूप में अपना निरूपण कुछ अंश तक सच्चाई लिये हुए हो सकता है, पर मुसालिनी के बारे में उनके पिछले रुख के कारण ऐसा कोई निष्कर्ष निकालना कठिन है। स्टालिन के सत्तारूढ होने से पहले, जब अन्तर्राष्ट्रीय बोल्शेविज़म की विभीषिका व्यापक रूप से और तर्क-सगत रूप से अनुभव की जाती थी, तब फासिस्ट इटली उन योरोपीय शक्तियों में था, जिन्होंने सोवियत सरकार को सबसे पहले सरकारी तौर से अभिज्ञात किया। निरस्त्रीकरण सम्मेलन के अधिवेशनों में सारे समय इटली और सोवियत संघ का सहयोग विशेष रूप से मैत्रीपूर्ण रहा था, और सितम्बर १९३३ में ही मुसोलिनी ने सोवियत संघ के साथ मैत्री और अनाक्रमण की एक नई संधि की थी, जिसके अनुसार, और बातों के अलावा, प्रत्येक देश ने दूसरे पक्ष के विरुद्ध किये जा रहे किसी समझौते, या बनाए जा रहे किसी संयोजन में शामिल न होने का वचन दिया था। बोल्शेविज़म का संकट अब तब की अपेक्षा कम से कम अधिक भयंकर नहीं था, और इटली या जर्मनी किसी के लिए भी स्पेनिश संघर्ष में लगे हुए दोनों ओर के विभिन्न राजनैतिक विचारों में से किसी की विजय या पराजय इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी जिससे किसी भी प्रतिद्वन्द्वी के निमित्त किये जा रहे धन, सामग्री और मनुष्य शक्ति के गंभीर व्यय की निश्चयात्मक रूप से व्याख्या हो सके।

पर स्पष्टतः कुछ सामरिक लाभ प्राप्त करने का यत्न किया जा रहा था। नाजी और फासिस्ट सहायता द्वारा स्पेन में उनके आश्रित व्यक्ति के सत्तारूढ़ हो जाने का हिटलर के लिए यह अर्थ होगा कि प्रत्येक महत्वपूर्ण सीमान्त पर फ्रांस को जर्मनी से सहानुभूति रखने वाली सरकार की चौकसी करनी होगी। इटली को इससे यह मौका मिल जाएगा कि एक मैत्री-पूर्ण शासन द्वारा प्रस्तुत सुविधाओं के जरिये वह पश्चिमी भूमध्यसागर पर फ्रेंच और ब्रिटिश नियंत्रण को चुनौती दे सकेगा। युद्ध के समय ऐसी शक्ति यूरोपियन और अफ्रीकन स्पेन में बैलीरिक द्वीपों (Balearic Islands) में और केनेरीज (Canaries) में अड्डे दे सकेगी जिनसे जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य पर ब्रिटिश नियंत्रण यद्यपि विनष्ट नहीं, तो भी व्यर्थ तो हो ही जायेगा, और फ्रांस को अपने उत्तरी अफ्रीकन उपनिवेशों से सैनिक लाने में गम्भीर बाधा पड़ेगी। ये लाभ राज्यक्षेत्र का कोई प्रत्यक्ष हस्तांतरण किये बिना, या संधिगत अभिस्वीकृत अधिकार दिये बिना प्राप्त किये जा सकते थे. या कम से कम इतने अधिक संभाव्य बनाये जा सकते थे कि

पश्चिम मे बहुत सी सेना को विघटित कर दें। यह करने के लिए तब स्पष्टतः प्रयत्न करना उपयोगी था। इस प्रयत्न के वास्तविक उद्देश्यों को कम्यूनिज़्म के विरुद्ध धर्म-युद्ध का नाम दिया जा सकता था—यह ऐसा उपाय था जो लोकतन्त्रीय देशों में उनकी जनता के बहुत बड़े भाग की सहानुभूतियों और भयों को अपील करके प्रतिरोध की संयुक्त शक्ति को दुर्बल किया करता था।

सितम्बर मे यह पता लगने पर कि मेजोर्का द्वीप इटली के काउन्ट रोसी के तथ्यतः नियन्त्रण में था, ब्रिटिश सरकार ने इटालियन सरकार को एक निवेदन-पत्र भेजा, जिसमे यह कहा गया था कि पश्चिमी भूमध्यसागर मे यथास्थिति मे कोई परिवर्तन ब्रिटिश सरकार के लिए काफी चिन्ता का विषय होगा। १८ नवम्बर को जर्मन और इटालियन सरकारों ने लगभग एक ही शब्दो में जनरल फ्रांको की सरकार को सरकारी तोर से अभिज्ञात करते का ऐलान कर दिया। इस तिथि के, और क्रिसमस १९३६ के मध्य जर्मन सैनिक बड़ी संख्या में स्पेन आते रहे। इनकी कुल संख्या २० हज़ार से कम नहीं थी। एक जर्मन पत्रकार के मतानुसार, जो स्पेन के फ्रांको-नियन्त्रित भाग में था, जर्मनी में इन सैनिकों को छांटने की विधि यह नहीं थी कि स्वयंसेवकों को अपने नाम देने के लिए कहा जाए, बल्कि यह थी कि सारे दस्ते को सेवा के लिए नियुक्त कर दिया जाता था। और तब यह ऐलान किया जाता था कि जिस किसी को आपत्ति हो वह रुक सकता है। क्रिसमस से पहले दिन ब्रिटिश और फ्रेंच सरकारों ने इकट्ठे मिलकर बर्लिन, लिस्बन, मास्को और रोम के नाम एक अपील जारी की जिसमे स्पेनिश सेनाओं के लिए बाहर से सैनिक भेजने को समाप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया गया था। उत्तर तो अनुकूल प्राप्त हुए पर सैनिकों का आना जारी रहा।

२ जनवरी १९३७ को रोम में ब्रिटेन और इटली में एक समझौता हुआ जिसे आमतौर से पर अनुचित रूप से 'भद्र पुरुष का करार' (Gentleman's Agreement) कहा जाता है, जिसमें भूमध्यसागर में दोनों देशों के हितों को अभिज्ञात किया गया और जिसमें दोनों पक्षों ने यह कहा कि भूमध्यसागर के क्षेत्र में राष्ट्रीय सर्वोच्चता के विषय में यथास्थिति को परिवर्तित करने या परिवर्तित हुआ देखने की हमारी इच्छा नही है, और यह स्वीकार किया कि दोनों देशों के अच्छे सम्बन्धों को बिगाड़ सकने वाले कार्यों को न बढ़ने दिया जाए। उसी दिन जिब्राल्टर में यह खबर पहुँची कि चार हज़ार इटालियन कैडिज़ में उतरे हैं और यह प्रवाह लगभग फरवरी के अन्त तक जारी रहा—उस समय तक स्पेन में इटालियन सैनिकों की संख्या लगभग ८० हजार तक पहुँच गयी थी, जो ८ डिवीज़नों में बँटी हुई थी और प्रत्येक की कमान इटालियन नियमित सेना के एक जनरल के हाथों में थी। लगभग १५ दिन बाद इटालियन अखबारों ने यह भय व्यक्त किया जिसकी डचे ने पुष्टि की कि स्पेन में बोल्शेविस्ट सरकार की स्थापना 'भद्र पुरुष का करार' (Gentleman's Agreemeut) के अभिप्राय के अन्तर्गत यथास्थिति का परिवर्तन होगा, और इसलिए सहन नहीं किया जा सकता। ब्रिटिश-विरोधी प्रचार भी चलता रहा।

इस बीच दो घटनाओं के कारण ध्यान दूसरी ओर हो गया था। क्रिसमस के दिन जर्मन जहाज़ *पालोस* (*Palos*) को महासमुद्र में स्पेनिश सरकार के युद्ध-पोतों ने पकड़ लिया। उसे कुछ दिन बाद छोड़ दिया गया, पर उस पर लदे हुए सामान का कुछ हिस्सा जब्त कर लिया गया और एक कैदी को रोक लिया गया। जर्मनी ने प्रतिशोध के रूप में स्पेनिश जहाज़ *एरेगोन* को पकड़ लिया, और वह जनरल फ्रांको के सुपुर्द कर दिया। इस घटना में प्रत्येक पक्ष के कार्य की वैधता संदिग्ध प्रतीत होती है। ८ जनवरी को स्पेनिश मोरक्को में जर्मन सैनिकों की बड़ी संख्या के पहुँचने की खबर से फ्रांस चिन्तित हो गया। ऐसी घटना १९१२ की फ्रांको-स्पेनिश सन्धि (Franco-Spanish Treaty of 1912) का अतिक्रमण होती। इसलिए अविलम्ब और जोरदार अभ्यावेदन किये गये जिनके उत्तर में यह कहा गया कि ऐसा कोई पग विचाराधीन नहीं है और घटनास्थल पर जाँच करने का निमन्त्रण दिया गया। इस जाँच का परिणाम निश्चिन्तताकारक था पर बहुत से लोगों के मन पर यह प्रभाव रह गया कि इस अवसर पर फ्रांस की दृढ़ता न तो अनुचित थी और न अनुपयोगी।

इस सारे समय 'स्वयंसेवकों' को रोकने के लिए वार्त्ता चलती रही जिसके परिणामस्वरूप इटली ने १५ फरवरी को एक आदेश प्रख्यापित करके, जो २० फरवरी से लागू होना था, स्पेन में सैनिक-कार्य के लिए इटालियनों के जाने पर रोक लगा दी। कैडिज़् में इटालियन कुमुक पहुँचने की खबरें ७ मार्च तक आती रहीं, पर यह सम्भाव्य प्रतीत होता है कि निर्धारित तिथि से इस आदेश का बहुत कुछ पालन किया गया। इस समय तक जनरल फ्राँको की सेना को इटली और जर्मनी की जो सहायता मिली थी वह उसकी सफलता को सुनिश्चित बनाने के लिए पर्याप्त समझी गई प्रतीत होती है, या दूसरे शब्दों में दृष्टिगत लक्ष्य के लिए जितना कुछ किया जा सकता था उतना किया जा चुका था, और अहस्तक्षेप समिति ने एक नौसैनिक गश्त और सीमान्त निगरानी की प्रणाली स्थापित करने का समझौता किया और १९ अप्रैल से यह गश्त और निगरानी शुरू हो गयी। पर २९ मई को जर्मन लड़ाकू जहाज *ड्यूट्शलैंड* पर स्पेनिश सरकार के विमानों ने इविज़ा के लंगर स्थान पर बमबारी की, और इसका बदला लेने के लिए दो दिन बाद एक जर्मन क्रूजर और चार विध्वंसकों ने एलमेरिया नगर पर बमबारी की। १९ जून को बर्लिन ने यह ऐलान किया कि जर्मन क्रूज़र *लीपज़िग* पर पनडुब्बियों ने हमला किया है, और यद्यपि इसका प्रतिवाद किया गया, पर फ्राँस और ब्रिटेन द्वारा संयुक्त प्रदर्शन में भाग लेने से इन्कार कर देने के परिणामस्वरूप, जर्मनी और इटली गश्त कार्य से पृथक् हो गये। पुर्तगाल ने अपने सीमांत के प्रेक्षण की सुविधाएँ वापिस ले लीं और १० जुलाई को पास में पाइरीनियन सीमांत की निगरानी बन्द कर दी गयी। इस प्रकार अहस्तक्षेप को सुनिश्चित बनाने के लिए अब तक किये गये नियन्त्रण-कार्यों में बहुत बाधा पड़ गई।

इसलिए १४ जौलाई को अहस्तक्षेप समिति के ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने समझौते के रूप में एक नया प्रस्ताव रखा, जिसके अनुसार—

(१) नौसैनिक गश्त बन्द कर दी जाये और स्पेनिश बंदरगाहों में प्रेक्षक बैठा

दिये जायें, पर स्थल सीमान्तों की निगरानी फिर शुरू कर दी जाए।

(२) दोनों पक्षों की सेना से विदेशी नागरिकों को हटाने के लिए आयोग बनाये जाएँ।

(३) जब विदेशियों के हटाने के कार्य में प्रचुर प्रगति हो जाये, तब दोनों पक्षों को युद्धरत (belligerents) अभिज्ञात कर लिया जाए और वे अधिकार दे दिये जाएँ जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि इस स्थिति में देती है।

कई बार गतिरोध होने के बाद, जिनमें सोवियत संघ ने शायद सबसे अधिक बाधाजनक हिस्सा लिया, प्रायः पूरे एक वर्ष बाद सारी अहस्तक्षेप समिति ने इन आधारों पर एक योजना स्वीकार कर ली। पर यह घटना अगले अध्याय का विषय है, और मध्यान्तर में बहुत कुछ हो चुका था।

ब्रिटिश सरकार की राय में ऐंग्लो-इटालियन सम्बन्धों में बिगाड़, जो स्पेनिश युद्ध में इटली के रुख का ही कारण न था, बल्कि इटली द्वारा अन्य प्रदेशों में जोर-शोर से और लगातार किये जा रहे ब्रिटिश-विरोधी प्रचार का भी कारण था, मुख्यतः भय की वजह से हुआ था। मुसोलिनी एबिसीनिया में अपने आक्रमण पर राष्ट्र संघ द्वारा किये जा रहे विरोध को शुद्ध रूप से ब्रिटेन का काम समझते थे जो उसने अपने राष्ट्रीय हितों के लाभ की दृष्टि से किया था, और उस विरोध पर अपनी विजय को उतनी राष्ट्र संघ की पराजय नहीं समझते थे जितनी ब्रिटेन की। श्री चैम्बरलेन की दृष्टि में उनका यह विचार था कि 'हम चालाकी से इटालियनों को निष्क्रिय बनाये रखने का यत्न कर रहे थे, ताकि हम अपना पुनः शस्त्रीकरण पूरा कर लें, जिसका मौजूदा उद्देश्य यह था कि एबिसीनिया पर इटली की विजय का बदला लिया जाए'।[1] ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने अपनी साधारण प्रसादन (appeasement) की नीति का अनुसरण करते हुए इन संदेहों को दूर करने का यत्न किया, और २७ जुलाई १९३७ को काउन्ट ग्रान्डी द्वारा दिये गये एक मौखिक सन्देश के उत्तर में उन्होंने मुसोलिनी को एक मैत्रीपूर्ण पत्र लिखा जिसका उत्तर मुसोलिनी ने मैत्रीपूर्ण शब्दों में ही दिया।

पर लगभग उसी समय ये खबरें आने लगीं कि स्पेनिश सरकार के, और तटस्थ देशों के जहाजों पर भूमध्यसागर में अज्ञात देश की पनडुब्बियों द्वारा दस्युतापूर्ण हमले किये जा रहे हैं। सच तो यह है कि वर्ष के आरम्भ से ही ऐसे गैर-कानूनी ढंग के बहुत से हमले स्पेन के आस-पास जहाजों पर किये जा रहे थे, पर अब तक ये विमानों द्वारा किये गए थे। जनरल फ्रांको के पास पनडुब्बियाँ न होने की बात सबको पता थी। इसलिए इस दस्युकार्य के लिए इटालियनों पर दोष लगाया गया और स्पेनिश तथा रूसी सरकारों ने खुले तौर से यह बात कही। इस तथ्य से कि इनमें से कुछ घटनाएँ स्पेनिश समुद्र से बहुत दूर पूर्वी भूमध्यसागर में हुईं, बहुत से लोगों के मन में यह संदेह लगभग निश्चय रूप लेने लगा प्रतीत होता है कि श्री चैम्बरलेन को स्वयं भी यह संदेह था, क्योंकि उन्होंने सितम्बर से ठीक पहले यह कहा था, 'कि भूमध्य सागर में कुछ घटनाएँ हुईं जिनके कारण हमारी सम्मति में यह असंभव हो गया है कि इस समय के वार्त्तालापों के सफल होने की कोई

१. श्री नैविल चेम्बरलेन, ब्रिटिश लोकसभा, २ फरवरी १९३८।

गुंजायश है'।[1] १७ अगस्त को ऐडमिरैल्टी (ब्रिटिश नौसैनिक मंत्रालय) द्वारा ये आदेश दिये गये कि यदि ब्रिटिश जहाज़ों पर बिना चेतावनी की पनडुब्बियों का हमला हो तो फौरन प्रत्याक्रमण किया जाये। एक पखवाड़े बाद इन आदेशों को कार्यान्वित किया गया जब कि ब्रिटिश विध्वंसक *हैवोक* पर ऐलिकाँटे और वैलेन्शिया के मध्य एक पनडुब्बी द्वारा असफल आक्रमण किया गया। इन परिस्थितियों में फ्रेंच सरकार का यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया कि इस नये खतरे का सामना करने के सर्वोत्तम उपाय पर विचार करने के लिए भूमध्यसागरीय शक्तियों (Mediterranean Powers) का एक सम्मेलन किया जाए। तदनुसार १० सितम्बर को नियोन में सम्मेलन हुआ। जिनीवा के मुकाबले में नियोन इसलिए चुना गया था ताकि इटली भी भाग ले सके पर इटली ने भाग लेने से इंकार कर दिया। सम्मेलन को ब्रिटिश और फ्रेंच बेड़ों द्वारा पूर्वी भूमध्यसागर में हिस्सा लेने वाली स्थानीय शक्तियों की सहायता से मुख्य व्यापार मार्गों और प्रादेशिक जल-प्रांगणों (territorial waters) की गश्त की व्यवस्था करने में सफलता हुई। ३० सितम्बर को इटली के साथ एक समझौता हो गया जिसमें उसे टाइरेनियन, ऐड्रियाटिक और आयोनियन समुद्रों में तथा सिसली और डोडैकेनीज़ द्वीपों के निकट एक गश्त क्षेत्र दे दिया गया। इन सावधानियों के बाद आक्रमणकारी पनडुब्बियाँ तुरन्त निष्क्रिय हो गईं।

पर दूसरी दृष्टियों से धुरी शक्तियों (Axis Powers) के विषय में स्थिति बेहतर के बजाए बदतर हो गई। सितम्बर और अक्तूबर में इटली से लीबिया को बहुत बड़ी कुमुक भेजी गयी जिसके लिए कोई विश्वासजनक स्पष्टीकरण नहीं पेश किया गया और अक्तूबर में स्पेन में ४०,००० इटालियन सैनिकों की उपस्थिति सरकारी तौर से स्वीकार की गई। २९ अक्तूबर को इटालियन हस्तक्षेप का और भी अधिक प्रामाणिक रूप सामने आया, जब मुसोलिनी ने स्पेन में मारे गये सैनिकों के सम्बन्धियों को स्वयं पुरस्कार दिये और हताहतों की एक सूची प्रकाशित की गई, जिसमें कुल ७६३ हत और २६७५ आहत सैनिकों के नाम थे। सितम्बर में ड्यूचे के सरकारी तौर पर जर्मनी की यात्रा करने से, और अक्तूबर में एक भाषण से, जिसमें उन्होंने जर्मनी के इन दावों का समर्थन किया था कि उसके भूतपूर्व उपनिवेश उसे लौटा दिये जाएँ—और जिस पर श्री ईडन ने एक व्यंगपूर्ण वक्तव्य दिया था—धुरी और अधिक संगठित हो गई। ६ नवम्बर को इटली पहले जर्मनी और जापान के मध्य हुए ऐंटी-कमिन्टर्न पैक्ट (Anti-Comintern Pact) में शामिल हो गया और इस कार्य पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए हिटलर ने एक भाषण दिया, जिसमें कम्यूनिस्ट खतरे पर बहुत थोड़ा बल दिया गया था, पर इस संयोजन को 'हमारे तथा हमारे हितों के लिए उपयुक्त' तथा अकेलेपन को समाप्त करने वाला बताकर हर्ष प्रकट किया गया था। अन्त में १२ दिसम्बर को श्री मुसोलिनी ने अपने देश के राष्ट्र संघ की सदस्यता से पृथक् होने के निश्चय का ऐलान कर दिया।

किसी गृह-युद्ध के सैनिक-कार्यों का विवरण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की इतिहास पुस्तक का विषय नहीं है पर शायद इस अध्याय को १९३७ के अन्त तक के काल में

१. श्री चेम्बरलेन, वही।

युद्ध की मुख्य अवस्थाओं का संक्षिप्त सारांश देकर समाप्त करना उपयुक्त होगा। दोनों पक्षों ने अत्यधिक भीषणता से युद्ध जारी रखा। १९३६ में विद्रोही आक्रमण ने अपनी सारी शक्ति मैड्रिड पर कब्ज़ा करने के निष्फल प्रयत्न पर लगा दी। इन सैनिक-कार्यों में जनरल फ्रांको की सेना द्वारा टोलेडो के अल्काज़ार के वीर प्रतिरक्षकों की सहायता विशेष उल्लेखनीय है। मलागा फरवरी १९३७ मे विद्रोहियो के अधिकार में आ गया और उस वर्ष गर्मियों के अन्त में तथा पतझड़ मे उन्होंने बास्क तथा अन्य उत्तरी प्रदेश की, जो सरकार के प्रति निष्ठावान रहा था, विजय पूरी कर ली। पर १९३७ के अन्त में स्पेन के पूर्वी और मध्यवर्ती भाग अभी सरकार के ही नियन्त्रण में थे, और इसकी सेनाएँ २१ दिसम्बर को टेरुएल पर अस्थायी रूप से पुनः अधिकार करने में भी सफल हो गईं, जो वैलेन्शियन तट से, जो अब तक राष्ट्रवादियों के अधिकार में रहा था, निकटतम स्थान था। यह जनरल फ्रांको द्वारा अधिकृत शेष प्रदेश के साथ एक छोटे से भूखण्ड द्वारा जुड़ा हुआ था और क्रांति के आरम्भिक दिनों से उसके हाथों में रहा था।

: २५ :

योरोप १६३८ में

(Europe in 1938)

नाजी संगठन में दूसरी 'शुद्धि'

(The Second Purge in the Nazi Organization)

हिटलर ने जर्मन राइख के प्रधान मन्त्री के पद पर अपनी नियुक्ति के वार्षिक दिन, ३० जनवरी, को सामान्यत: एक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक घोषणा का अवसर बना लिया था। इसलिए यह आशा की जाती थी कि १६३८ में उस दिन प्रगति और साधारण स्थिति पर आलोचना के बारे में फ्यूहरर की रिपोर्ट सुनने के वास्ते राइखस्टैग (Reichstag) बुलाई जाएगी। पिछले वार्षिक दिन पर हिटलर ने यह ऐलान किया था कि 'तथाकथित आश्चर्यों का काल समाप्त हो रहा है' और सचमुच कुछ समय तक यह प्रतीत होता था मानो १४ नवम्बर १६३६ के बाद जर्मनी की ओर से अब कोई नया चिन्ताजनक कार्य न किया जाएगा। उस तिथि को वर्साई की संधि की, कुछ जर्मन जलपथों के अन्तर्राष्ट्रीयकरण-सम्बन्धी धारा फ्यूहरर ने एकाएक प्रत्याख्यात कर दी थी। पर १६३७ के सारे समय उसका जनवरी का ऐलान तथ्यों के अनुरूप रहा। सच तो यह है कि ऐसे कुछ व्यवधान की आवश्यकता ही थी, अन्यथा आश्चर्य आश्चर्य न रहते, क्योंकि हिटलर का शनिवार को दुनिया को चौंका देने वाली घोषणा करने का शौक कुख्यात हो गया था। ३० जनवरी को कोई महत्त्वपूर्ण भाषण देना फ्यूहरर की एक और नियमित आदत थी और इसलिए जब राइखस्टैग को यह सदा दिया जाने वाला अभिभाषण देने की तिथि २० फरवरी तक स्थगित कर दी गयी, तब कुछ ध्यान खिचना और थोड़ी बेचैनी पैदा होना आवश्यक था।

कुछ लोगों का यह कहना है कि योजनाओं के इस परिवर्त्तन का और उस घटना का कुछ सम्बन्ध था जो कुछ दिन पहले २६ जनवरी को हुई, जिसमें एक प्रमुख आस्ट्रियन नाज़ी डा० टाव्स वियेना में गिरफ्तार कर लिया गया था और होने वाले उत्क्षेपण का षड्यन्त्र प्रकट हो गया था तथा उसे अस्थायी रूप से व्यर्थ कर दिया गया था। कहा जाता है कि विचार यह था कि इस षड्यन्त्र को ३० जनवरी के वार्षिक समारोह से पहले सफल बना दिया जाए। यह भी कहा जाता है कि जर्मन सेनाओं के हस्तक्षेप का, जिस पर योजना निर्भर थी, प्रभावशाली जर्मन सैनिक क्षेत्रों में, और खासकर मुख्य सेनापति जनरल वान फ़्रिट्स ने विरोध किया था, जिनके बारे में यह भी विश्वास किया जाता है कि उन्होंने यह आदेश दे दिया था कि उनके नियन्त्रणाधीन सैनिकों का ऐसे प्रयोजन के लिए उपयोग न किया जाए।[1] यह वृत्तान्त उन

१. देखिए, एम. फोडर का लेख, फॉरेन अफेयर्स, जुलाई १६३८, पृ० ५८७।

कारणों से बहुत अधिक भिन्न नही है जो हिटलर ने बाद में अपना भाषण स्थगित करने के बारे में बताये थे :

प्रथम तो मैं महत्त्वपूर्ण पदों में कई परिवर्त्तन करना चाहता था और मुझे यह उचित प्रतीत होता था कि वे परिवत्तन मैं ३० जनवरी से पहले करने के बजाए बाद में करूँ; दूसरी बात यह है कि मैं आपके सामने अभिभाषण करने से पहले विदेशी मामलों के एक क्षेत्र में एक और तथा बहुत आवश्यक समझौता कर लूँ ।[1]

हिटलर के प्रमुख नाजी साथी शुरू से दो प्रकार के विचारों के थे, जिनमें से एक प्रकार के विचार वाले अधिक साहसपूर्ण और सक्रिय वैदेशिक नीति के पक्षपाती और समर्थक थे। अधिक सावधान लोग, विशेष रूप से जर्मन सेना से सम्बन्धित थे। १९३४ की दल शुद्धि के समय से नियमित सेना ने अधिकाधिक स्वतन्त्र रुख अपना लिया था। उसके बहुत से अफसरों ने राइनलैंड पर पुन: आधिपत्य जैसे संकटास्पद कार्यों और स्पेन में हस्तक्षेप करके सैनिक-शक्ति का अपव्यय करने को न केवल नापसन्द किया था, बल्कि आदर्श-सम्बन्धी मतभेदों पर बल देने के प्रति बड़ी अरुचि प्रकट की थी, और यह समझा जाता था कि वे गुप्त रूप से रूस की महान् सैनिक शक्ति के साथ पुन: अच्छे सम्बन्ध बनाने को उत्सुक थे। वे, क्रिश्चियन चर्च की सब शाखाओं से नाजी शासन में जो व्यवहार किया जा रहा था, उसे भी नापसन्द करते थे। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जर्मन सेना नाजी विचारों पर रूढ़िवादी और संयमकारक प्रभाव डालती थी।

युद्ध-मन्त्री फील्ड मार्शल वान ब्लाम बर्ग ने हाल में ही एक विवाह किया था, जिसे सैनिक हल्कों में सामाजिक दृष्टि से अवाँछनीय माना जाता था। मुख्य सेनापति जनरल वान फ्रिट्श को इस परिस्थिति मे जर्मन सेना की ओर से अपनी बात मनवाने का अवसर मिला। जर्मन अफसर जाति की परम्पराओं को आधार बना कर उन्होंने हिटलर से मार्शल वान ब्लामबर्ग के त्यागपत्र की माँग की। इस माँग से फ्यूहरर एक तरह की कठिनाई में पड़ता प्रतीत होता था, क्योकि विवाह के अवसर पर वह उपस्थित हुआ था, पर यह माँग स्वीकार कर ली गई। लेकिन इस शक्ति-परीक्षा को जर्मन सैनिक गुट की पूर्व-कल्पित विजय के रूप में समाप्त न होने दिया गया। इसके विपरीत, हिटलर ने इस अवसर का लाभ उठा कर ऐसी जोड़-तोड़ कर दी जिसमें जर्मन सेना के अधिक आज़ाद तत्वों को उस स्थान पर पहुँचा दिया गया जिसे वह उनका उचित स्थान समझता था। ४ फरवरी को जनरल वान फ्रिट्श और १३ अन्य वरिष्ठ अफसर अपने पदों से हटा दिये गए और एक आदेश जारी करके सशस्त्र सेनाओं की कमान सीधे फ्यूहरर में निहित कर दी गयी। एक दूसरे आदेश द्वारा एक मंत्रिमण्डलीय परिषद् स्थापित की गयी जिसमें परराष्ट्र मंत्रालय श्री वान रिबनट्राप को सौंपा गया, जो अधिक साहसी और संकटप्रिय विचारधारा के अनुयायी थे, तथा नरम विचारों वाले और कूटनीतिज्ञ फ्रीहर वान न्यूरथ को परिषद् का अध्यक्ष नियुक्त करके बड़ी होशियारी से प्रभावहीन कर दिया गया। कुल मिला कर, इन परिवर्त्तनों से और उसी समय श्री वान पेपन की आस्ट्रियन दूतावास से वापसी से,

१. राइखस्टैग को दिया गया भाषण, २० फरवरी, १९३८।

बाहरी दुनिया निकट भविष्य में फिर चौंकाने वाली घटनाएँ शुरू होने की कल्पन करने लगी।

ईडन का त्याग-पत्र

(The Resignation of Mr. Eden)

दुनिया को बहुत देर प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी क्योंकि २० फरवरी से पहले, जिस दिन राइखस्टैग की बैठक रखी गयी थी, हिटलर को अपने कार्यक्रम का दूसरा भाग पूरा करना था, और 'वैदेशिक मामलों के एक विभाग में एक नया और आवश्यक समझौता करना था'। १२ फरवरी को हिटलर के निमन्त्रण पर वह और डा० शुशनिग बर्चसगैडन मे मिले। जर्मनी में निकाली गई सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार, जर्मन और आस्ट्रियन प्रधान मत्रियों की बातचीत का उद्देश्य उन कठिनाइयों का स्पष्टीकरण करना था जो १९३६ के आस्ट्रो-जर्मन समझौते के व्यवहार में आने में पैदा हुई थीं। 'यह तय हुआ कि दोनों पक्ष उस समझौते के सिद्धान्तों पर कायम रहने के लिए कृत-संकल्प है'। भेंट के बाद जो कुछ हुआ उसका इस वक्तव्य के साथ मेल नहीं बैठता। स्मरण रहे कि १९३६ के समझौते के पहले खंड में आस्ट्रिया की पूर्ण सर्वोच्चता अभिज्ञात की गई थी, और दूसरे खण्ड में, प्रत्येक देश द्वारा दूसरे के मामले में दखल न देने का वचन दिया गया था, और इसमें आस्ट्रियन राष्ट्रीय समाजवाद का प्रश्न अभिव्यक्ततः शामिल किया गया था। तो भी, बर्चसगैडन बातचीत का तात्कालिक परि-णाम यह हुआ कि डा० सेइस-इनक्वार्ट को, जो सुडेटन प्रदेश का और नाजियों से सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति था, गृह मन्त्री के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया गया, और आस्ट्रियन पुलिस का नियन्त्रण उसके हाथों में दे दिया गया। मंत्रिमंडल में स्पष्टतः जर्मन झुकाव रखने वाले कई नये मंत्री ले लिये गए, राजनैतिक कैदी रिहा कर दिये गए और आस्ट्रिया की सीमाओं में नाज़ी कार्यवाहियों को वैध करार दे दिया गया। इन बातों से यह ध्वनित होता है कि ये कार्य जर्मनी के अल्टीमेटम का परिणाम थे, शांतिपूर्ण प्रेरणा के परिणामस्वरूप डा० शुशनिग द्वारा स्वेच्छया की गयी रिया-यतें नही थीं।

मुसोलिनी ने घटनाओं के रुख को फौरन ताड़ लिया। सच तो यह है कि उसको बर्चसगैडन भेंट से पहले ही जर्मनी में राजनैतिक जोड़-तोड़ के अविलम्ब बाद वस्तुस्थिति का भान हो गया प्रतीत होता है। १० फरवरी को ब्रिटेन के सामने पहले नये प्रस्ताव रखे गये बताये जाते हैं, पर पुराने विरोधों को मिटाने की वाँछनीयता डा० शुशनिग के आस्ट्रिया लौटने के बाद और अधिक स्पष्ट और अविलम्बनीय हो गयी। तथ्यतः स्थिति पहले ही काबू से बाहर हो गयी थी। कुछ भी हो, लेकिन त्वरित कार्यवाही की आवश्यकता प्रतीत होती थी। कारण कि अब धुरी (Axis) एक ऐसे तन्त्र का रूप ले रही थी, जो इटली को जर्मनी के विजयी रथ के चक्रों से बाँधे हुए था, और उसे उधर ले जा रहा था जिधर वह कभी न जाता। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री और उनके मंत्रिमण्डल के अधिकतर सदस्यों को संराधन (Conciliation) की वह

नीति अमल में लाने का सुनहरा अवसर दिखायी दिया जो उनके मन में बैठा हुआ था।

श्री ईडन का स्थिति के बारे में भिन्न दृष्टिकोण था। वे भी श्री चैम्बरलेन और उनके सहयोगियो के समान ही इटली के साथ अच्छे सम्बन्धों के लिए इच्छा रखते थे और यत्नवान् रहे थे, पर उन्हें मैत्री के उन आडम्बरों का कोई मूल्य नहीं मालूम होता था, जिन्हें मुसोलिनी अपने प्रत्येक कार्य से झूठा सिद्ध करते थे। 'भद्रपुरुष का समझौता' (Gentleman's Agreement) होने के अविलम्ब बाद स्पेन मे इटालियन सैनिकों की संख्या बढ़ा दी गयी, जिसके बारे में श्री ईडन ने कहा 'यह कहा जा सकता है कि यह हमारे समझौते के शब्दों का उल्लंघन नही था, पर मै समझता हूँ कि निश्चित रूप से कोई भी इस बात का विरोध न करेगा कि यह उसकी भावना के विरुद्ध था'।[1] यद्यपि समझौते में विरोधी प्रचार का अभिव्यक्तत: प्रत्याख्यान किया गया था, पर वह 'एक मिनट के लिए भी जरा कम नही किया गया'।[2] उनके नेता और डूचे के मध्य हुए मैत्रीपूर्ण पत्र-व्यवहार के तुरन्त बाद भूमध्य सागर में पनडुब्बियों की घटनाएँ हुईं। उस समय ५ फरवरी से स्पेन में जनरल फ्रांको की फौज टेरुएल क्षेत्र से समुद्र की ओर द्रुत विजय-यात्रा में लगी हुई थी, जिसे *पापोलो दितालिया* (*Popolo d' Italia*) और मुसोलिनी के अन्य अखबार प्राय: प्रतिदिन मुख्यत: इटालियन विजय मानते हुए प्रसन्न हो रहे थे। इन परिस्थितियों में श्री ईडन दोस्ती के ऐसे दिखावों की कोई कीमत देने को तैयार न थे जिन्हें कार्य पूर्त्ति द्वारा सच्चा सिद्ध न किया जाये।

(आपने कहा) मेरा यह कहना है कि ब्रिटिश सरकार के रोम में सरकारी वार्त्तालाप शुरू करने से पहले.. हमें स्पैनिश समस्या में और प्रगति कर लेनी चाहिए—हमें न केवल सेना-वापसी की आवश्यकता पर बल्कि सेना-वापसी की शर्त्तों पर भी सहमत हो जाना चाहिए...पर हमें इससे आगे बढ़ना होगा और दुनिया को न केवल वचन से, बल्कि कुछ कार्य करके दिखाना होगा। रोम में वे वार्त्तालाप सद्भावना के ठोस आधार पर, जो सफलता के लिए परमावश्यक है, किये जाने से पहले सेना की वापसी ईमानदारी से शुरू हो जानी चाहिए थी।[3]

ब्रिटिश विदेश मन्त्री निस्सन्देह, हर किसी की तरह, यह अनुभव करते थे कि इटली और जर्मनी के मध्य की नयी स्थिति इंग्लैंड की मैत्री के लिए मुसोलिनी की प्रदर्शित इच्छा को एक नयी यथार्थता प्रदान करेगी। पर उस अवस्था मे क्या यह इच्छा स्पेनिश कठिनाई को हल करने का एक मूल्यवान् उपकरण नहीं थी? श्री ईडन की दृष्टि में इटालियन दृष्टिकोण से यह मामला अविलम्बनीय हो सकता था, पर इंग्लैंड के लिए यह 'अब या कभी नहीं' का सवाल नहीं था और

इस समय इस देश को दृढ रहना चाहिए था और पूरी तरह यह जानते हुए कि उनकी सफलता की मुख्य बाधा दूर नहीं हुई है, बिना तैयारी के बातचीत में नहीं कूदना चाहिए था।[4]

शुक्रवार १८ फरवरी को उस समय यह मामला शिखर पर पहुँच गया जब श्री चैम्बरलेन और श्री ईडन ने मिलकर इटालियन राजदूत काउण्ट ग्रांडी के साथ

---

१. ब्रिटिश लोकसभा, २१ फरवरी १९३८।

२. वही।

३. वही।

लम्बी वातचीत की। राजदूत ने इस बात पर बल दिया कि मेरे देश की यह हार्दिक इच्छा है कि समझौता करने की दृष्टि से जल्दी ही वातचीत आरम्भ की जाए। श्री ईडन ने उनकी बातों का यह मतलब समझा कि वे एक धमकी के ढंग से यह सूचना दे रहे हैं कि यह 'अब या कभी नहीं' का मामला है। श्री चैम्बरलेन ने इस निर्वचन का प्रबल विरोध किया, पर प्रतीत होता है कि उन्होंने मामले को आपवादिक महत्त्व का समझा क्योंकि शनिवार के तीसरे पहर मंत्रिमंडल की बैठक बुलाई गयी, जैसा कि प्रायः नहीं किया जाता और रविवार को फिर बैठक हुई और उसने उस प्रश्न की प्रतीक्षा किये बिना सारे मामले को निपटा दिया जो श्री चैम्बरलेन ने स्वयं पूछा था कि क्या इटालियन सरकार स्पेन से स्वयंसेवकों को बुलाने के बारे में ब्रिटिश फारमूला स्वीकार करने को तैयार है। इस प्रश्न का काउंट ग्रांडी को इटली से रविवार २० फरवरी को स्वीकृति-सूचक उत्तर आ गया, और वह अगले दिन प्रातःकाल प्रधान मंत्री को सूचित कर दिया गया। इसी बीच मंत्रिमंडल में सारा मामला तय किया जा चुका था और श्री ईडन का त्याग-पत्र रविवार के सायंकाल श्री चैम्बरलेन की जेब में था। उनके साथ संसदीय उपमंत्री लार्ड क्रैनबोर्न ने भी त्याग-पत्र दे दिया। यदि 'अब या कभी नहीं' की बात ध्वनित नहीं की गयी थी तो यह समझ में आना कठिन है कि इतनी दौड़-धूप और जल्दी फैसला क्यों किये गये।

पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि परराष्ट्र मन्त्री का पद-त्याग मन्त्रिमण्डल में कुछ समय से चले आ रहे दो विरोधी दृष्टिकोणों के संघर्ष का परिणति-बिन्दु मात्र था। इंग्लैंड और अन्य देशों के अखबारों में भावी फूट की अफवाहें लगातार निकल रही थीं। मतभेद का मूल आधार श्री ईडन के एक भाषण में, जो उन्होंने १२ फरवरी को जूनियर इम्पीरियल लीग में दिया था, संकेतित किया गया था। इस भाषण में उन्होंने कहा था कि नयी पीढ़ी के लिए शांति का अर्थ यह है कि

> आज किये गये किसी भी समझौते में सिद्धांतों की कुर्बानी न की जाये और द्रुत परिणाम प्राप्त करने मात्र के लिए जिम्मेवारियों से न बचा जाए। हम सबसे मैत्री करना चाहते हैं, पर समानता के आधार पर, क्योंकि शांति स्थायी सद्भावना खरीदने का यत्न करके नहीं स्थापित की जा सकती, बल्कि पारस्परिक आदर के साथ स्पष्ट परस्परापेक्षता के आधार पर ही की जा सकती है।

दूसरी विचारधारा का सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण श्री ईडन के उत्तराधिकारी लार्ड हैलीफैक्स द्वारा जिनीवा में १२ मई को दिये गये भाषण से दिखाया जा सकता है।

> जहाँ दो आदर्शों की टक्कर हो—एक ओर किसी ऊँचे प्रयोजन के प्रति अदम्य पर अव्यावहारिक निष्ठा हो और दूसरी ओर शांति की व्यावहारिक विजय हो, तो मुझे इसमें सन्देह नहीं कि अधिक प्रबल पक्ष शांति का है।

इस अवधारणा की न केवल उन आदर्शवादियों द्वारा आलोचना की जाएगी, जो यह अनुभव करते हैं कि सिद्धान्तों की कुर्बानी करके शांति *नहीं खरीदी जानी चाहिये*, बल्कि अधिक वास्तविकतावादी दृष्टिकोण के उन अन्य लोगों द्वारा भी इस की आलोचना की जाएगी, जो श्री ईडन की तरह यह मानते थे कि मौजूदा स्थिति में

शान्ति इस प्रकार खरीदी *नहीं जा सकती*, और यह धारणा कि दोनों आदर्श वास्तव में विरोधी थे, इसीलिए भ्रांत थी।

पर सिद्धान्त के प्रश्न के अलावा भी, तथ्यों के निर्वचन पर मतभेद था। दोनों पक्ष इस बात पर सहमत थे कि यदि सम्भव हो तो इटली के साथ विश्वास-योग्य समझौता हो जाने का बड़ा महत्त्व है : राष्ट्रीय सरकार के किसी सदस्य को इस लक्ष्य की सिद्धि का यत्न करने में कोई आदर्श-सम्बन्धी पूर्वग्रह की रुकावट नहीं थी पर अनुदारवादी लोकमत का वह भाग, जो प्रधान मन्त्री का समर्थक था, यह मानता था कि इटली के हित ऐसे हैं कि उसे जर्मनी की अपेक्षा इंग्लैंड के साथ मैत्री के लिए कहीं अधिक उन्मुख करते हैं। इससे उन्हें सफलता की बहुत आशा थी, और वे उस स्थिति का जिसमें बर्लिन-रोम-धुरी पर दबाव पड़ रहा हो, वार्त्ता के नये प्रयत्न के लिए विशेष रूप से उपयुक्त मौका समझते थे। स्पेन के संघर्ष में उनमें से बहुतों की सहानुभूति जनरल फ्रांको के साथ थी। निस्सन्देह उन्हें उस अवस्था में ब्रिटिश हितों को खतरा दिखायी देता था यदि विद्रोही इंग्लैंड से पराङ्मुख इटली की सहायता से जीतते। पर यदि एक बार ऐंग्लो-इटालियन सम्बन्ध फिर अपने पुराने मैत्री के आधार पर आ जाते तो उनकी सहानुभूति और उनके हित का यह संघर्ष खत्म हो जाता। प्रधान मन्त्री की राय में इटालियन प्रस्तावों का फिर तिरस्कार किया गया तो उससे इटली में इतना अधिक ब्रिटिश-विरोधी भाव पैदा हो जाएगा कि युद्ध की नौबत आ जायेगी। जो हो, योरोप में तब तक स्थायी शान्ति नहीं हो सकती थी जब तक वह दो परस्पर-विरोधी शिविरों में समूहबद्ध था और ऐसे किसी अवसर को न गंवाना चाहिए जिससे समझौते की आशा होती हो। अन्ततः यदि वार्त्ता शुरू की गयी तो श्री ईडन की उपस्थिति सहायक की अपेक्षा बाधक अधिक होगी क्योंकि उनकी कूटनीति में कौशल का अभाव माना जाता था और इटालियन तथा जर्मन अधिनायकों तथा उनके अखबारों ने यह बहुत अच्छी तरह स्पष्ट करा दिया था कि वह उनके लिए वांछित व्यक्ति नहीं थे। संकट के दिन ही हिटलर ब्रिटिश विदेश मन्त्री पर वैयक्तिक व्यंग-प्रहार कर रहे थे, और उससे पिछले सप्ताह इटली के श्री फैरी नैकी ने *रैजीम फैसिस्टा* में यह लिखा था : 'इटली और ब्रिटेन के सम्बन्धों में तब तक कोई सुधार नहीं हो सकता जब तक ब्रिटिश परराष्ट्रनीति का संचालन श्री ईडन के हाथों में है।'

इस अन्तिम बात को श्री चैम्बरलेन के विरोधियों ने अपना लिया, और दूसरी ओर, एक युक्ति में रूपान्तरित कर दिया। अधिनायक कहते हैं 'ईडन को जाना होगा और वह चला जाता है' तो वे कहते थे : इसका ब्रिटिश गौरव पर क्या प्रभाव होगा ? पर श्री ईडन स्वयं इस बात पर सहमत थे कि यदि वार्त्ता शुरू करनी है तो उसे चलाने के लिए कोई और आदमी आना चाहिए। पर वे इस समय को अनुपयुक्त और इस रीति को प्रभावहीन समझते थे। जर्मनी में अधिक अ-सतर्क और हठी तत्त्वों की हाल की विजय और स्पेन में अपने हस्तक्षेप पर इटली का खुले आम गौरवान्वित होना उनकी दृष्टि में इसे सारतः दृढ़ होने का समय बनाते थे, रियायतों का नहीं। इसके अति-

रिक्त, जिस समय ब्रिटिश सरकार बिना तैयारी के वार्तालाप शुरू करने लगी, तब से ही उन्होंने सन्तोषजनक समझौता करने के लिए सब कुछ दाँव पर लगा दिया। यदि यह न हो सका तो ऐंग्लो-इटालियन सम्बन्ध अनिवार्यतः बिगड जाएँगे और इंग्लैंड में सरकार की प्रतिष्ठा को भी उतनी ही अनिवार्यतः क्षति पहुँचेगी—इस बात ने ब्रिटिश प्रतिनिधियों को ऐसी स्थिति में डाल दिया जिसमें समझौता इटली की अपेक्षा उनके लिए अधिक आवश्यक था और इस प्रकार सौदेबाजी की शक्ति गलत हाथों में सौंप दी। यदि इटली के वास्तविक उद्देश्य उससे अधिक भयकर होते जितना अनुदारवादी लोकमत समझता था, तो वह ब्रिटिश सरकार को वार्त्ता भग करने की धमकी द्वारा स्पेन में कुमुक पहुँचाने और हमारे हितों के लिए प्रतिकूल अन्य कार्यों के प्रति आँख मूँदने के लिए प्रायः मजबूर कर सकता था।

सारा मामला असल में इटालियन इरादों के सही निदान पर, अधिनायकों की चिकित्सा के लिए सर्वोत्तम नुस्खे पर और उस अवसर की उपयुक्तता पर अवलम्बित था। यहाँ दोनों दृष्टिकोण दिखाने का यत्न किया गया है, पर समय ही यह बता सकता था कि कौन-सा निर्णय अधिक सही था। इसमें कोई सन्देह नही कि दोनों विचारों का बड़े राजनैतिक अनुभव और असंदिग्ध चरित्र के लोगों द्वारा ईमानदारी से समर्थन किया गया था।

आस्ट्रिया पर जबर्दस्ती
(The Rape of Austria)

कुछ क्षेत्रों में यह दिखाने का यत्न किया गया कि श्री ईडन के त्याग-पत्र का, और सरकार के विरोधियों के अनुसार उसका ब्रिटिश प्रतिष्ठा पर जो प्रभाव पड़ा उसका यह परिणाम हुआ कि आस्ट्रिया को बलपूर्वक जर्मनी में मिलाया गया, जो १९३८ के वर्ष की अगली सनसनीदार घटना थी। इस प्रकार, *फोर्टनाइट्ली रिव्यू* के सम्पादक ने असावधानी से या आकस्मिक भावावेश में कठोर आलोचना शुरू करने की जोखिम के विरुद्ध श्री चैम्बर लेन की चेतावनी उद्धृत करने के बाद आगे लिखा था :

> ईडन रूपी पत्थर को हटाने के अपने ही विरूप कार्य द्वारा उन्होंने स्वयं ठीक ऐसे ही बर्फीले तूफान को गतिमान कर दिया है : जो तुषार बहुत समय से संकटजनक रूप में टिका हुआ था, वह सरकने लगा है और लोकतंत्र के शत्रुओं के यहाँ जो हर्षोल्लास की ध्वनि उठी थी, उसने इसकी गतिवृद्धि निर्धारित कर दी थी।[१]

पर यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने की घटना पर ब्रिटिश मंत्रिमंडलीय संकट से वास्तव में असर पड़ा था। आस्ट्रियन उत्क्षेपण के लिए सावधानी से की गई तैयारी के प्रमाण से यह ध्वनित होता है कि तथ्यतः उस देश का भाग्य १२ फरवरी की बर्चेसगैडन की भेंट के बाद निर्धारित हो गया था, और अब यह स्पष्ट है कि इस नीति को कार्यान्वित करने का निश्चय बहुत पहले कर लिया गया था। हिटलर ने ऐक्य (Anschluss) को पूर्ण सिद्ध करने के उद्देश्य से ही डाक्टर

१. फोर्टनाइट्ली रिव्यू, अप्रैल १९३८।

सेइस-इन्क्वार्ट को व्यवस्था का नियंत्रण सौपने और आस्ट्रिया में नाजी आन्दोलन को बाधाहीन अवसर देने का आग्रह किया था। एक बार यह हो जाने पर जर्मन हस्त-क्षेप के लिए एक न एक बहाना पैदा हो ही जाना था और सेना तथा पुलिस वियेना में अपने निश्चित किये गये स्थानों में चली जा सकती थी।[1] शुरू से यह दुःखद घटना पहले से आयोजित मार्ग पर धीर गति से चलती हुई अपनी चरमावस्था पर पहुँची। १८ फरवरी को आस्ट्रियन मंत्रिमंडल ने ऐलान किया कि नाजियों को कानूनी कार्यवाही की शक्यता प्राप्त होगी, पर वह उस भविधान के आधार पर ही होती जो पहले की तरह अब भी राजनैतिक आन्दोलन को निषिद्ध करता है। यह पाबन्दी किसी भी समय व्यवहार में नहीं आई। २१ तारीख तक आस्ट्रिया के सब प्रमुख केन्द्रों मे निरंतर किये गये नाजी प्रदर्शनों ने सरकार को सब सभाओं और जलूसों पर पाबन्दी लगाने और नाजी चिह्न धारण करने का निषेध करने के लिए मजबूर कर दिया। इस सब के बावजूद ग्राज़ में नाजियों की बड़ी भीड़ों ने डाक्टर शुशनिग के रेडियो पर दिये जा रहे भाषण मे बाधा डाली, टाउन हाल पर स्वस्तिक झंडा फहराने की माग की और जब प्रधान मन्त्री ने आस्ट्रियन स्वाधीनता की बात की तब नगर अधिकारियों को ब्राडकास्ट रोकने के लिए मजबूर कर दिया। सारा वियेना 'एक-जन एक-राज्य' (ein Volk ein Reich) के नारों से लगातार गूंजता रहा। ग्राज़ में एक मार्च को डाक्टर सेइस-इन्क्वार्ट का, जो फरवरी मे अपनी नियुक्ति के अविलंब बाद बर्लिन में हिटलर से मिले थे, एक नाजी टार्चलाइट जलूस और हौर्स्ट वैसल लीड (Horst Wessel Lied) गीत से स्वागत किया गया। यहाँ और इसी तरह लीन्ज़ में गृह मन्त्री मुस्कराते हुए और बिना विरोध के ये सब बातें देखते रहे, जबकि उनके सरकारी आदेशों की खुली तौर से घोर अवहेलना की गई थी।

इन कठिन परिस्थितियों में ९ मार्च को डाक्टर शुशनिग ने उस खेल में, जिसमें उसके राष्ट्र का अस्तित्व दाव पर लगा हुआ था, अपनी तुरपचाल चलने की तैयारी की। उन्होंने ऐलान किया कि मैं अगले रविवार यह प्रदर्शित करने के लिए जनमत-संग्रह करूंगा कि वाचाल अल्प-संख्यक वर्ग के शोर के मुकाबले में आस्ट्रियन स्वाधीनता के प्रश्न पर मेरे पीछे कितना प्रबल लोकमत है। जनता के फैसले के लिए निम्नलिखित रूप में प्रश्न तैयार किया गया :

> क्या आप एक स्वतंत्र और जर्मन आस्ट्रिया के पक्ष में हैं जो स्वाधीन और सामाजिक दृष्टि से सामंजस्यपूर्ण, ईसाई और संयुक्त हो, शान्ति और रोजगार तथा उन सब की समानता के पक्ष में है जो जनता और पितृ-भूमि में अपनी आस्था प्रकट करें ?

यद्यपि इस प्रश्न की काव्यमय पदावली की आलोचना की जा सकती है, पर यह अच्छी तरह स्पष्ट था कि जिस बात का निर्णय करना है वह स्वाधीनता बनाम ऐक्य है, और जो लोग निर्णय करने की अधिकतम अर्हता रखते हैं, उनकी राय में प्रधान मंत्री को इस प्रश्न के उत्तर में ६० से ८० प्रतिशत का बहुमत प्राप्त हो जाता।

---

१. पर संभव है कि इस अंतिम अवस्था के लिए चुने गये वास्तविक समय पर १० मार्च को फ्रेंच सरकार के पतन का प्रभाव पड़ा हो जिसके परिणामस्वरूप फ्रांस में उन संकट के दिनों में, ११ और १२ मार्च को, कोई सरकार नहीं थी।

उन आस्ट्रियनों में भी, जो राष्ट्रीय समाजवाद से साधारणतया सहानुभूति रखते थे, बहुत से ऐसे थे जो अपने देश की कम से कम नाममात्र को स्वाधीनता और सर्वोच्चता बनाये रखना चाहते थे।

स्पष्टतः हिटलर भी आस्ट्रियन लोकमत के वास्तविक निर्णय से डरता था। वह अपनी परियोजना को ऐसी कसौटी पर लाने को तैयार नहीं था। अगला दिन परामर्शों और व्यवस्थाओं पर लगा, और ११ मार्च को डाक्टर शुशनिग को एक अल्टीमेटम पेश करके जनमत-संग्रह स्थगित करने की मांग की गई। समझा जाता है कि प्रधान मंत्री ने इसे इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि भविष्य में नाज़ी व्यवस्था भंग करने से बाज रहें।

६ बजे सायंकाल या कुछ पहले यह ऐलान किया गया कि जनमत-संग्रह स्थगित कर दिया गया है। समय थोड़ा था; एक दूसरा अल्टीमेटम जिसका समय ७½ बजे समाप्त होता था, पेश किया गया, और उसमें डा० सेइस-इन्क्वार्ट के पक्ष में डाक्टर शुशनिग के त्याग-पत्र की, मंत्रिमण्डल में दो-तिहाई स्थान नाज़ियों को देने की, नाज़ी दल को बाधाहीन स्वतन्त्रता देने की, और उन आस्ट्रियन सैनिकों के वापस वियना आने की, जो १९३४ के विद्रोह के समय से देश से बाहर थे, माँग की गई। लगभग उसी समय यह पता चल गया कि जर्मन सैनिक सीमांत पर जमा हो रहे हैं। ७½ बजे सायंकाल रेडियो श्रोताओं को प्रधान मन्त्री ने अन्तिम बार भाषण दिया। उन्होंने ऐलान किया कि मुझे यह धमकी दी गई है कि यदि मैं और मेरी सरकार त्यागपत्र नहीं देंगे और यदि राष्ट्रपति जर्मनी द्वारा नामजद मंत्रिमंडल नहीं नियुक्त करेगा तो ७½ बजे जर्मन सैनिक आस्ट्रिया में घुस जायेंगे। इस भयंकर स्थिति में वे रक्त बहाने को तैयार न थे और इसलिए उन्हें बल के सामने झुकना पड़ा, और उन्होंने आस्ट्रियन सैनिकों को बिना प्रतिरोध पीछे हटने का आदेश दिया। अन्त में आपने कहा:

> मैं दुनिया को यह बता देना चाहता हूँ कि मजदूरों द्वारा किये गए उपद्रवों और खून की नदियाँ बहाने के बारे में प्रकाशित की गई खबरें और यह कहना कि स्थिति सरकार के काबू से बाहर हो गई है, शुरू से आखिर तक झूठ हैं। मैं एक जर्मन शब्द और जर्मन कामना के साथ विदा लेता हूँ—ईश्वर आस्ट्रिया की रक्षा करे।

यदि उनका अभिप्राय आस्ट्रिया को जर्मनी के आक्रमण से बचाना था, तो उनका बलिदान व्यर्थ गया। सवा आठ बजे डाक्टर सेइस-इन्क्वार्ट ने गुप्त वार्ता विभाग को यह संवाद प्रसारित किया कि जर्मन सेना पहले ही वियेना की ओर अपने मार्ग पर बढ़ रही है। ख़याल है कि उसने इन्हें और व्यवस्था बनाये रखने के लिए निमंत्रित किया था पर यह बहाना कुछ विश्वासोत्पादक नहीं। तथ्य तो यह है कि इस समय तक, शान्ति भंग करने वाले एकमात्र लोग विजेता नाजी थे जो अविलंब गलियों में इकट्ठे हो गये। रेलवे स्टेशनों पर भागते हुए शरणार्थियों की भीड़ जमा हो गई। रात के दस बजे बख्तरबन्द दस्तों ने सीमान्त पार किया। अगले दिन प्रातःकाल ७ बजे से पहले जर्मन विमान राजधानी पर बड़े-बड़े छपे हुए पर्चे बरसा रहे थे जिनमें जर्मनी ने नेशनल सोशलिस्ट आस्ट्रिया और नई नेशनल सोशलिस्ट सरकार का अभिनन्दन किया था, और उसके कुछ देर ही बाद, लगभग एक हजार, जर्मन सैनिकों ने राजधानी

पर आधिपत्य कर लिया। जैसा कि एक प्रत्यक्षदर्शी ने बताया है सेइस इन्क्वार्ट (Seyss-Inquart) की सरकार बने सिर्फ ५ घंटे हुए थे, और उसने यह उचित प्रश्न किया है कि क्या वे परचे उतने ही समय में छप गये, वायु-सैनिक टुकड़ियों को बाँट दिये गए, वियना लाये गए और वहाँ गिराये गये हो सकते थे'।[1] फिर एक बार योरोप ने एक शनिवार को हिटलर का एक आकस्मिक कारनामा देखा। स्पष्टतः 'तथाकथित आश्चर्यों का काल' समाप्त नहीं हुआ था, जैसा कि फ्यूहरर ने घोषित किया था।

यांत्रिक टूट-फूट की खबरें आई थीं,[2] पर घटनास्थल पर विद्यमान प्रेक्षकों पर यह प्रभाव पड़ा था कि सारा काम सावधानी से संगठित किया हुआ है।

(ऊपर उद्धृत प्रत्यक्षदर्शी कहता है कि) उन्होंने दो दिन में सात सौ विमान आस्ट्रिया भेजे......और ऐसी विशाल वायु सेना ऐसी निश्चिन्तता से उतरी जैसे अपने घोंसलों को लौटते हुए पक्षी। जहाज रखने, जमीन पर मरम्मत करने की व्यवस्था, तेल भरने, खड़ा करने और मरम्मत का प्रबंध, विस्तार से, बहुत पहले सोच लिया गया था...जरा सोचिए कि जर्मनी ने तीन-चार दिन के अन्दर आस्ट्रिया में सब सेनाओं के कोई दो लाख सैनिक भेजे और प्रत्येक आदमी अपनी निर्धारित जगह पर ऐसे पहुँच गया जैसे मानो आक्रमण का एक दर्जन बार पूर्वाभ्यास किया जा चुका हो। जरा सोचिए कि इस विशाल सेना के प्रत्येक आदमी और घोड़े तथा टैंक और ट्रैक्टर के लिए भोजन और चारा तथा ईंधन जरा भी दिक्कत के बिना मिल गये।'[3]

सीमांत पर जाँच करने वाले अधिकारियों को

ऐसी पुस्तकें दी गईं जिनमें उन हजारों व्यक्तियों के नाम और वर्णन और अंगूठों के निशान थे, जिन्हें रोका जाना था। भयंकर जर्मन गुप्त पुलिस द्वारा तैयार की गई ये पुस्तकें अल्टीमेटम के कुछ ही घंटों बाद सीमांत पर नाजी जाँचकर्ताओं के हाथ में आ गईं।[4]

उस घटनापूर्ण शनिवार को लगभग शाम के ६ बजे हिटलर लिंज़ पहुँचा जहाँ उसने डाक्टर सेइस इन्क्वार्ट का स्वागत स्वीकार करते हुए कहा :

जब मैं इस नगर से पहली बार चला था, तब मैंने अपने अन्तस्तल में यह अनुभव किया था कि नियति ने मुझे यह काम सौंपा है कि मैं अपने जन्म-देश को महान् जर्मन राइख में वापस लाऊँ। मैंने इसे अपना कर्त्तव्य माना है और इसे पूरा किया है।

यद्यपि यह निश्चय करना असंभव है कि यह अवधारणा वास्तव में इतने समय पूर्व बनाया गया था, पर हम यह मान सकते हैं कि आस्ट्रियन प्रश्न पर यह अंतिम कथन पिछले चार वर्षों में इस विषय पर फ्यूहरर के किसी भी कथन की अपेक्षा सचाई के अधिक निकट था। पर जिस ऐक्य का हिटलर ने उल्लेख किया, उसको वैध रूप अगले दिन दिया गया, जब यह ऐलान किया गया कि एक नया कानून बनाया गया है जिसकी पहली और एकमात्र महत्त्वपूर्ण धारा आस्ट्रिया को जर्मन राइख का एक देश घोषित करती थी।

राष्ट्रीय भावनाओं को संतुष्ट करने का कोई यत्न नहीं किया गया। आस्ट्रिया से तुरन्त एक विजित देश का सा व्यवहार किया गया। वियना का नियन्त्रण कुछ

---

१. डगलस रीड, इनसैनिटी फेअर, लंदन, कप, १९३८, पृष्ठ ३९६।

२. इसमें कोई संदेह नहीं है कि अभियान के समय बहुत से टैंक और लारियाँ आदि टूट गईं थीं।

३. रीड, op cit p. 397.

४. वही, पृष्ठ ४१६।

हजार जर्मन पुलिस के हाथ में दे दिया गया, जिसने बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ कीं, और उन लोगों को नज़रबन्दी कैम्पों में भेज दिया, जिन पर नये शासन के विरोधी होने का संदेह था। सार के गवर्नर श्री बरकल को नाज़ी दल का पुनर्गठन करने के लिए नियुक्त किया गया। आस्ट्रियन नेशनल बैंक को राइख बैंक ने अपने अधिकार में ले लिया, और आस्ट्रिया से किसी महीने में २० शिलिंग से या विदेशी चलार्थ में ३० शिलिंग के तुल्य राशि से अधिक बाहर ले जाने पर पाबंदी लगा दी गई। भूतपूर्व उप-प्रधान मन्त्री मेजर फे, उसकी पत्नी और पुत्र तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियों के बारे में यह खबर दी गई कि उन्होंने आत्महत्या कर ली। प्रतीत होता है कि मेजर फे के कुत्ते को भी गोली से उड़ा दिया गया था। आस्ट्रियन यहूदियों की हर तरह से अप्रतिष्ठा, अपमान और उत्पीड़न किया गया। इन परिस्थितियों में उस जनमत-संग्रह को जो १० अप्रैल को हुआ, और जिसके परिणामस्वरूप पूर्व-कल्पना के अनुसार ९९.७३ प्रतिशत मत तथ्यत: स्थिति के समर्थन में आए; बहुत कम लोग अधिक महत्त्व देना पसंद करेंगे।[1]

आस्ट्रिया के मिला लिये जाने पर *मीन कैम्फ,*(*Mein Kamph*) का कार्य-क्रम, महत्त्वपूर्ण सामरिक और आर्थिक लाभ प्राप्त हो जाने के कारण, पूर्ति के बहुत निकट पहुँच गया था। इटली, हंगरी और यूगोस्लाविया के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित किया गया था। लघुसंधि देशों के हृदय-स्थल में गहरी छेनी गाड़ दी गई थी और चैकोस्लोवाकिया के बोहीमियन और मोरेवियन जिले ऐसे घिर गये थे जैसे कैंची के फलकों में। जैसा कि श्री चर्चिल ने ब्रिटिश लोकसभा में कहा था, 'वियेना पर आधिपत्य नाज़ी जर्मनी को दक्षिण-पूर्वी योरोप के सारे संचार मार्गों पर—सड़क, नदी और रेलमार्गों पर सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण प्राप्त कराता है।' जर्मन सेना के लिए सुलभ मनुष्य-शक्ति भी बढ़ गई, क्योंकि राइख की आबादी लगभग ६७½ लाख बढ गई। जर्मनी की सैनिक-शक्ति में इन प्रत्यक्ष वृद्धियों के अतिरिक्त उसके आन्तरिक साधन बढ़ गए और उसकी आत्म-निर्भरता परिवर्धित हो गई, क्योंकि उसे एल्पिन-मौंटेन जैसल्स केफ्ट की विशाल और आसानी से निकाले जा सकने वाली लोहे की खानें, मैग्नेसाइट, जो विमान निर्माण में काम आता है, और जो राष्ट्र की सब मौजूदा आवश्यकताओं के लिए काफी था, तथा जर्मनी की आधी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त इमारती लकड़ी प्राप्त हो गई थी—जर्मनी की लकड़ी की आवश्यकता बहुत अधिक थी, क्योंकि वह स्वदेश में अनुपलब्ध सामान के स्थान पर काम आने वाली वस्तुएँ बनाने में काष्ठ द्रव्य और मज्जा का उपयोग करता था। आस्ट्रियन बैंक पर अधिकार हो जाने से जर्मनी को २ करोड़ पौं० मूल्य के सोने और विदेशी विनिमय पर और नियन्त्रण मिल गया। हिटलर ने पड़ोसी देशों पर भी अपना आर्थिक नियन्त्रण बहुत अधिक बढ़ा लिया था। हंगरी का जर्मनी पर निर्भर विदेशी व्यापार आयात में २० प्रतिशत से ४३ प्रतिशत, और निर्यात में १२ प्रतिशत से ४४ प्रतिशत हो गया था। यूगोस्लाविया मे आयात की मात्रा १६ प्रतिशत से बढ़ कर ४४ प्रतिशत हो गई थी। रूमानिया के कुल विदेशी व्यापार का लगभग तीसरा

---

१. मत सारे राइख में लिया गया था और इसलिए आस्ट्रियन लोकमत हर तरह दब गया था। बिगड़े मत-पत्रों के अलावा भी ४५२, १८० निषेधात्मक मत थे।

भाग अब जर्मनी पर अवलम्बित था, और ऐसी ही बात ग्रीस और तुर्की के बारे में कही जा सकती थी। वर्साई संधि के वे उपबन्ध, जो ऐक्य का निषेध करते थे, शायद इतने अनुचित या युक्तिहीन न थे, जितना कि इन्हें कभी-कभी बताया जाता है।

जिन राज्यों ने उसी स्थिति से गम्भीर निष्कर्ष निकाले उनमें स्कैंडिनेवियन राज्य भी थे—उन्होंने यह समझा कि वह समय आ गया है जब उन्हें युद्ध होने की अवस्था में अपनी नीति घोषित कर देनी चाहिए। ओस्लो में ५, ६ अप्रैल को इन देशों के विदेश मंत्रियों की एक बैठक में एक विज्ञप्ति तैयार और जारी की गई, जिसमें घोषित किया गया था कि ये उत्तरी राज्य हर सूरत में युद्ध से निर्लिप्त रहेंगे, चाहे प्रसंविदा के अनुच्छेद १६ के अधीन उन पर कोई भी दायित्व हों। इस फैसले की जिसका नार्वे की संसद् ने ३१ मई को अनुसमर्थन किया था, सूचना नार्वे के विदेश मन्त्री डा० कोट ने अगले सितम्बर में राष्ट्र संघ की असेम्बली को दी।

एंग्लो-इटालियन समझौता
(The Anglo-Italian Agreement)

हिटलर ने मुसोलिनी के मन पर अपने आस्ट्रियन उत्क्षेपण की शक्य प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ स्वाभाविक व्याकुलता प्रदर्शित की। ११ मार्च को उसने मुसोलिनी को पुन: निश्चिन्त करने वाला एक पत्र लिखा जिसमें उसने डूचे को यह याद दिलाया कि 'इटली के संकट के क्षण में मैंने आपके लिए अपनी भावनाओं की दृढ़ता प्रदर्शित की थी। भविष्य में भी इस विषय में कोई परिवर्त्तन नहीं होगा।' उसने आगे लिखा था कि अब जर्मन संपर्क से इटालियन सीमांत वैसे ही सुरक्षित हैं, जैसे फ्राँस के सीमान्त, और ज़रा स्पष्ट रूप में लिखा था कि 'उन्हें न कभी छुआ जाएगा और न कभी उन पर आपत्ति उठाई जायगी' पर एक तार से 'जो उसने १३ तारीख को भेजा था, 'मुसोलिनी इसके लिए मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा' ध्वनित होता है कि उसे इस बात से बहुत अधिक चैन मिला था कि इटली ने १९३४ का रवैय्या फिर नहीं पकड़ा। सच तो यह है कि इटली की आम जनता एक ऐसे कार्य पर अपने नेता की प्रतीयमान उदासीनता पर बड़ी अशान्त और उलझी हुई थी, जिसे उसने अब तक उन्हें इटालियन सुरक्षा के लिए विनाशकारी समझना सिखलाया था। इन परिस्थितियों में मुसोलिनी एक ऐसा एंग्लो-इटालियन समझौता करने के लिए स्वभावत: उत्सुक हो गया जिसे वह एक मूल्यवान कूटनीतिक सफलता के रूप में पेश कर सके। दूसरी ओर, ब्रेनर और डेन्यूबियन प्रदेश की ओर उदासीनता को इस बात का संकेत समझा जा सकता था कि इटली का इरादा भूमध्यसागर में पाँव फैलाने का है, जिसमें ब्रिटेन के हितों से संघर्ष हो सकता था, इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि श्री ईडन के त्याग-पत्र के बाद हुई वार्ता द्रुतगति से बढ़ी और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के शब्दों में वह एक दूसरे को निभाने की भावना तथा सद्भावना के साथ की गई थी, जिसके परिणामस्वरूप रोम में १६ अप्रैल को हस्ताक्षर हो गए थे।

एक प्रोटोकोल के बाद जिसमें स्थायी मैत्री सम्बन्धों और व्यापक शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिए इच्छा प्रकट की गई थी, और अफ्रीका में सीमान्त परिसीमन

के बारे में मिस्र सरकार के साथ मिल कर बाद में वार्ता के लिए व्यवस्था की गई थी, समझौते की शर्तें आठ परिशिष्टों और नय-पत्रों में लिखी हुई थीं।[1] पहला परिशिष्ट जनवरी १९३७ के 'भद्रपुरुष के समझौते की' पुनः पुष्टि था। दूसरे में समुद्र-पार के भूमध्यसागरीय क्षेत्रों, रक्तसागर, अदन की खाड़ी, मिस्र और उत्तरी टांगानीका सहित अफ्रीकन राज्य-क्षेत्रों में—पर प्रतीयमानतः पश्चिमी और मध्य लीबिया में नहीं—सशस्त्र बलों की गतिविधियों के बारे में सूचना का आदान-प्रदान करने का उपबंध किया गया था। पक्षों ने १९° पूर्व रेखांश के पूर्व में भूमध्यसागर में या रक्तसागर में नये नौसैनिक या वायुसैनिक अड्डे न बनाना स्वीकार किया। समझौते के इस हिस्से में प्रतीयमानतः लाभ की स्थिति इटली को प्राप्त थी, क्योंकि वह भौगोलिक दृष्टि से भूमध्यसागर में अवस्थित देश था, और उस पर सिसली के या सार्डीनिया के बारे में कुछ भी प्रकट करने का बन्धन नहीं था। इस परिशिष्ट की इस रूप में भी आलोचना की गई है कि इससे साइप्रस में एक पर्याप्त अड्डा बनाने में बाधा पड़ती थी। तीसरा परिशिष्ट अरब और रक्त सागर (Red Sea) के कुछ द्वीपों के प्रसंग में स्थिति को विनियमित करता था। इसमें कहा गया था कि इस प्रदेश में इटालियन और ब्रिटिश हित समान आधार पर माने जायेंगे और इसे दोनों पक्षों के साझे हित में बताया गया था कि सऊदी अरब या यमन के राज्यक्षेत्रों पर न तो वे और न कोई अन्य शक्ति सर्वोच्चता या 'राजनैतिक स्वरूप की विशेषाधिकार सम्पन्न' स्थिति प्राप्त करे।

अगले तीन परिशिष्टों में ये बातें दुहरायी गयी थीं :

१. क्षतिकारक प्रचार पर पाबन्दी।

२. आंग्ल-मिस्री सूडान को एबिसीनिया की झील टसाना के लिए पानी देने के बारे में इटालियन आश्वासन।

३. राष्ट्र संघ को पहले दिये गये ये आश्वासन कि इटालियन पूर्वी अफ्रीका के देशजों (Natives) को स्थानीय आरक्षण (पुलिस) और प्रादेशिक प्रतिरक्षा के अलावा और सैनिक कार्य संभालने के लिए मजबूर न किया जाए।

सातवाँ परिशिष्ट इटालियन पूर्वी अफ्रीका में ब्रिटिश धार्मिक संस्थाओं की स्थिति के बारे में था, और अन्तिम आठवें परिशिष्ट में दोनों पक्षों ने पुनः इस बात की पुष्टि की थी कि वे १८८८ के अभिसमय का, जिसमें शांति और युद्ध के काल में स्वेज़ नहर के बाधाहीन उपयोग की गारंटी की गई थी, पालन करेंगे।

इसके साथ पत्रों का जो विनिमय हुआ उसमें लीबिया में इटालियन सेनाओं में अविलम्ब कमी का, और १९३६ की लन्दन नौसैनिक संधि में इटली के शामिल होने के इरादे का ऐलान किया गया था पर समझौते के इस भाग में आये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मामले स्पेन और एबिसीनिया थे। ब्रिटेन ने इस बात को दोहराया कि समझौते के प्रवृत्त होने से पहले स्पेन का प्रश्न निपट जाना चाहिये, पर यह ऐलान किया कि आगामी राष्ट्रसंघीय परिषद् में वह एबिसीनिया पर इटालियन विजय के अभिज्ञान के बारे में सदस्य-राज्यों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कार्य करने का

१. १९३८ का आदेशपत्र ५७२६।

इरादा रखता है—दूसरे शब्दों में, उसने स्वयं अपने द्वारा किये जाने वाले अभिज्ञान के मार्ग की बाधा दूर करने के लिए कार्यवाही करने के विचार की घोषणा की। इटली ने स्पेन से विदेशी स्वयंसेवकों को निकालने के लिए ब्रिटिश समझौता प्रस्ताव मानने की पुष्टि की और फिर इस बात को दोहराया कि इटली स्पेनिश मुख्यभूमि या समुद्र-पार बस्तियों मे कोई क्षेत्रीय राजनैतिक या विशेषाधिकारयुक्त आर्थिक स्थिति पाने का यत्न नही कर रहा है। उसने स्पेनिश युद्ध की समाप्ति पर हर सूरत में सब इटालियन सैनिक और युद्ध-सामग्री वहाँ से वापस ले आने का वचन दिया।

विरोधी दल यह बताने से नहीं चूका कि सारे समझौते में कितनी दूर तक उन्ही बातों की पुन: पुष्टि की गयी है जिनकी पहले अवहेलना की जा चुकी है पर आमतौर से यह अनुभव किया जाता था कि इससे इटली के मन में पैदा होने वाले किसी ऐसे सन्देह को दूर करने का प्रयोजन पूरा हो जाता था कि इंग्लैंड का कोई अमैत्रीपूर्ण या प्रतिशोधात्मक इरादा है, और इटालियन सद्‌भावना के बारे में इसकी धारणा, चाहे वह कुछ अधिक आशावादी ही थी, इस परन्तुक द्वारा काफी सुरक्षित हो गई थी कि यह समझौता 'स्पेनिश प्रश्न का निपटारा होने' से पहले लागू नहीं होगा। १६ अप्रैल को समझौते पर हस्ताक्षर हुए। तब ऐसा समझौता हो जाने की पूरी आशा थी जो इटली को स्वीकार्य हो। पिछले दिन जनरल फ्रांको की सेना समुद्र पर पहुँच गयी थी और उसने बारसीलोना तथा वेलेंशिया के मध्य स्थल-सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया था और इस प्रकार स्पेनिश सरकार द्वारा प्रतिधारित क्षेत्र को दो पृथक् भागों में बाँट दिया था। १९ तारीख को विद्रोही सेनापति ने सारागोसा से रेडियो भाषण देते हुए घोषित किया 'युद्ध समाप्त हो गया है। हमारे गौरवमय सैनिक, नाविक और वैमानिक अब पुनर्विजय के अन्तिम दिनों का अनुभव ले रहे हैं।' सच तो यह है कि सारे उत्तर-पूर्वी मोर्चे पर मार्च और अप्रैल में जनरल फ्रांको का बढ़ाव इतनी द्रुत गति से हुआ कि उससे यह ध्वनित होता था कि सरकारी प्रतिरक्षा अन्तत: ठप्प हो रही है। इन परिस्थितियों में समझौते को प्रवर्तित करने की पूर्ववर्ती शर्त्त से कोई विशेष देर होने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती थी। पर जब इस समय बढ़ाव की गति कुछ ढीली पड़ी, युद्ध का प्रत्याशित अन्त एक दूर भविष्य के गर्भ में चला गया, तब इस शर्त ने एक नया महत्त्व ग्रहण कर लिया। यदि इस पर दृढ़ता से आग्रह किया जाता तो इसके होने से इटालियनों को मजबूरन यह चुनाव करना पड़ता कि वे ब्रिटिश समझौता चाहते हैं या स्पेन में अपना हस्तक्षेप जारी रखना चाहते हैं।

सच तो यह है कि उन्होंने यह आशा नहीं की होगी कि इस शर्त्त की पूर्त्ति को सख्ती से लागू किया जाएगा। २१ फरवरी को श्री चैम्बरलेन ने ब्रिटिश लोकसभा को सूचित किया था कि मैंने काउण्ट ग्रांडी से कह दिया है कि

> यह परमावश्यक है कि, यदि हम समझौते के अनुमोदन की सिफारिश करने के लिए राष्ट्र संघ के पास जाएँ तो यह न कहा जा सकना चाहिए कि वार्त्तालाप के दौरान इटली ने फ्रांको को नयी कुमुक भेजकर या ब्रिटिश फारमूले द्वारा अवेक्षित व्यवस्थाओं को कार्यान्वित न करके स्पेन में स्थिति को सारतः परिवर्तित कर दिया है।

जनरल फ्रांको के बसन्तकालीन आक्रमण के सारे समय चाहे नयी इटालियन

कुमुक आने के बार-बार दोहराये गये आरोपों को पर्याप्त प्रमाण से पुष्ट न किया जा सकता हो[1], इस बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता था कि स्पेनिश विद्रोहियों पर उनके इटालियन मित्रों का कितना ऋण था। इसकी इटालियन अखबारों ने ज़ोर-शोर से उद्घोषणा की थी और २३ मार्च को फासिस्ट दल की राष्ट्रीय निर्देशक परिषद् (National Directorate of the Fascist Party) ने 'अभिमान के साथ स्वयं-सेवकों की, जो एक बार फिर स्पेन की विजय में एक परमावश्यक तत्त्व हैं, वीरता की' सार्वजनिक रूप से प्रशंसा की थी। इस स्पष्टभाषिता से, जिसने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को विरोधी दल की आलोचना का उत्तर देने के लिए परमावश्यक तत्त्व और सारभूत परिवर्त्तन के अति सूक्ष्म प्रभेद निर्दिष्ट करने के लिए मजबूर कर दिया, ये संदेह फिर पैदा होने लगे कि ऐंग्लो-इटालियन मेल-मिलाप अब श्री मुसोलिनी के लिए कम मूल्यवान् और श्री चैम्बरलेन के लिए अधिक मूल्यवान् और स्पेन में इटालियन हस्तक्षेप में वार्त्ता बाधक होने के बजाए सहायक हो रही है। इन परिस्थितियों में, यदि हम उनकी बाद की अधीरता से कुछ फ़ैसला कर सकते हैं, तो प्रतीत होता है कि श्री मुसोलिनी ने यह आशा की थी कि तय किया गया 'स्पेनिश प्रश्न का निपटारा' जिसे श्री चैम्बरलेन ने बहुत अधिक स्पष्ट नहीं किया था, या तो परित्यक्त कर दिया जाएगा, अथवा उस का अनुकूल पड़ने वाला लचीला निर्वचन कर लिया जाएगा, पर इसमें उन्हें हताश होना पड़ा। सब दलों के समर्थन से ब्रिटिश सरकार स्पेनिश निपटारे को अपरिहार्य मानने का आग्रह करती रही।

तथ्यतः, उनका मुख्य उद्देश्य—मैत्रीपूर्ण भाव का प्रदर्शन—समझौते पर हस्ताक्षर होने से सिद्ध हो गया था, और खास तौर से, नये विदेश मंत्री लार्ड हैलीफैक्स के १२ मई को राष्ट्र संघ की परिषद् की बैठक में यह स्पष्ट कर देने के बाद सिद्ध हो गया था कि ब्रिटेन अपनी साधारण प्रसादन (appeasement) की नीति के अंग के रूप में एबिसीनिया पर इटालियन विजय को अभिज्ञात करने के लिए वास्तव में तैयार है। उसी समय यदि जर्मनी के साथ मेल-मिलाप हो जाने की कोई आशा हो सकती थी तो वह हिटलर के आस्ट्रिया में किये गये कार्य से नष्ट हो गई थी, और यदि शुरू से बर्लिन-रोम धुरी को तोड़ने का कोई दुरुद्देश्य होता तो ऐसी किसी सफलता की अव्यवहार्यता इटली में मई के आरम्भ में हिटलर के स्वागत से स्पष्ट हो गयी थी। इसलिए ब्रिटिश दृष्टिकोण से समझौते को लागू करने की अब कोई जल्दी न थी। अविलम्बनीय महत्त्व का मामला यह था कि स्पेन से विदेशी सहायता को हटाने की योजना कार्यान्वित करने में सफलता हो जाए। इस प्रयोजन के लिए समझौते से संलग्न शर्त पर ज़ोर देना एक उपयोगी साधन था।

अहस्तक्षेप समिति की प्रगति
(Progress on the Non-Intervention Committee)

विदेशी सहायता वापिस दिलाने की योजना का व्यावहारिक अंगीकार न केवल इस कारण वाँछनीय हो गया था कि स्पेनिश गृह-युद्ध में दोनों पक्षों में विदेशी तत्त्वों

१. अब ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इटली की कुमुक के आने को स्वीकार न किया गया हो।

की उपस्थिति अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए सहज खतरा थी, या न केवल इस कारण कि जब तक इटालियन लोगों के, ऐसी रीति से हस्तक्षेप करने के प्रलोभन में पड़ जाने की संभावना थी जिसे छिपाया न जा सकता हो, या उपेक्षित न किया जा सकता हो, तब तक ऐंग्लो-इटालियन समझौते पर तनाव पड़ता था, बल्कि इस कारण भी कि इस तथ्य के कारण बड़ी असुविधाएँ पैदा होती थीं कि दोनों स्पेनिश पक्षों के युद्धरत अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय रूप से अभिज्ञात नहीं थे। जनरल फ्राँको और उनके समर्थकों ने जो अभिज्ञात घेराबन्दी स्थापित करने के, या युद्ध-क्षेत्र में तटस्थ जहाजों पर जाने और उनकी तलाशी लेने के अधिकार से वंचित थे, अपनी कठिनाइयों से निकलने के लिए ऐसी रीतियों से यत्न किया था जो स्पष्टत: अवैध थीं, और जिनसे एक खतरनाक उदाहरण स्थापित होता था। १९३७ के पनडुब्बी उपद्रव का, जिसके परिणामस्वरूप नियोन सम्मेलन (Nyon Conference) हुआ, पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। कुछ समय के बाद इस विधिहीन व्यवहार का एक नया उदाहरण ३१ जनवरी को पैदा हुआ, जब ब्रिटिश जहाज *एंडीनियन* पर कार्टाजीना से परे एक पनडुब्बी ने प्रहार किया और वह चार मिनट में डूब गया। इस पर ये आदेश दिये गये कि पश्चिमी भूमध्यसागर में जल-मग्न दिखाई देने वाली प्रत्येक पनडुब्बी पर आक्रमण किया जाये। पर इससे उसी कार्यवाही को एक और रूप दिया जाने लगा जो मई और जून में इतना आम हो गया कि एक बहुत गम्भीर समस्या पैदा हो गई। इसमें स्पेनिश सरकार के बन्दरगाहों में खड़े जहाजों पर आकाश से बमबारी और बहुत बार मशीनगन से गोलाबारी होती थी, जो ऐसी परिस्थितियों में की जाती थी जिनसे इसमें कोई संदेह नहीं रहता था कि यह दुष्कार्य जान बूझकर किया गया है, और उन बन्दरगाहों के विरुद्ध किये जा रहे सैनिक कार्यों का आकस्मिक परिणाम नहीं है। कुछ उदाहरणों में ऐसी हरकतें जलप्रांगण के बाहर हुईं, पर वहाँ ब्रिटिश नौसेना के लिए कुछ संरक्षण प्रदान करना संभव था। पर बंदरगाह में खड़े जहाजों की उस तरह प्रतिरक्षा करने पर सक्रिय हस्तक्षेप का आरोप अवश्य लगाया जाता। एक और उलझन इस तथ्य के कारण या सम्यक्-आधारित संदेह के कारण थी कि अधिकतर हमले इटालियन हवाबाजों के काम थे जो मेजोर्का में स्थित एक अड्डे से गोली चलाते थे। ब्रिटिश जनता को यह मनवाना बड़ा कठिन था कि ऐसा आचरण ऐंग्लो-इटालियन मैत्री के, जिसे बढ़ाना वाँछनीय था, विचार के साथ संगत था। जनरल फ्रांको को अभिज्ञात युद्धरत की स्थिति में रखने से यह कहने की भी गुंजायश न रहती कि आवश्यकतावश यह किया जा रहा था—आवश्यकता की दलील देकर ही इस व्यवहार का दोष-परिहार किया जाता था। इसलिए ब्रिटिश समझौता योजना की ओर बढ़ना अधिकाधिक अविलम्बनीय था।

प्रगति को रोक सकने वाली एक दलील इस तथ्य में निहित थी कि फ्राँसीसियों ने कुछ समय से थोड़ा बहुत स्वीकृत रूप से अपना सीमांत स्पेनिश सरकार की युद्ध-सामग्रियों के जाने के लिए खोल दिया था। इस पर दूसरे पक्ष के विदेशी हस्तक्षेपकों को गम्भीर शिकायत पैदा हुई। यह सोचना सकारण है कि ब्रिटेन ने इस कठिनाई की ओर फ्राँस का जबर्दस्ती ध्यान खींचा, यद्यपि इस बात का ब्रिटिश सरकार ने प्रतिवाद किया कि वास्तव में दबाव डाला गया है, जैसा कि व्यापक रूप से आरोप किया जाता

था और फ्राँसीसियों द्वारा विश्वास किया जाता था। फ्रैंच सरकार ने, चाहे स्वेच्छया या अन्यथा १३ जून को पायरीनियन सीमांत (Pyrenean Frontier) पक्के तौर से बन्द करने के लिए पग उठाये। इसके बाद अहस्तक्षेप समिति (Non-Intervention Committee) ने द्रुत प्रगति की और ५ जुलाई को एक संकल्प (Resolution) अंगीकार किया गया, जिसमें १४ जुलाई १९३७ की ब्रिटिश योजना को लागू करने के लिए विस्तृत कार्यक्रम दिया गया था। स्पेन में दोनों पक्षों की ओर के विदेशी तत्त्वों की गिनती के लिए आयोग तो भेजे जा चुके थे। अब इन स्वयंसेवकों का निष्कासन संकल्प के अंतिम रूप से अंगीकार और दोनों स्पेनिश पक्षों द्वारा इसकी स्वीकृति के बाद, सौवे दिन तक क्रमश: पूरा किया जाना था। जिस पक्ष में स्वयंसेवकों की कम संख्या थी, उसके दस हजार स्वयंसेवक निष्क्रामित कर दिये जाने के बाद, और दूसरे पक्ष के उसी अनुपात से और अधिक स्वयंसेवक निष्क्रामित कर दिये जाने के बाद, कुछ विनिर्दिष्ट प्रतिबन्ध लगाकर युद्धरत अधिकार दिये जाने थे। स्थल पर, समुद्र पर और आकाश में प्रेक्षरण (Observation) के लिए उपबन्ध रखे गये थे। अंततः योजना कार्यान्वित करने की लागत की पूर्ति के लिए वित्तीय उपबन्ध थे। ५ जुलाई की बैठक में फ्राँस, ब्रिटेन, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों ने आरम्भिक खर्च की निधि में ५० हजार पौंड से अधिक राशि दी। उस समय पिछली निराशाओं को देखते हुए इस प्रगति का वर्णन वैसी सावधान भाषा में ही किया जा सकता था जैसी *टाइम्स (The Times)* ने प्रयुक्त की थी कि 'यह शिखर पर चढ़ने का मार्ग है जो अभी मुश्किल से शुरू हुआ है, और जिसके परिणामस्वरूप शायद स्पेनिश निपटारा हो जाये' और जनरल फ्रांको की इस योजना को जिसे स्पेनिश सरकार ने, मामूली निर्बन्धों (reservations) के साथ लगभग एक मास पहले अनुमोदित कर दिया था, स्वीकार करने से अस्वीकृति जो २२ अगस्त को प्रकाशित हुई थी, इस सावधान और निराशावादी तखमीने को उचित सिद्ध करती थी।

चैकोस्लोवाक संकट
(The Czechoslovakian Crisis)

१९३३ में हिटलर के सत्तारूढ़ होने के समय से ही और राइनलैंड पर उसके पुन: आधिपत्य के दिन से सुनिश्चित रूप से योरोपीय स्थिति के प्रेक्षक चैकोस्लोवाकिया को योरोप का सब से गम्भीर खतरे का स्थान मानने लगे थे। आस्ट्रिया के उदरस्थ कर लिये जाने के बाद किसी को भी स्थिति के संकटापन्न होने में जरा भी संदेह नहीं था।

यदि आत्मनिर्णय (self-determination) के सिद्धान्त को एकमात्र कसौटी माना जाये तो चैकोस्लोवाकिया जैसे राज्य के अस्तित्व को उचित ठहराना अतिशय कठिन है। यह युद्ध-पूर्व के आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य की अनेक जातियों की पिटारी का छोटा रूप था। १९३० की जन-गणना के अनुसार इसका संघटन पूर्ण संख्याओं में इस प्रकार था।

चैक	७४,४७,०००
जर्मन	३२,३१,६००

स्लोवाक	...	...	...	२३,०६,०००
मगयार	...	...	...	६,९१,९००
रुथीनियन	...	...	...	५,४६,०००
पोल	...	...	...	८१,७००

इस प्रकार चैक स्लोवाकों (Slovaks) को अपने से अभिन्न मानकर ही प्रबल बहुमत में होने का दावा कर सकते थे। यद्यपि ये मूलवंशीय (Racial) दृष्टि से एक ही थे, पर हंगेरियन शासन में ११वीं से २०वीं शताब्दी तक उनका पृथक् इतिहास था और उनमें स्वदेश के लिए एक आन्दोलन था जो किसी भी तरह उपेक्षा-योग्य नहीं था।

यद्यपि ऊपर गिनाए गए विभिन्न मूलवंश (Races) ऐसे ढंग से वितरित थे, जिससे पृथक् प्रशासनीय परिसीमाओं का निर्माण, अशक्य न होने पर भी, कठिन था। पर मोटे रूप से कहा जाये तो वे सम्मिश्रित नहीं थीं, बल्कि ऐसे क्षेत्रांशों में बँटी हुई थीं, जिन्हें बहुत कुछ अलग-अलग निर्दिष्ट किया जा सकता था। यदि हम, चैको-स्लोवाकिया नक्शे में जो मेंढ़क के बच्चे के रूप में दिखायी देता है, उसका विच्छेदन करें तो सिर, जो बोहेमिया और मोरेविया का तत्स्थानी है, एक चैक मस्तिष्क था जिसके चेहरे और त्वचा पर जर्मन चकत्ता था, और साइलीशिया के दक्षिण की ओर गर्दन की पीठ पर एक भीषण और अलग-थलग धब्बा था; धड़ स्लोवाक था जिसके मेरुदंड पर पोलिश संक्रमण हुआ था, और पेट अपाच्य मगयारों से भरा हुआ था पतली सी पूँछ रुथीनियन क्षेत्र था। जर्मनी के लिए बोहेमिया और मोरेविया की स्थिति—वह देश के इसी भाग में दिलचस्पी रखता था—चैक बहुमत और जर्मन अल्पमत की स्थिति नहीं थी, बल्कि एक अनन्त ट्यूटोनिक महासागर में एक छोटे से चैक द्वीप की स्थिति थी। आस्ट्रिया के साथ ऐक्य होने के बाद वह द्वीप नाज़ी पंथ की उछलती हुई तरंगों से प्रायः चारों ओर से घिर गया था।

इसलिए मूलवंशीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त चैकोस्लोवाकिया पर लागू किये जानें पर इसका अपखंडन (Disintegration) होना अनिवार्य था। चैक और स्लोवाक भी एक क्षीणकाय भुजा द्वारा एक-दूसरे से बड़े संकटमय रूप में चिपके रह सकते थे, और जो जिले उन के पास रहते, वे न तो सामरिक दृष्टि से जीवनक्षम होते, और न आर्थिक दृष्टि से। अब यह भी संभव प्रतीत नहीं होता था कि स्विस नमूने की कैंटनों की प्रणाली स्थापित हो जाये, जैसा कि राज्य के संस्थापकों में से कुछ सज्जनों ने शांति सम्मेलन के समय सुझाया था। यह समाधान प्रशासनीय इकाइयों की आकृति और वितरण के कारण हर सूरत में कठिन सिद्ध होता है। पर जर्मन राष्ट्रीय समाजवाद के अभ्यु-दय के बाद शासन के बारे में परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ और आन्तरिक निष्ठा से असंगत परराष्ट्रीय सम्बन्धों का अस्तित्व ऐसी किसी प्रणाली को अस्पष्टतः अव्यवहार्य बना देता था। इस स्थिति में केन्द्रापसारी बल (Centrifugal Forces) केन्द्रानुसारी बलों (Centripetal Forces) से बहुत अधिक हो जाते।

पर योरोपीय शक्ति संतुलन (European Balance of Power) की दृष्टि से देखा जाये तो सामरिक दृष्टिकोण रखने वाले द्रष्टा के लिए तस्वीर बड़ी भिन्न हो

जाती थी। तब चैकोस्लोवाकिया जर्मन नेतृत्व के खतरे के विरुद्ध एक महत्त्वपूर्ण रक्षा-भित्ति (Bulwark) का रूप ग्रहण कर लेता था। यहाँ वे शब्द दोहराना उचित होगा जो बिस्मार्क के बताये जाते हैं—'जिसके पास बोहेमिया है, वही योरोप का स्वामी है'। यदि वह घुटने टेक देता तो योरोपीय कूटनीतिज्ञों को भय पैदा करने वाली अवस्था—सारे महाद्वीप पर एक ही शक्ति के प्रभुत्व—से बचना सचमुच कठिन होता। खासकर फ्राँस के लिए चैकोस्लोवाकिया का मैत्रीपूर्ण लोकतन्त्र उसकी युद्धोत्तर मैत्रियों में एक ऐसा अंश था जो विश्वास-योग्य बना रहा : वह फ्रांको-सोवियत सहयोग में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थी, और युद्ध की अवस्था पूर्वी जर्मनी के मुख्य स्नायु-केंद्रों (Nerve Centres) पर वायु मार्ग से चारों ओर आक्रमण करने के लिए अमूल्य केन्द्र था। इसलिए फ्राँस से जैसा कि उसने बार-बार और बलपूर्वक घोषित किया था, चैकोस्लोवाकिया की अखण्डता की प्रतिरक्षा के लिए हस्तक्षेप करने की आशा निश्चित रूप से की जानी चाहिए थी। राइनलैंड पर पुनः आधिपत्य के बाद से वह संघर्ष को योरोप-व्यापी युद्ध के पैमाने तक बढ़ा कर ही यह कार्य कर सकता था। इसलिए ब्रिटेन का फ्राँस के भाग्य में अन्तर्ग्रस्त देश के नाते, ऐसे देश के नाते जिसे योरोप को पादाक्राँत करने वाले और बोहेमिया के उत्पादों और गोलाबारूद से बढ़ी हुई शक्ति वाले जर्मनी से खतरा था, तथा शांन्ति के अभिलाषी देश के नाते, यह महत्त्वपूर्ण लाभ प्रतीत होता था कि वह इसे सुनिश्चित बनाने के लिए भरसक यत्न करे कि चैकोस्लोवाकियन स्वाधीनता पर आक्रमण न हो। प्रसंविदा (Covenant) के अधीन उसके दायित्व भी, उनका जो भी महत्व हो, ऐसी ही नीति की अपेक्षा करते थे, क्योंकि साधारणतया यह धारणा थी कि चैक लोग स्वयं बिना संघर्ष के समर्पण नहीं करेंगे, इसलिए उनके देश पर आक्रमण का अर्थ था व्यापक युद्ध की प्रबल संभाव्यता। चैकोस्लोवाकिया के आगामी संघर्ष का सर्बिया बनने की संभावना थी।

दूसरी ओर, चैकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप अनेक दृष्टियों से ठीक उस प्रकार का जोखिम प्रतीत होता था, जिसे नाजी जर्मनी द्वारा उठाये जाने की संभावना थी। इस राज्य के अस्तित्व से पूर्व की ओर जर्मनी के प्रसार और प्रभुत्व के मार्ग में जो रुकावटें पड़ती थीं, और शत्रुओं पर वायु आक्रमण के अड्डे के रूप में वह जो सुविधा प्रदान करता था, उससे यह असंभव हो जाता था कि हिटलरीय जर्मनी ऐसे परेशान करने वाले पड़ौसी की स्वतन्त्रता को कभी भी स्थायी रूप से मान लेता। राइनलैंड की पुनः किलेबन्दी द्वारा हिटलर ने फ्राँस का प्रभावी रूप से सहायता के लिए पहुँचना अत्यधिक कठिन कर दिया था। पोलैण्ड और रूमानिया की 'बाधक' नीति (Barrier Policy) सोवियत रूस से चैकोस्लोवाकिया को सहायता मिलने के मार्ग में रोड़े अटकाती थी। ब्रिटेन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह प्रायः किसी भी कीमत पर शान्ति खरीदने को तैयार है। राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप की सम्भावना उपेक्षणीय थी। अपनी रुथीनियन पूंछ के सिरे के अलावा, जहाँ चैकोस्लोवाकिया रूमानिया के साथ लगा हुआ था, वह चारों ओर उदासीन या अमित्र पड़ौसियों से घिरा हुआ था। अंततः जर्मन अल्पमत की शिकायतों को किसी भी समय हस्तक्षेप का ऐसा बहाना बनाया

जा सकता था जिनसे विदेशी सहानुभूति को विभक्त और दुर्बल कर दिया जाए। चैकोस्लोवाकिया एक और आकस्मिक सिद्ध कार्य के लिए प्रलोभन-पूर्ण क्षेत्र था।

इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि प्रायः सब जगह आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य की अविलम्ब प्रतिक्रिया यह हुई कि 'अगला नम्बर चैकोस्लोवाकिया का है'। २४ मार्च को ही श्री चैम्बरलेन ने, यद्यपि उन्होंने कोई सुनिश्चित गारन्टी देने से इंकार कर दिया था तो भी उस देश में आक्रमण के संभाव्य परिणामों के विषय में एक प्रभावोत्पादक चेतावनी दी थी।

यदि युद्ध छिड़ गया तो उसके सिर्फ उनतक सीमित रहने की संभावना नहीं हैं, जिन्होंने ऐसे दायित्व ग्रहण किये हैं। यह सर्वथा संभाव्य है कि जो लोग आरम्भिक विवाद में पक्ष थे, उनके अतिरिक्त अन्य देश भी प्रायः अविलम्ब युद्ध में ग्रस्त हो जायंगे। यह बात ब्रिटेन और फ्राँस जैसे दो देशों के बारे में विशेष रूप से सच है, जो दीर्घ काल से मैत्री में आबद्ध हैं, जिनके हित परस्पर गुंथे हुए हैं, जो लोकतन्त्रीय स्वाधीनता के उन्हीं आदर्शों में अनुरक्त हैं और उनकी मर्यादा बनाए रखने के लिए दृढ़-संकल्प हैं।

नाज़ी प्रभाव में रहने वाले क्षेत्रों में भी यही आशा की जाती थी, पर बल भिन्न बात पर था। सुडेटन जर्मन (Sudeten Germans) एक दूसरे का स्वागत इस नारे से करते थे—'इम मेडी चैकोस्लोवाकी,। २३ अप्रैल को कार्ल्सबाद में भाषण करते हुए सुडेटन जर्मन पार्टी के नेता श्री हैनलीन ने ८ माँगें प्रस्तुत कीं, जिन्हें उन्होंने न्यूनतम माँगें बताया। इनमें जर्मन इलाके के लिए पूर्ण स्वायत्तता और जर्मन नागरिकता तथा राजनैतिक आदर्श अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँगें भी थीं। आपने यह मांग भी की कि विशेष रूप से रूस के साथ मैत्री के मामले में चैक विदेश नीति पूर्णतः संशोधित की जाए और खुलेआम यह घोषणा की कि मेरी नीति राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) के सिद्धान्तों और विचारों से अनुप्राणित है। उसी समय जर्मन अखबारों का स्वर भी विरोधी और तर्जनात्मक हो गया।

अप्रैल खत्म होने से पहले स्थिति के खतरे के बारे में अधिकाधिक प्रमाण इकट्ठे हो जाने के परिणामस्वरूप ब्रिटिश और फ्रेंच सरकारों के प्रतिनिधियों में बातचीत हुई, और २८ तथा २९ अप्रैल को लंदन में उनकी बैठक हुई। फ्राँस ने, जैसे राइनलैण्ड के संकट के अवसर पर वैसे अब भी, जर्मन आक्रमण के विरुद्ध दृढ़ कदम उठाने का प्रतिपादन किया, पर ब्रिटिश सरकार ने सतर्कता और संयम का परामर्श दिया। श्री दलादिये (M. Daladier) की सम्मति में युद्ध से तभी बचा जा सकता था जब ब्रिटेन और फ्राँस स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्वाधीनताओं और अधिकारों का आदर करने के द्वारा योरोप की शान्ति बनाये रखने के अपने संकल्प-विकल्प स्पष्ट करदें......पर यदि हमें एक और खतरा सामने आने पर फिर एक बार समर्प्यपंण (Capitulation) करना है तो हमें उसी युद्ध के लिए मार्ग तैयार करना चाहिए था जिससे हम बचना चाहते थे। वे चाहते थे कि दोनों देशों को तुरंत दृढ़तापूर्वक जर्मनी से यह कह देना चाहिए कि हम चैकोस्लोवाकिया से सब युक्तियुक्त रियायतें करने के लिए कहने को तो तैयार हैं, पर हमारा चैकोस्लोवाक सरकार का समर्थन करने और चैकोस्लावाकिया के अंग-भंग को रोकने का दृढ़ संकल्प है। श्री बोने (M. Bonnet) का विचार था कि

फ्यूहरर और उसके निकटतम साथियों को देखते हुए 'यह चैकोस्लोवाकिया को योरोप के नक्शे से हटाने का सीधा सवाल था, इसलिए वे सुडेटन शिकायतों के उचित समाधान से भी संतुष्ट नहीं होंगे। फ्रांस को चैकोस्लोवाकिया से किए हुए अब अपने वचन-बन्ध (engagement) को पूरा करना चाहिए, हालांकि 'यदि फ्राँस अकेला रहा तो स्थिति अनिश्चित ही रहेगी : पर यदि फ्राँस और ब्रिटेन में एका रहा तो उनके दृष्टिकोण की सफलता निश्चित है'। श्री दलादिये (M. Daladier) द्वारा प्रतिपादित नीति को श्री चेम्बरलेन ने 'झाँसा' (bluff) बताया था :

जरा नक्शा उठाकर देखिए—चैकोस्लोवाकिया तीन तरफ जर्मन क्षेत्र से घिरा हुआ है... ऐसी परिस्थितियों में चैकोस्लोवाकिया को बचाना कैसे सम्भव होगा ? ऐसी स्थिति में क्या हम जर्मनी से यह कहें कि योरोप में उसके आगे बढ़ते जाने को हम सहन नहीं करेंगे, और आगे कदम न बढ़ाने का समय आ गया है; और यदि जर्मनी कुछ पग उठाये तो क्या तब हम युद्ध की घोषणा कर देंगे।

क्या हम इतने शक्तिशाली थे कि हम निश्चित रूप से जीत जाते ? 'साफ बात यह है कि उनकी सम्मति में हम इतने शक्तिशाली नहीं थे...इस समय उन्हें निश्चय था कि ब्रिटेन का लोकमत ब्रिटिश सरकार को ऐसी जोखिम न उठाने देगा '।

लार्ड हैलिफैक्स का भी यही रुख था :

यदि मैंने श्री बोने (M. Bonnet) को ठीक-ठीक समझा है, तो उन्होंने यह पूछा था कि जब डा० बेनेस (Dr. Benes) ब्रिटिश सरकार को उन रियायतों (Concessions) की सूचना दे दें, जो वे करने को तैयार थे, और ब्रिटिश सरकार उन्हें तर्कसंगत समझे, तो क्या जर्मनी द्वारा इन रियायतों को ठुकरा दिये जाने पर, और चैकोस्लोवाकिया पर जर्मन आक्रमण होने पर, ब्रिटिश सरकार ऐसे जर्मन आक्रमण के परिणामों से चैकोस्लोवाकिया की प्रतिरक्षा का दायित्व लेने को तैयार होगी। यदि श्री बोनें (M. Bonnet) का प्रश्न यह था तो इसका एकमात्र उत्तर, जिसके हेतु पहले ही दिये जा चुके हैं, यह होगा कि ऐसा वचन देना असम्भव है।

इन परिस्थितियों में, बातचीत से, नीति के बारे में फ्रेंच और ब्रिटिश दृष्टिकोणों की मौलिक भिन्नता ही सामने आई और चैकोस्लोवाकिया के प्रति अपने संधि दायित्वों की पूर्त्ति का मौका पड़ने पर फ्रांस को ब्रिटिश समर्थन मिलने का निश्चय न हुआ।[1]

२०-२१ मई को चैकोस्लोवाक म्युनिसिपल चुनावों से ठीक पहले, तनाव संकट के चरमबिन्दु पर पहुँच गया। सीमांत पर जर्मन सैनिकों की अशान्तिजनक गतिविधियों की खबरें मिलीं, जिनके बारे में बर्लिन में २० तारीख को ब्रिटिश राजदूत को विश्वासोत्पादक स्पष्टीकरण दिये गये, पर मालूम होता है कि ये पूर्ण विश्वास कराने में असफल रहे, क्योंकि अगले दिन पुनः पूछताछ के उत्तर में वे दोहराने पड़े। चैक हल्कों में यह आम विश्वास था कि क्रांति होने वाली है और आंशिक लामबंदी (Martial Mobilization) का आदेश दे दिया गया था, जिससे स्थिति को बचाने में सहायता मिली समझी जाती है। २१ मई की एक घटना से तनाव बढ़ गया। इसमें दो सुडेटन

१. एंग्लो-फ्रेंच वार्ताओं के पूरे विवरण के लिए देखिए, ई. एल. वुडवर्ड और आर. बटलर, डाक्यूमेंट्स ऑन ब्रिटिश फॉरेन पालिसी, तीसरी पुस्तकमाला, जिल्द १,१९३८ लन्दन, H. M. S. O. १९४९, पृ० २१२-३२।

जर्मनों को, आवाज देने पर बिना रुके सीमान्त चौकी से गुजरने का यत्न करते हुए, गोली से उड़ा दिया गया था। फ्रेंच सरकार ने ऐलान किया कि यदि आक्रमण किया गया तो वह अपने दायित्व अन्त तक पूरे करेगी, और यह समझा जाता था कि ब्रिटेन ने भी वैसा ही दृढ़ता का रुख अपना लिया है। इन परिस्थितियों में यह संकट और आगामी चुनाव बिना गड़बड़ के निकल गये पर यह भावना व्यापक रूप से बनी हुई थी कि एक बहुत गम्भीर स्थिति आने से बाल-बाल रह गयी। ये सन्देह बाद की जर्मन घोषणाओं से, खासकर डा० गोएबल्स (Dr. Goebbels) द्वारा २१ जून को एक विराट् सभा में दिये गये उस भाषण से दूर नहीं हुए, जिसमें उन्होंने कहा : 'हम ३५ लाख जर्मनों से दुर्व्यवहार होते ज्यादा देर नहीं देख सकते। हमने आस्ट्रिया में देखा कि एक जाति को दो देशों में विभक्त नहीं किया जा सकता *और यह बात हम शीघ्र ही कहीं और भी देखेंगे।'*

अगस्त आने तक सब सम्बन्धित लोगों का ध्यान अल्पसंख्यकों की समस्या, विशेष रूप से जर्मन अल्पसंख्यकों की समस्या, का सन्तोषजनक हल प्राप्त करने के कार्य पर केन्द्रित था। चैकोस्लोवाक सरकार एक 'राष्ट्रीयताओं की संविधि' (Nationalities Statute) तैयार करने में व्यस्त थी, जिसमें वे कहते थे कि उचित शिकायतें दूर करने के लिए, राष्ट्रीय सुरक्षा और स्वाधीनता से अनुसंगत रहते हुए जितनी दूर तक जाया जा सकता था, वहाँ तक हम गये हैं। (कुछ लोग कहते हैं कि सरकार उससे भी आगे चली गयी थी)। इस पर सुडेटन जर्मनों ने १४ सूत्रों वाला एक ज्ञापन (Memorandum) पेश किया और यह स्पष्ट था कि अभी दोनों पक्षों में बहुत भारी खाई थी। इस खाई को पाटने में सहायता करने के लिए या जब तक सम्भव हो तब तक वार्त्ता जारी रखकर संकट को विलम्बित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लार्ड रन्सीमन (Lord Runciman) को प्राग भेजा। इस कार्य को सर्वत्र पसन्द किया गया, पर बहुत से लोगों के मन में यह प्रश्न था कि क्या सुडेटन प्रश्न चैकोस्लोवाकिया की मुख्य समस्या है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच के एक अतिशय बुद्धिमान् प्रेक्षक की सम्मति में,

> यह प्रश्न कभी मुख्य समस्या नहीं था और आज तो यह और भी कम महत्त्व की समस्या है। जहाँ तक बड़े प्रश्नों का सम्बन्ध है, इन ऐतिहासिक प्रान्तों में जर्मन अल्पसंख्यकों की शिकायतें एक निरा बहाना हैं। यदि वे न होतीं तो उन्हें पैदा करना पड़ता।[1]

यदि यह निदान सही है तो लार्ड रन्सीमैन (Lord Runciman) अधिक से अधिक प्रशंसनीय जो भी समझौता होने में सहायता कर सकते थे, उससे रोग का अस्थायी ह्रासमात्र होता। बाहर का खतरा ऐसे किसी भी समय फिर पैदा हो जाता जब योरोप के राष्ट्र नेताओं में बुद्धिमत्ता, जागरूकता या साहस का अभाव होता।

अगस्त और सितम्बर में चैकोस्लोवाकिया की स्थिति का वातावरण उत्तरोत्तर बढ़ते हुए तनाव से व्याप्त हो गया। जैसा लार्ड लायड (Lord Lloyd) ने ब्रिटिश लार्ड सभा में कहा था, ऐसे बहुत प्रमाण थे कि जर्मन सरकार शुरू से सुडेटनों के असन्तोष को बढ़ाने, और उसका लाभ उठाने, और जिस तिथि को यह वास्तव में

---

१. सर एलफ्रैड जिमर्न, इन्टरनेशनल अफेयर्स, जुलाई १९३८, पृष्ठ ४९७।

हुआ, उस तिथि के आसपास संकट को विस्फोट-बिन्दु पर ले आने के लिए कृत-संकल्प थी। अब वह बात हिटलर और उनके साथियों के सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लेने से बिल्कुल निश्चित हो गयी। चैकोस्लोवाक सरकार ने अपने जर्मन अल्प-संख्यकों की माँगें पूरी करने के दायित्व निभाने की भावना से बहुत तथा लगातार यत्न किये, पर उन्होंने समझौता करने का कोई भी रुझान नहीं दिखाया। इस बीच अभूत-पूर्व पैमाने पर—जिसमें १० लाख से अधिक आदमी भर्ती किये गये थे—जर्मन सेना की गतिविधियों से और राइनलैंड की किलेबन्दियों पर बहुत अधिक काम करने के लिए मजदूरों की जबरन भर्ती से व्याप्त बेचैनी और बढ़ गयी। नियन्त्रित जर्मन प्रेस ने उसी समय चैकोस्लोवाकिया में 'घटनाएँ' कल्पित रूप से बनाकर और अति-रंजित करके, तथा चैक सरकार के विरुद्ध निरन्तर विषवमन करके स्थिति को और अधिक कटु बनाने का भरसक यत्न किया। २७ अगस्त को सर जॉन साइमन ने लेनार्क में श्री चैम्बरलेन की २४ मार्च की चेतावनी फिर दोहरायी। एक सितम्बर को सुडेटन नेता श्री हैनलीन (Herr Henlein) बर्चेसगैडन (Berchtesgaden) में हिटलर से मिलने गये। ५ दिन बाद डा० बेनेस (Dr. Benes) ने सुडेटन नेताओं को एक संशोधित योजना दी, जो लार्ड रन्सीमैन (Lord Runciman) की तथा अधिक जिम्मेदार सुडेटन नेताओं की राय में 'कार्ल्सबाद के ८ सूत्रों की प्रायः सब अपेक्षाएँ पूरी करती थी और थोड़े से स्पष्टीकरण और विस्तार पर इसमें वे समस्त रूप में लायी जा सकती थीं' पर 'यही तथ्य कि वह इतनी अनुकूल थी, सुडेटन जर्मन पार्टी के अधिक उग्र सदस्यों की दृष्टि में उनके स्वीकार न किये जाने का कारण बन गया'।[1] ७ सितम्बर को मोरावस्का ओस्ट्रावा में हुई एक घटना को, जिसमें एक चैक पुलिसमैन ने एक सुडेटन डिप्टी को पीटा था, तथा जर्मन प्रदर्शनकारियों और प्राधिकारियों के मध्य कुछ मामूली झड़पों के परिणामस्वरूप कुछ अस्थायी गिरफ्तारियाँ हुईं थीं, सुडेटन पार्टी ने वार्त्ता भंग करने का तो नहीं पर विलम्बित करने का बहाना बना लिया, हालांकि चैक सरकार ने पुलिस पर अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का वचन दिया था। बातचीत १० सितम्बर को फिर शुरू हुईं और समझौता लगभग हो ही गया था, पर १२ सितम्बर को नूरेम्बर्ग में नाजी पार्टी की रैली में दिया हुआ हिटलर का भाषण तत्काल उपद्रव शुरू कर देने के लिए संकेत बना, यहाँ तक कि एगर-एस्क जिले में तो क्रांति ही हो गयी। चैकोस्लोवाक सरकार की आपात कार्यवाहियों पर श्री हैनलीन (Herr Henlein) ने एक अल्टीमेटम दिया। कुछ थोड़ी लड़ाई हुई जिसमें दोनों ओर के कुछ लोग मरे और लार्ड रन्सीमैन (Lord Runciman) ने यह फैसला किया कि मध्यस्थ के रूप में उनका कार्य समाप्त हो गया था क्योंकि 'स्थिति में प्रमुख कारक अब मुख्य सुडेटन नेता और जर्मन सरकार का सम्बन्ध बन गया था अतः यह झगड़ा घरेलू नहीं रह गया था'।

---

१. Cmd. 5847 of 1938 p. 4।

योरोप की शान्ति की सम्भावना तुरन्त अत्यधिक संदिग्ध हो गयी, और १५ सितम्बर को श्री चैम्बरलेन विमान से जर्मनी गये और उन्होंने बर्चेसगैडन में फ्यूहरर से भेंट की। इस समय तक लार्ड रन्सीमैन, २१ सितम्बर को लिखी गयी अपनी रिपोर्ट के अनुसार यह निश्चय कर चुके थे कि उनके आने के समय अधिक नरम विचारों वाले सुडेटन नेता अब भी चैकोस्लोवाक राज्य के सीमान्तों के भीतर ही समझौता चाहते थे। पर 'चैकोस्लोवाकिया और जर्मनी के बीच के सीमान्त ज़िलों को जहाँ सुडेटन आबादी *महत्त्वपूर्ण* बहुमत में है, तुरन्त आत्म-निर्णय का पूर्ण अधिकार दिया जाना चाहिए'[1] पर उस क्षेत्र के लिए जहाँ जर्मन बहुमत उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, उन्होंने चैकोस्लोवाक सरकार की संशोधित योजना के आधार पर ही एक हल बताया। पर हिटलर की बातें सुनने के बाद श्री चैम्बरलेन अधिक उग्र समाधान के पक्ष में हो गये थे। लन्दन में श्री दलादिये (M. Daladier) और श्री बोने के साथ सम्मेलन किया गया जिसमें ब्रिटिश और फ्रेंच नेताओं ने ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करना स्वीकार किया कि ये वे सब ज़िले जिनमें ५०% से अधिक जर्मन निवासी हैं (अर्थात् उनका निरपेक्ष बहुमत है), जर्मनी को बिना मतसंग्रह के सीधे सौंप दिये जाने चाहिएं। मौजूदा स्थिति में मतसंग्रह मे खतरा और व्यावहारिक कठिनाइयाँ इतनी अधिक थीं कि उसका जानकार और ज़िम्मेवार हल्कों में कोई समर्थन नहीं किया गया। इस प्रस्ताव में लार्ड रन्सीमैन के प्रस्ताव से जो अन्तर है, वह महत्त्वहीन नहीं, क्योंकि *महत्त्वपूर्ण* बहुमत के हस्तांतर को तो इस रूप में उचित ठहराया जा सकता था कि वह आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार है, पर जर्मन निवासियों के बहुमत मात्र का, जिनमें से बहुत से राइख़ (Reich) के साथ मिलने के विरोधी थे, सम्भवत: यह अर्थ था कि आबादी का निरपेक्ष बहुमत (absolute majority) प्रस्तावित कार्य के पक्ष में नहीं था। पर और दृष्टियों से यह प्रस्ताव लार्ड रन्सीमैन की सिफारिशों के अनुरूप था। चैकोस्लोवाकिया की मौजूदा मैत्री-सन्धियों के स्थान पर—उसे अप्रकोपित आक्रमण (unprovoked aggression) के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय गारंटी दी जानी थी—फ्रेंच और ब्रिटिश सरकारें स्वीकार करती थीं कि चैकोस्लोवाक सरकार का ऐसी गारंटियाँ माँगना उचित था, और उन्होंने घोषित किया कि हम इस गारंटी में शामिल होने को तैयार हैं। चैकोस्लोवाक सरकार से, रविवार १८ सितम्बर को, इन प्रस्तावों का उत्तर अगले बुधवार तक देने की प्रार्थना की गयी। इस सन्देश के प्राप्तिकर्त्ताओं ने पहले तो कुछ आपत्ति उठायी, पर जिन्हें वे योजना के 'बहुत से अव्यवहार्य अंश' मानते थे, उनके बावजूद, उन्हें यह कह कर कि यदि वे इसे स्वीकार न करेंगे तो युद्ध की अवस्था में वे अकेले रह जाएँगे, और कि ये उनसे की जाने वाली अन्तिम माँगें हैं, और 'ऐंग्लो-फ्रेंच दबाव का अर्थ यह है कि हमारे घटाए हुए सीमान्तों के लिए ये दो शक्तियाँ जिम्मेवारी ग्रहण करेंगी, और यदि हम पर बदमाशी से हमला किया गया तो हमारा समर्थन करने की गारंटी देंगी' अन्त में इसे स्वीकार करने के लिए मना लिया गया[2]

कहा जाता है कि फ्रेंच लोकमत ने इस समाधान को 'एक लज्जाजनक आवश्यकता, (a shameful necessity) के रूप में आम तौर से स्वीकार कर लिया, यद्यपि

१. Cmd. 5847 of 1938, p. 6.
२. Cmd. 5847 of 1938, pp. 16, 17.

श्री दलादिये (M. Daladier) की सरकार के तीन सदस्य अत्यधिक असन्तुष्ट हुए। कहा जाता है कि उन्होंने अपने त्यागपत्र पेश कर दिये थे तथा एक प्रसिद्ध फ्रेंच सेनापति जनरल फौशर (General Faucher) ने अपनी राष्ट्रीयता का त्याग कर दिया, और चैकोस्लोवाक नागरिक स्वीकार किये जाने के लिए आवेदन किया।[1] चैकोस्लोवाकिया में श्री होडजा (M. Hodza) की सरकार ने प्रस्तावित शर्तें स्वीकार करने के बाद त्यागपत्र दे दिया और उसके बाद जनरल सिरोवी (General Sirovy) की अध्यक्षता में एक नया मन्त्रिमण्डल बना, पर उसने अपनी पूर्ववर्ती सरकार के फैसले का पाबन्द रहने की घोषणा की। शायद इस कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हंगरी और पोलैंड को बटवारे में एक हिस्से पर दावा करने का प्रोत्साहन मिला। इन देशों के प्रतिनिधियों ने तुरन्त हिटलर के साथ बातचीत की और जब श्री चैम्बरलेन फ्यूहरर के साथ गोडिसबर्ग में एक और भेंट के लिए फिर एक बार आये, तब उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अब भी हिटलर अधिक कठिन शर्तें पेश कर रहे थे। अब वे पोलिश और हंगेरियन 'आत्मनिर्णय' के पक्षपोषक हो गये थे, और एक अल्टीमेटम के रूप में दिये गये एक मेमोरेंडम में, जो उन्होंने श्री चेंबरलेन को २३ सितम्बर को प्राग भेज देने के लिए दिया था, अब उन्होंने निम्नलिखित माँगें पेश कीं :—

(१) एक संलग्न नक्शे में निर्दिष्ट क्षेत्र से, जो मोटे तौर से वह सारा क्षेत्र था जो जर्मनी को दिया जाना था, सब चैक बलों की, जिनमें पुलिस और सीमा शुल्क (Customs) अधिकारी भी शामिल हैं, वापसी और यह क्षेत्र १ अक्तूबर को जर्मनी को सौंपना।

(२) सौंपा जाने वाला क्षेत्र अपनी मौजूदा अवस्था में, सब किलेबन्दियों और वाणिज्यिक संस्थानों (Commercial Installations), रेलवे के डिब्बों, इत्यादि सहित और खाद्यान्न, मवेशी या कच्चा सामान बिना हटाये सौंपा जाय।

३. चैकोस्लोवाक सेना या पुलिस में काम करने वाले सब सुडेटन जर्मनों को सेवामुक्त और सब जर्मन कैदियों को रिहा कर दिया जाय।

४. अन्तिम परिसीमन (Delimitation) का निश्चय अन्तर्राष्ट्रीय आयोग (International Commission) के नियन्त्रण में मतसंग्रह द्वारा हो और निपटारा जर्मन-चैक या एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा किया जाय।

चैकोस्लोवाक सरकार ने इन शर्तों को 'सर्वथा और बिना शर्त अस्वीकार्य' कह कर ठुकरा दिया। उनसे ब्रिटिश प्रधान मंत्री भी स्तब्ध रह गये और उन्होंने फ्यूहरर की कड़ी भर्त्सना की और

कहा कि इस लेख्य की भाषा और रीति······तटस्थ देशों में लोकमत को अत्यधिक स्तब्ध कर देगी।

आपने आगे कहा

मुझे निश्चय है कि जर्मन सेनाओं द्वारा उस प्रदेश पर, जो सिद्धान्ततः तुरन्त और कुछ समय बाद औपचारिक परिसीमिन (formal delimitation) द्वारा राइख का हिस्सा बन जायेगा, अधिकार करने की चेष्टा की, अनावश्यक बल-प्रदर्शन कहकर, निन्दा की जायेगी······चैक सरकार निःसंदेह अपनी सेना तब तक नहीं हटा सकती, जब तक उसे जबर्दस्ती आक्रमण की धमकी दी जा रही थी।

---

१. जनरल फौशर चैकोस्लावाकिया में फ्रैंच सैनिक मिशन के अध्यक्ष रहे थे और वहाँ बहुत वर्षों तक रह चुके थे।

तदनुसार, गोडेसबर्ग सम्मेलन (Godesberg Conference) भंग हो गया और श्री चैम्बरलेन की वापसी पर इंगलैंड और अन्य देशों ने अनिवार्य तथा सन्निकट युद्ध की तैयारी की। समुद्री बेड़े को युद्ध-सज्जित किया गया और विमानभेदक प्रादेशिक सेना (anti-aircraft territorials) सक्रिय कार्य के लिए बुला ली गई। चाहे दृढ़ता के इस प्रदर्शन के परिणामस्वरूप हो, या मुसोलिनी द्वारा अब की गई एक प्रार्थना के परिणामस्वरूप हो, हिटलर ने अब फ्राँस, ब्रिटेन, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधियों का सम्मेलन म्यूनिख में २९ सितम्बर को करने के प्रश्न पर अपना रवैय्या बदल लिया, और इस सम्मेलन को, उस दिन सम्पन्न और हस्ताक्षरित एक समझौते द्वारा फिलहाल शान्ति बनाये रखने में सफलता हो गई। म्यूनिख समझौते (The Munich Agreement) को, जिसके साथ अपने मतभेदों को निपटाने में युद्ध का प्रत्याख्यान करने वाली एंग्लो-जर्मन घोषणा भी थी, गोडेसबर्ग के ज्ञापन की शर्तें कुछ दृष्टियों से परिवर्तित कराने में कुछ सफलता मिली। हिटलर को अपना सैनिक आधिपत्य करने की इजाज़त दे दी गई, पर वह जर्मनी को दिये जाने वाले सारे क्षेत्र पर एक साथ १ अक्तूबर को किये जाने के बजाय १ और १० अक्तूबर के मध्य पाँच किश्तों में किया जाना था। पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि चैकों को दम लेने का जो समय दिया गया, वह सारतः पहले से अधिक नहीं था—अब वह २९ सितम्बर से १० अक्तूबर तक था और पहले २३ सितम्बर (गोडेसबर्ग स्मृतिपत्र की तिथि) और १ अक्तूबर के मध्य था और कुछ आधिपत्य बहुत थोड़ी सूचना पर हो गया। जर्मन आधिपत्य की अन्तिम रेखा एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा तय की जानी थी, हिटलर के नक्शे द्वारा नहीं, पर इस आयोग में दो धुरी शक्तियों (Axis Powers) के प्रतिनिधि थे, ब्रिटेन और फ्रांस के प्रतिनिधि थे, जिनका चैकोस्लोवाक हितों की रक्षा का संकल्प विशेष सिद्ध नहीं हुआ था, और स्वयं चैकोस्लोवाकिया का प्रतिनिधि था, जो अपने पक्ष में अकेला ही था। इन परिस्थितियों में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि फ्यूहरर ने जो सीमा माँगी थी और आयोग ने जो सीमा तय की वे इतनी मिलती-जुलती हैं कि अंतर आसानी से पता नहीं चलता। इस शर्त को कि यह प्रदेश अपनी मौजूदा अवस्था में ही सौंपा जाय, इस सीमा तक परिवर्तित कर दिया गया कि यदि मालिकों को समय या अवसर मिले तो वे खाद्यान्न, मवेशी या कच्चा सामान हटा सकेंगे। मतसंग्रह के क्षेत्र के लिए अधिक युक्तियुक्त शर्तें तय हो गई थीं, यद्यपि मतसंग्रह करने का विचार तुरन्त ही त्याग दिया गया था। अन्ततः, समझौते में हस्तांतरित क्षेत्र में आने, या इससे निकल जाने के विकल्पाधिकार और आबादियों के विनिमय का उपबन्ध किया गया था। पर कुल मिलाकर गोडेसबर्ग स्मृतिपत्र से उतना अंतर नहीं था जितना शुरू की एंग्लो-फ्रेंच प्रस्थापनाओं में मालूम पड़ता था।

फ्रांस और ब्रिटेन की सरकारों ने चैकोस्लोवाकिया के नये सीमान्तों की अप्रकोपित आक्रमण के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय गारन्टी देने के लिए अपनी रज़ामन्दी फिर दुहराई। जर्मनी और इटली ने भी पोलिश और हंगेरियन अल्पसंख्यकों का प्रश्न हल हो जाने के बाद, उसमें शामिल होने का दिखावा किया। इसी बीच पोलों ने आक्रमण की सफल धमकी द्वारा टेसचेन (Teschen) पर अधिकार कर लिया और किसी देश

ने उसमें बाधा नहीं डाली। हंगरी ने उसी समय, अधिक शिष्ट रीति से, संशोधन के सम्बन्ध में बहुत से दावे पेश किये। यह संभव नहीं दिखायी देता था कि चैकोस्लोवाकिया का छिन्न-भिन्न अवशेष किसी आक्रान्ता के लिए ऐसा प्रलोभन होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय गारन्टी का उपयोग करना पड़े।

अपने त्याग के अभिज्ञान के रूप में चैकोस्लोवाकिया ने ऋण की माँग की, और ब्रिटेन ने तुरन्त १ करोड़ पौंड ऋण प्रस्तुत कर दिया। इस देश से और अधिक के लिए कहना तो तर्कसंगत न होता पर म्यूनिख की शर्तों से जो हानियाँ हुई, वे अपरिमेय रूप से भारी थीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि चेम्बरलेन और दलादिये ने शान्ति की रक्षा के लिए जो पग उठाये, वे उनके देश में लोकमत की प्रबल भावना से मेल खाते थे। अधिकतर लोकमत, कम से कम उस समय, संभाव्यत: *टाइम्स* के इस विचार का पोषक था कि 'रणक्षेत्र से विजय करके घर लौटने वाले किसी विजेता ने इतना कीर्ति का कार्य नहीं किया जितना कल म्यूनिख से लौटे चैम्बरलेन ने किया है।' तथ्यत: चैकोस्लोवाक राज्य को छोड़कर जिसकी कुर्बानी की परिणति उसके राष्ट्रपति डाक्टर बेनेस (Dr. Benes) के त्यागपत्र से हुई और सब पक्षों को संतुष्ट होने के लिए ठोस आधार थे। मुसोलिनी को यह प्रसन्नता हुई कि योरोप के मामले का नियमन उनकी चिरवाँछित चार देशीय संधि (Four Power Pact) द्वारा हुआ। जहाँ तक हिटलर का सम्बन्ध है, यदि उनका अन्त:करण उन्हें उनके १३ मार्च के इस आश्वासन की स्मृति से न कुरेदता हो कि चैकोस्लोवाकिया की अखण्डता के विरुद्ध मेरा कोई दुरुद्देश्य नहीं है तो वे उस समय जोखिम की ठीक-ठीक जाँच करने में शानदार सफलता प्राप्त करने पर अपने को बधाई दे सकते थे, जब एक बार फिर एक शनिवार को उनकी सेनाएँ बिना प्रतिरोध के जर्मन राज्य क्षेत्र के एक विस्तार-क्षेत्र में मार्च कर रही थीं।[1]

---

१. उस समय स्थिति का आशावादी निदान, जो व्यापक रूप से फैला हुआ था, वास्तविकता से कितनी दूर था, यह बात अब नूरेम्बर्ग मुक़दमे में हिटलर की वे बातें प्रकाश में आने के बाद स्पष्ट हो गई हैं, जो उसने २३ नवम्बर १९३९ को एक गुप्त बैठक में अपने सर्वोच्च सेनापतियों से कही थी।

'मुझे शुरू से यह बात स्पष्ट थी कि मुझे सुडेटन जर्मन प्रदेश से संतुष्ट नहीं किया जा सकता। वह तो एक आंशिक हल था। बोहेमिया में मार्च करने का फैसला किया गया था। इसके बाद प्रोटैक्टोरेट (Protectorate) या संरक्षित देश का निर्माण आया और उसके साथ पोलैण्ड के विरुद्ध, कार्यवाही करने का आधार बन गया।'

चैकोस्लोवाकिया की स्थिति की वास्तविकताओं पर नूरेम्बर्ग फैसले के निम्नलिखित संदर्भ से और अधिक प्रकाश पड़ता है (१९४६ का cmd ६९६४, पृष्ठ २०):

'२८ मई १९३८ को हिटलर ने आदेश दिया कि चैकोस्लोवाकिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही के लिए तैयारियाँ की जायें। ३० मई १९३८ को हिटलर द्वारा हस्ताक्षरित एक आदेश में उसका निकट भविष्य में सैनिक कार्यवाही द्वारा चैकोस्लोवाकिया को ध्वस्त करने का अपरिवर्तनीय निश्चय घोषित किया गया था।'

(शेष पृष्ठ ४०३ पर)

(पृष्ठ ४०२ का शेष)

इस स्थिति की एक विशेषता, जो उस समय नहीं अनुभव की गई, वह निराशा थी, जो इस नीति की सम्भावनाओं के बारे में उच्चतम सैनिक अधिकारियों में मौजूद थी। खासकर, जनरल स्टाफ के अध्यक्ष जनरल बेक (General Beck) ने जुलाई में तैयार किये गये ज्ञापन (memorandum) में यह अनुरोध किया था कि हिटलर को 'उन तैयारियों से रोका जाना चाहिए जो उसने युद्ध के लिए करने का आदेश दिया है···इस समय मैं इसे निराशाजनक समझता हूं और यही विचार मेरे सब क्वार्टर-मास्टर-जनरलों और जनरल स्टाफ के विभागाध्यक्षों का है जिन पर चैकोस्लोवाकिया के विरुद्ध युद्ध की तैयारी और संचालन का भार पड़ेगा।'

: २६ :

शान्ति का अंतिम वर्ष

(The Last Year of Peace)

प्रसादन को नीति

(The Policy of Appeasement)

'प्रसादन' की नीति का, जिसकी चरम और अंतिम अभिव्यक्ति म्यूनिख (Munich) में हुई, अर्थ घटनाओं के प्रकाश में इतना बदल गया है कि विद्यार्थी के लिए उन कारणों को उचित रूप से समझने का गम्भीर यत्न करना और भी आवश्यक है जिन्होने इसे जन्म दिया। उसे समझ लेना चाहिए कि यह चाहे सही थी या ग़लत, पर यह एक सुनिश्चित और विमर्शित नीति थी और ब्रिटिश युद्ध-तैयारियों की अपर्याप्तता से जनित छलमात्र न थी, जैसा कि म्यूनिख समझौते के कुछ समर्थकों ने बाद में प्रतिपादित किया है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि यह स्पष्टीकरण चैम्बरलेन के गैर-सरकारी समर्थकों को इतना अधिक भा गया। यदि उनका कथन सत्य होता, जिसकी जानकारी प्राप्त करने का उनमें से अधिकतर के पास कोई परिशुद्ध साधन नहीं था, तो यह उस सरकार के पक्ष में कोई सफाई नहीं थी जो उस सारे समय, बल्कि उससे भी अधिक काल तक, जिसमें जर्मनी अपना शस्त्रबल व्यवहारतः निरन्तर आगे बढ़ा रहा था, स्थिर रूप से पदारूढ़ थी। पर तथ्यतः १९३८ में ब्रिटिश सेना की स्थिति चाहे जो रही हो, अपनाई गई नीति का निर्णायक आधार उसकी दुर्बलता नहीं हो सकता था। यह स्पष्ट है कि गोडेसबर्ग की बैठक के बाद ब्रिटेन लड़ाई की आशा कर रहा था और यदि हिटलर अपने इस समय के रुख को परिवर्तित न करता तो ब्रिटेन निश्चित रूप से लड़ने के लिए वचन-बद्ध हो चुका था। इसने शान्ति या युद्ध के प्रश्न को हमारे काबू से बाहर कर दिया था, और यह विश्वास करना कठिन है कि यदि सरकार अपने को लड़ने के लिए सर्वथा असज्ज समझती तो वह अपने आप को ऐसी स्थिति में आने देती। इसके अलावा, यह संदिग्ध है कि जिन सेनाओं ने अन्त में १९३९ में युद्ध-क्षेत्र में जर्मनी के विरुद्ध कदम बढ़ाया—यद्यपि ब्रिटेन की शक्ति में कुछ वृद्धि की गई थी—वे उनकी अपेक्षा अधिक प्रबल थीं जो म्यूनिख के समय उपलब्ध थीं, जब उनमें न केवल चैकोस्लोवाकिया के ३० से ४० तक सुसज्जित डिवीजन बल्कि सोवियत संघ के घोषित अभिप्राय के अनुसार उसकी शक्ति भी समाविष्ट होती।

श्री चैम्बरलेन से न्याय करने के लिए यह कहना उचित होगा कि उनका प्रेरक भाव सर्वथा भिन्न था। वार्ता के सारे घटनाक्रम से पता चलता है कि वे समझौते की शर्तों के बारे में अपेक्षया उदासीन होते हुए भी इस बात पर दृढ़-संकल्प थे कि

समझौता बातचीत के जरिये हो, नग्न बल के सामने झुकने के रूप में नहीं। वे समझते थे कि इसमें उन्हें म्यूनिख में सफलता हुई है। उनकी नीति का वास्तविक रहस्य, उनके बार-बार किये गये इस आग्रह में था कि पहले तय सिद्धान्तों का व्यवस्थित रीति से और बल की धमकी बिना दिये पालन किया जाये। योरोप की महाशक्तियाँ (Great Powers) आपस में बातचीत द्वारा अपने मतभेदों को दूर करें, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए श्री चैम्बरलेन बहुत ऊंची कीमत भी अदा करने के लिए तैयार थे। यदि अति प्रबल सैनिक शक्ति भी उनके अनन्य अधिकार में होती तो जो नीति उन्होंने अपनाई वह सम्भाव्यत: इसी प्रकार होती, यद्यपि उस समय वे निस्संदेह अधिक शक्ति लेकर सौदा करते। अपनी सारी पदावधि में मार्च १९३९ तक उन्होंने अटल ईमानदारी के साथ परस्पर सुसंगत नीति मार्ग अपनाया, चाहे फिर वह गलत ही था। वे एक ऐसे व्यक्ति थे जो राजनैतिक अवसरवादिता से विशेष रूप से मुक्त थे और जिस मार्ग को उन्होंने अपनाया था, उसके सही होने के बारे में उन्हें निस्संदेह पूर्ण निश्चय था।

वह मार्ग राष्ट्र संघ की प्रणाली के भंग हो जाने पर फिर महान् योरोपीय शक्तियों की संविधा (Concert of the Great European Powers) के पहले वाले विकल्प पर लौटने से उत्पन्न होने वाली वास्तविक 'अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता' (International Anarchy) से बचने का एक प्रयत्न था : यह सत्य है कि यदि अधिनायक वैसे ही कपटी और अविश्वसनीय थे जैसाकि श्री चैम्बरलेन के विरोधी उन्हें समझते थे, या उनकी आकांक्षाएँ वैसी ही असीमित थीं जेसा संदेह किया जाता था, तो यह विकल्प भी, दूसरे विकल्प की तरह, अब उपयोग में नहीं आ सकता था। पर उस उपकल्पना पर ये निराश-पूर्ण विकल्प ही सामने प्रतीत होते थे : अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का जारी रहना जिसकी परिणति युद्ध के रूप में हो या फौरन युद्ध की सम्भावना। श्री चैम्बरलेन का मन जिसे वे 'युद्ध की अनिवार्यता की यह सूखी और शुष्क नीति' कहते थे, उससे विद्रोह करता था। वे इस धारणा पर, जिसके इंग्लैण्ड में बहुत से और प्रसद्धि व्यक्ति समर्थक थे, चलना पसंद करते थे कि हिटलर और मुसोलिनी दोनों की आकाक्षाएँ कुछ सीमित शिकायतों के निराकरण तक सीमित हैं, और यदि वे शिकायतें दूर कर दी जायें तो उन्हें परम्परागत रीति से सम्मेलन के रूप में बातचीत करने को मनाया जा सकता है, और इस प्रकार योरोप का एक व्यापक और शान्तिपूर्ण निबटारा हो सकता हैं। परिणामत:, उन्होंने जो नीति अपनाई वह, यदि उस निदान को सही माना जाए जिस पर वह आधारित थी, तो, मोटे तौर से अनाक्षेप्य थी, और स्थिति निश्चित रूप से ऐसी थी कि इस तरह का यत्न करना उचित था बशर्ते कि युद्ध की स्पष्ट संभाव्यता को देखते हुए महत्त्वपूर्ण सामरिक स्थान एक दूसरे के बाद शत्रु को समर्पित न कर दिये जाय, या राष्ट्र का गौरव और सम्मान खतरे में न डाल दिया जाए। तथ्यत: 'प्रसादन' की नीति अपने सिद्धान्तों की दृष्टि से इतनी आलोचना का पात्र नहीं थी, बल्कि अपने निदान और अपने उपयोग की दृष्टि से उसने ऐसी आलोचना चैकोस्लोवाकियन निबटारे के बाद निश्चित रूप से पैदा कर दी थी।

इंग्लैण्ड म्यूनिख के बाद
(England after Munich)

उस स्वाभाविक पर शायद जरा असंयत उत्साह-प्रकाशन के बाद, जिससे ब्रिटेन में म्यूनिख समझौते से मिले अनेपक्षित आराम का स्वागत किया गया था, लोकमत स्पष्टत: और कटुतापूर्ण रूप से भी विभाजित हो गया। जहाँ कहीं दो या तीन आदमी जमा होते, वहाँ इस समझौते के गुण-दोषों की विवेचना होनी निश्चित थी, और पुरानी मैत्रियों में इतना तनाव आ गया और दलीय निष्ठा के बहुत देर से चले आते हुए सम्बन्ध इतनी दूर तक टूट गए जितना इस देश में कभी नहीं देखा गया था। बहुत बड़ा बहुमत अब भी समझौते को उचित समझता था, यद्यपि प्रतिरक्षा की तैयारियाँ बढ़ाने की आवश्यकता व्यापक रूप से स्वीकार की जाती थी, और यद्यपि उन व्यक्तियों की संख्या अब भी बहुत थी जो इस समझौते का पूर्ण अनुमोदन करते थे, और इस के होने पर गर्व भी अनुभव करते थे, पर अब वह संख्या घटने लगी थी।

गुणात्मक दृष्टि से देखें तो म्यूनिख के आलोचक अधिक प्रभावोत्पादक थे। जनता जिन्हें मध्य-योरोप या दक्षिण-पश्चिमी योरोप की दशाओं के बारे में विशेषज्ञ मानने की अभ्यस्त हो गई थी—अखबारों के विदेशी संवाददाता और अन्य लेखक—अधिकतर उनकी श्रेणी में थे, और चैथम हाउस (Chatham House) के अधिकारियों को, जो हमेशा की तरह अपनी बात चीत में उचित संतुलन बनाये रखने का यत्न करते थे, सरकारी नीति का प्रभावी गैर-सरकारी समर्थन प्राप्त करने में प्राय: असाध्य कठिनाई हुई। म्यूनिख समझौते (Munich Settlement) के बारे में ब्रिटिश लोकसभा में हुए विवाद में नियमित विरोधी दल के सदस्यों के अलावा डफ़ कूपर, जिन्होंने नौ-सैना मन्त्री के अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया, चर्चिल, ईडन, लार्ड क्रेनबोर्न, एमरी और हेरल्ड निकल्सन भी आलोचकों में थे। पर इन नामों की उन के नामों के साथ तुलना करना जिन्होंने समझौते का पक्षपोषण किया था, उचित नहीं होगा।

असंतुष्ट अल्पमत संख्या में कम होते हुए भी अधिक विश्वास और निश्चय से पूर्ण था। मामले की प्रकृति से ही म्यूनिख समझौते के समर्थक बहुत अनिश्चित आधार पर थे और उन्हें अधिकांशत: सफाई पेश करने का रवैय्या अपनाना पड़ा। हिटलर के लाभ स्पष्ट थे और चैकोस्लोवाकिया की कुरबानी एक अखण्डनीय तथ्य था, पर चैम्बरलेन का यह दावा कि हमने 'अपने जमाने के लिए' शान्ति प्राप्त कर ली है, वैयक्तिक राय का मामला रहा जिसे भविष्य ही पुष्ट या खण्डित कर सकता था। सच तो यह है कि ब्रिटिश लोक सभा में प्रधान मन्त्री ने प्राय: तुरन्त अपने भविष्य कथन की आशावादिता को यह कह कर कि 'हमने शान्ति की सिर्फ नींव रखी है, ऊपरी ढाँचा अभी आरम्भ भी नहीं हुआ', और राष्ट्रीय पुन:शस्त्रीकरण को तीव्र करने का अनुरोध करके मर्यादित कर दिया। उनकी नीति के सबसे अधिक समर्थक सर जान साइमन और भी कम निश्चयात्मक थे।

(आपने कहा था) यह आगे का इतिहास ही फैसला कर सकता है कि पिछले दिन म्यूनिख में की गई चीजें हमें शुभ परिणाम पर पहुँचायेंगी, जैसा कि इस सदन के सब सदस्य आशा करते हैं कि वह पहुंचायेंगी, या बुराई बढने की आशंकाएं उचित सिद्ध होंगी,

और अंत में आपने लोक सभा से शैली के शब्दों में यह अनुरोध किया।

तब तक आशा करो जब तक आशा जन्म दे

अपने ही ध्वंसावशेष से अपनी अभिलषित वस्तु को[1]—यह ऐसा उद्धरण है, जो विश्वास के लिए बहुत दृढ़ आधार प्रस्तुत करता नहीं प्रतीत होता। दूसरी ओर श्री चर्चिल ने स्थिति को 'अत्यधिक विनाशकारी' बताया और असल में तो पूर्वज्ञान से जो उस समय बहुत थोड़े लोग ठीक मानते थे, यह भविष्यवाणी की : मैं समझता हूँ कि कुछ ही समय में, जो वर्षों के रूप मे भी हो सकता है, पर सिर्फ महीनों से भी माना जा सकता है, आप चैकोस्लोवाकिया को नाजी शासन की भंवर में फँसा हुआ देखेंगे ?

श्री एमरी ने कहा कि यह निपटारा 'बिल्कुल नग्न बल की विजय को निरूपित करता है' जो इतिहास में 'आक्रामक सैनिकवाद द्वारा प्राप्त की गई सबसे बड़ी—और सबसे सस्ती विजय के रूप में याद किया जाएगा। संसद् के बाहर भी आलोचक इस सामरिक पराजय पर उतना ही बल दे रहे थे, और इस प्रश्न के नैतिक पहलुओं को और भी अधिक महत्त्व दे रहे थे। उनका रुख प्रोफेसर टायन्बी की इस उक्ति में स्पष्ट हो सकता है 'अब तक हमारे सब शान्ति पदक दूसरे लोगों के सिक्के से बनाए गये हैं।' उस समय योग्य पत्रकार प्रेक्षकों द्वारा प्रकाशित दो पुस्तकों—श्री गेडी की *फालनबैश्चन्स* (*Fallen Bastions*) और श्री डगलस रीड की *डिसग्रेस एबाउंडिंग* (*Disgrace Abounding*) (अत्यधिक अप्रतिष्ठा)—के नामों में क्रमशः सामरिक और नैतिक आलोचना का दृष्टिकोण प्रकट होता था।

इस बीच हिटलर ने इस बात के लिए कोई यत्न नहीं किया कि उनके अपने इरादों या ब्रिटिश नीति के बारे में अनुकूल विचारों को प्रोत्साहन मिले। 'प्रसादकों' (appeasors) ने उनका जो रूप पेश किया था, उसके अनुसार चलने की उन्होंने जरा भी तकलीफ़ नहीं उठाई। उनकी कठोर आवाज़ इंग्लैण्ड और उसके नेताओं को धमकियाँ और अपमान-वचन कहती रही, और श्री चैम्बरलेन इधर यह कहते थे कि यह निपटारा बल-प्रयोग के बजाय बातचीत के प्रयोग का उदाहरण है, पर उधर हिटलर और अखबार, जो उनके नियन्त्रण में थे, बिल्कुल उल्टी बात कहते थे। फ्यूहरर के 'चैम्बरलेन से कहे गये इन वचनों का ज़रा भी विश्वास नहीं किया जा सकता था कि चैकोस्लोवाकिया के जर्मन ज़िलों की प्राप्ति योरोप में उसके प्रादेशिक दावों का अन्त है' क्योंकि ठीक यही आश्वासन इन्हीं शब्दों में उन्होंने पहले एक और प्रसंग में दिया था जिसे उन्होंने अपने बाद के कार्य से झूठा सिद्ध कर दिया था। किसी परिहास-लेखक ने कहा था कि यह पदावली हिटलर के मकबरे पर खोदनी उचित होगी, जहाँ यह पहली बार सत्य-पूर्ण कथन होगी। परिणामतः वे कटु मतभेद, जो भूतकाल की

---

1. To hope till Hope creates
From its own wreck the thing it contemplates.

नीति के विषय में निस्सन्देह मौजूद थे; अपेक्षया महत्त्वहीन हो गए क्योंकि निकट भविष्य के लिए निर्धारित मार्ग के बारे में पूर्ण मतैक्य था—कि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं पर सावधानी और चुस्ती से ध्यान दिया जाए। उस समय के लोकमत की अवस्था १२ अक्तूबर १९३८ के *पंच* (*Punch*) के एक कार्टून में अच्छी तरह प्रतिबिम्बित होती है जिसमें एक बच्चा रेलवे स्टेशन की दीवार पर बहुत सारे सैनिक भर्ती संबंधी पोस्टर अपने पिता को दिखा कर यह पूछ रहा है : 'पिताजी इस *महान् शान्ति* में आप क्या कार्य करने वाले हैं ?' अखबार के उसी अंक में एक कवि ने यही विचार प्रस्तुत किया है :

यह शान्ति है !
गैस मास्क बाँटे जा रहे हैं।
यह शान्ति है !
सौ लाख पौण्ड दिये गए हैं
हमने हर एक के बगीचे में पचासों खाइयाँ खोद ली हैं
हमने बिना आपकी इजाज़त के भूगर्भ निवास कर लिया है
पिता बैलून का पहरेदार है, माता हवाई हमले की वार्डन है
यह शान्ति है ! यह शान्ति है !

फिर आशा बढ़ी
(Resurgence of Optimism)

पर शेष जाड़ों कुछ चैन रहा। २२ अक्तूबर को डाक्टर गोएबल्स द्वारा दिये गये भाषण के सरल और ज्ञानवर्धक रूपक के शब्दों में शाखाअजगर' (पेड़ पर लटकने वाला अजगर) को नये आहार से पहले पिछला सारा आहार पचा लेना आवश्यक है। सच तो यह है कि नाज़ियों के विरुद्ध भावना उस संगठित सामी-विरोध (एंटी-सेमीटिज़्म) से, जो पेरिस-स्थित जर्मन दूतावास के तृतीय सचिव की ७ नवम्बर को एक गुमराह तरुण यहूदी शरणार्थी के हाथों मृत्यु के बाद आरम्भ हुआ, प्रकुपित हो गई थी। तीन दिन बाद जर्मनी के अधिकतर बड़े शहरों में यहूदी सम्पत्ति पर हमले शुरू हो गए जो ऐसे एक साथ हुए कि स्वयं-स्फूर्तता का दिखावा भी नहीं रहा, और यद्यपि सरकारी तौर पर इनकी निन्दा की गई पर निर्दोष पीड़ितों पर तुरन्त कठोरतम निर्योग्यताएँ (disabilities) और शास्तियाँ (penalties) लाद दी गईं, जिनमें सारी यहूदी जाति पर सामूहिक रूप से लादा गया महाशंख मार्क (billion marks) का एक जुर्माना भी था। उसी समय, इधर दंगाई तो बिना दण्ड पाये घूमते रहे और सारे राष्ट्र में यहूदियों की व्यापक गिरफ्तारियाँ की गईं जिनकी संख्या एक विश्वसनीय तखमीने के अनुसार ३५,००० थी।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर पहला मेघ ३० नवम्बर को इटली से आया, जर्मनी से नहीं, और वह तब दिखायी दिया जब इटालियन चैम्बर में काउन्ट चियानो के, और दृष्टियों से अनुत्तेजक, भाषण के इन शब्दों 'इटालियन जनता के हित और स्वाभाविक आकांक्षाएँ' का स्वागत ट्यूनिस ! नाइस ! कोर्सिका !' की आवाज़ों से

किया गया। सर्वाधिकारवादी अनुशासन के अधीन राज्य में ऐसा प्रदर्शन संदेह पैदा करने वाला था और इसके बाद फासिस्ट अखबारों में एक आन्दोलन शुरू हो गया, जिसने इन घटनाओं से उत्पन्न आशंकाओं की बहुत कुछ पुष्टि कर दी। पर यह मेघ इतना हल्का रहा कि श्री चैम्बरलेन और लार्ड हैलीफेक्स ११ जनवरी को इटली का सरकारी दौरा कर सके, और वर्ष के अन्त में सबसे अधिक सम्भाव्य खतरे का स्थान यूक्रेन प्रतीत होता था, जिसके पोलिश और कारपेथियन जिलों में स्वायत्ततावादी आन्दोलन जर्मनी द्वारा भड़काया हुआ और संचालित प्रतीत होता था। मेमेल में दिसम्बर में हुए चुनावों ने भी, जिनके साथ राइख में वापस लौटने की मांग करने वाले प्रदर्शन हुए और जिन्होंने नाजी जर्मन दल को प्रबल बहुमत में सत्तारूढ़ कर दिया, अस्थायी रूप से कुछ देर चिन्ता पैदा की, पर फिलहाल उनसे कोई गम्भीर घटनाएँ नहीं हुईं। ६ दिसम्बर को पेरिस में उसी तरह की एक फ्रांको-जर्मन घोषणा पर हस्ताक्षर होने से, जैसी पर चैम्बरलेन और हिटलर ने म्यूनिख में हस्ताक्षर किये थे, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण हल्का दिखाई देने लगा।

स्पेनिश गृह-युद्ध के शीघ्र समाप्त होने की सम्भावना से नव वर्ष की आशाएँ और बढ़ीं। २६ जनवरी को बारसीलोना का जनरल फ्राँको की सेनाओं के सामने आत्मसमर्पण बहुत से विरोधी नेताओं के प्राय: अविलम्ब फ्रांस भाग जाने के लिए संकेत था। फरवरी के अन्त तक यह काफी निश्चित था कि ब्रिटेन और फ्रांस विजेता सरकार को अभिज्ञात कर लेंगे। इसके बाद दिलचस्पी इतनी कम हो गई कि अधिक उत्तेजक घटनाओं के मध्य, जो उस समय अन्य स्थानों की ओर ध्यान खींच रही थीं, मार्च के अन्त में युद्ध की वास्तविक समाप्ति पर किसी ने ध्यान ही न दिया।

इन परिस्थितियों में १९३९ के पहले दो महीनों में एक अधिक आशावादी भावना दिखाई पड़ती थी, और ३० जनवरी को राइखस्टैग (Reichstag) में दिये गये अपने भाषण में श्री हिटलर ने दीर्घकालीन शान्ति में अपना जो विश्वास प्रकट किया, उसके सामने बहुत से क्षेत्रों में अन्य संदर्भों के विद्वेषपूर्ण स्वर को सर्वथा उपेक्षणीय माना गया। वर्ष के अन्त से पहले ही जो कुछ होने वाला था, उसे देखते हुए, फ्यूहरर की इस अवसर पर पोलैण्ड के साथ की गई अपनी अनाक्रमण संधि (Non-aggression Pact) की चर्चा उल्लेखनीय है :

> इस समझौते के महत्व के बारे में शान्ति के सच्चे मित्रों में कोई मतभेद नहीं हो सकता। हमें अपने से सिर्फ यह पूछने की जरूरत है कि यदि यह समझौता, जिससे इतना आराम मिला, पाँच वर्ष पहले न किया गया होता तो योरोप का क्या हाल हुआ होता। इस पर हस्ताक्षर करके महान् पोलिश मार्शल और देशभक्त ने अपनी जनता की उतनी ही महान् सेवा की है जितनी नेशनल सोशलिस्ट राज्य के नेताओं ने जर्मन जनता की की है। पिछले वर्ष के चिन्ताजनक महीनों में जर्मनी और पोलैण्ड की यह मैत्री योरोप के राजनैतिक जीवन में निश्चिन्तता पैदा करने वाली एक चीज थी।

मार्च के अन्तिम दिनों में आशावाद की यह भावना तब अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गई, जब ब्रिटिश व्यापार मन्त्री, समुद्र-पार व्यापार विभाग के सचिव और ब्रिटिश उद्योगसंघ के प्रतिनिधियों की आगामी जर्मनी-यात्राओं का ऐलान किया

गया, जिनसे वित्तीय वार्त्ताओं का सूत्रपात होना था। १० मार्च को गृहमन्त्री सर सेमुअल होर ने, जिन्होंने पहले चिन्ता प्रकट करने वाले लोगों की निन्दा की थी एक भाषण दिया जिसमें यह संकेत था कि महान् योरोपीय शक्तियों के मैत्रीपूर्ण सहयोग के परिणाम-स्वरूप फिर निरस्त्रीकरण और 'स्वर्णयुग' आ सकेगा। उच्च क्षेत्रों में व्याप्त आशापूर्णता के इन चिह्नों से भ्रम में पड़कर पंच (Punch) ने एक बार एक ऐसा कार्टून प्रकाशित करके अपने को ही हंसी का पात्र बना दिया, जिसे घटनाओं ने अधिकतम अनुपयुक्त कार्टून सिद्ध कर दिया। इसका अशुभसूचक शीर्षक था '१५वीं मार्च' इसमें चिन्तामुक्त जॉन बुल (John Bull)[1] दिखाया गया था, जो जागते हुए युद्ध की विभीषिका के भयंकर स्वप्न-चित्र को अपनी खिड़की में से उड़कर बाहर जाते देख रहा था और कह रहा था 'ईश्वर का धन्यवाद है कि यह चला गया।' चित्र के नीचे यह तथ्य लिखा गया था कि निराशावादियों ने मार्च के मध्य में एक और बड़ा संकट पैदा होने की भविष्यवाणी की थी। यह १५ मार्च को प्रकाशित किया गया था, जो दुर्भाग्यपूर्ण संयोग से अन्तर्राष्ट्रीय दुःखोपाख्यान कि वह आगामी घटना तिथि थी जिसके लिए परिस्थितियाँ इस बीच तैयार हो गईं।

चैकोस्लोवाकिया का नाश

(The Destruction of Czechoslovakia)

चैकोस्लोवाक गणराज्य का जो अंश बचा था, उसकी रक्षा में सब तत्त्वों का समर्थन प्राप्त करने का भरसक यत्न करते हुए अक्तूबर १९३८ के शुरू में पृथक्तावादी भावना को एक बड़ी रियायत देने का वचन दिया गया था, १९ नवम्बर को पास किये गये विधान द्वारा चैकोस्लोवाकिया को एक संघ-राज्य में परिवर्त्तित कर दिया गया था, जिसमें स्लोवाकिया और रूथीनिया की विधान सभाओं को पूर्ण स्वायत्तता थी, पर विदेश नीति, प्रतिरक्षा और राष्ट्रीय हित तथा उपयोग के अन्य मामले केन्द्रीय संसद् के हाथों में थे, और स्लोवाकिया तथा रूथीनिया के प्रधानमंत्री गणराज्य के राष्ट्रपति द्वारा नामजद किये जाते थे। इन रियायतों के बावजूद प्रागस्थित केन्द्रीय सरकार, और इसके पूर्व में विद्यमान दोनों इकाइयों के मध्य तनाव बढ़ता रहा, जिसमें जर्मनी का हाथ स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। रूथीनिया में पृथक्तावादी यूक्रेनियन प्रचार जर्मन सहायता और अनुमोदन से किया जाता था और स्लोवाक प्रधानमन्त्री फादर टीसो (Father Tiso) नये संविधान की अवहेलना करके राइख तथा अन्य विदेशी सरकारों से पृथक् सम्पर्क द्वारा स्वतन्त्र विदेश नीति बनाये रहा।

९ मार्च को एक गम्भीर संकट पैदा हो गया। स्लोवाक सरकार ने प्राग को व्यवहारतः अल्टीमेटम (ultimatum) दिया जिसमें उन्होंने गणराज्य के प्रति निष्ठा की घोषणा करने से इंकार किया और एक ऋण, एक स्वतन्त्र स्लोवाक सेना के निर्माण और पृथक् राजनयिक प्रतिनिधान (diplomatic representation) की माँग की। इन शर्तों के स्वीकार न किये जाने पर यह संदेह किया जाता था कि वे स्लोवाकिया की पूर्ण स्वतन्त्रता की उद्घोषणा का विचार कर रहे थे। अगले दिन राष्ट्र-

१. अंग्रेजों के उपनाम।

पति हाचा (President Hacha) ने संघीय संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के अधीन कार्य करते हुए, और जैसा कि अब पता चल चुका है, बर्लिन के साथ परामर्श करने के बाद स्लोवाक प्रधान मन्त्री फादर टीसो और उसके अधिकतर मंत्रियों को बर्खास्त कर दिया, और बहुत से पृथक्तावादी नेताओं की गिरफ्तारी का आदेश दिया, और ब्रैटिस्लावा (Bratislava) तथा अन्य स्लोवाक नगरों में सैनिक विधि (Martial Law) उद्घोषित करके चैक सेनाएं भेज दीं। स्लोवाक सरकार के बर्खास्त सदस्यों में से एक डा० डर्खासंकी (Dr. Durcansky) बचकर वियेना भाग गया, जहाँ उसने जर्मन रेडियो स्टेशन से विरोधी भाषण शुरू किये।

११ मार्च को प्राग की ओर से सिडोर की अध्यक्षता में बनी नई स्लोवाक सरकार के साथ समझौता करने का यत्न किया गया, जिसके परिणामस्वरूप अगले दिन चैक सेनाएं वापिस बुला ली गयीं। पर १३ मार्च को फादर टीसो बचकर जर्मनी भाग गया, जहाँ उसका हिटलर ने स्वागत किया। उसी समय बहुत सारे जर्मन सैनिक सीमांत के निकट जमा हो गये, और अगले दिन सरकारी तौर पर यह ऐलान किया गया कि उन्होंने सीमांत पार करके उत्तर में मोरावस्का ओस्ट्रावा, विटकोविस, और फ्राइडैक पर तथा मोराविया की राजधानी बर्नो पर कब्जा कर लिया। इस बीच फादर टीसो वापस आ गया। उसने फिर सत्ता सम्भाली, और विधान सभा में स्लोवाक स्वाधीनता की घोषणा पास करा ली। जैसा कि लार्ड हैलीफैक्स ने २० मार्च को लार्ड सभा में इस मामले का नैपुण्यपूर्ण सारांश प्रस्तुत करते हुए कहा था, यह 'मानना असंभव था कि कुछ स्लोवाक नेताओं का प्राग से सम्बन्ध विच्छेद करने का आकस्मिक निश्चय, जिसके फौरन बाद उन्होंने जर्मन राइख से रक्षा के लिए अपील कर दी, बाहरी प्रभाव के बिना किया गया था।'

इस विषम परिस्थिति में चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति हाचा हिटलर से प्रार्थना करने के लिए बर्लिन गए। हिटलर ने १५ ता० को रात के १ बज कर दस मि० पर उनका स्वागत किया और उनसे इस आशय का एक प्रलेख लिखा लिया कि वे अपने देश को जर्मन राइख के संरक्षण में रख रहे हैं। इस तरह चैक प्रदेश पर आक्रमण जो पहले ही शुरू हो गया था ज़रा छिप सा गया। ९ बजे सुबह तक प्राग पर अधिकार हो गया। इसी दिन फादर टीसो ने भी जो हिटलर से मिला हुआ था स्लोवाकिया को जर्मनी के संरक्षण में रखने के लिए कहा। उसकी भी बात मान ली गई। हिटलर तुरन्त प्राग पहुँच गया, जहाँ वह रात को इतिहास-प्रसिद्ध टैडकैनी प्रासाद में सोया और अगले दिन उसने एक औपचारिक उद्घोषणा जारी करके तब लाचार गणराज्य के विरुद्ध अपना नया आक्रमण कार्य पूरा कर दिया। इसमें उसने यह कहने के बाद कि बोहेमिया और मोरेविया हज़ारों वर्ष से जर्मन लेबेन्सरम (निवास क्षेत्र) का हिस्सा रहे हैं, इन प्रदेशों को संरक्षित प्रदेश बना लिया जो आगे से राइख के राज्यक्षेत्र का हिस्सा घोषित किये गए। गैस्टापो (गुप्त पुलिस) ने तुरन्त अपना कार्य शुरू कर दिया और उनके पकड़े हुए लोगों के लिए मिलोविरा में नजरबन्दी कैम्प स्थापित किया गया।

इस बीच चैकस्लोवाक राज्य का विघटन रूथीनिया के प्रति हंगेरियनों की कार्यवाही से पूर्ण हो गया—उन्होंने उस पर १५ और १६ मार्च को जबरदस्ती अधिकार कर लिया जिस पर जर्मनी ने कोई आपत्ति न की और इसे हंगरी में शामिल कर लिया।

ब्रिटिश नीति में आमूल परिवर्त्तन
(Revolution in British Policy)

इन आकस्मिक घटनाओं ने बड़ा भारी आघात पैदा किया। तथ्यत: यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि जो विचारधारा अब तक वार्त्ता द्वारा जर्मनी के साथ समझौता करने की शक्यता में विश्वास करती थी, वह रातोंरात बिल्कुल परिवर्त्तित हो गयी। चेम्बरलेन की आँखों से धुंधलापन दूर हो गया, और उन्होंने एक भाषण में जो उन्होंने १७ मार्च को बरमिंघम में दिया था, भावनाओं के व्यापक परिवर्त्तन को प्रकट किया था। हिटलर ने, जैसा कि आपने बताया, राइख में एक गैर-जर्मन जाति के लोगों को समाविष्ट करके अपने ही घोषित सिद्धान्तों का अतिक्रमण किया था। उसने स्पष्टत: अपने दावों की मात्रा और प्रकृति के बारे में म्यूनिख में दिये गए आश्वासनों का और अपने इस वचन का कि भविष्य में अन्य प्रश्नों पर ब्रिटेन के साथ परामर्श करके कार्य करेंगे, भंग किया था 'यह,' प्रधान मंत्री ने पूछा 'पुराने उपक्रम का अन्त है या नये का आरम्भ है ?···क्या ? यह तथ्यत: संसार पर बल-प्रयोग द्वारा अधिकार करने की दिशा में उठाया गया कदम है ?'

इन प्रश्नों के उत्तर संदिग्ध नहीं थे। इसलिए ब्रिटिश व्यापार मंत्री और विदेशी व्यापार विभाग के सचिव की बर्लिन यात्रा तो फौरन ही रद्द कर ही दी गयी। साथ ही इसके बाद से ब्रिटेन की सारी परराष्ट्र नीति में एक उग्र तथा क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो गया। तथ्यत: यह परिवर्त्तन इस साक्षात्कार को सूचित करता था कि शान्ति के दिन गिने हुए हैं, या कम से कम एकमात्र क्षीण आशा बल का बल ही से सामना करने में निहित थी, क्योंकि जर्मन फ्यूहरर एकमात्र बल की युक्ति को ही मानता था।

योरोप में ब्रिटेन की परम्परागत विदेश नीति, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इसी तरह सब से अधिक उपयोगी होती है कि वह निष्पक्ष रूप से मध्यस्थता करने के लिए अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखे और स्थायी बन्धनों से बची रहे। इस इतिहास के अन्तर्गत सारे काल में हमने देखा है कि हम पूर्वी योरोप के देशों के प्रति जिम्मेवारियाँ ग्रहण करने से सदा इंकार करते रहे, और सच तो यह है कि महाद्वीप पर अपनी सैनिक जिम्मेवारियाँ न्यूनतम रखने के लिए हम दृढ़-संकल्प थे। इसलिए, जब आगे के पृष्ठों में पाठक यह पढ़ेगा कि हम एक के बाद दूसरे पूर्वी योरोप के देश को सैनिक गारंटियाँ देते गये, तो शुरू में वह प्रतीयमान असंगतता से उलझन में पड़ सकता है। वह सोच सकता है कि यह तो ऐसा हुआ जैसे मानो कोई बीमा कम्पनी, जो अब तक किसी खास बस्ती के सब जोखिम लेने से इंकार करती रही थी, अब एकाएक

और ऐसे समय जब गम्भीर अग्निकाण्ड शुरू हो चुका है, उस बस्ती के हर एक मकान का बीमा शुरू कर दे। इस पहेली की व्याख्या यह है कि परम्परागत नीति सिर्फ़ तब तक उपयुक्त है जब तक वार्ता सम्भव है। युद्ध का खतरा सामने आने पर इंग्लैंड ने, अन्य किसी भी महाशक्ति की तरह, सदा यह यत्न किया है कि अपने सम्भावी विरोधी के सामने यथासम्भव बड़े से बड़ा संयोजन (combination) खड़ा कर दिया जाए। तथ्य तो यह है कि ब्रिटिश नीति में परिवर्त्तन की भविष्यवाणी श्री चैम्बरलेन ने ६ अक्तूबर १९३८ को म्यूनिख समझौते पर हुई बहस में पहले ही कर दी थी। अनिवार्य युद्ध की उपकल्पना पर, जिसे उन्होंने उस समाय अमान्य कर दिया था, उन्होंने यह स्वीकार किया था कि 'स्पष्टतः हमें उन शक्तियों के साथ सैनिक सन्धियाँ अवश्य करनी चाहियें जो हमारे साथ मिलकर चलने को तैयार हों।' इस प्रकार उन्होंने उस नीति में, जिसे वे शान्ति के उद्देश्य की ओर बढ़ने में इंग्लैण्ड के लिए उपयुक्त समझते थे, और उस नीति में जो युद्ध के अनिवार्य होने पर अपनाने के लिए वे उचित समझते थे, स्पष्ट अन्तर किया था। कुछ ही दिनों के भीतर पिछली धारणा की जो इस समय तक बहुत व्याप्त हो गई थी, सम्भाव्यता अत्यधिक बढ़ गयी।

मेमेल और रूमानिया
(Memel and Roumania)

२२ मार्च को कोव्नो-स्थित जर्मन दूत द्वारा दिये गए एक अल्टिमेटम पर लिथुआनियन सरकार ने मेमेल लैण्ड जर्मनी को सौंपने के समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये, और इस व्यवहार का वास्तविक रूप अगले दिन स्वयं फ़्यूहरर के सारे जर्मन युद्ध बेड़े के साथ मेमेल बन्दरगाह में आने से और अधिक स्पष्ट हो गया। २३ मार्च जर्मनी और रूमानिया के मध्य एक व्यापार समझौता होने से और भी उल्लेखनीय हो गयी। इस समझौते से बहुत कुछ यह पता चलता था कि राइख का जाल अब दक्षिणी-पूर्वी योरोप के एक और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को नियन्त्रित करने के लिए फैल रहा था। यह समझौता, सम्भाव्यतः समय से पहले प्रकट हो जाने पर जनता की प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप, उन सब लक्ष्यों को पूरा नहीं करता था जिस लक्ष्य को रखने का जर्मनी पर संदेह किया जाता था। तो भी इसने उस देश के आर्थिक जीवन पर अशुभ मात्रा तक जर्मन नियन्त्रण स्थापित कर दिया। खनिज सम्पत्ति का विदोहन, और विशेष रूप से रूमानिया के महत्वपूर्ण तेल का विदोहन मिली-जुली रूमानो-जर्मन कम्पनियों को सौंपा गया और यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया कि शुद्धतः देशज आबादी का कार्य फिर कृषि को अपनाना, और जन्मसिद्ध शासक जर्मन जाति के लिए अनाज पैदा करना था। यह ऐसा समझौता नहीं था जो अपने को वास्तव में स्वतन्त्र और स्वाधीन अनुभव करने वाले राष्ट्र द्वारा किया जा सकता हो।

पोलैंण्ड को गारण्टी
(The Guarantee to Poland)

जो कुछ अब तक हो चुका था, उसका अभिप्राय कितना भयंकर था, यह बात पूर्वी योरोप के नक्शे पर एक निगाह डालने से समझ में आ सकती है। मेमेल पर

अधिकार के बाद लिथुआनिया अपना एकमात्र बन्दरगाह राइख के नियंत्रण में देकर जर्मन अधीनता में आ गया। इसके पश्चिम की ओर, पोलैंड की उत्तरी सीमा के साथ पूर्वी प्रशिया और डांजिग नगर तथा प्रदेश था, जो अब प्रायः पूरी तरह नाजी नियंत्रण में आ गया था। पोलैंड के दक्षिण में जर्मन नियन्त्रित मोराविया और स्लोवाकिया थे, हंगरी था जो इस कारण वहाँ तक पहुँच गया था कि उसने जर्मन मौन स्वीकृति की बदौलत कुछ प्रदेश पर कब्जा कर लिया था, और रूमानिया था जो अभी व्यापार समझौता करके जर्मन प्रभाव के अन्तर्गत सिद्ध हो चुका था। इसलिए सोवियत संघ की सीमा वाली दिशा को छोड़कर, प्रत्येक सीमांत पर जर्मन संडासी के जबड़े पोलैण्ड के शरीर के चारों ओर जमे हुए दिखाई देते थे। इसी बीच जर्मन आक्रमण की भूमिकाएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रही थीं। २१ मार्च को वान रिबनट्राप (Von Ribbon-trap) ने बर्लिन-स्थित पोलिश दूत को यह प्रस्ताव दिया कि डांजिग जर्मनी को लौटा दिया जाये, और जर्मनी को गलियारे में से एक और मार्ग दिया जाए, जिसमें उसे पूर्ण राज्य-क्षेत्रातीत स्थिति (extra-territorial status) प्राप्त होगी, जिसके बदले में जर्मनी निम्नलिखित रियायतें देगा।

(१) डांजिग में पोलिश आर्थिक अधिकार अभिज्ञात किए जाएंगे और उसे स्वतन्त्र पोतगाह रखा जाएगा और यह आश्वासन दिया जायेगा कि जर्मनी और पोलैण्ड के बीच का मौजूदा सीमान्त स्थायी मान लिया जाए।

(२) एक २५ वर्षीय अनाक्रमण संधि। २८ अप्रैल को हिटलर ने जिस रूप में इस प्रस्ताव का वर्णन किया था, उसके अनुसार इस में यह बात भी शामिल थी कि स्लोवाकिया पर एक प्रकार के शामलात शासन (Condominiun) में हंगरी और जर्मनी के साथ पोलैण्ड भी शामिल होगा। पर पोलिश विदेश मंत्री कर्नल बैंक के अनुसार, श्री वान रिबनट्राप ने पहली बार यह मामला उठाने के समय इस अपेक्षया महत्त्वहीन प्रलोभन का उल्लेख नहीं किया था।

इस प्रस्ताव पर विचार करते हुए मन में एक दम यह बात उठती है कि जर्मनी को होने वाले लाभ तो ठोस और सुनिश्चित हैं पर पोलैण्ड के सामने प्रस्तुत प्रतिफल का मूल्य पूर्णतः एक ऐसी सरकार के आश्वासनों की विश्वसनीयता पर निर्भर था, जिसने अपने वचनों की निरर्थकता का एक और तथा जोरदार प्रमाण अभी दिया था। प्रस्तावित अनाक्रमण संधि (Non-aggression Pact) के प्रसंग में यह कह देना उचित होगा कि एक ऐसे ही समझौते के, जो पहले से लागू था, अभी पाँच वर्ष और बाकी थे जिसका अर्थ यह है कि इससे स्थिति पर तत्काल कोई प्रभाव न पड़ता था। सुझायी गयी व्यवस्था में पोलैण्ड की भविष्य की सुरक्षा और स्वाधीनता प्रायः पूरी तरह जर्मनी के सद्भाव और सदाशयता पर निर्भर होती।

पर पोलैण्ड, यद्यपि वह प्रस्तावित हल स्वीकार करने में असमर्थ था, तो भी जर्मनी के साथ मैत्री सम्बन्ध रखने की इच्छा के कारण समझौता वार्ता जारी रखने को तैयार था, और इस भावना से उसकी सरकार ने २६ मार्च को लिखित रूप में इस आशय का एक प्रति-प्रस्ताव (counter-proposal) पेश किया कि—

(१) डांजिग के स्वतंत्र नगर को पृथक् रूप से जर्मनी और पौलैण्ड द्वारा दी जाने वाली एक संयुक्त गारन्टी का विषय होना चाहिये ।

(२) पोलैण्ड के आर-पार जाने की सुविधाओं की जाँच होनी चाहिए और जिस क्षेत्र के बारे में प्रश्न पैदा हुआ है, उस की प्रभुसत्ता (Sovereignty) हस्तांतरित किये बिना दी जा सकने वाली अधिकतम सुविधाएं दे दी जानी चाहिएं ।

पर इस समझौतेपूर्ण उत्तर का कोई जवाब देने की तकलीफ नहीं की गई, और इस विषय में जो अगली बात सुनने में आई, वह जर्मन प्रधान मन्त्री के एक महीने बाद दिये गये एक भाषण में की गई चर्चा थी, जिससे यह प्रतीत होता था कि वैकल्पिक प्रस्तावों के पेश करने को उन शर्तों का ठुकराना माना गया, जिन्हें जर्मनी न्यूनतम और अन्तिम समझता था ।

यद्यपि कुछ समय तक ये वार्ताएँ सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं की गईं, पर उस समय यह बात आमतौर से मानी जाती थी कि पोलैंड को खतरा है । ३ अप्रैल को ब्रिटिश लोकसभा में हुए विवाद में डा० डाल्टन ने प्राग से हाल में आए एक प्रामाणिक व्यक्ति के आधार पर कहा था कि जर्मन सैनिक प्रत्येक सराय में यह कह रहे थे 'हम बहुत देर यहाँ नहीं रहेंगे । हम शीघ्र ही आगे जाएँगे—*आगे पोलैंड जाएँगे*' । मार्च के अन्तिम दिनों में जर्मन अखबारों द्वारा पोलैंड के विरुद्ध किये जा रहे निन्दाकारी प्रचार को नये हमले की भूमिका समझा गया, जो अब सुपरिचित हो गई थी । इसलिए ३१ मार्च को चैम्बरलेन ने संसद् में यह ऐलान करके अपनी नयी नीति का श्रीगणेश किया कि 'अन्य सरकारों' के साथ परामर्श चल रहा है, और इस बीच ब्रिटेन 'कोई ऐसी कार्यवाही होने की अवस्था में जिससे पोलिश स्वाधीनता को स्पष्टतः खतरा हो, और इसलिए जिसे पोलिश सरकार रोकना आवश्यक समझती हो, अपनी पूरी शक्ति से पौलैंड का समर्थन करने की प्रतिज्ञा करेगा और फ्रैंच सरकार ने मुझे यह कहने का अधिकार दिया है कि वह भी यही प्रतिज्ञा करती है । इन गारंटियों को अप्रैल के आरम्भ में कर्नल बेक के लन्दन आने पर परस्परापेक्ष रूप दे दिया गया ।'

इटली और अलबानिया
(Italy and Albania)

यद्यपि पोलैंड को फ्रांको-ब्रिटिश गारन्टी दिये जाने के ऐलान पर हिटलर ने अगले दिन (१ अप्रैल) विलहैल्मशेवन (Wilhelmshaven) में दिये गए एक भाषण में अविलम्ब अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की पर इस नयी घटना के प्रकाश में अपनी नीति पर पूरी तरह विचार करने के लिए उन्हें अभी समय नहीं मिला था । उन्होंने इसे जर्मनी की 'घेरेबन्दी का नया प्रयत्न' बताया और इसके खिलाफ घृणाव्यंजक अपशब्द कहकर ही सन्तोष कर लिया, और उन्होंने अपने इरादों का जो एकमात्र निश्चयात्मक निर्देश किया वह यह था कि १९३५ का एंग्लो-जर्मन नौसैनिक समझौता शायद भंग कर दिया जाएगा । पर उसी भाषण में उन्होंने दृढ़ निश्चयपूर्वक कहा कि जर्मनी स्वप्न में भी

और राष्ट्रों पर आक्रमण नहीं करना चाहता, और यह विचार प्रकट किया कि नाजी दल की अगली रैली को 'शांति की रैली' कह कर पुकारा जाए।

यद्यपि इस घटनापूर्ण वर्ष की घटनाएँ इतनी द्रुत गति से एक दूसरे के बाद हुईं कि उनका शुद्ध इतिक्रमात्मक वर्णन सम्भव नहीं, पर इस समय एक नये आक्रमण की ओर प्रायः तत्काल ही ध्यान खिंच गया; जो इस धुरी के दूसरे देश द्वारा किया गया था। गुडफ्राइडे ७ अप्रैल के दिन इटालियन सेना ने अलबानिया पर अकस्मात् आक्रमण कर दिया और बहुत थोड़े से तथा आशाहीन प्रतिरोध के बाद राजा जोग को निकाल भगाया और देश पर कब्जा कर लिया। इस पर अगले दिन इटली ने आधिपत्य ग्रहण कर लिया। इस आक्रमण कार्य के लिए पेश किये गये बहानों पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता नहीं। उन्हें बारी (Bari) से सिर्फ तीन दिन पहले किये गए इतने ही मिथ्या सरकारी ब्राडकास्ट की तरह मिथ्या समझा जा सकता है—इस ब्राडकास्ट में कहा गया था :

अल्बानिया के राजा की अभिव्यक्त प्रार्थना पर दोनों देशों के मध्य प्रतिरक्षात्मक मैत्री को और सुदृढ़ बनाने के लिए बातचीत चल रही है। अलबानिया की स्वाधीनता और अखण्डता के विरुद्ध प्रयत्न करने का इटालियन सरकार का इरादा नहीं है।

यह स्पष्ट है कि इस छोटे से राज्य से न तो इटली को भय करने की कोई बात थी, और न किसी अन्य देश को। पर यह बात स्पष्ट है कि मुसोलिनी ने अपने कार्य द्वारा न केवल १९३६ की तिराना की संधि (Treaty of Tirana) का बल्कि १९३७ और १९३८ के एंग्लो-इटालियन समझौतों का भी 'भूमध्यसागरीय क्षेत्र में राज्यक्षेत्र की राष्ट्रीय सर्वोच्चता के बारे में यथास्थिति' की दृष्टि से अतिक्रमण किया था। संभवतः असली अभिप्राय यह था कि जर्मन लैबन्सराम (lebensraum) के अवधारण के बढ़ते हुए विस्तार को देखते हुए समय रहते अपना दावा सामने रख दिया जाये और डूचे के गौरव को, जिस पर उसके दूसरे साथी का गौरव हावी हो रहा था, एक सस्ते और आसान डकैती-कार्य से पुनः स्थापित किया जाए।

यदि इस घटना पर धुरी देशों की संयुक्त व्यूह रचना की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार देखने पर यह बाल्कन प्रायद्वीप पर और अधिक दृढ़ पकड़ को सूचित करता था, जिससे उस प्रदेश के प्रत्येक देश की स्वाधीनता पर गंभीर प्रभाव पड़ता था। सच तो यह है कि ग्रीस को आश्वासनों के बावजूद अविलम्ब और सीधा खतरा अनुभव हुआ और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि चैम्बरलेन की गारन्टियों की नयी नीति इसके बाद उस देश पर लागू की गई। ग्रीस को गारंटी देने का ऐलान १३ अप्रैल को किया गया। उसी समय रूमानिया के बारे में भी ऐसी ही घोषणा की गई, जिसे सम्भाव्यतः दैवयोग से ही इस समय इस घोषणा में शामिल कर लिया गया, क्योंकि वह उन शक्तियों में से था जिनके साथ नयी नीति के आरम्भ से ही बातचीत चल रही थी। ऐसा एक और देश तुर्की था और ऐसी गारंटी-प्रणाली में उसके शामिल होने की पहले ही आमतौर से आशा की जाती थी, यद्यपि समझौता एक महीने बाद हुआ। १२ मई को एक परास्परापेक्ष

एंग्लो-तुर्की संधि की घोषणा की गई जिसमें भूमध्य सागर के क्षेत्र में युद्ध पैदा करने वाले आक्रमणकार्य होने पर पारस्परिक सहायता और सहयोग की प्रतिज्ञा की गई थी।

अमेरिका की कार्यवाही
(The American De'marche)

इटली और जर्मनी के शासकों द्वारा एक दूसरे के बाद इतनी द्रुत गति से किये गये दो आक्रमण कार्य मिलकर जिस खतरे को सूचित करते थे, उसे यूनाइटेड स्टेट्स के राष्ट्रपति ने एक दम समझ लिया। १४ अप्रैल को अखिल-अमेरिकन संघ (Pan-American Union) बोर्ड के में भाषण करते हुए श्री रूजवैल्ट ने स्थिति का साराँश इन शब्दों में रखा :

प्रश्न असल में यह है कि क्या हमारी सभ्यता, बीच-बीच में युद्धों से कलंकित होती हुई अन्तहीन सैनिकवाद के दुःखद शिखर पर घिसटती जाएगी, या हम शान्ति, व्यष्टिता और सभ्यता के आदर्शों को अपने जीवन के ताने-बाने के रूप मे बनाए रख सकेंगे। यदि हम किसी विजेता साम्राज्य के दास नहीं हैं, तो हमें यह कहने का अधिकार है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का ऐसा कोई संगठन न होने देंगे जो हमारे सामने इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ता कि हम अपने देशों को सैनिक बैरकें बना दें।

इस कथन के बाद अगले दिन उन्होंने दोनों अधिनायकों को एक नया पत्र भेजकर उन्हें यह आश्वासन देने के लिए ललकारा कि २९ स्वतन्त्र राष्ट्र, जो फिनलैण्ड से ईरान तक उन्होंने गिनाये थे, कम से कम १० वर्ष तक या अधिक, अच्छा हो कि २५ वर्ष तक, उनकी सशस्त्र सेनाओं के आक्रमण का शिकार न होंगे। उन्होंने वचन दिया कि ऐसा आश्वासन सम्बन्धित राष्ट्र को पहुँचा दिया जाएगा, और उससे भी बदले में ऐसा आश्वासन देने के लिए कहा जाएगा। इस कार्यवाही पर जर्मनी और इटली के नियन्त्रित अखबारों ने अपशब्दों और कटुवचनों की झड़ी लगा दी।

राइख स्टैग में श्री हिटलर का भाषण
(Herr Hitler's Reichstag Speech)

उस स्थिति पर ऐसा गंभीर दृष्टिकोण रखने वाले रूजवैल्ट अकेले ही व्यक्ति न थे। सच तो यह है कि इंग्लैंड में अधिकतर लोग इससे पहले यह आशा छोड़ चुके थे कि शान्ति स्थायी रूप से कायम रखी जा सकती है पर अब समय चिन्ता जनक द्रुतता से भाग रहा प्रतीत होता था। २८ अप्रैल को श्री चैम्बरलेन ने संसद् में यह ऐलान किया कि सरकार अनिवार्य सैनिक सेवा के लिए एक विधेयक रखना चाहती है। ऐसा करते हुए उन्होंने मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया कि मैंने यह वचन दिया था कि ऐसा कानून शान्ति काल मे मौजूदा संसद् के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जाएगा, पर अपनी बात के समर्थन में उन्होंने कहा : 'कोई भी यह नहीं कह सकता कि जिस अर्थ में शान्ति काल शब्द का प्रयोग करना उचित हो सकता है, वैसे किसी भी अर्थ में यह शान्ति काल है'। इस कथन पर गम्भीरता से आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, यद्यपि दो दिन और बीतने पर दुनिया वास्तविक युद्ध के भयंकर मार्ग पर और भी आगे बढ़ गई थी।

२८ अप्रैल को हिटलर ने जर्मन संसद् में, जो अमेरिकन राष्ट्रपति के पत्र पर उनका उत्तर सुनने के लिए विशेष रूप से बुलाई गई थी, एक भाषण दिया। पर इस मामले को उन्होंने अपने भाषण के अन्तिम हिस्से के लिए छोड़ दिया था—इस भाषण का निर्णायक महत्त्व उन निश्चयों के कारण अधिक है जिनकी उन्होंने एंग्लो-पोलिश गारंटी के परिणामस्वरूप घोषणा की। जो प्रस्ताव २१ मार्च को पोलैंड को मौखिक रूप से भेंट किये गये थे, उन्हें पहली बार सार्वजनिक प से प्रकट करते हुए उन्होंने उन्हें 'योरोप की शांति की खातिर अधिकतम कल्पनीय रियायतें' बताया और उन्हें बिना परिवर्त्तन या बातचीत के स्वीकार न करने के पोलैंड के रुख को 'न समझ में आने वाला' बताया। उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि मौजूदा स्थिति में जर्मनी के अलावा और किसी क्षेत्र से शांति को कैसे खतरा है। आपने कहा कि डांजिग एक जर्मन नगर है और जर्मनी से मिलना चाहता है, और इस प्रश्न को, देर या सबेर, हल करना होगा। इंगलैंड की गारंटी स्वीकार करने को उन्होंने १९३४ के जर्मन-पोलिश समझौते से असंगत बताया और कहा कि इस 'एक-पक्षीय अतिलंघन' के कारण उसका अस्तित्व समाप्त हो गया है।

उसी तिथि के एक पत्र में पोलिश सरकार को इस फैसले की सूचना देते हुए उन्होंने इस दलील का पहले ही उत्तर देने का यत्न किया कि १९३४ के समझौते को फ्रांको-पोलिश मैत्री संधि से असंगत नहीं बताया गया था, और पहले से मौजूद समझौतों तथा बाद में किये गए समझौतों में भेद किया। गारंटी-संधि को घेरेबन्दी की नीति का अनुसरण करते हुए 'जर्मनी का विरोध करने के लक्ष्य से की गई मैत्री' बताया और बिल्कुल अनुचित रूप से इसका यह अर्थ लगाया कि 'जर्मनी पर आक्रमण होने की अवस्था में' पोलैंड इंगलैंड के साथ सक्रिय सहयोग करने का इरादा रखता है। इस पत्र पर डांजिग का प्रश्न भी उठाया गया था। मार्च के प्रस्तावों को 'ऐसे सर्वथा न्यूनतम प्रस्ताव, जिनकी पूर्त्ति की माँग अवश्य की जाएगी' और 'जिनका त्याग नहीं किया जा सकता' बताया गया था।

जर्मनी और ब्रिटेन के सम्बन्धों के बारे में फ्यूहरर ने अपने भाषण में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रशंसात्मक उल्लेख करने और यह आश्वासन देने के बाद कि मेरी अब भी इच्छा और विश्वास है कि इन दोनों देशों में युद्ध फिर कभी संभव नहीं, यह कहा कि तब भी ब्रिटेन में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध अवश्यम्भावी माना जा रहा है, और परिणामतः मैंने एंग्लो-जर्मन नौ-सैनिक संधि का प्रत्याख्यान करने का फैसला किया है। तथ्यतः, इस निश्चय को सूचित करने वाला एक पत्र पिछले दिन ब्रिटिश सरकार को भेज दिया गया था।

अन्त में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के पत्र पर आते हुए उन्होंने घृणाव्यंजक स्वर में वे निषेधात्मक उत्तर पढ़े जो इसमें उल्लिखित अधिकतर राज्यों से सीधे तौर से किये गए इस प्रश्न के उत्तर में आए थे कि क्या वे अपने ऊपर खतरा अनुभव करते हैं। भाषण के इस भाग पर सबसे अच्छी टिप्पणी डैविड लो के कार्टून में थी जिसमें एक बहुत छोटा-सा यूगोस्लाविया हिटलर और मुसोलिनी के विशालकाय और भयंकर शस्त्र-

सज्जित चित्रों के बीच में बैठा हुआ था और उनके कहने पर विश्वास की उस घोषणा पर काँपते हुए हस्ताक्षर करता हुआ दिखाया गया था। पर राष्ट्रपति की कार्यवाही के प्रभावस्वरूप जर्मनी ने अपने बाल्टिक और स्कैंडिनेवियन पड़ोसियों से (पर लिथुआनिया से नहीं) अनाक्रमण संधियाँ करने का प्रस्ताव रखा और १८ मई को यह ऐलान किया गया कि समझौता-वार्त्ता चल रही है। इस प्रस्ताव को एस्टोनिया, लैटविया और डैनमार्क ने स्वीकार कर लिया, पर अन्य राज्यों ने इसे अस्वीकार कर दिया। एक वर्ष बीतने से भी पहले डैनमार्क की जो गति हुई, उससे इन समझौतों के मूल्य पर उचित टिप्पणी होती प्रतीत होती है।

रूस के साथ वार्त्ता
(Negotiations with Russia)

इस भाषण से राजनैतिक वातावरण में जो बिगाड़ हुआ, और इसके साथ ही जो कार्य किये गए, उनके बाद, जर्मनी के साफ दिखायी देने वाले आक्रामक उद्देश्यों के मुकाबले में प्रबलतम संयोजन निर्माण करने का काम अधिकाधिक अविलम्बनीय हो गया। यह अविलम्बनीयता तब और भी स्पष्ट हो गई जब ७ मई को यह ऐलान किया गया कि जर्मनी और इटली के मध्य एक राजनैतिक और सैनिक समझौता होने वाला है, और यह अविलम्बनीयता २२ मई को और भी अधिक स्पष्ट हुई जब यह संधि एक मैत्री-संधि के रूप में सामने आई, जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई एक पक्ष 'युद्धात्मक उलझनों में फँस जाए तो' पूर्ण पारस्परिक सैनिक सहायता दी जाएगी।

उस प्रतिरक्षात्मक संयोजन में, जो प्रतिभार (counter weight) के रूप में संगठित किया जा रहा था, स्पष्ट और गंभीर रिक्तता थी। ३ अप्रैल के संसदीय विवाद में ही कई वक्ताओं, विशेषकर लायड जॉर्ज ने सोवियत संघ का सहयोग प्राप्त करने के महत्त्व पर बल दिया था। सरकार इसकी वांछनीयता अच्छी तरह स्वीकार करती थी, पर शांति-मोर्चे के कुछ अन्य साथियों, खासकर पोलैंड, जो अपने पड़ोसी रूस पर गहरा और समझ में आने वाला संदेह करता था, को यह बात उतनी स्पष्ट नहीं थी। इस बाधा के बावजूद तथ्यतः अप्रैल के मध्य में लिटविनोफ और मास्को-स्थित ब्रिटिश राजदूत सर विलियम सीड्स के बीच वार्त्ता आरम्भ हुई। पर यह मेल-मिलाप ३ मई को लिटविनोफ के पदच्युत हो जाने और उनके स्थान पर मोलोतोफ (M. Molotov) के विदेश मंत्री बन जाने से कुछ रुक गया। लिटविनोफ की पदावधि में, इसमें कोई संदेह नहीं प्रतीत होता था कि सोवियत संघ की नीति जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सहयोग करने की होगी। यद्यपि धुरी शक्तियों को सम्मेलन में लाने की इच्छा के कारण म्यूनिख वार्त्ता में रूस को शामिल करने का यत्न न किया जा सका, पर उस समय सोवियत संघ ने यह आश्वासन दिया था कि यदि फ्राँस ने चैकोस्लोवाकिया को सैनिक सहायता दी तो हम भी अपनी चैकोस्लोवाकिया के साथ विद्यमान संधि के अधीन दायित्वों की पूर्त्ति करने का इरादा रखते हैं। सोवियत संघ के हित जर्मनी के प्रसार के इतना अधिक विरुद्ध प्रतीत होते थे कि

यह सम्भाव्य नहीं मालूम होता था कि इस नीति को परिवर्त्तित किया जाएगा, यद्यपि इस बात पर ध्यान गया था कि २८ अप्रैल के अपने भाषण में हिटलर ने बोलशेविज्म के विरुद्ध कोई बात नहीं कही जैसा कि वह पहले सदा किया करता था। लिटविनोफ के स्थान पर मोलोतोफ की नियुक्ति इस बात का पहला संकेत था कि सोवियत नीति में परिवर्त्तन की बात सोची जा सकती है।

इसके बावजूद वार्त्ता चलती रही, पर अब एक नयी बाधा दिखाई देने लगी। बोलशेविक शासन के आरंभिक दिनों में जब इसकी आशाएँ अन्तर्राष्ट्रीय क्रांति पर जमी हुई थीं, मास्को बाल्टिक प्रांतों और फिनलैंड द्वारा प्राप्त की गई स्वतन्त्र स्थिति को कोई महत्त्व नहीं देता था, और सोवियत संघ उस आत्मनिर्णय के सिद्धांत को, जिसके आधार पर ये देश रूस से पृथक् हुए थे, जबान से ही मानता था। इस समय बोलशेविक आन्दोलन राष्ट्रीय सीमांतों को मान्य नहीं करता था। पर अब पैदा हुई स्थिति ने सामरिक दृष्टिकोण को एक नया महत्त्व प्रदान कर दिया। यह तथ्य कि अब बाल्टिक के बन्दरगाह रूस के नियन्त्रण में नहीं थे, जर्मनी के साथ युद्ध होने की अवस्था में सोवियत संघ की स्थिति को स्पष्टतः कमज़ोर करता था। खास तौर से लेनिनग्राड की सुरक्षा पर इस तथ्य का गंभीर प्रभाव पड़ता था कि फिनलैंड की खाड़ी के दोनों पार्श्व और इसके अन्तर्गत अधिकतर द्वीप ऐसे विदेशों के हाथ में थे, जो सोवियत संघ के प्रति बहुत अनुकूल रुख नहीं रखते थे। इसके अतिरिक्त, फिनलैंड का सीमांत लैनिनग्राड से सिर्फ लगभग १५ मील था। ये कठिनाइयाँ १९१४-१८ के युद्ध में नहीं थीं, जबकि रूस जर्मनी से लड़ रहा था। इसलिए किसी जर्मनी-विरोधी संयोजन में शामिल होने के प्रश्न पर विचार करते हुए रूसी प्रतिनिधि इस बात पर बल देते थे कि बाल्टिक राज्यों और फिनलैंड को 'बनाये जाने वाले शांति मोर्चे में शामिल होने के लिए अथवा युद्ध होने पर रूसी सेनाओं को सुविधाएँ देने के लिए' मजबूर किया जाए, पर सम्बन्धित देश दोनों बातों के प्रबल विरोधी थे, और ब्रिटिश सरकार के लिए यह सर्वथा असंभव मालूम होता था कि वह इन स्वतन्त्र राज्यों को वे बातें स्वीकार करने की प्रेरणा से अधिक कुछ करे।

इस कठिनाई का निर्देश मोलोतोफ (M. Molotov) ने ३१ मई को दिये एक भाषण में किया था पर हिटलर द्वारा सोवियत सरकार के विरुद्ध बार-बार घोषित विचारों को देखते हुए यह आशा नहीं थी कि वार्त्ता भंग हो जाएगी। सच तो यह है कि ३० जुलाई को भी सोवियत अखबार *इजवेस्तिया* ने यह लिखा था कि सोवियत सरकार 'एक ऐसा व्यापक शांति मोर्चा बनाने के पक्ष में है जो फासिस्ट आक्रमण के बढ़ाव को आगे रोक सके' और अगले दिन चेम्बरलेन ने संसद् में यह ऐलान किया कि फ्रेंच और ब्रिटिश सैनिक मिशन मास्को भेजने का निश्चय किया गया है और इधर राजनैतिक बातचीत भी साथ-साथ चलती रहेगी 'जिसका लक्ष्य यह है कि राजनैतिक समझौते की शर्तों पर अन्तिम निर्णय हो सके।' स्टाफ की वार्त्ता सोवियत राजधानी में वस्तुतः १२ अगस्त को शुरू हुई।

१५ अगस्त को जर्मन विदेश मंत्रालय के सचिव बैरन वान वेइजसैकर (Baron Von Weizsacker) ने सर नैविल हैंडर्सन से यह अर्थपूर्ण बातें कही कि

मेरा न केवल यह विश्वास है कि रूसी सहायता नगण्य होगी बल्कि यह भी है कि सोवियत संघ अन्त में पोलैंड की लूट में हिस्सा बँटाएगा। चार दिन बाद सोवियत संघ और जर्मनी के मध्य एक व्यापार और उधार-ग्रहण समझौता होने से संतोषजनक समझौता होने की सम्भावना नष्ट हो गयी, और २३ अगस्त को मास्को में एक रूस-जर्मन अनाकमण संधि (non-aggression) पर हस्ताक्षर होने से सारी ही आशा अकस्मात् और अन्तिम रूप से खत्म हो गई—इस संधि में इन दोनों पक्षों ने उस राज्य को कोई सहायता न देना तय किया जिसके साथ उनमें से एक युद्धरत हो, और शक्तियों के ऐसे किसी गठबंधन में न सम्मिलित होने का करार किया जो प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उनमें से किसी एक के विरुद्ध हो। यह अस्पष्ट है कि इस समझौते के लिए अदा की गई कीमत के रूप में हिटलर को मीन कैम्फ के दिनों से लेकर अब तक बोल्शेविस्ट रूस के विषय पर कहे गये अपने वचनों को निगलना पड़ा और वह सिद्धान्त छोड़ना पड़ा जिस पर नाज़ी शासन आधारित था; बल्कि वह अधिकार भी उसे स्वीकार करना पड़ा जिसे ब्रिटिश सरकार स्वीकार करने से डरती थी कि रूस बाल्टिक राज्यों और फिनलैंड से, सामरिक महत्त्व के स्थान, आवश्यकता हो तो, बल-प्रयोग द्वारा भी प्राप्त कर सकता है। इस सौदे में सिद्धान्त का अभाव शायद उतनी आश्चर्य की बात नहीं जितने आश्चर्य की यह बात है कि सोवियत संघ को वे कदम उठाने दिये गये जो स्पष्टतः अन्ततोगत्वा जर्मनी के साथ होने वाले संघर्ष की बात सोचकर उठाये गए थे क्योंकि बाल्टिक में रूस जिस शत्रु के विरुद्ध अपनी स्थिति सुदृढ़ कर रहा था, वह स्पष्टतः जर्मनी के अतिरिक्त और कोई नहीं था। इससे यह बहुत अच्छी तरह प्रकट होता था कि हिटलर को स्टालिन की युद्ध से बचने और शुद्ध प्रतिरक्षात्मक रुख रखने की इच्छा में पूर्ण विश्वास था। कुछ व्यक्तियों का यह कहना है कि वह यह सोचता था कि ब्रिटिश योजना में ऐसे अत्यधिक विषम समय इस आकस्मिक दखलंदाजी से द्वितीय म्यूनिख उपस्थित होगा, और उसे बिना गम्भीर युद्ध में पड़े और अधिक प्रदेश पर अधिकार करने दिया जाएगा, यद्यपि उसे बार-बार और अधिकृत रूप से ऐसे किसी भ्रम में न रहने की चेतावनी दी गई थी। इस शक्यता का मुकाबला पोलिश संकट के सारे समय मामले को बातचीत से निबटाने के प्रत्येक अवसर को ठुकराने और बल द्वारा निर्णय कराने के हिटलर के प्रतीयमान दृढ़ संकल्प से करना चाहिए। बहुत सम्भाव्यतः वह यह आशा करता था कि उस युद्ध में, जिसका अब तक निर्णय कर चुका था, उस क्षेत्र से हमला न हो सके जो उसके आशयित शिकार को सीधी सहायता दे सके और प्रथम कोटि की शक्तियों के विरुद्ध दो मोर्चों पर एक साथ युद्ध से, जो पिछले मौके पर उसके देश के लिए घातक सिद्ध हुआ था, वह बचा रह सके।

अंतिम संकट
(The Final Crisis)

ऊपर सोवियत रूस के साथ हुई वार्त्ता का सूत्र वस्तुतः युद्ध आरम्भ होने से कुछ ही दिन पहले तक पहुँचा दिया गया है। अब फिर पीछे लौटना और अन्तिम संकट के परिवर्धन का क्रम देखना आवश्यक है। हिटलर के २८ अप्रैल को राइखस्टैग

में दिये गए भाषण की तिथि से, जिसमें उसने सुनिश्चित रूप से घोषित किया था, कि डांज़िग का सवाल हल हो जाना चाहिए, और अपने एकपक्षीय समाधान को अपना न्यूनतम दावा बताया था, स्वतन्त्र नगर तथा उसके चारों ओर की स्थिति लगातार चिन्ता पैदा कर रही थी।

इस समय तक डांजिग इतनी पूरी तरह नाजीकृत हो गया था कि इसकी नीति बर्लिन से नियंत्रित और संचालित मानी जा सकती थी। वहाँ राजनैतिक तनाव का नियतकालिक उतार और चढ़ाव साधारणतया जर्मन नीति की आवश्यकताओं के अनुसार होता हुआ देखा जा सकता था। इस प्रकार हिटलर के हाथ में एक ऐसा उपकरण आ गया था, जिसके द्वारा यदि वह चाहे तो किसी भी समय सेना भेजने के लिए बहाना पैदा कर सकता था। तो भी १९३९, में डांजिग की स्थिति एक वर्ष पहले वाली स्थिति से सारतः भिन्न नहीं थी, जब फ्यूहरर ने सार्वजनिक रूप से इस पर अपना असंतोष व्यक्त किया था। यदि यह भी मान लिया जाए कि अंततः निपटारे की आवश्यकता थी तो भी ऐसी कोई बात न थी, जो इसे अविलम्बनीय समस्या बनाती हो। जुलाई के उत्तरार्द्ध तक में डांजिग के नाजी नेता श्री फार्स्टर ने बर्लिन में हिटलर से मिलकर लौटने पर कहा था कि वह प्रश्न एक वर्ष या अधिक देर पड़ा रह सकता है। सच तो यह है कि फ्यूहरर के अपनी न्यूनतम माँगों पर स्पष्ट आग्रह के उत्तर में ५ मई को पोलिश सरकार द्वारा आपत्तियाँ प्रस्तुत किये जाने पर प्रतीयमान गतिरोध पैदा हो गया था, पर पोलिश सरकार किसी भी समय आगे वार्त्ता के लिए अनिच्छुक नहीं थी।

पर इस संकट की सारी अवधि में पाठक ने देखा होगा कि किस प्रकार जर्मन सरकार ने नई वार्त्ता शुरू करने से ही इंकार नहीं कर दिया था बल्कि वह यह बात ठाने बैठी प्रतीत होती थी कि बातचीत द्वारा विवादास्पद प्रश्नों को हल करने का कोई प्रयत्न किया जाए। इससे इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि इस समय तक हिटलर युद्ध छेड़ने का संकल्प कर चुका था, और सावधानी से यह यत्न कर रहा था कि सब से अधिक अनुकूल मौके से पहले कार्यवाही करने का बहाना छिपा रहे जो डांजिग की स्थिति से किसी भी समय प्रस्तुत कराया जा सकता था। साथ ही वह यह चाहता था कि यदि संभव हो तो पहली गोली चलाने की जिम्मेवारी पोलैंड पर डाल दी जाए और परिणामतः नाजियों ने जर्मनी के प्रोत्साहन और निर्देशन में उसे उत्तेजित करने की प्रायः अनवरत नीति आरम्भ की।

१२ मई को एक भीड़ ने स्वतन्त्र नगर में पोलिश सम्पत्ति नष्ट कर दी और मार्शल पिल्सुदस्की की मृत्यु के वार्षिक दिन की स्मृति में फहराये गये झंडे फाड़ डाले। २० तारीख को डांजिग के पूर्वी एशिया वाली सीमा पर कालतोफ (Kalthof) में पोलिश सीमा शुल्क अधिकारियों द्वारा अधिकृत एक सीमान्त चौकी पर नाज़ी गणवेशधारी लोगों के नेतृत्व में जर्मनों ने हमला कर दिया। गोलियाँ चलाई गईं और मकान को आग लगा दी गई। पोलिश डिपुटी कमिश्नर के, जो मामले की जाँच करने आया था, शाफर ने अपनी कार पर हमला होते देखकर एक गोली चलाई जिससे ग्रूवनर

नामक डांजिग का एक नागरिक मर गया। इस घटना पर पोलिश सरकार और डांजिग की सीनेट में दावों और प्रतिदावों का कटु आदान-प्रदान हुआ। उसी समय स्वतन्त्र नगर मे बड़े पैमाने पर चोरी से हथियार जा रहे थे, और जून के शुरू में एस० ए० (S. A.) के बहुत सारे आदमियों के आने की खबर मिली। डांजिग सीनेट के अध्यक्ष श्री ग्रीजर (Herr Greiser) द्वारा प्रस्तुत की गई यह माँग कि पोलिश सीमा-शुल्क अधिकारियों की संख्या कम की जाये, और उनकी गतिविधियों पर पाबन्दी लगा दी जाये, पोलिश सरकार ने १० जून को ठुकरा दी। अगले दिन एक पोलिश सीमा शुल्क इंस्पेक्टर श्री लिपिन्स को गेस्टापो ने गिरफ्तार कर लिया और एस० एस० (S. S) के सदस्यों ने उससे पाशविक व्यवहार किया। २३ जून को नाज़ी नेता श्री फार्स्टर के बर्लिन-यात्रा से वापिस आने के बाद डांज़िग में एक स्वतन्त्र सैनिक दल का निर्माण शुरू हुआ और महीने के अन्त में कार्यवाहक ब्रिटिश महावाणिज्य दूत ने विस्तृत सैनिक तैयारियों की खबर दी, पर उनका विचार था कि वे अगस्त से पहले प्रयोग में लाए जाने के लिए आशयित नहीं हैं। इन घटनाओं के प्रति पोलिश सरकार का रवैया जागरूकता, पर शांति, का था।

इस बीच डांजिग की जर्मन जनता को डा० गोएबल्स और अन्यों के उत्तेजक भाषण सुनाये गए और स्थानीय नाजी अखबारों ने खुले तौर पर यह स्वीकार किया कि जर्मन लक्ष्य सिर्फ डांजिग की पुनः प्राप्ति नहीं था, बल्कि पोलिश गलियारे का अनुबन्धन (annexation) था जिसे 'जर्मनी के लिए अपरिहार्य' बताया जाता था। मनुष्यों और शस्त्रास्त्रों का प्रवाह जारी रहा और ३ जुलाई को जर्मन मकान मालिकों को यह आदेश दिया गया कि वे अपने पोलिश किरायेदारों को निकाल दें। १५ जुलाई को जर्मन सेना के मोटर-चालित दस्ते को डांजिग पहुँच जाने की खबर मिली और उस आदेश में सैनिकों की संख्या १४ हजार होने का अनुमान था। पाँच दिन बाद एक और सीमांत दुर्घटना हुई जिसमें एक पोलिश सीमा-शुल्क अधिकारी को गोली से उड़ा दिया गया।

३१ जुलाई को पोलिश कमिश्नर—जनरल चोडकी ने सीनेट को सूचित किया कि पोलिश सीमाशुल्क निरीक्षकों के कार्य में बाधा डालने पर प्रतिशोध के रूप में डांजिग की कुछ फैक्टरियों का पोलैंड जाने वाला सामान विदेशी सामान माना जाएगा और उस पर सीमा-शुल्क लिया जाएगा। सीनेट ने इस पर बदले की कार्यवाही करने की धमकी दी और कुछ पोलिश सीमा-शुल्क निरीक्षकों को यह सूचना दी कि उन्हें अपना कार्य जारी नहीं रखने दिया जायेगा।

पोलिश सरकार ने अपने अधिकारों को दी गयी इस खुली चुनौती पर दृढ़ रुख अपनाया, पर ब्रिटिश राजदूत सर एच० केनार्ड के अनुसार, वह जान-बूझ कर मध्य मार्ग पर रही। ४ अगस्त को उन्होंने सीनेट को एक पत्र भेजा, जिसमें यह प्रस्ताव किया गया था कि यदि भविष्य में हमारे अफसरों के काम में बाधा न डालने का वचन दिया जाये तो आर्थिक प्रतिशोध बन्द कर दिये जाएँगे पर साथ ही यह चेतावनी भी दी कि पोलैंड के अधिकारों में और अधिक हस्तक्षेप के गम्भीर परिणाम होंगे। सीनेट ने

पोलिश अधिकारियों को दिये गए नोटिस तुरंत वापिस ले लिये और ७ अगस्त को वैसा ही संतोषजनक एक औपचारिक उत्तर दे दिया।

पर इसी बीच नाजी नेता फार्स्टर स्थिति के बारे में फ्यूहरर से बातचीत करने बर्चेसगैडन चले गये। इस समय तक हिटलर ने अंतिम कार्यवाही के लिए मौका उचित समझा। तदनुसार ९ अगस्त को जर्मन सरकार ने पहले से तय हुए विवाद में हस्तक्षेप किया। उसने पोलिश सरकार को एक पत्र लिखकर इस बात की तीव्र भर्त्सना की कि उसने डांजिग सीनेट को ४ अगस्त का पत्र लिखा था। पोलिश उत्तर में इस हस्तक्षेप के विधिगत आधार पर आपत्ति उठायी गई, और जर्मन सरकार को यह चेतावनी दी गई कि यदि वह डांजिग में पोलैंड के अधिकारों और हितों में कोई दखलन्दाजी करेगी तो उसे आक्रमण-कार्य समझा जायेगा।

इस उत्तर की दर्प-पूर्णता ने फ्यूहरर को यह कहने का प्रतीक्षित बहाना प्रस्तुत कर दिया कि उसका धैर्य खत्म हो गया है, और इस समय के बाद जर्मनी के अखबारों ने जर्मन प्रजाजनों पर पोलिश अत्याचारों के आरोपों की झडी लगा दी, और उन आरोपों को स्वयं हिटलर ने और भी अधिक अतिरंजित शब्दों में दोहराया। जर्मन सैनिक-सज्जा युद्ध के लिए पूर्ण तैयारी की अवस्था में पहुँच गयी और २० अगस्त के आसपास अशुभसूचक सेना-संकुलन पोलिश सीमांतों के निकट पहुँचने लगा। तुरंत सब ने यह अनुभव किया कि संकट तीव्र है और जब दो दिन बाद रूस जर्मन समझौते के सन्निकट होने की बात पता चली तो खतरा और भी अधिक अविलम्बनीय हो गया। २३ अगस्त को डांजिग सीनेट ने नाजी नेता फार्स्टर को डांजिग में राज्य का अध्यक्ष नियुक्त करने का आदेश जारी करके स्थिति को और बिगाड़ दिया।

२२ अगस्त को चैम्बरलेन ने वैयक्तिक पत्र द्वारा हिटलर से अपील करने का अन्तिम यत्न किया, और इस पत्र में तनाव कम करने का प्रस्ताव किया गया जिससे पोलैंड और जर्मनी में शांतिपूर्ण वार्त्ता फिर आरम्भ हो सके। इसका फ्यूहरर ने नकारात्मक उत्तर दिया और पोलिश अत्याचारों के सम्बन्ध में अपने आरोप दोहराये तथा यह घोषणा की कि 'गलियारे का और डांजिग का प्रश्न हल होकर रहेगा और हल करना पड़ेगा'। राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने भी इटली के राजा को मध्यस्थता करने के लिए पत्र लिखकर, तथा हिटलर और पौलैंड के राष्ट्रपति को पत्र लिखकर, जिनमें शांतिपूर्ण उपायों से अपने मतभेद तय करने का यत्न करने के लिए आग्रह कया गया था, मामले में हस्तक्षेप किया। इसी आशय की अपीलें पोप ने और 'ओस्लो' शक्तियों की ओर से बैल्जियम के राजा ने भी प्रसारित कीं और इसी आशय का पत्र-व्यवहार दलादिये तथा जर्मन प्रधान मंत्री में भी हुआ।

२५ अगस्त को हिटलर ने अपने अभिप्रेत शिकार को औरों से अलग करने का एक विचित्र प्रयत्न सर नैविल हैंडर्सन को मौखिक रूप से दिये हुए एक संदेश में किया। पोलैंड के उत्तेजन को उसने असह्य बताया। इन 'मैसिडोनियन अवस्थाओं को' मिटाने और जर्मन-पोलिश समस्या अर्थात् डांजिग की और गलियारे की समस्या को, अपने ही तरीके से, हल करने के लिए वह दृढ़-संकल्प था, पर 'महान् निश्चय करने

वाले व्यक्ति के रूप में वह इन प्रयत्नों के हल हो जाने के बाद ब्रिटेन के सामने एक प्रस्ताव रखने को तैयार था। वह ब्रिटिश साम्राज्य के बने रहने की, और यदि आवश्यकता हो तो उसे जर्मन सहायता की गारन्टी देने के लिए भी व्यक्तिगत रूप से तैयार था। वह इस आशय के समझौते हो जाने के बाद 'शस्त्रास्त्रों पर तर्क-संगत परिसीमा' मानने को भी तैयार था और उसने कहा कि मुझे पश्चिमी योरोप के सीमांतों में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस सौदे की शर्तें ये थीं कि जर्मनी का इटली के साथ सम्बन्ध बना रहे और शांतिपूर्ण उपायों से 'सीमित उपनिवेशों सम्बन्धी माँग पूरी कर दी जाए। इस पत्र की एक बात, जो शायद अब विशेष दिलदिस्पी की चीज है यह थी कि इसमें 'जर्मनी का यह स्थायी संकल्प बताया गया था कि वह रूस के साथ फिर कभी संघर्ष में नही पड़ेगा'।

ब्रिटेन को पोलैंड के प्रति की गई अपनी गम्भीर प्रतिज्ञाओं को तोड़ने के लिए प्रेरित करने के इस प्रयत्न का उसी दिन तब उत्तर दे दिया गया जब आक्रमण की अवस्था में आपसी सहायता के लिए औपचारिक एंग्लो-पोलिश समझौता करके ब्रिटिश गारन्टी पर बल दिया गया।

२८ अगस्त को ब्रिटिश सरकार ने इस संकट को शांतिपूर्वक हल करने का अंतिम प्रयत्न किया। जिन्होंने, वार्त्ता द्वारा ऐसा समझौता कराने की दृष्टि से,—जो अंतर्राष्ट्रीय गारन्टी द्वारा सुरक्षित हो, इस गारन्टी में ब्रिटेन हिस्सा लेने को तैयार था, पोलैंड और जर्मनी के मध्य सीधी बातचीत कराने का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव हिटलर के वास्तविक इरादों के लिए एक कसौटी था। यदि वह इतना ही चाहते थे कि जर्मनी और पोलैंड के मतभेदों का उचित निपटारा हो जाये, तो उन्हें प्रस्तावित मार्ग अपनाने पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। दूसरी ओर, यदि मौजूदा संकट तत्काल और व्यापक युद्ध के लिए बहाने के रूप में ही बनाया गया था, तो इस प्रस्ताव को ठुकरा कर वह अपनी सत्यता का अभाव ही प्रदर्शित करते थे।

यह दुविधा देखकर जर्मन प्रधान मन्त्री ने उसे ऐसी शर्तों पर स्वीकार करने का मार्ग अपनाया, जिनसे यह सुनिश्चित हो जाता था कि वह सुझाव कभी भी कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। २९ अगस्त के सायंकाल बर्लिन में सर नैविल हैंडर्सन को एक पत्र दिया गया जो यह अपेक्षित करता था कि अगले दिन सायंकाल तक एक पोलिश प्रतिनिधि वारसा से भेजा जाये जिसे प्रस्ताव स्वीकार करने की पूरी शक्ति हो, जो जर्मन सरकार इस बीच तैयार करेगी। इस प्रकार वे प्रस्ताव बातचीत या परिवर्तन के लिए पेश नहीं किये जाने थे, और तथ्यतः वे पोलिश सरकार को कभी पेश नहीं किये गए; इस प्रकार, जो ऊपर से यह दीखता था कि वार्त्ता द्वारा समाधान के प्रस्ताव की स्वीकृति है, उसे समय-सीमा वाले अल्टीमेटम में परिवर्त्तित कर दिया गया।

ब्रिटिश सुझाव के असली रूप को इस तरह बिगाड़ने का लार्ड हैलिफैक्स ने ३० तारीख को यह उत्तर दिया कि मैं पोलिश सरकार को यह सलाह नहीं दे सकता कि वह निर्दिष्ट प्रक्रिया का पालन करे, जो सर्वथा अयुक्तियुक्त है, पर ब्रिटिश सरकार ने दोनों पक्षों से सामान्य सम्पर्क का अनुरोध किया और पोलैंड से सीधी बातचीत के

सिद्धांत की स्वीकृति उसे प्राप्त हो गई। पर जब ३० तारीख की मध्य रात्रि को वही सुझाव लेकर ब्रिटिश राजदूत वान रिबन ट्राप के पास पहुँचा, तब उसका उत्तर उसे यह मिला कि रिबन ट्राप जर्मनी द्वारा प्रस्तुत शर्तें 'बहुत तेजी से' पढ़ते गये और उन्होंने उसके पाठ की एक प्रति इस आधार पर देने से इंकार कर दिय कि पोलिश दूत के पहुँचने के लिए निर्धारित समय पहले ही समाप्त हो गया है। इसके बावजूद बर्लिन-स्थित पोलिश राजदूत को सम्पर्क स्थापित करने का आदेश दिया गया और उसने ३१ तारीख को सायंकाल साढ़े छः बजे प्राप्त आदेशों का पालन किया, पर उसके प्रयत्न व्यर्थ रहे और एक सितम्बर को बड़े सवेरे युद्ध की कोई आरम्भिक घोषणा किये बिना जर्मन सेनाओं ने पोलैंड पर अपना आक्रमण आरम्भ कर दिया।

इन परिस्थितियों में भी ब्रिटेन और फ्राँस का अपने वचनों के अनुसार युद्ध में शामिल होना अंतिम समय में मुसोलिनी के हस्तक्षेप के कारण २ दिन और विलंबित हो गया। पर पोलैंड के मित्र राष्ट्रों ने स्वभावतः यह आग्रह किया कि आक्रामक सेनाओं को वापस बुला लिये जाने पर ही हम लोग रुके रह सकते हैं, और ३ सितम्बर को प्रातःकाल ११ बजे एक ब्रिटिश अल्टीमेटम का, जिसमें सैनिक वापिस बुलाने का आग्रह किया गया था, बिना उत्तर के समय बीत जाने पर, इस देश को जर्मनी के साथ युद्धरत घोषित कर दिया गया, और फ्राँस ने भी उसी सायंकाल यह घोषणा कर दी और इस प्रकार, वह शांति का काल, जिसका इतिहास इस पुस्तक में देने का यत्न किया गया है, समाप्त हो गया।

: २७ :

उपसंहार

विफलता के कारण

(Causes of Failure)

इस पुस्तक का पुनरीक्षण समाप्त करते हुए, जो अब तक सारतः कोई १६ वर्ष पहले का दृष्टिकोण ही व्यक्त करती रही है, मैं यह महसूस करता हूँ कि कोई परिश्रमी आलोचक सम्भाव्यतः अब भी इसमें उन विचारों और आशाओं के चिह्न पा सकता है जिन्हें अनुभव ने परिवर्त्तित या विनष्ट कर दिया है। मैंने १९३४ में जिस भावना से लिखा था, उसे कितने भी शाब्दिक परिवर्त्तन करके इन पृष्ठों से पूरी तरह दूर नहीं किया जा सकता। जीवन के साथ-साथ हम नयी बातें सीखते हैं। यदि इतिहास के अध्ययन से हमें भविष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए कोई पाठ न मिलता होता तो इसका अध्ययन एक नीरस कार्य होता, और ऐसे समय जब बाद के अध्यायों में अभिलिखित घटनाएँ उस समय अज्ञात भविष्य के गर्भ में थीं, जब शुरू के पृष्ठ छपे थे, तब निर्णय की गलतियाँ विशेष रूप से अनिवार्य थीं। इसलिए, अंत में उस विफल आकांक्षा के अभिलेख से, जो यहाँ प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है, एक शिक्षा लेने का कुछ यत्न करना उचित होगा। मेरा व्यक्तिगत विश्लेषण अनिवार्यतः आत्मनिष्ठ (subjective) और अधूरा होगा। तो भी इससे कुछ दूर तक उस कठिन और वास्तविकतावादी चिंतन के प्रक्रम को उद्दीपन मिल सकता है जिसकी हमारी विषम स्थिति में बहुत आवश्यकता है।

मोटे तौर से देखें तो इस पुस्तक में उल्लिखित इतिहास सभ्य संसार की जातियों के बहुत बड़े बहुमत द्वारा युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से खत्म करने के असफल प्रयत्नों का इतिहास है। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यह लक्ष्य मानव जाति के बहुत बड़े बहुमत की इच्छाओं और सहानुभूतियों के अनुरूप था, और बल्कि अब भी है। हम देख चुके हैं कि कैसे लगभग २० वर्ष पहले 'नीति के साधन के रूप में युद्ध का प्रायः सर्वत्र प्रत्याख्यान' हुआ था। तो भी अगले दस ही वर्षों बाद पहले विश्व-युद्ध से भी अधिक विनाशकारी विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया और इस महाविनाश से बचने के प्रयत्न प्रतीयमानतः पूर्णतया और विनाशकारी रूप से विफल हुए। हम सब को यह पता लगाना चाहिये कि गलती कहाँ हुई—यह कैसे हुआ कि मनुष्य जाति के विशाल बहुमत की आशाएँ और लक्ष्य अपेक्षया थोड़े से लोगों के कार्यों द्वारा कैसे नष्ट हो गये? क्या हम इस अपमानकारक निष्कर्ष को मान लें कि जिस उद्देश्य से यत्न किया गया था, वह प्राप्त करना मानव शक्ति से बाहर है।

यूनाइटेड स्टेट्स का हट जाना
(Withdrawal of the United States)

समस्या के सफल समाधान की कुछ आंशिक बाधाएँ तो स्पष्ट और सर्वस्वीकृत हैं। इनमें से मुख्य बाधा यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा उस समझौते का प्रत्याख्यान था, जिसका मुख्य निर्माता उसका राष्ट्रपति था। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यूनाइटेड स्टेट्स का यह कार्य शांति बनाये रखने के लिए निर्मित तंत्र के कार्य-साधक उपयोग में सबसे अधिक गंभीर रुकावट था। राष्ट्र संघ प्रायः बिल्कुल आरंभ में ही उस सैनिक और आर्थिक शक्ति के अधिकांश से वंचित हो गया, जिस पर अन्ततोगत्वा इसका प्राधिकार निर्भर था, पर इस वंचितता को उस प्रणाली के संचालन के लिए आवश्यक रूप से घातक नहीं समझा जाता था, और न समझा जा सकता है। यह भय नहीं था कि अमेरिकन शक्ति और प्रभाव का उपयोग प्रसंविदा के संभावी अतिक्रमण-कर्त्ताओं के साधनों की वृद्धि में हो सकता है। उस समय व्याप्त विचार वह था जो एक लेखक ने *हिस्ट्री आफ दि पीस कान्फरेंस* (जिल्द ६, पृष्ठ ५२५-६) में व्यक्त किया था, कि '५१ राष्ट्र जिनमें चार महाशक्तियाँ भी शामिल हैं, और पाँचवाँ एक हितैषी तटस्थ राष्ट्र है, संसार के साधनों के इतने बड़े भाग को नियंत्रित करते हैं कि इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि जिस नीति पर वे सहमत हों, और कार्य करने को तैयार हों, उसे लागू किया जा सकता है'। शायद अधिक दुर्भाग्य की बात यह थी कि इसके परिणामस्वरूप, फ्रांस को दी गई एंग्लो-अमेरिकन गारंटी व्यर्थ हो गयी—इस गारंटी के बल पर ही उसने अनिच्छापूर्वक अपनी यह माँग त्यागना स्वीकार कर लिया था कि राइन नदी के पश्चिमी तट को जर्मन नियंत्रण से हटा लिया जाये। इस व्यवस्था के भंग होने पर अनिवार्यतः असुरक्षा की भावना पैदा हो गई, जिसकी सम्पूर्त्ति फ्रांसीसियों ने बड़ी उत्तेजक ढंग की स्वतन्त्र नीति अपना कर, करने का यत्न किया, जिससे योरोप के सम्बन्धों के सारे अनुवर्त्ती घटना-क्रम पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

वचनों पर अनास्था
(Infidelity to Undertakings)

इन प्रत्यक्ष प्रभावों के अलावा भी यूनाइटेड स्टेट्स के हट जाने से निस्संदेह इस काल की सबसे अधिक घातक विशेषताओं में से एक का सूत्रपात होने में मदद मिली, और वह थी अन्तर्राष्ट्रीय वचनों की पवित्रता की वस्तुतः भयंकर अवहेलना। एक ऐसे शिशु को, योरोप के दरवाजे पर छोड़ दिया गया था जिसका अंग-प्रत्यंग निर्भ्रांत रूप से इसके अटलांटिक पार के पितृत्व की उद्घोषणा कर रहा था। यह उन पालनकर्त्ताओं की देखभाल में छोड़ दिया गया था, जो अनिवार्यतः इसे उस बच्चे से हीन कोटि का समझते थे, जो उनका विचार था कि वे पैदा कर सकते थे। निस्सन्देह, इस पुस्तक के आरम्भिक अध्याय में सुझाये गये आधारों पर यह तर्क करना सम्भव है कि उनकी आशंकाएँ अनुचित थीं। तो भी उन्होंने अपनी इच्छा से दत्तक की

जिम्मेवारी उठायी थी और वे इस उपेक्षित लावारिस शिशु के प्रति माता-पिता के कर्त्तव्य यथाशक्ति पूरे करने के लिए वचनबद्ध थे। रूपक को यहीं छोड़ दें, तो इस बात पर अवश्य विचार हो सकता है कि प्रसंविदा के कुछ बन्धन बुद्धिमत्तापूर्ण थे या नहीं, पर वे निश्चय ही ऐसे बंधन थे, जिनसे राष्ट्र संघ के सारे सदस्य निष्ठापूर्वक बंधे हुए थे। पर इन उपबंधों के प्रणेता की अनुपस्थिति में मामला खारिज हो गया, और उन बंधनों का अभिव्यक्ततः प्रत्याख्यान तो कभी नहीं किया गया, पर उनकी चुपचाप उपेक्षा कर दी गई। जब यह ध्यान आता है तो यह व्यंगपूर्ण स्थिति अनुभव होती है कि यूनाइटेड स्टेट्स के प्रसंविदा को स्वीकार करने में मुख्य बाधा अनुच्छेद १० में समाविष्ट गारंटी थी, जिसे राष्ट्रपति विल्सन सारे ढाँचे की बुनियाद समझते थे। अमरीका को इस पर चिंता करने की आवश्यकता नहीं थी। १९२३ में ही यह अनुच्छेद निष्प्रभाव हो गया था। अनुच्छेद १६ के उपबन्धों की भी, प्रायः इतनी ही पूर्णता से, और आमतौर पर, अवहेलना की गई थी। यहाँ सवाल यह नहीं है कि ये अवहेलनाएँ नीति के रूप में गलत थीं या सही, पर वे निश्चित रूप से ऐसी मनोवृत्ति को बढ़ाती थीं जो शीघ्र ही सब अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के प्रति ऐसी ही उपेक्षा का व्यवहार करने की अभ्यस्त हो गई। तथ्यतः अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव इतनी नीची सतह तक गिर गया कि यह आशा ही न रही कि यदि वचनबन्धों का पालन करना तत्का-लीन परिस्थितियों में असुविधाजनक हुआ तो उनका पालन किया जाएगा। इन परि-स्थितियों में प्रतिरक्षात्मक संधियाँ करके या नेताओं की चेतावनियों से आक्रमण को नहीं रोका जा सकता। दुष्टता करने वाला स्थिति के साधारण तथ्यों से यह अनुमान करेगा कि बिना दण्ड पाए उसके बच निकलने का मौका है, या नहीं, और फौरन यह निश्चय करेगा कि 'दुष्कार्य करके बच निकलने का' मौका बहुत अनुकूल है।

हाब्स की यह उक्ति—कि जब लोग अपनी प्रसंविदाओं की पूर्त्ति नहीं करते, तब हम युद्धावस्था में है—पहले ही उद्धृत की जा चुकी है। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाये तो हमें शांति बनाये रखने में हुई विफलता का मुख्य कारण ढूँढने दूर नहीं जाना होगा। जिस काल पर यहाँ विचार किया गया है उसके दौरान में शायद ही कोई ऐसा राष्ट्र हो जिस पर अपनी गम्भीर प्रतिज्ञाओं पर न टिकने का आरोप सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इस घातक घटना की कुछ जिम्मेवारी आधुनिक लोकतन्त्रों में लोकमत की प्रभाव वृद्धि को उठानी होगी। प्राचीनकाल में जब संधियाँ व्यष्टिगत राजाओं या धनिकतन्त्रीय अल्प समुदायों (Oligarchies) की प्रतिज्ञाओं को निरूपित करती थीं, तब उनके प्रत्याख्यान में वैयक्तिक अपकीर्त्ति होती थी, जिसका भय उनकी सम्भाव्य पूर्त्ति की पर्याप्त गारंटी होता था। आधुनिक लोकतन्त्र में जिम्मेवारी इतनी व्याप्त हो जाती है कि प्रायः दिखाई भी नहीं पड़ती; कोई व्यष्टि अनुभव नहीं करती कि यदि कोई प्रतिज्ञा भंग की जाती है तो उसके वैयक्तिक सम्मान को चोट पहुँचती है या दोष उस पर आता है। तो भी जनता का यह कर्त्तव्य है कि यदि उसके मंत्री अंतर्राष्ट्रीय मान-दंड को नीचा करें तो वह उनके विरुद्ध प्रबल और निश्चित प्रतिक्रिया करें; इस

समय कोई संगतता (consistency) नहीं है। होर-लावाल प्रस्थापनाओं पर जो तूफान खड़ा हुआ, उसका म्यूनिख समझौते के उस समय आमतौर पर प्रदत्त अनुमोदन से कितना वैषम्य दिखाई देता है। यदि युद्ध की विभीषिका का अन्त करना है तो पहली आवश्यक बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का मानदंड कम से कम इतना ऊँचा तो फिर कर दिया जाए कि आमतौर से यह आशा हो सके कि वचनों का पालन किया जाएगा।

शांतिवाद की रुकावट

(The Handicap of Pacifism)

शान्ति-प्रेमी शक्तियों की कूटनीति में दुर्बलता का एक और उद्‌भव-स्थान वह अपकीर्ति थी, जो बल-प्रयोग को नीति के साधन के रूप में अपनाने के साथ जुड़ गई थी—यद्यपि यह एक विरोधाभास है। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि साधारणतया उन दिनों आक्रमण का निरुत्साहन अधिक सरल कार्य था, जब कोई साधारण सा भी 'अमैत्रीपूर्ण कार्य' युद्ध की तत्काल सम्भावना पैदा कर देता था—जब यह धमकी 'कि यदि तुम ऐसा करोगे तो हम लड़ेंगे' एक सामान्य कूटनीतिक उत्तर होता था। ऐसे संसार में, जो युद्ध को अपराध की कोटि में रखता था, आक्रांता अपनी योजनाओं की आरम्भिक मंजिलें यह निश्चित रूप से जानते हुए पार कर सकता था कि उसके विरोधी कार्यवाही न करेंगे।

जिन बातों पर भविष्य के इतिहासकार के बहुत अधिक परेशान होने की सम्भावना है, उनमें से एक बात वह रीति है, जिससे जर्मन सैनिक-शक्ति प्रायः शून्य से धीरे-धीरे कुछ ही वर्षों में बढ़ गई, और इसमें उन राष्ट्रों ने कोई बाधा न डाली जो स्पष्टतः वैसा करने की शक्ति रखते थे। उन दिनों जब युद्ध को नीति का वैध, यद्यपि उग्र, साधन समझा जाता था, किसी राज्य के लिए ऐसे कार्यों द्वारा, जैसे १९२५ में वर्साई संधि के निरस्त्रीकरण खंडों का प्रत्याख्यान, या १९३६ में विसैन्यीकृत राइनलैंड पर पुनराधिपत्य स्पष्टतः उत्कृष्ट शक्ति की अवहेलना करना सम्भाव्यतः असम्भव हुआ होता। यदि १९१४ से पहले ऐसा कोई यत्न किया गया होता तो प्रायः अनिवार्यतः बिना सोचे यह माँग की गई होती कि यह यत्न न किया जाए, और यदि वह हठ करता तो बल-प्रयोग किया गया होता जो उन परिस्थितियों में मुश्किल से पुलिस कार्यवाही के तुल्य होता, जिसका आक्रांता प्रतिरोध न कर पाता। १९११ के एगैडिर संकट (Agadir Crisis) के समय तक एक गम्भीर नवांकुरित संकट को, लायड जार्ज के भाषण के एक संकेत मात्र से कि एक खास कीमत पर, शांति 'हमारे जैसे महान देश के लिए असह्य अपमान' होगी[1], दबा देना सम्भव सिद्ध हुआ था। ऐसी रीतियाँ या अतीतकाल में बहुधा अपनाया जाने वाला नौसैनिक या सैनिक प्रदर्शन का उपाय अपनाना बहुत कठिन हो गया था, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय वार्त्ता में बल के प्रयोग को लोकमत बुरा समझने लगा था। लोकमत का समर्थन जो लोकतन्त्र में सदा एक

१. Grey of Fallodon (1st Viscount). *Twenty-Five Years.* London, Hodder and Stoughton, 1925, Vol. I, p. 225.

महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात है, एक ऐसे जमाने में और भी अधिक आवश्यक था, जब युद्ध सिर्फ पेशेवर सैनिकों का काम नहीं रहा था, बल्कि एक ऐसी चीज़ बन गया था, जिससे राष्ट्र के प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चे का घनिष्ठ सम्बन्ध था। लेकिन जनता, जो युद्ध को एक अपराध मानने लगी थी, और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में प्रायः परेशानी में डालने वाली दिलचस्पी लेने लगी थी, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सामरिक पहलुओं को नहीं देखती थी, जो उसके युद्धहीन कल्पना-जगत् में निस्संदेह अप्रासंगिक होते। असल में तो, हिटलर की प्रगति की प्रत्येक उत्तरोत्तर मजिल में सामरिक विचार ही मुख्य थे। यदि इनकी उपेक्षा की जाती तो जनता को, जिसमें अन्तःकरण की दृढ़ता का अभाव था और जो शाँति समझौते के कल्पित अन्यायों की आलोचक थी, जर्मन दावों में कुछ दूर तक न्याय दिखाई देता था। यह पूछा जाता था कि जर्मन अपने प्रदेश में अपनी ही सेनाएँ क्यों न तैनात करें? वे अपने पड़ोसियों से, जिन्होंने शस्त्रों का त्याग नहीं किया है, शस्त्रास्त्रों के मामले में स्थायी हीनता की स्थिति में क्यों रहें? क्या आस्ट्रो-जर्मन ऐक्य आत्मनिर्णय के अधिकार का तार्किक उपयोग नहीं है? सुडेटन जर्मनों को चैक सर्वोच्चता के अधीन क्यों रखा जाये? शाश्वत शांति और प्रभावी राष्ट्रसंघ का अस्तित्व मान लेने पर ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना जरूर कठिन होता। प्रत्येक अवस्था में सही उत्तर उसके सामरिक प्रभाव पर निर्भर था, और यह प्रभाव उन लोगों को फौरन दिखाई नही देते थे जिन्हें 'यदि शांति चाहते हो तो युद्ध के लिए तैयार रहो' यह उक्ति न केवल एक विरोधाभास, बल्कि एक पाखण्डतापूर्ण मिथ्या भी मानने के लिए लगातार प्रचार द्वारा अभ्यस्त किया गया था।

निरस्त्रीकरण पर विचार

(Attitude to Disarmament)

जो मनोवृत्ति इस उक्ति को अनुचित समझती थी, वही शांति-संधियों में, और उनके बाद निरस्त्रीकरण के प्रश्न को दिये जाने वाले महत्त्व के लिए भी जिम्मेवार थी। इस विषय में प्रचलित विचार इस बात का उदाहरण था कि प्रथम विश्वयुद्ध के विशेष अनुभव से साधारणीकरण करना कितना खतरनाक और भ्रामक है। १९१४ की परिस्थितियों में यह विचार कुछ दूर तक ठीक कहा जा सकता था कि शस्त्रास्त्र अपने-आप में शांति के लिए खतरा है—यह विचार प्रसंविदा (Covenant) के अनुच्छेद ८ में सन्निविष्ट है। जब दो महाशक्तियाँ या शक्ति समूह शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता में पड़ जाते हैं, तब एक पक्ष द्वारा उठाया गया प्रत्येक पग दूसरे पक्ष में भय, रोष और संदेह पैदा करने लगता है। प्रतिरक्षात्मक कार्यों को आक्रमणात्मक समझा जाता है और इस प्रकार एक ऐसा विषम चक्र पैदा हो जाता है जो भयंकर तनाव को बढ़ाता है। बोझ भारी होते जाने पर एक ऐसा समय आ सकता है, जब कोई राष्ट्र दौड़ में पीछे रह जाने के जोखिम के कारण उसी समय शक्ति परीक्षा का यत्न करे, जब अभी युद्ध में सफलता सम्भाव्य समझी जाती हो। तो भी, ऐसी अवस्था में भी प्रतियोगिता तनाव की पहले से विद्यमान अवस्था के कारण पैदा होती है, और शस्त्रास्त्र तनाव के लक्षण हैं, उसके कारण नहीं। इसके अतिरिक्त, वक्त निकल जाने

से पहले हमला कर देने का प्रलोभन शस्त्रास्त्रों की वृद्धि-मात्र से नहीं होता, बल्कि आपेक्षिक शक्ति में ह्रास की सम्भावना से भी पैदा होता है। यह पूछा जा सकता है कि यदि आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य की शक्ति में क्षय के स्पष्ट चिह्न दिखाई न देते तो क्या मध्य योरोप की शक्तियाँ १९१४ में युद्ध में कूदी होतीं ? इसी प्रकार, शस्त्रास्त्रों की वृद्धि से पैदा होने वाला भय और संदेह नई संधियों के निर्माण आदि अन्य कार्यों से जिन पर निरस्त्रीकरण के पक्षपाती कभी आपत्ति नहीं करते, और जो दोनों युद्धों के बीच के सारे समय उचित मानी जाती रहीं, और भी अधिक मात्रा में बढ़ते हैं।

पर उस समय बिल्कुल दूसरी बात होती है जब एक राष्ट्र का शस्त्र-बल स्पष्टत: किसी दूसरे के विरुद्ध नहीं होता, जैसा कि उन परिस्थितियों में हुआ था जिनमें निरस्त्रीकरण सम्मेलन (Disarmament Conference) की तैयारी हुई। जिस राष्ट्र को अपने पड़ौसी से आक्रमण का भय नहीं है, वह उस पड़ौसी के शस्त्र-बल की स्थिति से प्राय: सर्वथा अविचलित बना रहता है। सामान्यत: शस्त्रास्त्रों की वृद्धि उत्तप्त अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का संकेत-मात्र है। सेनाओं में व्यापक कमी द्वारा इसके इलाज का यत्न ऐसा ही है जैसे बुखार ठीक करने के उद्देश्य से थर्मामीटर को तोड़ देना। यदि सामूहिक सुरक्षा की प्रणाली में पूर्ण आस्था रक्खी जाये, तो वह प्रत्येक राष्ट्र, जो आक्रमण पर सक्रिय विचार नहीं कर रहा है, स्वत: अनुच्छेद ८ की इस प्रथम बात, 'राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए संगत निम्नतम बिन्दु तक राष्ट्रीय शस्त्रास्त्रों में कमी कर देना' का पालन करेगा। इसकी ऐसा करने की अनिच्छा का एकमात्र कारण यह है कि उसे प्रस्तुत सुरक्षा में विश्वास नहीं। विशेष रूप से आधुनिक लोकतन्त्रों की सरकारें, जिनकी जनता सामाजिक सुख-सुविधाओं के कार्य पर अधिकाधिक भारी व्यय की मांग कर रही है, अपने शस्त्र-बलों के बोझ को घटाने के पक्ष में कोई भी बात सुनने के लिए बिल्कुल तैयार हैं। पर जब प्रसंविदा के अनुच्छेद की दूसरी कसौटी—साझे कार्य द्वारा अंतर्राष्ट्रीय बन्धनों का प्रवर्त्तन—की टाल या उपेक्षा की जाती है, जैसे कि यह राष्ट्र संघ के अधिकतर सदस्यों ने की थी, तब 'राष्ट्रीय सुरक्षा से संगत न्यूनतम बिन्दु' का अर्थ अनिवार्यत: वह बिन्दु हो जाता है, जहाँ प्रत्येक राष्ट्र अपने प्रत्येक सम्भावी विरोधी से अधिक बलवान हो, और इस स्थिति में एक स्पष्ट व्याघात-परिणामी (reductio ad absurdum) पैदा हो जाता है। इसलिए, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गणितीय दृष्टि से अशक्य लक्ष्य सिद्ध करने का प्रयत्न समय और शक्ति का अपव्यय-मात्र था, पर असल में इन लम्बी और निराशाजनक वार्ताओं के परिणाम निश्चित रूप से हानिकारक थे।

प्रथम तो प्रतियोगितात्मक आधार पर निरस्त्रीकरण वार्त्ता से ठीक वही स्थिति पैदा हो जाती है, जो शस्त्रास्त्रों की अन्य किसी प्रतियोगिता से। जब कोई एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र से यह पूछता है कि आप अपने वर्तमान लाभ की स्थिति बनाये रखने के लिए इतना हठ क्यों करते हैं, तब संदेह पैदा हो जाता है। अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष बढ़ जाता है। दूसरे इन प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप, ठीक वे राष्ट्र, जो बिल्कुल यथार्थ रूप से शांति-प्रेमी थे, विशेष रूप से हमारा अपना देश, शांति की

भावनाओं के प्रति आशावादी तखमीनों पर आधारित एकपक्षीय उदाहरण द्वारा निरस्त्रीकरण के पक्ष को पोषित करने का प्रयत्न करने लगे। जैसा कि बताया जा चुका है, जब निरस्त्रीकरण सम्मेलन १९३२ में आरम्भ हुआ, तब वातावरण पहले ही इतना मेघाच्छन्न था कि अधिक प्रतिरक्षात्मक सतर्कता की आवश्यकता थी। पर इन राष्ट्रों ने इस भय से वह सतर्कता नहीं बरती कि ऐसा करने का उस नीति पर बुरा प्रभाव होगा जिस पर वे उस समय वचनबद्ध थे। पर सबसे अधिक गम्भीर प्रभाव लोकमत पर हुआ। लोकतन्त्रीय निर्वाचक, जिन्होंने निरस्त्रीकरण और शांति को अभिन्न मान लिया था, और जो किसी भी सूरत में 'मक्खन' से हटा कर 'तोपों' पर, अर्थात् सामाजिक सुख-सुविधायों से हटाकर राष्ट्रीय प्रतिरक्षा पर, व्यय कराने को तैयार नहीं थे, पुनः शस्त्रीकरण के जरा से संकेत के भी इतने विरोधी थे कि जब यह नीति अविलम्बनीय रूप से आवश्यक हो गयी, तब भी एक ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने चुनाव में हार जाने के भय से इसका पक्षपोषण न किया।[1] यह मनोवृत्ति कितनी ही घृणित और नैतिक दुर्बलता के आरोप की पात्र हो, पर वह निरस्त्रीकरण के पक्ष में अनेक वर्षों तक घोर प्रचार का तार्किक परिणाम थी। विशेष रूप से, वामपक्षी राजनीतिज्ञों के भाषणों और लेखों में शस्त्रास्त्रों के प्रमाप की किसी भी मांग को—और असल में इस पर ही आक्रमण का निरोध निर्भर था—राष्ट्रसंघ के साथ गद्दारी बताया जाता था, और इसके समर्थकों की, उन्हें सिद्धांतहीन युद्धपिपासु कह कर, निन्दा की जाती थी। पीछे की ओर देखने पर अब हम यह पूछ सकते हैं कि क्या, इन संकटमय वर्षों में, विजेता शक्तियों का बहुत अधिक शस्त्र-बल रखने का दृढ़ संकल्प शान्ति की सर्वोत्तम गारण्टी नहीं हो सकता था?

प्रथम विश्व युद्ध के भ्रामक निष्कर्ष
(Fallacious Generalizations from the First World War)

मेरी सम्मति में, निरस्त्रीकरण सम्बन्धी मनोवृत्ति की भाँति ही शान्ति सम्मेलन में निश्चित की गई प्रणाली की सहज त्रुटियाँ, अधिकांशतः एक ही कारक के कारण थीं, और वह था तत्कालीन विचारधारा पर प्रथम विश्व-युद्ध का असाधारण प्रभाव। इस पुस्तक के पहले अध्याय में इस बात की ओर ध्यान खींचा गया है कि इस अभूतपूर्व और संसार को हिलाने वाली घटना का, युद्ध को एक परम्परागत उपाय मानने की सामान्य मनोवृत्ति को मूलतः परिवर्तित करने पर कितना प्रभाव हुआ। इसकी शिक्षा निस्संदेह लाभदायक थी, पर साथ ही इस भयोत्पादक अनुभव के आघात से यह हानि भी हुई कि इसने संसार को उस अनुभव के रूप के अलावा और किसी रूप में उस समस्या पर विचार करने के अयोग्य बना दिया। प्रतीत

---

१. ब्रिटिश लोकसभा में १२ नवम्बर १९३६ को श्री (बाद में लार्ड) बाल्दविन का भाषण 'मान लीजिए कि मैं देहात में जाता और यह कहता कि जर्मनी फिर शस्त्र-सज्जा कर रहा है, और हमें भी अवश्य पुनः शस्त्र-सज्जा करनी चाहिए तो क्या आप समझते हैं कि यह शांतिवादी लोकतन्त्र उस समय इस पुकार पर संगठित हुआ होता? मेरे विचार में और किसी बात से चुनाव में पराजय इतनी निश्चित न होती'। श्री बाल्दविन ने स्वयं अपनी इस स्वीकृति को 'भयंकर स्पष्टता' कहा था।

होता है कि १९१४ की विशेष और थोड़ी-बहुत आकस्मिक परिस्थितियों ने राष्ट्रसंघीय प्रणाली के निर्माताओं के मनों पर ऐसी अमिट छाप डाल दी थी कि यह समझ लिया गया था कि भविष्य में युद्ध का मार्ग अपनाने का यही परिणाम होगा, जो अब हुआ है।

हर कोई उस अभूतपूर्व अनुभव की दृष्टि से ही बड़े संकीर्ण रूप में सोचने लगा। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम उन विशेष अवस्थाओं का स्मरण दिलायेंगे, जिनमें १९१४ का युद्ध आरम्भ हुआ। संकट का परिवर्धन आकस्मिक था। इसका तात्कालिक कारण एक अचिंतनीय घटना—एक सर्बियन राष्ट्रवादी द्वारा आस्ट्रियन आर्कड्यूक की हत्या—थी। तत्कालीन राजनीतिज्ञों को यह मालूम होता था कि इस दुष्कार्य पर आस्ट्रिया ने जल्दबाजी की, और कुविचारित प्रतिक्रिया पैदा हुई। यदि गम्भीरता से सोचने का मौका मिलता तो यह प्रतिक्रिया न होती। इसीलिए 'ठंडा होने के काल' पर बल दिया गया, और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के साथ होने वाली देर की व्यवस्था की गई। उस समय यह बात किसी के मन में नही आई प्रतीत होती थी कि बहुत पहले से योजनापूर्वक और धीरे-धीरे तैयारी किया हुआ विमर्शित आक्रमण भी हो सकता है जैसा कि द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में परिणत हुआ था। तो भी तथ्यतः उस पैमाने के युद्ध के लिए जो विश्व-स्थायिता के लिए व्यापक खतरा है, साधारणतया वर्षों की तैयारी की आवश्यकता है, और युद्ध का तात्कालिक कारण तो एक बहाना मात्र है जो आक्रान्ता द्वारा पहले से निर्धारित तिथि के आस-पास आसानी से पैदा किया जा सकता है।

जरा दूर दृष्टि से देखें तो पहले युद्ध को 'बाल्कन की उस गड़बड़ी का' परिणाम माना जा सकता है जो बहुत समय से योरोपीय कूटनीति का सिर दर्द बनी हुई थी। ऊपर से देखें तो यह गड़बड़ उस प्रदेश में कई उद्दण्ड और अपर्याप्त रूप से सभ्य छोटी जातियों के होने के कारण थी। इसलिए ही वह विचार पैदा हुआ जो लायड जार्ज के ज्ञापन में व्यक्त किया गया है कि मुख्य समस्या छोटे राज्यों की युद्धप्रियता को नियंत्रित करना, और युद्ध की चिनगारियों को समाप्त करना है, जो अन्यथा विनाशकारी रूप में फैल सकती हैं। तो भी अधिक गहरा विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट है कि बाल्कन खतरा असल में उस प्रदेश में महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धाओं से उत्पन्न हुआ। इनके कारण उन छोटे-छोटे झगड़ों में, जिन्हें दूसरी परिस्थितियों में और संसार के अन्य भागों में वे उपेक्षित कर सकते थे, उनका हस्तक्षेप आवश्यक हो गया था। संसार के अधिकतर भागों में छोटी शक्तियों के आपसी संघर्ष सामान्य शांति के लिए खतरा नहीं होते और उन्हें उस संघर्ष को उन तक ही रखने के पुराने उपाय द्वारा अत्यधिक प्रभावी रूप से निपटाया जा सकता है।

युद्ध के बारे में इस धारणा ने कि वह किसी थोड़ी बहुत आकस्मिक घटना के कारण उत्पन्न क्रोध के परिणामस्वरूप होने वाला एक आकस्मिक विस्फोट है, राष्ट्रसंघ के तंत्र को योजना-बद्ध और विमर्शित आक्रमण के मामलों के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त बना दिया। इन अवस्थाओं में आक्रांता, उपकल्पना के अनुसार उस समय, प्रसंविदा का अतिक्रमण करने के लिए तैयार है जो उसे अनुकूल पड़ता है। अनुच्छेद १५ की विलम्बकारी प्रक्रिया से उसे क्षण भर भी रुकने की आवश्यकता नहीं। इसमें उसका ही

लाभ है कि वह तब तक बातचीत और वार्त्ता जारी रखे जब तक उसके हमले का पूर्व-निर्धारित समय न आ पहुँचे। यदि उसकी बात मे जरा भी सार है तो वह बिना लड़े ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है, जैसे कि म्यूनिख में हुआ। उसका इरादा कितना भी साफ हो पर जब तक वह अनुच्छेद १६ के अनम्य सूत्र के अनुसार 'युद्ध का सहारा न ले', तब तक वह किसी भी प्रकार की बलात् दखलन्दाजी की जोखिम से उन्मुक्त है। गोली चलाना शुरू करने के बाद भी वह यह कह कर और समय प्राप्त कर सकता है कि उसका आचरण वास्तविक युद्ध के स्तर तक नहीं पहुँचा। दूसरी ओर, उसका सम्भावी शिकार स्पष्ट रूप से प्रसंविदा का अतिक्रमण किये बिना अपनी इच्छानुसार समय और मौका नहीं चुन सकता। यदि वह आक्रमण से पहले ही ऐसे समय स्वयं आक्रमण कर दे, जो उसके लिए अधिक अनुकूल हो तो सम्भाव्यतः उसे आक्रांता कहा जायेगा। उसे अपना मामला निर्णय के लिए ऐसे न्यायाधीशों को सौंपना पड़ेगा, जो सम्भवतः आदर्श न्याय-व्यवस्था की अपेक्षा शांति कायम रखने के लिए अधिक उत्सुक है।

इलाज से परहेज अच्छा

(Prevention better than Cure)

इसके अतिरिक्त युद्ध की उसी अवधारणा से कि वह ऐसे क्रोध का एक आकस्मिक विस्फोट है, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के विलम्बकारी उपायों द्वारा ठंडा किया जा सकता है, और इस प्रकार, प्रसंविदा की अन्तिम अनुशास्तियों का, युद्ध वास्तव में छिड़ जाने तक उपयोग नहीं किया जा सकता था, यह अर्थ निकला कि बल की जितनी मात्रा अन्यथा काफी होती उससे बहुत अधिक मात्रा आवश्यक था। तथ्यतः, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, राष्ट्रसंघ के पास हिसाब की दृष्टि से जो बल था, उसकी प्रतीयमान उत्कृष्टता कुछ भ्रममात्र थी। तो भी यह सम्भाव्य है कि यदि राष्ट्रसंघ को अपना पहले वाला महत्त्व प्राप्त होता और उसके सदस्य अपने वचनों की पूर्ति के लिए हार्दिक संकल्प प्रदर्शित करते तो वह अधिक से अधिक साहसी और बलवान आक्रांता को रोक सकते थे, बशर्ते कि समस्या रोकने की होती सिर्फ इलाज की नहीं। पहले काम के लिए बड़ी संख्या बहुलता आवश्यक नहीं। यद्यपि समय और मौके का चुनाव आक्रांता के हाथों में है, तो भी, यदि उसके अपने अन्दाजे के अनुसार सफलता संदिग्ध हो तो कोई राष्ट्र युद्ध में पड़ने को शायद ही तैयार हो। इस समय उसके सामने यह प्रश्न नहीं हो सकता कि 'क्या मैं निराशाजनक रूप से औरों से दुर्बल हूँ, बल्कि यह प्रश्न होगा कि क्या मैं निश्चित रूप से ऐसे किसी भी संयोजन से जिसका मुझे सामना करना पड़ सकता है निश्चित रूप से अधिक बलवान् हूँ ?' यदि आक्रमण के इच्छुक राष्ट्र को अपनी योजना की आरम्भिक अवस्थाओं में राष्ट्रसंघ से भय बना रहता तो राष्ट्रसंघ की शक्ति, चाहे वह वास्तविक था या प्रतीति मात्र, सम्भाव्यतः पर्याप्त निरोधक होती। सैनिक हस्तक्षेप की जोखिम पर आक्रांता को अपनी तैयारियों की आरम्भिक अवस्था से ही विचार करना पड़ता। पर मौजूदा स्थिति में 'युद्ध का आश्रय' (resort to war) शब्दों की कठिन परिभाषा के कारण उसे तब तक डरने की कोई बात नहीं थी, जब तक वह पूर्ण न हो जाएँ। दूसरी ओर, जो युद्ध पहले ही आरम्भ हो चुका हो, उसे

रोकने के लिए, वास्तविक और प्रचुर उत्कृष्टता की आवश्यकता थी; इस उत्कृष्टता का ऐसी रीति से उपयोग करने की जरूरत थी जो युद्ध न बन जाए—युद्ध का समाप्त करना तो इस प्रणाली का परमावश्यक कार्य था। तथ्यतः इस प्रणाली की यह एक गम्भीर त्रुटि थी कि शक्ति प्रयोग इसमे बहुत बाद की स्थिति के लिए रखा गया था।

राष्ट्रसंघ की भ्रामक शक्ति
(Illusory Strength of the League)

राष्ट्रसंघ को बल प्रयोग करने की व्यवस्था भी इसके बहुत बड़े कार्य के लिए उतनी पर्याप्त न थी जितनी उस समय मान ली गई थी। लगभग ६० राष्ट्रों ने प्रसंविदा का समर्थन करने की गम्भीरतापूर्वक प्रतिज्ञा की थी। निःसंदेह शुरू से यह अनुभव किया जाता था कि राज्यों की इस प्रभावोत्पादक संख्या का अधिकाँश सिर्फ आर्थिक ढंग के कार्य में हिस्सा ले सकता है। चाहे यह बात सब विचारशील व्यक्तियों को कितनी ही स्पष्ट रही हो कि 'किसी महाशक्ति के विरुद्ध सारी अनुशास्तियों के प्रभावी प्रवर्तन के लिए अन्ततोगत्वा सैनिक बल का उपयोग करने की इच्छा और शक्ति पर निर्भर होना पड़ेगा'।[1] तो भी ये सब बातें होने के बावजूद अधिकतर लोगों को अब भी यही प्रतीत होता था कि यदि इच्छा हो तो शक्ति तो काफी से अधिक है। इस स्पष्ट तथ्य का, कि शुरू से इच्छा का उल्लेखनीय अभाव था, कारण आमतौर पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना के अभाव को बताया जाता था; तो भी उपलब्ध शक्ति इतनी प्रबल दिखाई देती थी कि उसे चुनौती देना संभव न था।

पर दूसरे विश्वयुद्ध से मिली सब से महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं में से एक यह थी कि महाशक्तियों को छोड़कर और किसी भी राज्य में अपने से उच्च कोटि के राष्ट्र का मुकाबला करने का नगण्य सामर्थ्य था। जब तक युद्ध को १९१४-१८ के रूप में सोचा जाता था, जिसमें आक्रान्ता की बड़ी उत्कृष्टता के बावजूद कुछ सौ गज भूमि धीरे-धीरे बहुत सा खून बहाकर हासिल कर ली जाती थी, तब तक यह अनुभव किया जाता था कि अपेक्षया कमज़ोर सेना भी उचित रीति से जमी होने पर, आक्रान्ता को सम्भाव्यतः इतना विलम्ब करा सकती थी कि कुमुक पहुँच सके। अब 'ब्लिट्ज़ क्रिग' (blitzkrieg) ने हमें एक दूसरा ही पाठ पढ़ाया है, जो इतना निश्चित होकर कहा जा सकता है कि १९४० से पहले कहीं मुश्किल से ही हृदयंगम किया जाता था। अब यह स्पष्ट है—कि कोई प्रथम कोटि की शक्ति छोटे राष्ट्रों को एक के बाद एक प्रायः वैसी ही तेज़ी और सरलता से पटकती जा सकती है जैसे कोई बड़ा आदमी कई सारे बच्चों को इधर-उधर फेंकता चला जाय। उदाहरण के लिए, पोलैंड जो बहुत बड़ा देश है, जिसकी प्राकृतिक संपदा बहुत थोड़ी नहीं है, जिसकी आबादी उच्चतम युद्ध-सामर्थ्य से संपन्न है, और संख्या में फ्रांस या इटली की आबादी से बहुत कम नहीं (४२० लाख के मुकाबले में ३४० लाख) है, जर्मनी के हमले के सामने एक ही महीने में धराशायी हो गया। साथ ही इस उदारण में आक्रान्ता को आकस्मिकता का लाभ भी नहीं मिला

१. इन्टरनेशनल सैंक्शन्स : ए रिपोर्ट बाइ ए ग्रुप आफ मैंबर्स आफ दी रायल इन्स्टीट्यूट आफ इन्टरनेशनल अफेयर्स, पृष्ठ ११५।

था। पोलैंड ने ५ दिन में (१० से १५ मई) हथियार डाल दिये थे, और बैल्जियम, जिस पर साथ ही हमला किया गया था, २७ मई तक पराजित हो गया था। ग्रीस ने ब्रिटिश सहायता से इटली का कुछ अधिक मुकाबला किया, पर जब ६ अप्रैल १९४१ को जर्मनी ने आक्रमण किया, तब उसने १५ दिन में अपनी और अधिक प्रतिरोध करने की असमर्थता स्वीकार कर ली और अन्त में महीना समाप्त होने से पहले उस पर जर्मनी का अन्तिम रूप से कब्जा हो गया। यूगोस्लाविया, जिस पर उसी समय हमला किया गया, जरा देर में खत्म हो गया, यद्यपि कुछ गुरिल्ला कार्य अवश्य चलता रहे। थोड़े देशों को छोड़कर, जिन्हें तटस्थ रहने दिया गया, सारा योरोपीय महाद्वीप १९४१ के मध्य तक अपनी स्वाधीनता खो चुका था और यह बात तब थी जबकि जर्मनी उसी समय मुख्य लड़ाई में अन्यत्र व्यस्त था। इस सब से यही शिक्षा निकलती प्रतीत होती है कि किसी प्रथम कोटि की शक्ति के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए अन्य महाशक्तियों के साथ मिलकर लड़ने पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

एक बार यह महसूस कर लिये जाने पर राष्ट्रसंघ की शक्ति में एक स्पष्ट त्रुटि तुरन्त दीखने लगी। शुरू में इस संगठन में पाँच महाशक्तियाँ थीं, पर यूनाइटेड स्टेटस के निकल जाने पर सिर्फ चार रह गईं। ब्रिटेन, फ्राँस इटली और जापान शेष रहे, जिनमें से पिछले दो प्रसंविदा का सब से घोर अतिक्रमण करने वालों में थे। इसके अलावा, इटली के प्रथम कोटि की शक्ति होने के दावे की मान्यता भी विवादास्पद है। राष्ट्रसंघ से बाहर यूनाइटेड स्टेट्स, सोवियत संघ—जो दोनों युद्धों के बीच के अधिकतर स्वयं प्रसंविदा का उग्र विरोधी रहा—और घोर आक्रान्ता, जर्मनी थे। जर्मनी के भय से सोवियत संघ १९३४ में राष्ट्रसंघ में आ गया। इस समय तक, जर्मनी, जिसे १९२६ में राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया गया था, अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे चुका था, पर रूस प्रसंविदा के सिद्धान्तों को यथार्थतः या स्थायी रूप से मानेगा, इस बात में न केवल सोवियत सरकार के पिछले रवैये से, बल्कि अगस्त १९३९ में जर्मनी के साथ हुए करार, पोलैंड की हिस्सा बाँट में साझेदारी और फिनलैंड पर आक्रमण के दुष्कार्य के कारण भी जिसके परिणामस्वरूप सोवियत संघ से निकाल दिया गया, संदेह था। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि किसी महान् शक्ति के आक्रमण से, जो व्यापक शान्ति के लिए एक मात्र वास्तविक खतरा था, 'सामूहिक सुरक्षा' का अर्थ सारतः एंग्लो-फ्रेंच संधि की शक्ति ही था। यह ठीक है क्योंकि उस समय इस त्रुटि को पूरी तरह अनुभव नहीं किया गया इसलिए कुछ समय तक राष्ट्रसंघ की प्रतीयमान शक्ति का निरोधक प्रभाव था, पर इसके सदस्यों में आमतौर से अपने प्रतिज्ञात कर्तव्यों की पूर्ति की स्पष्ट और बढ़ती हुई अनिच्छा के कारण, वह शक्ति शीघ्र ही खत्म हो गई। सैनिक शक्ति के वास्तविक स्वामियों के प्रबल नेतृत्व की तत्काल आवश्यकता थीं।

यह नेतृत्व इस तथ्य के कारण प्रभावकारी न हो सका कि राष्ट्रसंघ के उचित कार्य के बारे में फ्राँस और ब्रिटेन की अवधारणाएँ एक दूसरे से बहुत भिन्न थीं,

जिनमें से एक भी पूर्णतया संतोषजनक नहीं। इन दोनों में से प्रत्येक इस समस्या को अपनी परम्परागत राष्ट्रीय नीति के संचालन का साधन समझता था। असल में फ्रांस बल-प्रयोग की दिशा में सोचता था, पर उसके लिए राष्ट्रसंघ पुनः उठते हुए जर्मनी के खतरे से उसकी अपनी रक्षा करने के लिए मैत्री संधि की एक विस्तृत प्रणाली था। वह इस रक्षा के उपाय को पुष्ट करने के लिए अन्य अधिक परम्परागत प्रकार की मैत्रियों का आश्रय लेना चाहता था, और यदि उसका कोई मित्र या आश्रित राज्य (शुरू में पोलैंड; १९३५ मे इटली) शान्ति भंग करे तो उससे बिल्कुल आँखें मूँद लेना चाहता था। राष्ट्रसंघ के इस जर्मन-विरोधी मैत्री संधि के रूप में राष्ट्रसंघ के इस संकीर्ण कार्य के अतिरिक्त, और विशेष रूप से यूरोप की सीमाओं से बाहर, फ्राँस को स्पष्टतः कोई दिलचस्पी नहीं थी, और वह इस बात को मानता भी था शायद स्वभावतः ब्रिटिश विचार अधिक व्यापक था, क्योंकि ब्रिटेन के हित अधिक विश्वव्यापी ढंग के थे। पर उसने सैनिक कार्यवाही करने के स्वतः और दूरगामी वचन न देने की अपनी परम्परा बनाई हुई थी, और वह प्रसविदा को मुख्यतया इसलिए महत्त्व देता था कि उससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सम्मेलन और वार्त्ता द्वारा हल करने के अवसर मिलते थे। ब्रिटेन यथासंभव अपने सैनिक दायित्व अपने चले आते हुए हितों के स्वार्थों के संरक्षण, मार्गस्थ बन्दरगाहों की रक्षा और योरोप महाद्वीप पर किसी एक भी शक्ति के आधिपत्य के विरोध तक सीमित रखना चाहता था। यद्यपि वह अन्य प्रत्येक उपाय से शान्ति कायम रखने के लिए हृदय से उत्सुक था, पर युद्ध में कूदने के लिए वह सिर्फ इन राष्ट्रीय स्वार्थों की खातिर ही तैयार था। इन परिस्थितियों में ऐसी स्थिति में जो इन दो शक्तियों के महाकार्य पर निर्भर थी, बड़ी कठिनाइयाँ थी।

युद्ध के स्वरूपों में भेद करने की विफलता

(Failure to Discriminate Between Types of war)

थोड़ी सी वस्तुतः प्रथम कोटि की शक्तियों के अलावा, और सब राष्ट्रों की उपेक्षणीय सैनिक शक्ति से यह अर्थापत्ति (corollary) निकलती है कि संसार की शांति को सिर्फ इन महाशक्तियों से खतरा है। तथ्यतः उतनी बड़ी लड़ाई, जितनी १९१४ और १९१८ के बीच हुई और जिसने युद्ध के परम्परागत रूप के प्रति साधारण रवैये में आमूल परिवर्तन कर दिया, सिर्फ उन राज्यों द्वारा चलाई जा सकती है, जिनका सैनिक और औद्योगिक सामर्थ्य बहुत ही अधिक है। पर आज भी यह बात समझ में नहीं आई दीखती कि दुनिया के सामने असली समस्या वैसे युद्ध को समाप्त करने की है, जो सबके लिए विनाशकारक है, और इसका अर्थ यह है कि सिर्फ महाशक्तियों की आक्रामक प्रवृत्तियों पर ध्यान दिया जाए। यदि इन्हें नियंत्रित किया जा सके तो छोटे राष्ट्रों की मामूली मुठभेड़ें बहुत महत्त्व की चीज नहीं रहतीं—लगभग वैसी ही स्थिति हो जाएगी जिसमें १९१४ तक युद्धों को आमतौर से सह लिया जाता था। विलोमतः ऐसी कोई सामूहिक शान्ति प्रणाली वास्तव में कार्यसाधक नहीं हो सकती, जो महाशक्तियों को अबाध स्वतंत्रता की स्थिति में छोड़ देती हो—संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणा-

पत्र ऐसी ही स्थिति मे छोड़ दता प्रतीत होता था। विभिन्न प्रकार के युद्धों में विभेद करने की अक्षमता ही शायद वह सब से अधिक उल्लेखनीय बात थी जिसकी दृष्टि से प्रथम विश्व-युद्ध के अपूर्व अनुभव ने प्रसंविदा के निर्माताओं को भ्रम में डाला।

सामूहिक सुरक्षा की प्रणाली भी, अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से देखें तो, मैत्री संधियों की प्रणाली की तरह आवश्यक रूप से राष्ट्रीय हितों की समानता पर निर्भर है। गलत हो या सही, पर हम सभ्यता की उस मंजिल पर नहीं पहुँचे हैं, जिसमें राष्ट्र ऐसे कार्य को, चाहे वह कितना भी अपराध-पूर्ण हो, रोकने या दण्डित करने के लिए, जिससे वे अपने को प्रभावित नहीं समझते, शुद्धतः नैतिक इच्छा से आवश्यक खतरों कष्टों और बलिदानों का सामना करेंगे। प्रसंविदा के निर्माता यह समझते थे कि संसार अभी जिस अनुभव से मुक्त हुआ है, उसकी पुनरावृत्ति रोकने का कार्य ऐसा संयुक्त हित है और सचमुच ऐसे युद्धों को खत्म करना स्पष्टतः एक सर्वव्यापी स्वार्थ था क्योंकि उनके हानिकारक प्रभाव इतने विस्तृत क्षेत्र में होते हैं कि व्यवहारतः वे विश्व-व्यापी हो जाते हैं। पर इस बात को भुला दिया जाता है कि इस तरह का युद्ध मानव इतिहास में एक अपूर्व उदाहरण था और इसके अब भी अपवाद बने रहने की सम्भावना है, नियम नहीं। ऐसा युद्ध छेड़ना जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, तथ्यतः सिर्फ थोड़ी सी महा शक्तियों के सामर्थ्य के अन्दर था। प्रंसविदा में इस बात की उपेक्षा करते हुए मूलतः भिन्न स्वरूप के युद्धों में कोई अन्तर नहीं किया गया था। अनुच्छेद ११ द्वारा 'किसी भी युद्ध को सारे राष्ट्रसंघ की चिन्ता का विषय' बताया गया था, और इसका सामना करने के लिए जो अन्तिम उपाय रखा गया था, वह तथ्यतः इस अत्यधिक विवादास्पद व्यापक स्वीकृति पर निर्भर था। इसमें यदि आवश्यकता पड़े तो यह कर्तव्य भी अंतर्ग्रस्त था कि राष्ट्रसंघ के सारे सदस्यों को सैनिक कार्यवाही में हिस्सा लेना होगा, या कम से कम ऐसा जोरदार बहिष्कार करना होगा, जिसमें प्रतिशोध्य की जोखिम उठानी पड़ती थी। पर बहुत सारे, शायद अधिकतर, युद्धों में हस्तक्षेप करने के लिए कोई साझा स्वार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता था। उच्चतम सैनिक और औद्योगिक सामर्थ्य वाले राष्ट्रों के अतिरिक्त, अन्य राष्ट्रों के होने वाले युद्धों से अब भी वैसे दुनिया को हिलाने वाले परिणाम नहीं हो सकते थे जिन्होंने मानव के अंतःकरण को स्तब्ध कर दिया था। उनके बारे में युद्ध के प्रति १९१४ से पहले का रुख अब भी ठीक था, और तथ्यतः उपचेतना में व्याप्त था। अब तक ऐसे मामूली और स्थानीय झगड़ों पर व्यापक शान्ति के हितों को देखते हुए यह सिद्धान्त लागू किया जाता था कि उस संघर्ष को उन तक ही सीमित कर दिया जाए, और ऐसी निश्चित व्यवस्था कर दी जाय कि महाशक्तियाँ उसमें हिस्सा लेकर उसके क्षेत्र में वृद्धि न करें। व्यापक शांति के लिए सबसे अधिक सहायक नीति वह मानी गई थी जो अनुच्छेद ११ में बताई गई नीति के प्रतिकूल थी। वह नीति यह थी कि प्रत्यक्षतः युद्ध में भाग न लेनेवालों राज्यों को यह प्रेरणा की जाती थी कि तुम्हें इससे कोई वास्ता नहीं। मेरी राय में यह एकलन (isolation) और अहस्तक्षेप (non-intervention) की नीति अब भी रहनी चाहिए थी, और ऐसे मामलों में

उसका खुले तौर से प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि अब जो नई रीति उपयोग करने का विचार था, उसमें परिणाम यह होता था कि स्थानीय और अपेक्षया-महत्त्वहीन संघर्ष ठीक उस तरह के युद्ध में बदल जाता था, जिसे रोकना प्रसंविदा का वास्तविक उद्देश्य था, अर्थात वह ऐसा विश्वयुद्ध बन जाता था, जिसमें राष्ट्र संघ की सब महाशक्तियाँ हिस्सा लें। जब यह मामला ठोस रूप में पेश किया गया तब समाज के हृदय ने विद्रोह कर दिया। पर कई क्रियात्मक अवसरों के आने पर राष्ट्रसंघ की व्यवस्था का ठप होना इसके गौरव के नष्ट होने का सबसे मुख्य कारण बना, और इस गौरव पर ही युद्ध के निरोधक के रूप में इसकी सफलता निर्भर थी। यदि इसका गौरव और मान ऊँचा होने के समय पहली चुनौती उस तरह के युद्ध की जोखिम पैदा करने वाली स्थिति से उत्पन्न हुई होती जो इस प्रणाली का एकमात्र प्रेरक था, तो अनुक्रिया—और परिणाम—शायद बहुत भिन्न होते। तथ्यत: इसमें तथा शान्ति समझौते के अन्य प्रसंगों में सिद्धान्त को बहुत कठोरता से लागू किया गया था और यदि यह पद्धति अधिक लचीली होती तो शायद अधिक सफल हुई होती।

शायद यह कहा जा सकता है कि यहाँ जैसी विवेकाधीन शक्ति का सुझाव रखा गया है, उससे ऐसी जगह भी संयुक्त बल की अन्तिम अनुशास्तियाँ (sanctions) लागू करने के बंधन से बचने के लिए बहुत आसान बहाना मिल जायेगा जहाँ यह उचित इलाज था, और हमेशा यह फैसला करना आसान न होगा कि कोई खास लड़ाई वास्तव में युद्ध की किस कोटि में आती है। निःसन्देह, इन आपत्तियों में बल है; संभाव्यत: कोई भी प्रणाली पूर्णतया सुनिश्चित नहीं बनाई जा सकती। तो भी पहली बात के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जहाँ आशंकित युद्ध १९१४ के या १९३९ के युद्ध की कोटि का है, वहाँ इसे रोकने में सबके साझे हित की बात सबको स्पष्ट होनी चाहिए, और यदि रोकने की मंजिल पर, उपलब्ध बल का प्रयोग करने का अधिकार होता तो राष्ट्रसंघ के सदस्य खतरा पहली बार दिखाई देने पर 'युद्ध के आश्रय' के समय की प्रतीक्षा करने के स्थान पर अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने को अधिक इच्छुक होते। दूसरी बात के बारे में यह कहा जा सकता है कि अधिकतर मामलों में राष्ट्रसंघ की परिषद् जैसे किसी निकाय के लिए यह निर्धारित करना आसान होता कि कोई प्रस्तुत शान्ति-भंग, चाहे वह आशंकित हो या वास्तविक, असल में किस श्रेणी में आता है। विश्व दावानल का, जिसे रोकना सबके सामान्य हित में है, वास्तविक खतरा अधिकतर योरोप के महाद्वीप तक ही सीमित था, और जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, वह किसी *महान्* शक्ति के आक्रामक इरादों से पैदा हो सकता है। यह ठीक है कि कुछ मामले सीमा-रेखा पर होते हैं, पर युद्ध का आश्रय लेने के अधिकतर उदाहरण या तो निश्चित रूप से रेखा के एक ओर होते हैं, या दूसरी ओर। निःसन्देह अधिक लचीले सिद्धान्तों पर गठित राष्ट्रसंघ बहुत छोटे-छोटे राज्यों के लिए, जो इसकी सुरक्षा की भ्रामक गारंटी के 'उत्पादक' के बजाय 'उपभोक्ता' थे, कम आकर्षण होता, पर विश्वयुद्ध की दुर्घटना के निवारक रूप में इसकी क्षमता संभाव्यत: बढ़ जाती।

संघात्मक आदर्श
(The Federal Utopia)

उपर्युक्त दलील स्पष्टतः इस धारणा पर आधारित है कि सामूहिक सुरक्षा की प्रणाली राष्ट्रीय हितों की समानता पर निर्भर है, पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बहुत से विद्यार्थियों की दृष्टि में पृथक् सर्वोच्चता सम्पन्न राज्यों की इच्छा पर निर्भरता ही सारी स्थिति को बिगाड़ने वाली चीज़ है। उनका कहना है कि संघीय व्यवस्था यानी फ़ैडरलिज्म या कोई ऐसी सर्वोच्च अन्तर्राष्ट्रीय कार्यपालिका ही, जिसकी अपनी सेना आदि हो, सही और एकमात्र इलाज है। एक काल्पनिक सिद्धान्त के रूप में इस विचार के पक्ष में प्रायः अकाट्य दलीलें दी जा सकती हैं। पर इस इलाज की व्यावहारिक उपयोगिता वास्तव में उस कीमत पर निर्भर है, जो हम शान्ति के लिए चुकाने को तैयार हैं। यदि मानव वास्तव में शान्ति को सब बातों से बढ़कर मानता, तो यह समस्या पूर्ण शान्तिवाद और अप्रतिरोध के आधार पर सीधे ही हल हो जाती। लेकिन तथ्य यह है कि चाहे वह कुछ भी कल्पना करता हो, पर शान्ति को वह इतना महत्त्व नहीं देता। सारा संसार, जिसमें कोई नगण्य अपवाद हो सकता है, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के मामले में कोई शर्त नही मानता। इसका क्या अर्थ है? यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि इस प्रकार सुरक्षित अधिकार वैसे वैयक्तिक आत्मरक्षा के अधिकार से, जैसा कानून हिंसा के वैयक्तिक उपयोग के लिए उचित स्वीकार करता है, सारतः भिन्न है। इस प्रकार, उचित रूप से शस्त्र का प्रयोग करने वाला व्यक्ति अपने जीवन, या कम से कम अपनी संपत्ति, की रक्षा कर रहा है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा में संलग्न राष्ट्र ऐसी कोई चीज़ नहीं कर रहा। इसके नागरिकों का जीवन और सम्पत्ति अब वास्तव में खतरे में पड़ गये और वे पूर्ण तथा अविलम्ब समर्थन द्वारा इन अविलंब खतरों से बच सकते हैं। किसी विजित राज्य के लोग, चाहे उस राज्य का क्षेत्र विजेता के राज्य में मिला लिया गया हो, या उस पर उसका आधिपत्य कायम हो, सामान्यतया अपने जीवन और सम्पत्ति की रक्षा कर सकते हैं, यद्यपि वे अन्य देशीय सर्वोच्चता या नियन्त्रण के अधीन रहते हैं। जब लोग अपने देश की रक्षा के लिए लड़ते हैं, तब असल में वे जिस चीज़ की रक्षा करते हैं वह है विदेशी दखलंदाजी से मुक्त सर्वोच्चता का अधिकार। अनुभव से, खासकर दूसरे विश्वयुद्ध से, प्रकट होता है कि इस अधिकार की रक्षा मनुष्य की प्रबलतम और सब से अधिक सार्वभौम अंतःप्रवृत्तियों में से है। इस अंतःप्रवृत्ति की पूर्ति के लिए लोग हँसते-हँसते जीवन बलिदान कर देंगे। वे आक्रान्ता का प्रतिरोध करने के लिए आशाहीन विपत्तियों का सामना करेंगे, और जब वे पराजित हो जायेंगे और उनका देश शत्रु के आधिपत्य में आजायगा, तब भी वे कैद, यंत्रणा, फांसी या गोली से उड़ा दिया जाना विजेता के शासन की अधीनता स्वीकार करने की अपेक्षा अच्छा समझेंगे। यह प्रश्न उनके लिए व्यर्थ है कि वह शासन अच्छा है, या बुरा।[1] इसी प्रकार राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के आकांक्षी लोग प्रायः यह मानने को

१. इस भाव को चेस्टरटन की निम्न पंक्तियाँ बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करती हैं:
I knew no harm of Bonaparte and plenty of the Squire,
And for to fight the Frenchmen I did not much desire;
But I did bash their baggonets because they came arrayed
To straighten out the crooked road an English drunkard made.

तय्यार होते हैं कि जिस सरकार के विरुद्ध वे युद्ध कर रहे हैं, वह उससे उत्कृष्ट है जो वे स्वयं इसकी जगह बना सकेंगे; तो भी वे कहते हैं कि हमें विदेशी हस्तक्षेप के बिना गलतियाँ करने दी जाएँ। इसलिए किसी ऐसे प्रकरण के सर्वोपरि राज्य या अंतर्राष्ट्रीय सुपर-स्टेट या संघ के, जो इसकी संरचना करने वाले अलग-अलग राष्ट्रों को नियन्त्रित करने की शक्ति रखता हो, पक्षपातियों का यह कथन सही हो सकता है कि इन शर्तों पर शान्ति उपलब्ध हो सकती है। पर इसकी जो कीमत मांगी जाती है, वह यह है कि उसी चीज़ को त्याग दिया जाए जिसे सारी मानव जाति और भी अधिक मूल्यवान् समझती है। मनुष्य शान्ति और सुरक्षा के लिए बहुत कुछ कुरबान कर देंगे, पर एक चीज़ जिसके लिए वे मृत्यु-पर्यंत लड़ने को तय्यार हैं, उनके देश की सर्वोच्च स्वतंत्रता है। जो प्रणाली राष्ट्रवादिता के बल की उपेक्षा करती है, उसकी विफलता उतनी ही निश्चित है जितनी उस आदमी की जो नियागरा के जल-प्रपात में तैर कर ऊपर चढ़ना चाहता है।

आदर्शों के युद्ध की समस्या
(Problem of Ideological Warfare)

पर राष्ट्रवादिता की भावना को—प्रोफेसर टायन्बी की कठोर भाषा में—'मानव जाति का भयंकरतम शत्रु'[1] न मानने के लिए एक और भी अधिक प्रबल कारण है। इस शैतान को—अगर यह शैतान है तो—बाहर निकालने से अन्य भूतों के लिए द्वार खुल जाएगा जो मानव स्वतन्त्रता और न्याय के लिए कम विनाशकारी नहीं। हाल के अनुभव ने अधिकाधिक स्पष्टता से यह प्रकट कर दिया है कि युद्ध का विलोपन अपने आप में मनुष्य जाति की विजय और अत्याचार की जोखिम से नहीं छुड़ा सकता। प्रथमाक्रमण (aggression) के एक नये सम्प्रदाय ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तोपों और बमों के प्रयोग से रहित एक नया तरीका खोज निकाला है और वह है आदर्शो-सम्बन्धी युद्ध का तरीका। इस नई विरोधी भावना के प्रवेश को रोकने के लिए राष्ट्रीय निष्ठा की एक प्रबल भावना सबसे आवश्यक वस्तु प्रतीत होती है।

यहाँ हमारा जिस घटना से वास्ता है, वह इस पुस्तक में वर्णित काल की एक सबसे अधिक उल्लेखनीय घटनाओं में से है। कुछ ही समय पहले तक आइडियोलोजी शब्द अपने मौजूदा अर्थ में अंग्रेजी में नहीं चलता था। कंसाइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी के १९३४ के संस्करण में इसके मौजूदा अर्थ के बजाय इसका 'स्वप्नमय कल्पना' (visionary speculation) अर्थ दिया गया। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति तक राष्ट्रों में, उनकी शासन-पद्धतियों, या शासन-सिद्धान्तों का विचार किये बिना, पूर्णतया अच्छे सम्बन्ध बने रहते थे। गणराज्य सीमित राजतन्त्र और सब प्रकार के निरंकुश राज्य प्रेम से एक-दूसरे के साथ रहते थे, और मैत्री संधियां भी करते थे। सच तो यह है कि दूसरे देश की आंतरिक राजनीति में दखल देना गलत समझा

---

१. ए० जे० टायन्बी, ए स्टडी ऑफ़ हिस्ट्री, रायल इन्स्टीट्यूट आफ़ इन्टरनेशनल अफेयर्स के लिए आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लंदन द्वारा प्रकाशित, १९३४-३९, जिल्द ४, पृ० २२१।

जाता था, यहां तक कि क्रान्ति में दखल देना भी ठीक न समझा जाता था, पर शर्त्त यह थी कि वह—कैसल रीग (Castlereagh) के शब्दों में—अन्य राज्यों को सीधा और सन्निकट खतरा न पैदा करती हो। यह कसौटी वास्तव में वही है जो राष्ट्रीय प्रतिरक्षा का परम्परागत प्रेरक भाव है। शायद उस युद्ध का, जिसे आज विचारधारा या आदर्श का युद्ध कहते हैं, राष्ट्रपति विल्सन जैसे सच्चे लोकतन्त्रवादी ने उस समय श्रीगणेश किया जब उन्होंने इस बात का आग्रह किया कि शान्ति की शासन-पद्धति अपनाई जाए। पर इस नई टैकनीक के वास्तविक आविष्कर्ता रूसी बोल्शेविक थे। उनकी दृष्टि से यह नीति सर्वथा तर्कसंगत थी। विश्व-विजय, जो उनका लक्ष्य था, शुरू में सचमुच विचार-सीमा के अन्दर था। वे अधिकतर ऐसे लोग थे जिनमें से बहुतों में बहुत दिनों तक अवैध और निर्वासित बने रहने के कारण राष्ट्रीय भावना की आग बिल्कुल बुझ चुकी थी। क्योंकि वे और उनके अनुयायी सब देशो मे बहुत ही थोड़ी संख्या में थे, इसलिए उनका लोकतन्त्र के विरुद्ध होना आवश्यक था, जिसमें स्वतन्त्रता-पूर्वक बहुमत के अनुसार कार्य होता था। उनके हथियार भौतिक के बजाय विचारात्मक, आदर्शात्मक ही हो सकते थे, और उनकी कार्यपद्धति यह ही हो सकती थी कि आक्रान्ता देश के थोड़े से सहानुभूतिमय और उपयुक्त रीति से राष्ट्रीय भावना से रहित किये गये नागरिकों द्वारा मुख्य नाकों पर कब्जा कर लिया जाए। वे यथार्थ लोकतन्त्र के वामपक्षी दलों से कुछ समय के लिए मिलकर कार्य करना ऊपर से स्वीकार करने में निपुण थे—और अब भी हैं—पर उनका अंतिम आशय यह रहता था कि ऐसे सहयोगियों को निर्दयतापूर्वक निकाल दिया जाए, और उनकी शक्ति वैसे ही अपने हाथ में कर ली जाए जैसे कोयल का बच्चा अपने साथी बच्चों को निकाल देता है।

ये उपाय लोकतन्त्र के विरुद्ध अत्यधिक सफल हो सकते थे। जिस राष्ट्र में इन उपायों का प्रयोग किया जा रहा हो, उसके सामने दो मार्गों की द्विविधा थी—या तो वह सर्वथा प्रतिरक्षाहीन बना रहे, अथवा स्वतन्त्र भाषण और लोकमत को दबाकर अपने मूल सिद्धान्तों को छोड़ दे। मार्क्स और मास्को के अनुशासित और मतान्ध शिष्य, जो अपनी सारी राष्ट्रीय निष्ठा अपने विदेशी शिक्षकों के आदेश पर कुर्बान करने को तैयार रहते थे, लोकतन्त्रीय राष्ट्र में सदा चुपके से प्रवेश कर सकते थे। वह राष्ट्र बदले में उसी प्रकार की कार्यवाही न कर सकता था, क्योंकि रूस में, जैसा कि प्रत्येक सर्वाधिकारवादी देश में होता है, एक ही राजनैतिक विचारधारा लादी जाती थी, और बोलने तथा सोचने पर सख्त नियंत्रण होता था। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि ऐसी नीतियाँ शुद्धतः राष्ट्रीय प्रसार के लक्ष्य की पूर्ति भी करा सकती थीं। फासिस्टों और नाजियों को यद्यपि, वे प्रकाश्यतः अति राष्ट्रवादी (ultra-nationalist) थे, रूस के नमूने पर चलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। यद्यपि प्रतिस्पर्धी आन्दोलनों ने एक-दूसरे को कुछ दूर तक शिथिल कर दिया, पर दोनों से लोकतन्त्र की क्षति हुई, क्योंकि एक चरम मार्ग के भय और घृणा ने, इसके विरोधी पक्ष में आने के लिए और लोगों को बढ़ावा दिया। कम्युनिज्म के समर्थक रूसी नीति में होने वाले कैसे ही आकस्मिक और असंगत परिवर्तनों को तत्परता से सिर झुका कर स्वीकार

करने लगे। प्रायः सब देशों में फासिस्ट केन्द्र भी पैदा हो गये, जिनका विदेशों से लिये हुए अपने मत के प्रति उत्साह राष्ट्रीय निष्ठा की सीमाओं का भी अतिक्रमण करता था। लोकतन्त्र जहाँ अक्षत बचा रहा, वहाँ इसका मुख्य कारण यह था कि वहां राष्ट्रीय निष्ठा की स्वस्थ परम्परा वाला प्रबल मध्यमार्गी लोकमत मौजूद था, और राजनैतिक विरोधों से उत्पन्न प्रकोपन ऐसी स्वतन्त्र शासन की प्रणाली के लिए अनिवार्यतः हानिकारक था, जिसकी दक्षता मुख्यतः समझौतों और आपसी सहिष्णुता की शक्यता पर निर्भर है, और इस प्रकार शासित राष्ट्रों के लिए वह दुर्बलताजनक था, क्योंकि राष्ट्रीय एकता इससे नष्ट होती थी। 'जो राज्य आपसी फूट से ग्रस्त है, वह उजड़ जाता है।'

इस नई परिस्थिति के परिणाम स्पेनिश गृह-युद्ध में, जो स्वयं असमाधेय मतों की विनाशक टक्कर का एक उदाहरण था, अच्छी तरह सामने आते हैं। सर्वाधिकारवादी राज्य तो स्पेन के क्षेत्र का आगामी विश्वयुद्ध के पूर्वाभ्यास के लिए अबाधरूप से उपयोग कर सके, पर जनता की सहानुभूति दोनों पक्षों से होने के कारण लोकतंत्रीय नीति को गम्भीर बाधा हुई—दोनों ओर एक जैसा महत्त्वपूर्ण लोकमत, एक जैसे उत्साह से पक्षपोषण कर रहा था। प्रत्येक में किसी न किसी प्रकार का विचारधारा का कीटाणु मौजूद था, यहाँ तक कि १९३९ में युद्ध आरम्भ होने पर ब्रिटिश नीति का वास्तविक औचित्य कभी भी साफ-साफ नहीं बताया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि भविष्य के इतिहासकार उन दो युद्धों पर, जिनसे हम हाल में निकले हैं, तटस्थ दृष्टि डालते हुए, इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वे इस बहुत समय से चले आते हुए प्रेरकभाव से लड़े गये थे कि यूरोप पर और प्रसंगतः संसार पर एक ही शक्ति का आधिपत्य न हो सके। यह प्रेरक अब तक ब्रिटिश विदेश नीति का सबसे अधिक स्थायी अंश रहा है, और इसे योरोप के किसी युद्ध में ब्रिटिश हस्तक्षेप को उचित ठहराने वाला सबसे अधिक अकाट्य, बल्कि प्रायः एकमात्र कारण माना गया है, और उस समय के वातावरण में यह कारण कभी स्वीकार नहीं किया गया। इसकी जगह बहुत अधिक विवादास्पद ढंग की विचारधारा सम्बन्धी बातें पेश की गईं। कहा गया कि हम लोकतंत्र के लिए और सर्वाधिकारवाद के उन्मूलन के लिए लड़ रहे हैं। निष्पक्ष विचार करने पर ये उपपत्तियाँ टिक नहीं सकतीं। श्री चैम्बरलेन ने युद्ध सन्निकट प्रतीत होने पर जो मैत्रियाँ करने का यत्न किया, उनमें विचारधारा सम्बन्धी कोई लेश भी नहीं था। पोलैण्ड की सरकार स्पष्टतः लोकतंत्री नहीं थी। सोवियत संघ, जो ऊपर से हिटलर का विरोधी दीखता था, स्पष्टतः एक सर्वाधिकारवादी का पुरस्कर्ता था। तुर्की में भी अभी अधिकारवादी शासन था। ग्रीस में जनरल मेटाक्सास (General Metaxas) की अधिनायकता थी। रूमानिया फरवरी १९३८ से व्यवहार्यतः एक निरंकुश राजतंत्र था। इस बात से भी निश्चित ही मुकरा नहीं जा सकता कि नाजी जर्मनी को, जिसके साथ राजनयिक सम्बन्ध पोलैण्ड के विरुद्ध आक्रमणकार्य किये जाने तक और बल्कि इससे भी जरा बाद तक, कायम रहे, बिना कुछ कहे छोड़ दिया जाता, यदि उसका नेता योरोप पर प्रभुत्व का यत्न न करता। इटली के ऐसे ही सर्वाधिकारवादी शासन को तब तक पूरी तरह—और सावधानी से—बिना छेड़े रहने दिया गया, जब तक मुसोलिनी ने जून

१९४० में युद्ध-घोषणा न कर दी । १९३९ में पश्चिमी मित्र राष्ट्रों का हस्तक्षेप स्पष्टतः और बहुत अधिक उचित था, और वह सिर्फ इस कारण उचित न था कि उससे एक संधिगत दायित्व की पूर्ति होती थी, बल्कि इसलिए उचित था कि वह सारे योरोप पर आधिपत्य करने के यत्न का प्रतिरोध था—जिस आधिपत्य से उनकी अपनी और महाद्वीप के अन्य राष्ट्रों की स्वतंत्रता को खतरा था । तो भी, इस वास्तविक कारण के ऊपर एक ऐसा विचारधारा सम्बन्धी आवरण डालना आवश्यक हुआ जिसके पक्ष में वास्तव में बहुत कम कहा जा सकता था ।

शायद ये बातें इस अध्याय के मुख्य विषय—युद्ध के उन्मूलन के प्रयत्नों की विफलता के कारण—से विषयान्तर समझी जाएँ, पर विचारधारा-सम्बन्धी युद्ध के नये उपकरण से लोकतन्त्र के लिए उत्पन्न संकट से शायद वह सबसे अधिक भयंकर समस्या पैदा होती है, जिसका सच्ची शान्ति के योजना-निर्माताओं को सामना करना होगा । यदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से शस्त्र बल को खत्म करना ही एकमात्र काम होता, तो हमारा दृष्टिकोण जितना आशापूर्ण आज है, उससे अधिक आशापूर्ण होता । राष्ट्र-संघ की प्रतीयमान विफलता के, और मैंने इसके कुछ कारणों की जो आलोचना करने का यत्न किया है, उसके बावजूद, मैं समझता हूँ कि हम यह बात मान सकते हैं कि इसका जो लक्ष्य था, उसकी ओर बहुत भारी प्रगति हुई है । असल में, सफलता के लिए यही आवश्यक था कि समस्या की प्रकृति को अधिक विस्तृत और ठीक-ठाक रूप में समझा जाए, और अधिक लचीले उपाय रखे जाएँ । कुछ त्रुटियों को समझ लिया गया है, और संशोधित कर दिया गया है, और हम यह भी अनुभव कर सकते हैं कि यदि परिस्थितियां और अधिक अनुकूल होतीं तो वह प्रणाली जीवित रहती और अपने संशोधन के लिए शक्ति और अनुभव एकत्र कर लेती । १९१९ का परीक्षण सफलता के इतना निकट पहुँच गया था, जितना हममें से कुछ लोग उसे मानना नहीं चाहते ।

इस समय दुनिया पहले से बहुत अधिक स्पष्टता से यह देख रही है कि आधुनिक सर्वध्वंसी युद्ध और सभ्यता का जीवन, दोनों, एक साथ नहीं रह सकते । यह अच्छी ही बात है । आज संसार की कोई महाशक्ति पहली लड़ाइयों की तरह झटपट लड़ाई में नहीं कूदेगी । पर हम अपने हथियार फेंक नहीं सकते, क्योंकि वैसा करना स्वतन्त्रता और न्याय के उन सिद्धान्तों को प्रतिरक्षाहीन छोड़ देना है, जिन्हें हममें से अधिकतर लोग भौतिक खतरे से उन्मुक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व देते हैं । इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि विचारधारा के अस्त्र का त्याग किया जाए और पारस्परिक सहिष्णुता पर पुनः पहुँचा जाय । जब तक यह समस्या हल नहीं होती, तब तक हमारे शान्ति प्रयत्नों का प्रेरक भाव बुनियादी तौर से भय ही है, और जो संसार शान्ति के लिए इससे अधिक ऊँचे दर्जे का कोई कारण नहीं देखता, वह तो शायद परमाणु बम द्वारा विनष्ट कर दिये जाने के लिए उपयुक्त स्थिति में ही पहुँचा हुआ है ।